भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा

पं० बलदेव उपाध्याय

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद
पटना-४

भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा

प० बलदेव उपाध्याय
एम्० ए०, साहित्याचार्य
अध्यक्ष, पुराणेतिहास-विभाग,
वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-४

प्रकाशक :
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना–४
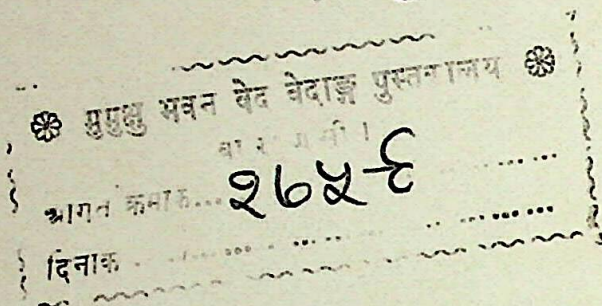
[प्रथम संस्करण]
विक्रमाब्द २०१६; शकाब्द १८८४; खृष्टाब्द १९६२

मूल्य : REVISED PRICE Rs. 31.50
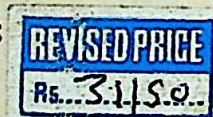
मुद्रक :
बेनामाधव प्रेस,
राँची

वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रंथ 'भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा' को सुधी-समाज के हाथों रखते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है। परिषद्-विधान के अंतर्गत प्रतिवर्ष अधिकारी विद्वानों की भाषण-माला आयोजित की जाती है और फिर उस भाषणमाला को पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाता है। प्रस्तुत ग्रंथ उसी भाषणमाला के अंतर्गत प्रकाशित है। यह भाषणमाला सन् १९६१ ई० में, पटना में आयोजित कराई गई थी और तीन दिनों तक श्रीउपाध्यायजी अपनी सुललित वाणी से श्रोताओं को परितृप्त करते रहे।

विद्वान् लेखक ने अपने प्राक्कथन में 'श्रीराधा' और 'श्रीराधातत्त्व' के सम्बन्ध में अपने अंतर की सारी श्रद्धा के साथ जिस रूप में प्रकाश डाला है और उसकी पुष्टि में भारतीय भाषाओं के साहित्य से जो प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, वे उनके गहन अध्ययन, गंभीर चिन्तन और मार्मिक अनुशीलन के फल हैं। ग्रंथ की उपादेयता के सम्बन्ध में हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि लेखक ने श्रीराधातत्त्व पर इतना सुन्दर ग्रंथ प्रस्तुत कर राष्ट्रभाषा हिन्दी के ज्ञान-कोष की जो श्रीवृद्धि की है, उससे वे मर्मी पाठकों के धन्यवाद के अधिकारी होंगे। भाषा की प्रांजलता लेखक की विशेषता है। पाठक पढ़ते चलेंगे और उन्हें आनन्द उपलब्ध होता चलेगा—ऐसा हमारा विचार है। अत्यन्त गहन-गंभीर विषय को भी बड़ी ही सरल और सुललित शैली में प्रस्तुत करने की कला में लेखक को चमत्कारी सफलता प्राप्त है।

इस ग्रंथ के लेखक साहित्याचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय, एम्० ए० का परिचय यहाँ देने की आवश्यकता नहीं। वे हिन्दी-जगत् में पहले से ही, अपनी अनमोल कृतियों के कारण सुख्यात और सुपरिचित हैं। आपने अँगरेजी, संस्कृत और हिन्दी में समान रूप से कतिपय शोध-ग्रंथों का प्रणयन किया है, जिनमें भरत का नाट्यशास्त्र, भामह का काव्यालंकार, वररुचि का प्राकृतप्रकाश, हर्ष का नागानंद, माधव का शंकरदिग्विजय, सायण की वेदभाष्यभूमिका अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उक्त शोध-ग्रंथों में आपकी मौलिक व्याख्या है और भाष्य पठनीय है। आपने भारतीय धर्म और दर्शन पर हिन्दी में मौलिक ग्रंथों की रचना की है, जिनमें भारतीय दर्शन, बुद्ध-दर्शन, आचार्य शंकर, आचार्य सायण और माध्व, भागवत-संप्रदाय आदि ग्रंथों के नाम बड़े आदर के साथ लिये जाते हैं, जिनमें भारतीय दर्शन का तेलुगु में, बुद्ध-दर्शन का सिंहली में, आचार्य शंकर का कन्नड में अनुवाद भी हुआ है। उपाध्यायजी ने हिन्दू-विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग में लगभग ३८ वर्षों तक विभिन्न रूपों में और अंत में विभागीय अध्यक्ष के रूप में अपनी सेवाएं समर्पित की हैं। आजकल आप वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय में पुराणेतिहास-विभाग के अध्यक्ष-पद को सुशोभित कर रहे हैं। संस्कृत-वाङ्मय के प्रकाश में हिन्दी की आपने जो अमूल्य सेवाएँ की हैं, उन्हें सदा श्रद्धा और भक्ति के साथ स्मरण किया जाता रहेगा।

ग्रंथ को सर्वांगसुन्दर बनाने में हमने यथास्थान कुछ सुन्दर चित्रों का संयोजन किया है। हिन्दू-विश्वविद्यालय (वाराणसी)-स्थित भारत कला-भवन के सुयोग्य संचालक श्रीराय कृष्णदास के हम अत्यन्त आभारी हैं कि इस पुस्तक के प्रथम रंगीन चित्र का ब्लॉक छापने और उसका इस ग्रंथ में उपयोग करने की अनुमति उन्होंने भवन से दिलवाई। उसी प्रकार हम इस पुस्तक में दूसरे रंगीन चित्र के लिए गीताप्रेस, गोरखपुर के प्रति आभार स्वीकार करते हैं।

इस पुस्तक के मुद्रण में भ्रमवश 'मैथिली-साहित्य में राधा' और 'बँगला-साहित्य में राधा'—ये दोनों प्रसंग, जो 'पूर्वांचलीय साहित्य' शीर्षक के अंतर्गत होना चाहिए था, तृतीय परिच्छेद में 'संस्कृत-साहित्य में राधा' शीर्षक के अंतर्गत छप गये हैं। इसी प्रकार, पृष्ठ २५४ पर 'गीत गोविन्द का प्रभाव: अपभ्रंश काव्य' शीर्षक पाद-टिप्पणी में छप गया है। उसे उसी पृष्ठ पर यथास्थान पढ़ने का अनुरोध हम सहृदय पाठकों से कर रहे हैं।

परिषद् के अन्य ग्रंथों की तरह इस शोध-ग्रंथ का सुधी-समाज में समादर होगा, ऐसी हमें आशा है। श्रीराधारानी के सम्बन्ध में, साहित्य तथा साधना के क्षेत्र में, जो नाना प्रकार के भ्रम तथा वाद फैल चुके हैं, उनका भी उपशमन होगा। यह ग्रंथ साहित्यरसिकों एवं साधनारसिकों को समान रूप से परितोष देगा, ऐसा हमारा विश्वास है। सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में राधा का ऐसा निखरा हुआ अलौकिक रूप पहले कभी देखने को नहीं मिला था।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
रंगभरी एकादशी, स० २०१६ वि०

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'
संचालक

भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा
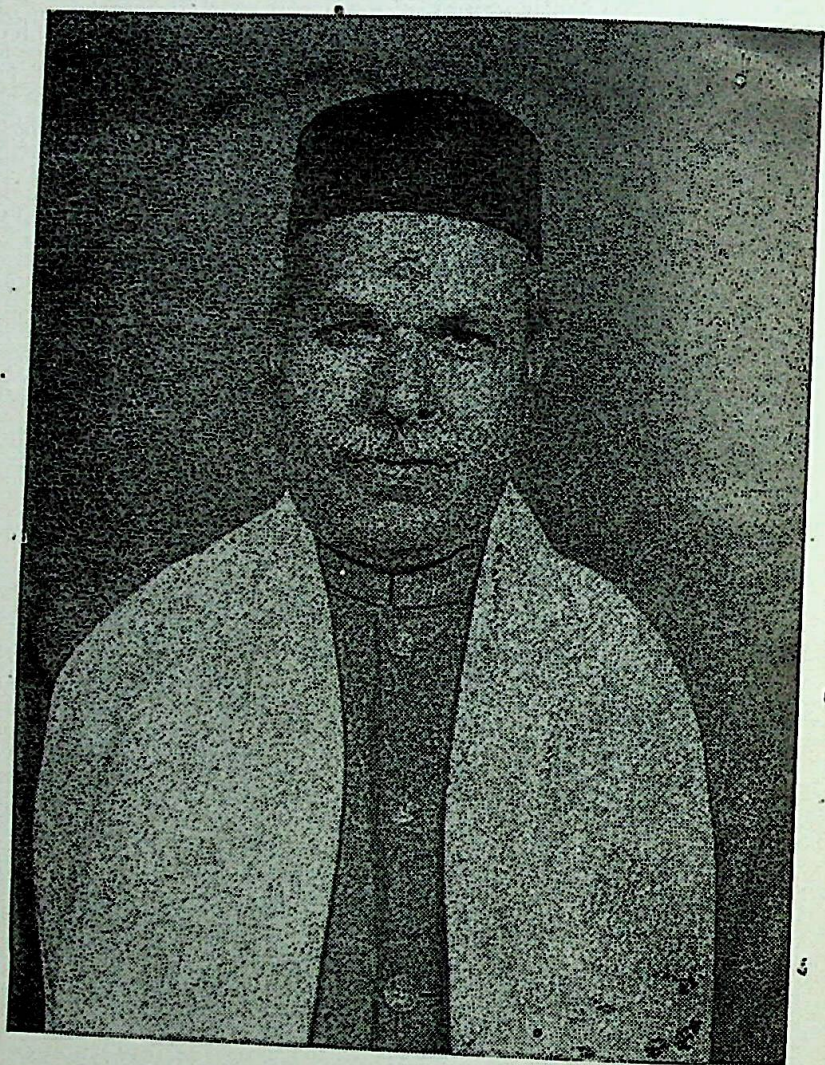
ग्रंथकार
पं० श्रीबलदेव उपाध्याय

प्राक्कथन

'भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा' नामक यह पुस्तक रसिक पाठकों के सामने बड़े प्रेम और श्रद्धा के साथ प्रस्तुत की जा रही है। राधा वैष्णव धर्म का सर्वस्व है तथा वह भारतीय साहित्य की लावण्यमयी अनुपम कल्पना है। कल्पना होकर भी वह काल्पनिक नहीं है। वह वास्तविक है। राधा के कारण ही भारतीय काव्य इतना मधुर-मञ्जुल है; इतना सरस-सुन्दर है। भगवान् श्रीकृष्ण की आह्लादिका शक्ति होने से वह परमानन्दमयी तथा माधुर्य-मूर्त्ति है। उसी राधा के रूप तथा गुण का एवं बहिरंग तथा अन्तरंग का अनुशीलन तथा अध्ययन इस ग्रंथ में प्रस्तुत है।

राधा का यह अनुशीलन त्रिविध दृष्टियों से किया गया है---ऐतिहासिक दृष्टि से, धार्मिक दृष्टि से और साहित्यिक दृष्टि से। फलतः, इस ग्रन्थ के तीन खण्ड हैं, प्रथम खण्ड में इतिहास के आलोक में, द्वितीय खण्ड में धर्म के आलोक में तथा तृतीय खण्ड में काव्य के आलोक में राधा का मार्मिक अनुशीलन-परिशीलन है। इस प्रकार, इस ग्रन्थ में मैंने अपनी दृष्टि को व्यापक बनाने के लिए पर्याप्तरूपेण प्रयास किया है तथा विभिन्न रुचिवाले पाठकों तथा जिज्ञासुओं के निमित्त विभिन्न दृष्टियों से राधा का अध्ययन उपस्थित कर पुस्तक को अधिक उपादेय बनाने का प्रयत्न किया है। मैंने चेष्टा की है कि लेखक के एक हाथ में तर्क हो, तो दूसरे हाथ में श्रद्धा। यह न तो एकांगी तर्क-प्रधान अध्ययन है, न एकांगी श्रद्धामूलक अनुशीलन। मैंने जागरूकता के साथ दोनों का सामञ्जस्य स्थापित करने का यथाशक्ति उद्योग किया है। मैं अपने कार्य में कितना सफल हुआ हूँ, यह तो मर्मज्ञों की समीक्षा पर ही निर्णीत हो सकेगा। तथ्य तो यह है कि 'राधातत्त्व' दर्शन का एक नितान्त दुरूह तत्त्व है, जिसके विवेचन के लिए गम्भीर अध्ययन तथा अन्तरंग साधना की आवश्यकता है। मैं इन दोनों की कमी अपने में अनुभव करता हूँ, फिर भी अपने अध्ययन के आधार पर जो उपलब्धियाँ सूझ पड़ी हैं, उन्हें बड़ी ही सचाई से प्रकट करने से पराङ्मुख नहीं हुआ हूँ। पुस्तक स्वान्तःसुखाय लिखी गई है---अपने मन्तव्यों को दृढ़ तथा साधार बनाने के लिए। और, इसीलिए कहीं-कहीं जो सिद्धान्तों की तथा शब्दों की पुनरुक्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे अनिवार्य हैं तथा जान-बूझकर भी रखी गई हैं। आशा है, इनसे पाठक किसी विशिष्ट तत्त्व को सरलता से समझने में कृतकार्य हो सकेंगे।

जैसा इस ग्रन्थ के नाम से प्रतीत होता है, यह ग्रन्थ भारतवर्ष के समस्त मान्य भाषा-साहित्यों में राधा की रूपरेखा के अध्ययन का एक स्वल्प प्रयास है। मैंने मध्य-युगीय साहित्य तक ही अपने को नियन्त्रित रखा है; क्योंकि वही राधा के विकास का सुवर्ण-युग है। भारतीय साहित्य को इन चार विभागों में विभक्त किया गया है:

पूर्वाञ्चलीय साहित्य, पश्चिमाञ्चलीय साहित्य, दक्षिणाञ्चलीय साहित्य और मध्यमाञ्चलीय साहित्य। पूर्वाञ्चलीय साहित्य में मैथिली, बँगला, असमिया तथा उड़िया-साहित्य अन्तःनिविष्ट है। पश्चिमाञ्चलीय साहित्य में मराठी तथा गुजराती साहित्य का समावेश किया गया है। दक्षिणाञ्चलीय साहित्य के अन्तर्गत तमिल, तेलुगु, कन्नड तथा मलयालम-साहित्य का स्थान रखा गया है। इसी तरह मध्यमाञ्चलीय साहित्य में व्रजभाषा के के साहित्य का अनुशीलन किया गया है। इन समस्त साहित्यों को स्फूर्त्ति तथा प्रेरणा प्रदान करनेवाला है—गीर्वाण-वाणी का साहित्य, जो इन सबका केन्द्रबिन्दु होने से सबसे पहले यहाँ अध्ययन का विषय बनाया गया है। आर्यभाषाओं के साहित्य से मेरा कुछ विशेष परिचय है, इसलिए इस विषय का विवरण मूल के अध्ययन का साक्षात् परिणाम है, परन्तु विड-साहित्य से मूलतः परिचित न होने के कारण मैंने अनेक ग्रन्थों से तथा विद्वानों के साहाय्य से लाभ उठाया है। इसी प्रकार, राधा के दार्शनिक रूप के विवरण में मूल संस्कृत-ग्रन्थों का आधार रखा गया है और उसे सांगोपांग बनाने का पर्याप्त प्रयत्न किया गया है।

इस 'राधातत्त्व' पर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) में तीन दिनों तक भाषणमाला चली थी। आज यह अनुशीलन अपने परिबृंहित रूप में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के विद्वान् तथा सहृदय संचालक डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' के श्लाघनीय उद्योग से इतना सुन्दर प्रकाशित हो रहा है। इसके लिए उन्हें मैं धन्यवाद क्या दूँ, आशीर्वचन देता हूँ। मैं उन ग्रन्थकारों का परम आभारी हूँ, जिनके ग्रन्थों से स्थान-स्थान पर मैंने सहायता ली है। ऐसे ग्रन्थों की सूची परिशिष्ट में दे दी गई है। गुरुवर महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज का मैं विशेष आभारी हूँ, जिनके लेखों तथा भाषणों से मैंने विशेष लाभ उठाया है। डॉ० शशिभूषणदास गुप्त के प्रामाणिक ग्रन्थ 'राधा का विकास' से भी मैंने लाभ उठाया है, जिससे उनका मैं विशेष कृतज्ञ हूँ। इनके अतिरिक्त मैं इन उल्लेखनीय विद्वानों—श्री जे० पार्थसारथि, एम्० ए०, (प्राध्यापक हिन्दी-विद्यालय, आगरा-विश्वविद्यालय, आगरा), पण्डित त्रिनाथदास, साहित्यशास्त्राचार्य, एम्० ए० (प्राध्यापक संस्कृत-महाविद्यालय, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी), तथा कृष्णचरण चौधरी, एम्० ए०, वेदान्ताचार्य, (शोध-छात्र, हिन्दी-विभाग, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी), का भी विशेष उपकार मानता हूँ, जिन्होंने क्रमशः तमिल, उड़िया तथा तेलुगु-साहित्य के राधा-विषयक विवरण लिखने में पर्याप्त सहायता दी है। मराठी-साहित्य के विवरण का आधार डॉ० प्रह्लाद नरहरि जोशी की मौलिक शोध-पुस्तक 'मराठी साहित्यांतील मधुराभक्ति' है, जिनका मैं विशेष आभार मानता हूँ। अन्त में, मैं चिरंजीवी रवीन्द्रकुमार को, शोधन-कार्य में नाना प्रकार की सहायता देने के लिए, अनेक आशीर्वाद देता हूँ। अपनी धर्मपत्नी श्रीमती शिवमुनी देवी को भी ग्रन्थ लिखने में ेरणा तथा सहायता देने के कारण मैं विपुल आशीर्वाद प्रदान करता हूँ। उनके सत्परामर्श के बिना यह ग्रन्थ इतनी जल्दी नहीं लिखा जा सकता था। मैं इस प्रसंग में अपने दोनों आत्मजों—श्रीगौरीशंकर उपाध्याय एम्० ए०, डिपुटी-इन्सपेक्टर ऑफ् स्कूल्स,

गोण्डा तथा श्रीगोपालशंकर उपाध्याय, एम्० एस्-सी० (बरमिंघम, इंगलैंड) को आशीर्वाद देना भूल नहीं सकता, जिन्होंने अनेक प्रकार की सहायता देकर मेरे परिश्रम को हलका बनाया है।

पाठकों को राधा-माधव की ललित लीला का रसास्वादन कराकर अपने उद्देश्य की पूर्त्ति में यह मेरा स्वल्प प्रयास सफल हो, बाबा विश्वनाथ से मेरी यही करबद्ध प्रार्थना है।

काशी
रंगभरी एकादशी, सं० २०१६ वि०

बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

पृ० सं०

तृतीय खण्ड

परिशिष्ट खण्ड

भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा

युगल छवि

['भारत कला भवन' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सौजन्य से]

प्रथम खण्ड

श्रीराधा का प्राकट्य

ध्यानं बलात् परमहंसकुलस्य भिन्दन्
निन्दन् सुधा मधुरिमानमधीरधर्मा ।
कन्दर्पशासनधुरां मुहुरेव शंसन्
वंशीध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य ।।

अखिलरसामृतमूर्त्ति वृन्दावन-आनन्दकन्द श्रीनन्दनन्दन की मधुर मुरली की सुधामयी ध्वनि अनन्तकाल से रसिकजनों के श्रवणों में अमृत उड़ेलती हुई प्रवाहित होती है और वह अनन्त काल तक प्रवाहित होती रहेगी। वह नित्य है। उसमें किसी प्रकार का व्यवधान नहीं, किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं। वे धन्य हैं, जो उसे सुनते हैं; वे धन्य हैं, जो अपने हृदय को उसके आनन्द से आप्यायित करते हैं।

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के नायक, वृन्दावन में कदम्ब के नीचे अपनी बाँकी छटा से खड़े होनेवाले त्रिभंगीलाल श्रीकृष्ण नित्य रसमय विग्रह हैं और उनकी सहचरी निखिल गोपी मुकुटमणि रासेश्वरी राधिका भी नित्य आनन्दमयी मूर्ति हैं। दोनों एक ही तत्त्व की युगल मूर्त्ति हैं। श्रीकृष्ण रासेश्वर हैं, राधिका रासेश्वरी। ये नित्य रासेश्वरी भगवान् के रास की नित्य स्वामिनी हैं। इनके विना भगवान् रह ही नहीं सकते। राधा कोई मृण्मयी मूर्त्ति नहीं, वह चिन्मयविग्रहवती हैं। वह पार्थिव प्रतिमा नहीं, पराशक्ति का प्राकट्य है। राधा भारतीय वाङ्मय के सरोवर में प्रस्फुटित होनेवाली सर्वश्रेष्ठ कनक-कंज-कलिका है। वह काव्य की अधिष्ठात्री है, भक्ति की निर्झरिणी है, कला की उत्स है और प्रेम की प्रतिमा है। भारतीय वाङ्मय इस नारी-रत्न की छायाव्यतिकर सौन्दर्य-सृष्टि से अनुप्राणित है।

राधा में तारुण्य है, कारुण्य है और लावण्य है। वह क्षितितल के सम्पूर्ण लावण्य का सार है—'खितितल लावनिसार।' राधा एक अनुभूति है, एक भावना है, एक कल्पना है, एक चिन्तना है. एक माधुरी है। राधा भारतीय भक्ति और अनुरक्ति की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। भारतीय साधना और आराधना की परिणति का नाम है—राधा। वह गेया और ध्येया है; साध्या और आराध्या है। राधा को पाकर हमारा साहित्य धन्य हो उठा। रस की कादम्बिनी साहित्य के गगन-मण्डल में छा गई; सरसता की वर्षा होने लगी; साहित्य का धरातल आप्लावित हो गया। कवियों की सुधानिःस्यन्दिनी लेखनी नव जलधर के अन्तराल में संचरण करनेवाली 'बिजुरी रेह'-सी कनकवर्णी राधिका की अवतारणा में डूब गई। गायकों के सुरीले कण्ठों में राधिका के पायलों की रुनझुन-रुनझुन बज उठी। चित्रकारों की तूलिका इन्द्रधनुषी रंगों को लेकर तडित्-गति से राधिका के सौन्दर्य-संभार को अंकित करने में चलने लगी। शिल्पियों ने अपनी नुकीली छेनी के द्वारा मूक पाषाणों में राधा की प्राण-प्रतिष्ठा की। फिर भी, जान पड़ता है, यह सारा प्रयास अधूरा ही हो। क्षणे क्षणे नवता को प्राप्त करनेवाली रमणीयता की साकार प्रतिमा इस राधा का अनेक आचार्यों, कवियों, भक्तों, गायकों, कलाकारों और शिल्पियों ने अपनी भाव-शवलता की अमृतधारा से अभिषेक किया है, परन्तु अभी तक उस प्रतिमा की रूप-छटा का पूर्ण वैभव अंकित नहीं हो सका। सफलता के सौध-शिखर के निर्माण में जैसे अभी बहुत-बहुत देर है। ललित-कला राधा के रूपांकन में संलग्न रहकर उस दिव्य रूप की नाना साधनों से नीराजना करती है। अपनी सीमाओं में संकुचित होकर नतमस्तक होने में अपना गौरव-बोध करती है। क्या निःसीम का चित्रण ससीम साधनों से कभी सम्भव है? कला की कुण्ठा का यही कारण है।

धार्मिक जगत् में राधा रासेश्वरी है। श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है। यही आद्या प्रकृति है। यह राधा महाभावरूपा है। यह पुष्टि-साधना में स्वामिनीजी है। पुष्टि-मार्ग में श्रीराधिकाजी को न तो स्वकीया-रूप से निर्दिष्ट किया है, न परकीया-रूप से, प्रत्युत वह सच्चिदानन्दरसमय पूर्ण पुरुषोत्तम की मुख्या शक्ति स्वामिनीजी के रूप में ही उल्लिखित की गई है। गौडीय वैष्णवों का तो श्रीराधा सर्वस्व हैं, उज्ज्वल रस की दिव्य-ज्योति हैं। लक्ष्मीजी उसकी अंशविभूति हैं, महिषीगण वैभवविलास हैं और व्रजगोपियाँ कामव्यूहरूपा हैं। सूरदासजी के शब्दों म सोलह हजार गोपिकाओं की राशिभूत पीर (पीड़ा) का ही तो नाम राधा है।

सोरह सहस पीर तन एकै
राधा कहिये सोय॥

राधा की प्राचीनता के इतिहास की छानवीन करते समय आलोचक की दृष्टि जिस ग्रन्थ-रत्न पर हठात् टिक जाती है, वह है 'गीतगोविन्द'। इसके रचयिता थे महाकवि 'जयदेव'! जो जयदेव भोजदेव तथा राधादेवी (या रामादेवी) के पुत्र, पद्मावती के पति थे। पराशर नामक इनका एक सुहृद् था तथा 'किंदुबिल्व' नामक ग्राम में इनका जन्म हुआ था। उमापतिधर, शरण, गोवर्द्धनाचार्य तथा कविराज धोयी इनके समकालीन कवि तथा विद्वान् थे। इनके आश्रयदाता बंगाल के अन्तिम हिन्दू-नरेश राजा लक्ष्मणसेन का समय १२वीं शती का आरम्भ-काल है; क्योंकि इनके गया-शिलालेख का समय सन् १११६ ईसवी है। 'गीतगोविन्द' में श्रीकृष्ण नायक तथा राधिका नायिका हैं

और सम्पूर्ण काव्य राधाकृष्ण की ललित लीलाओं के विलास-वर्णन के निमित्त ही निर्मित किया गया है। फलत:, १२वीं शती में राधा का आविर्भाव साहित्य-जगत् में पूर्ण रूप से सिद्ध हो गया था; यह तथ्य यथावत् सिद्ध है। यह बारहवीं शताव्दी राधा-तत्त्व के साहित्यिक उन्मीलन का मुख्य काल माना जा सकता है। लीलाशुक विल्वमंगल के 'कृष्णकर्णामृत' काव्य की रचना का काल भी इसी शताव्दी में माना जा सकता है। बारहवीं शताव्दी के आरम्भ में ही श्रीधरदास[1] के द्वारा संकलित 'सदुक्तिकर्णामृत' नामक सूक्ति-ग्रन्थ में राधाकृष्ण के प्रेम तथा लीला के विषय में लिखी गई अनेक कविताओं का संग्रह उपलब्ध होता है।

लीलाशुक 'विल्वमंगल' का 'कृष्णकर्णामृत' काव्य अपने साहित्यिक वैभव के लिए जितना प्रसिद्ध है, उतना ही वह प्रसिद्ध है अवान्तरकालीन वैष्णव-सम्प्रदाय, विशेषत: चैतन्य-सम्प्रदाय के कवियों के ऊपर अपना प्रभाव डालने के लिए। यह तो प्रसिद्ध ही है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु अपनी दक्षिण-यात्रा से जिन दो ग्रन्थों की प्रतिलिपि कराकर ले आये थे, उनमें 'ब्रह्मसंहिता' के अनन्तर 'कृष्णकर्णामृत' ही दूसरा था। यह कृष्ण की ललित लीलाओं का वर्णनपरक काव्य बड़ा ही सुन्दर, मधुर तथा रससिक्त है। इस ग्रन्थ के दो पाठ उपलब्ध होते हैं—दाक्षिणात्यपाठ तथा वंगालपाठ। जिनमें वंगालपाठ (११२ श्लोक) अधिक संक्षिप्त तथा अधिक प्रामाणिक है। दाक्षिणात्यपाठ के अनुसार वाणीविलास प्रेस से मुद्रित प्रति में श्लोकों की संख्या ३१९ हैं, जो तीन आश्वासों में विभक्त हैं। दाक्षिणात्यपाठवाले विस्तृत काव्य में राधा का निर्देश बहुत-से स्थलों पर पाया जाता है, परन्तु वंगालपाठवाली प्रति में भी दो श्लोकों में राधा का निर्देश मिलता है—

तेजसेऽस्तु नमो धेनुपालिने लोकपालिने।
राधापयोधरोत्सङ्गशायिने शेषशायिने ॥७६॥
यानि त्वच्चरितामृतानि रसनालेह्यानि धन्यात्मनां
ये वा शैशवचापलव्यतिकरा राधावरोधोन्मुखाः।
ये वा भावितवेणुगीतगतयो लीला मुखाम्भोरुहे
धारावाहिकया वहन्तु हृदये तान्येव तान्येव मे ॥१०६॥

इस ग्रन्थ की रचना किस काल में हुई? इसका ठीक-ठीक उत्तर नहीं दिया जा सकता। दक्षिण भारत ही इसकी रचना का प्रदेश है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है; क्योंकि चैतन्य महाप्रभु ने इस काव्य का विपुल प्रचार कृष्णवेण्वा तीर के निवासी वैष्णव ब्राह्मणों में देखा था और उन्हीं के आग्रह पर इसे लिखाकर अपने साथ वे लाये थे। चैतन्य-चरितामृत में कृष्णदास कविराज ने इसका स्पष्ट निर्देश किया है। बहुत संभव है कि महाप्रभु की दक्षिण-यात्रा से दो-तीन सौ वर्ष पूर्व इसकी रचना हो चुकी होगी। इसलिए बहुत-से विद्वान् इस काव्य की रचना गीतगोविन्द की रचना के समकालीन ही मानते हैं।

---

१. ये राजा लक्ष्मणसेन के धर्माध्यक्ष बटुदास के पुत्र थे, जिन्होंने इस ग्रन्थ को ११२७ शक सं० (१२०५ ई०) में संकलित किया था। अतः इसका समय बारहवीं शताब्दी का अन्त और तेरहवीं शताब्दी का प्रारम्भ है। इसमें उद्धृत कवियों की संख्या ४८५ है, जिनमें लगभग पचास कवि ही हमारे परिचित हैं। —पंजाब ओरियण्टल सीरिज (नं० १५) में म० म० रामावतार शर्मा द्वारा सम्पादित तथा मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित।

दशम शती के अनेक कवियों ने अपने काव्यों में राधा तथा कृष्ण के प्रसंगों को लेकर बहुत ही कमनीय रचना प्रस्तुत की है। ऐसे कतिपय निर्देश ये हैं। नलचम्पू में त्रिविक्रमभट्ट (९१५ ई०) ने श्लेष के द्वारा राधा का नाम-संकेत किया है। इस पद्य में—

शिक्षितवैदग्ध्यकलापराधात्मिका परपुरुषे।
मायाविनि कृतकेशिवधे रागं बध्नाति॥

वल्लभदेव काश्मीर के एक मान्य विद्वान् थे, जिन्होंने संस्कृत के महाकाव्यों के ऊपर बड़ी प्रौढ टीकाएँ लिखी हैं। वे दशमी शती के पूर्वार्ध में विद्यमान थे। उन्होंने शिशुपालवध की अपनी टीका में, सर्ग ४ श्लोक ३५वें की व्याख्या में 'लोचक' शब्द के उदाहरण के लिए एक प्राचीन पद्य[1], को उद्धृत किया है, जिसमें राधा का स्पष्ट निर्देश मिलता है—

यो गोपीजनवल्लभः कुचतटव्याभोगलब्धास्पदं
छायावात्रविरक्तको (?) बहुगुणश्चारुश्चतुर्हस्तकः।
कृष्णः सोऽपि हताशयाऽप्यपहृतः सत्यं कयाऽप्यद्य मे
किं राधे मधुसूदनो नहि नहि प्राणप्रियो लोचकः॥[2]

श्लोक का तात्पर्य समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि 'लोचक' का अर्थ है ओढ़नी, जो प्रायः काले रंग की होती है और जिसे ग्रामीण स्त्रियाँ प्रयोग में लाती हैं। श्लोक के आरम्भ में कतिपय विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं, जो श्लेष के द्वारा लोचक तथा मधुसूदन दोनों को लक्षित करते हैं। राधा अपनी सखी से पूछ रही है–'गोपियों के प्यारे मेरे कृष्ण को किस हताशा ने चुरा लिया है?' सखी उत्तर देती है—'कि क्या तुम मधुसूदन की बात कह रही हो?' राधा ने उत्तर दिया—'नहीं, नहीं, मैं तो अपने काले लोचक (ओढ़नी या दुपट्टा) की बात कह रही हूँ।'

'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' नामक सूक्तिसंग्रह संस्कृत के प्रेमियों में काफी प्रसिद्ध है। इसके रचयिता के नाम का पता नहीं चलता, परन्तु ग्रन्थ प्राचीन है और ग्रन्थ में उल्लिखित कवियों के आधार पर कहा जा सकता है कि यह दशवीं शती से अर्वाचीन नहीं हो सकता। इस संग्रह के अनेक पद्यों में राधाकृष्ण की लीला का संकेत मिलता है। राधा का नाम भले ही न मिले, परन्तु वर्णन की शैली से स्पष्ट सूचित होता है कि कवि राधा की ओर संकेत कर रहा है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

कोऽयं द्वारि हरिः प्रयाह्युपवनं शाखामृगेणात्र किं
कृष्णोऽहं दयिते बिभेमि सुतरां कृष्णः कथं वानरः।
मुग्धेऽहं मधुसूदनो व्रज लतां तामेव पुष्पासवाम्
इत्थं निर्वचनीकृतो दयितया ह्रीणो हरिः पातु वः॥

इस श्लोक में राधा कृष्ण की उक्ति-प्रत्युक्ति के द्वारा हास्यालाप मिलता है—'द्वार पर कौन है?' 'हरि' (कृष्ण तथा वन्दर)। 'बगीचे में जाओ, यहाँ वानर की क्या जरूरत?' 'हे प्यारी, मैं कृष्ण हूँ।' 'तो मैं और भी डर रही हूँ। वन्दर काला कैसे हो सकता है।' 'हे मुग्धे, मैं

---

१. चैतन्य-चरितामृत मध्यलीला, परि० ९।

२. द्रष्टव्य: पृ० १५६ पर उद्धृत श्लोक, शिशुपालवध वल्लभदेव की टीका के साथ, काशी संस्कृत-सीरिज, सं० ६९, काशी, सं० १९८५।

मधुसूदन (कृष्ण तथा भ्रमर) हूँ।' 'तो पुष्पित लता के पास जाओ।' इस प्रकार अपनी दयिता (राधा) के द्वारा निर्वचन किये गये लज्जित कृष्ण आपलोगों की रक्षा करें।

नवम शती में लिखित ग्रन्थों में आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक' अपने युगान्तरकारी आलंकारिक समीक्षण के लिए नितान्त प्रख्यात है। ग्रन्थकार काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा (८५५–८८८ ई०) की सभा का प्रकाण्ड आलोचक था। इस ग्रन्थ में प्राचीन काव्यों से अनेक उदाहरण दिये गये हैं। ऐसे उदाहरणों में दो श्लोक राधा के विषय में हैं—

तेषां गोपवधविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः॥ (पृ० ७७)

इस पद्य में अचेतन पदार्थों में चेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना की गई है। दूसरा पद्य ध्वनि के दृष्टान्त के प्रसंग में दिया गया है—

दुराराधा राधा सुभग यदनेनापि मृजत-
स्तवैतत् प्रायेणाजघनवसनेनाश्रु पतितम्।
कठोरं स्त्रीचेतस्तदलमुपचारैर्विरमहे
क्रियात् कल्याणं वो हरिरनुनयेष्वेवमुदितः॥ (पृ० २१४–१५)

ध्वन्यालोक से लगभग सौ वर्ष पहले लिखे गये 'वेणीसंहार' नाटक की नान्दी में राधा की लीला का स्पष्ट विवरण है। यह नाटक भट्टनारायण की रचना है। इनके आविर्भाव का पता अवान्तरकालीन ग्रन्थों में उद्धृत इनके पद्यों से भली भाँति चलता है। ध्वन्यालोक के इनके अनेक श्लोक दृष्टान्त के लिए उद्धृत किये गये हैं।

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात..।—वेणीसंहार, १।२१ तथा
यो यः शस्त्रं बिभर्त्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनाम्।—वेणीसंहार, ३।३२

उक्त दोनों पद्यों में ध्वन्यालोककार ने ओज गुण की अभिव्यंजना बतलाई है। वामन ने अपने काव्यालंकार में 'पतितं वेत्स्यसि क्षितौ' वाक्य में 'वेत्स्यसि' पद की व्याकरणानुकूलता सिद्ध करने के लिए इसे दो पदों में (वेत्सि तथा असि) विभक्त करने की सलाह दी है (वेत्स्यसीति पदभङ्गात्)। यह वाक्य वेणीसंहार (३।४१) के एक पद्य का चतुर्थ चरण है। इस उल्लेख से भट्टनारायण की वामन (८०० ईसवी) से पूर्वभाविता स्पष्ट है। फलतः वेणीसंहार की रचना को ७५० ई० के आसपास मानना उचित है। ध्वन्यालोक से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व इस नाटक की नान्दी में यह श्लोक उपलब्ध है—

कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसं
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम्।
तत्पादप्रतिमानिवेशितपदस्योद्भूतरोमोद्गते—
रक्षुण्णोऽनुनयः प्रसन्नदयितादृष्टस्य पुष्णातु वः॥

इस सुन्दर श्लोक का आशय है कि यमुना के किनारे रासक्रीडा में प्रेम तथा अनुराग छोड़कर कुपित होकर राधिका कहीं चली गई। भगवान् उसे खोजने के लिए इधर-उधर घूमने लगे।

राधा के पद-चिह्नों पर अपना पैर रखते ही उन्हें रोमाञ्च हो गया। प्रेम की इस विभूति तथा अभिव्यक्ति को देखकर राधा प्रसन्न हो गईं तथा कृष्ण के प्रेम की दृढता देखकर कृष्ण को बड़े प्रेम से निरखने लगी। इस श्लोक का भाव भागवत के एक प्रसिद्ध श्लोक पर आश्रित है। स्पष्ट है कि अष्टम शती से पूर्व ही राधा तथा रासलीला का वृत्तान्त साहित्य-जगत् में खूब प्रख्यात हो चुका था।

पञ्चम शती की रचना पंचतन्त्र में राधा का उल्लेख स्पष्ट रूप से मिलता है। एक कहानी[1] है कि किसी तन्तुवाय का पुत्र, जिसका नाम कृष्ण था, राजा की कन्या से प्रेम में आवद्ध हो जाता है। अन्तःपुर में गुप्त रूप से पहुँचना असम्भव समझकर वह अपने रथकार मित्र से सहायता लेता है। उसका मित्र लकड़ी का गरुडयन्त्र बनाकर तैयार कर देता है, जिसपर चढ़कर वह राजा के अन्तःपुर में पहुँच जाता है। गरुड़ पर चढ़े, चार भुजाओं तथा आयुधों से युक्त उस व्यक्ति को नारायण समझकर राजपुत्री कहती है—'कहाँ मैं अपवित्र मानुषी और कहाँ आप त्रैलोक्यपावन महाप्रभु!' इस पर वह कौलिक कहता है—'सुभगे, तुम तो सच्ची बात कह रही हो। परन्तु तथ्य यह है कि राधानाम्नी मेरी गोपकुल में उत्पन्न भार्या पहले थी। वही तुम्हारे रूप में अवतीर्ण हुई है। इसलिए मेरा अनुराग तुम्हारे ऊपर स्वाभाविक है—

राधा नाम मे भार्या गोपकुलप्रसूता प्रथममासीत्। सा त्वमत्र अवतीर्णा। तेनाहमत्रगतः।

इससे स्पष्ट है कि राधा का गोपकुल में उत्पन्न होना तथा नारायण (श्रीकृष्ण) की भार्या होना लोक-प्रसिद्ध घटना थी। अतः यह लोकप्रिय कथा इस युग से प्राचीन होनी चाहिए।

महाकवि भास द्वारा प्रणीत 'वालचरित' कृष्ण विषयक नाटकों में पर्याप्त रूपेण प्रख्यात है। इस नाटक में वालकृष्ण की प्रसिद्ध लीलाओं का मनोरम उपन्यास है और कृष्ण के शौर्य का, दुष्टों के दमन करने की प्रभुता का तथा व्रज में विघ्न उत्पन्न करनेवाले कंस के द्वारा प्रेरित असुरों को परास्त करने का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। तथापि भास इस नाटक के तृतीय अंक में हल्लीसक नृत्य का मनोरम वर्णन करते हैं, जिसमें कृष्ण गोपियों के साथ नाचते थे और ग्वाल-मण्डली नाना प्रकार के वाद्य वजाती थी। हल्लीसक नृत्य रास का ही प्रतिनिधि है, जिसमें एक पुरुष अनेक स्त्रियों के साथ वृत्ताकार में नाचता है[2]। यहाँ राधा का नाम उल्लिखित नहीं है, परन्तु अनेक गोपियों के नाम वर्तमान हैं। गोपियों के रूप-विन्यास-वर्णनपरक यह श्लोक वड़ा ही सुन्दर है—

एताः प्रफुल्लकमलोत्पलवक्त्रनेत्रा
गोपाङ्गनाः कनकचम्पकपुष्पगौराः।

---

१. द्रष्टव्य: मित्रभेद की पञ्चम कथा, जिसमें गुप्त दम्भ की प्रशंसा की गई है—
सुगुप्तस्यापि दम्भस्य ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति।
कौलिको विष्णुरूपेण राजकन्यां निषेवते ॥—पंचतन्त्र, १।२१८

२. इसी के आदर्श पर निर्मित हल्लीस (या हल्लीस) नामक एक उपरूपक होता है, जिसमें गाने और नाचने की ही प्रचुरता होती है। पुरुष पात्र एक ही होता है तथा स्त्रियाँ दस तक होती हैं और दोनों मिलकर गोलाकार नाचते हैं। द्रष्टव्य: साहित्य-दर्पण, षष्ठ परिच्छेद। 'भावप्रकाशन' के अनुसार नायकों की संख्या पाँच या छह मानी गई है। —भावप्रकाशन, पृ० २६६–२६७।

नानाविरागवसना मधुरप्रलापाः
क्रीडन्ति वन्यकुसुमाकुलकेशहस्ताः ॥—बालचरित, ३।२

भास के समय के विषय में पर्याप्त मतभेद है। कोई तो उन्हें कालिदास (प्रथम शती) का पूर्ववर्त्ती ही नहीं, प्रत्युत कौटिल्य (तृतीय शती विक्रम-पूर्व) से भी पूर्ववर्ती मानकर उनका समय ई० पूर्व चतुर्थ शती में मानते हैं। परन्तु दूसरे विद्वान् उन्हें इतना प्राचीन नहीं मानते। तथापि वे उन्हें गुप्तकाल से पूर्ववर्त्ती कवि तो निश्चित रूप से अंगीकार करते ही हैं। फलतः तृतीय शती में कृष्ण का गोपियों के साथ हिल-मिलकर नाचने की लीला लोगों में पर्याप्त लोकप्रिय थी; यह अनुमान करना स्वाभाविक है।

हाल की प्राकृत रचना 'गाहा सत्तसई' (गाथा सप्तशती) की अनेक गाथाओं में श्रीकृष्ण की व्रजलीला का वर्णन है तथा एक गाथा में श्रीराधा का नाम भी अंकित है। साहित्य-जगत् में हाल की यह वर्णनात्मक गाथा 'राधा' का प्रथम उल्लेख मानी जाती है। हाल का संस्कृत नाम 'शालिवाहन' था जो ईसा की प्रथम शताब्दी में प्रतिष्ठानपुर में राज्य करते थे। उनका कहना है कि प्राकृत की करोड़ों गाथाओं में से चुनकर हाल ने यह सरस संग्रह प्रस्तुत किया। गाथाएँ सचमुच सौन्दर्य की दृष्टि से अनुपम हैं तथा भावों की गूढ़ अभिव्यंजना में अनूठी। इसीलिए संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों में ये ध्वनि के उदाहरण-रूप में प्रस्तुत की गई हैं। प्रश्न है—इनकी रचना के समय का। इनकी प्राकृत भाषा की तथा उल्लिखित राजनीतिक स्थिति की परीक्षा कर अनेक विद्वान् इस सप्तशती का निर्माण-काल चतुर्थ शती के आस-पास मानते हैं। इतना तो निश्चित है कि यह संग्रह बाणभट्ट (सप्तम शती) से पूर्ववर्त्ती है; क्योंकि उन्होंने 'हर्षचरित' के आरम्भ में अन्य कवियों के स्तुति-प्रसंग में हाल के इस संग्रह की भी प्रशंसा की है—

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत् सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोषं रत्नैरिव सुभाषितैः ॥

गाथा सप्तशती में उद्धृत व्रजलीला की वर्णनपरक गाथाएँ बड़ी ही सरस तथा सुबोध हैं। एक गाथा में गोपियों के द्वारा बालकृष्ण के नटखटपन की शिकायत है। गोपियों ने कृष्ण के चिलबिल्लेपन की शिकायत यशोदा से की है। इसपर यशोदा कह रही हैं कि मेरा दामोदर अभी बालक है, ऐसा उत्पात तो नहीं कर सकता। इस पर गोपियाँ कृष्ण के मुँह को देखकर ओट में चुपचाप हँस रही हैं—

अज्जवि बालो दामोदरोत्ति इअ जम्पिए जसोआए।
कण्हमुहपेसिअच्छं णिहुअं हसिअं अबहूहिं ॥[1] (२।१२)

एक दूसरी गाथा में गोपी के द्वारा अन्य गोपी के कपोल में प्रतिबिम्बित कृष्ण की प्रतिमा के चुम्बन का मधुर प्रसंग उपस्थित किया गया है—

णच्चण सलाहणणिहेण पासपरिसंठिआ णिउणगोवी।
सरिसगोविआणं चुम्बइ कवोलपडिमागअं कह्णम् ॥[2] (२।१४)

---

१. गदिते यशोदयेति हि बालो दामोदरोऽद्यापि।
कृष्णमुखनिहितनयनं निभृतं हसितं व्रजवधूभिः ॥

२. नृत्यश्लाघननितः पार्श्वे परिसंस्थिता निपुणगोपी।
समगोपीनां चुम्बति कपोल बिम्बागतं कृष्णम् ॥

राधा के नाम से अंकित गाथा तो साहित्यिक दृष्टि से बहुत ही सुन्दर तथा सुभग है—

मुहमासएण तं कह्ण गोरऊँ राहिआएँ अवणेन्तो ।
एताणं बलवीणं अण्णाणापि गोरअं हरसि ॥[३] (१।८९)

भाव है—हे कृष्ण! तुम अपने मुख की हवा से, मुँह से फूंक मारकर, राधिका के मुँह में लगे हुए गोरज (धूलि) को हटा रहे हो। इस व्यापार से, इस प्रेम-प्रकाशन के द्वारा, तुम इन गोपियों का तथा दूसरी गोपियों का गौरव हर रहे हो।

गाथा बड़ी साफ-सुथरी भाषा में राधिका के प्रति कृष्ण के विपुल प्रेम का तथा राधिका के महनीय गौरव का संकेत करती है। इस गाथा में 'गोरअ' शब्द दो संस्कृत शब्दों का समान प्राकृत रूप है—'गोरज' का तथा 'गौरव' का। इन विभिन्न अर्थों को एकरूप पद के द्वारा अभिव्यक्त कर कवि ने आलंकारिक चमत्कार का प्रदर्शन किया है।

इस प्रकार १२वीं शती में रचित 'गीतगोविन्द' से आरम्भ कर तत्प्राचीन अन्यान्य काव्य-ग्रन्थों की समीक्षा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हाल की सप्तशती का उल्लेख सबसे प्राचीन है। इसकी रचना के काल का विचार आगे किया गया है।

पुराणों में राधा

पुराणों में राधा-चरित्र की छानबीन करने में बड़ी विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। पुराणों के वैज्ञानिक संस्करणों के अभाव में यह कहना बहुत ही कठिन है कि अमुक अध्याय मूल ग्रन्थ का ही अंश है अथवा पीछे किसी के द्वारा योजित प्रक्षिप्त अंश। ठीक-ठीक निर्णय करने में कठिनाइयाँ अनेक हैं। फिर भी, पुराणों में राधा का चरित्र श्रीकृष्ण के चरित्र के साथ-साथ वर्णित हैं, कहीं संक्षेप से और कहीं विस्तार से। पुराणों के प्रति आलोचकों की एक स्वाभाविक विरक्ति है कि पुराण का नाम सुनते ही वे घबरा उठते हैं और उस पौराणिक वर्णन को काल्पनिक बतलाकर उसकी उपेक्षा ही करते हैं। परन्तु सर्वत्र ऐसी बात नहीं है। सब पुराणों में सामान्य रूप से प्रक्षिप्त अंश वर्त्तमान है, यह कहना भी यथार्थ नहीं है। ऐसी स्थिति में पुराणों में प्रतिपादित राधा चरित्र के विषय में इदमित्थं रूप से कुछ कहना संशय तथा सन्देह से खाली नहीं है, फिर भी एक सामान्य रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत की जाती है।

सबसे आश्चर्य की बात है कि जिस श्रीमद्भागवत में राधाकृष्ण की ललित तथा मधुर लीलाएँ बड़े विस्तार के साथ वर्णित हैं, उसी में 'राधा' का नाम स्पष्टतया अंकित नहीं है। भागवत में रासलीला के प्रसंग में वर्णन आता है कि कृष्ण रासमंडल में से एक अपनी प्रियतमा गोपी को साथ लेकर अन्तर्हित हो जाते हैं। इस व्यापार से सब गोपियाँ व्याकुल हो उठती हैं और कृष्ण को ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न करती हैं। खोजते-खोजते यमुना के उस विमल बालुकाराशि में उन्हें कृष्ण के पद-चिह्न दिखलाई पड़ते हैं और अकेले नहीं। उसके पास किसी व्रजबाला का

---

३. त्वं कृष्ण राधिकाया मुखमारुता गोरजोऽपनयन् ।
आसामन्यासामपि गोपीनां गौरवं हरसि ॥

उद्धृत तीनों गाथाएँ साहित्याचार्य मथुरानाथ शास्त्री-रचित संस्कृत गाथा सप्तशती से यहाँ उद्धृत की गई हैं। मूल गाथाओं के भाव को यथार्थतः रक्षा करने में यह अनुवाद नितान्त कृतकार्य है। —गाथासप्तशती, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई। १९३३

पदचिह्न दृष्टिगोचर होता है। उसके सौभाग्य की प्रशंसा करती हुई गोपियाँ कह उठती हैं—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥—भागवत, १०।३०।२४

इस रमणी के द्वारा अवश्य ही भगवान् ईश्वर कृष्ण आराधित हुए हैं। क्योंकि गोविन्द हमको छोड़कर प्रसन्न होकर उसे एकान्त में ले गये हैं। धन्या गोपी की प्रशंसा में उच्चरित इस पद्य में राधा का नाम झीने चादर से ढके हुए किसी गूढ बहुमूल्य रत्न की तरह स्पष्ट झलकता है।

(१) इस श्लोक की टीका में गौडीय वैष्णव गोस्वामियों ने स्पष्ट ही 'राधा' का गूढ संकेत खोज निकाला है। 'अनया राधितः' का पदच्छेद दो प्रकार से किया गया है—अनया + राधितः तथा अनया+आराधितः। दोनों में समान अर्थ की ही अभिव्यक्ति होती है। श्रीसनातनगोस्वामी ने अपनी 'बृहत्तोषिणी' व्याख्या में लिखा है—राधयति आराधयतीति श्रीराधेति नामकरणञ्च श्रीजीवगोस्वामी ने भी यही बात दुहराई है अपनी 'वैष्णवतोषिणी' व्याख्या में। विश्वनाथ चक्रवर्त्ती तथा धनपति सूरि ने भी यहाँ 'राधा' का नामकरण गुप्त भाव से स्वीकार किया है।

(२) श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने एक और पते की बात कही है अपनी 'सारार्थदर्शिनी' व्याख्या में। उनका कहना है कि पैर के चिह्नों को देखकर गोपियों ने समझ लिया कि ये चिह्न निःसन्देह वृषभानु-नन्दिनी ही के हैं, परन्तु नाना प्रकार की गोपियों के संघट्ट में उसका बाहर प्रकाशन उन्हें अनुचित जान पड़ा। इसीलिए उस विशिष्ट गोपी की नाम-निरुक्ति द्वारा उसके सौभाग्य को सहर्ष अभिव्यक्त किया--

पदचिह्नैरेव तां वृषभानुनन्दिनीं परिचित्य अन्तराश्वस्ता बहुविधगोपीजनसंघट्टे तत्र बहिरपरिचयमिवाभिनयन्त्यः तस्याः सुहृद तन्नामनिरुक्तिद्वारा तस्याः सौभाग्यं सहर्षमाहुः ।

(३) 'विशुद्धिरसदीपिका' ने इस श्लोक की व्याख्या में 'गोविन्द' नाम की महत्ता प्रदर्शित की है। वाराहतन्त्र का वचन है कि भगवान् हरि वृन्दावन में 'गोविन्द' नाम से प्रख्यात होते हैं, अर्थात् वे वृन्दावन के ईश्वर हैं। फलतः आराधना के द्वारा उस गोविन्द को अपने वश में करने-वाली गोपी निःसन्देह 'वृन्दावनेश्वरी' है। इस प्रकार इस श्लोक के द्वारा प्रधान गोपी का नाम ही संकेतित नहीं होता, प्रत्युत उसकी भूयसी महत्ता भी प्रदर्शित होती है—

स च अनया सह यातया राधितः वशीकृतः सन् गोविन्दः श्रीवृन्दावनेश्वरीत्वाद् अस्याः। तस्य च वृन्दावनेश्वरत्वादिति भावः। वृन्दावने तु गोविन्दमितिवराहतन्त्रोक्तेः।

(४) श्रीनिम्वार्क मत के अनुयायी टीकाकार शुकदेव ने अपने 'सिद्धान्तप्रदीप' में 'राधितः' पद की एक विलक्षण व्याख्या की है। 'राधितः' का अर्थ है राधा से संयुक्त। अर्थात्, कृष्ण के विहार में राधा ही हेतुभूत हैं। उसके विना वृन्दावन में कृष्ण का विहार ही फीका और निष्प्रणा है। राधा के कृष्ण का निकुँज विहार नितान्त गोपनीय होता है। वह अनुभवैकगम्य दिव्य वस्तु है। इसी अभिप्राय से शुकमुनि ने न उस विशिष्ट गोपी का नाम-निर्देश किया है और न कृष्ण के साथ उसके विहार का ही स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया है—

राधा सह जाता अस्य तथा 'तारकादिभ्य इतच्' । राधाकृष्णविहारे हेतुभूतेयमित्यर्थः तया सह विहारोऽतिगोप्यत्वन्नोक्तः ।

शुकदेवाचार्यजी के मत में यह श्लोक कृष्ण की 'निकुंज-लीला'[1] का संकेत करता है। यह लीला नितान्त गोप्य, गुह्य तथा रहस्यभूता है। जहाँ किसी का भी प्रवेश निषिद्ध है। और तो क्या? स्वयं प्रीतिपात्री गोपियों का भी यहाँ प्रवेश नहीं होता। वे भी इस लीला के देखने की अधिकारिणी नहीं हैं। इस लीला में राधा ही कृष्ण की एकमात्र सहचरी रहती हैं। परम रसामृतमूर्त्ति सकलसौन्दर्यनिकेतन श्रीरसरूप भगवान् रस के आस्वादन के लिए दो रूप धारण करते हैं, जिनमें एक है श्रीकृष्णरूप और दूसरा श्री राधारूप। इस प्रकार राधाकृष्ण की विशुद्ध रसकेलि ही निकुंज-लीला के द्वारा प्रतिष्ठित होती है। वह नितान्त गोपनीय होती है। इसीलिए मुनि ने यहाँ दोनों को गोप्य रखा है।

भक्तों के सामने यह प्रश्न सर्वदा जागरूक है कि व्यासजी ने भागवतकी रचना में राधा का नाम प्रकट नहीं किया? क्या कारण है कि उन्होंने उसे गुप्त ही रखा है? इस शंका के समाधान में जो तथ्य कहे जाते हैं, वे ऐतिहासिकों को भले ही युक्तियुक्त न प्रतीत हों, परन्तु श्रद्धालु भक्तजनों के लिए वे श्रद्धाजनक ही नहीं, हृदयाकर्षक हैं। ऐसे समाधान का कतिपय अंश यहाँ प्रस्तुत किया जाता है--

(१) श्रीसनातनगोस्वामी की कल्पना है कि जब शुकदेवजी गोपियों के अद्भुत प्रेम की लीला प्रस्तुत कर रहे थे, तब उनकी विरहाग्नि की कणिका से उनका हृदय इतना विकल हो उठा कि वे अपना देहानुसन्धान भूल गये। ऐसी विकलता में यदि 'राधा' का नाम उनके मुख से बाहर नहीं निकला, तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है?

> गोपीनां विततादभुतस्फुटतरप्रेमानलार्चिच्छटा
> दग्धानां किल नामकीर्त्तनकृतात् तासां विशेषात् स्मृतेः।
> तत्तीक्ष्णोज्जलनच्छिखाग्रकणिकास्पर्शेन सद्योमहा-
> वैकल्यं स भजन् कदापि न मुखे नामानिकर्त्तुं प्रभुः॥--श्रीमभागद्वतमृत

(२) एक दूसरा भी कारण है इसका। यह तो लोक-प्रसिद्ध बात है कि इष्ट वस्तु की सम्पत्ति गोपन--से छिपाकर रखने से ही सिद्ध होती है। कुम्हार के आँवा को तो देखिए। उसके ऊपर मिट्टी का गहरा लेप रहता है। ऊपर से आग का एक कण भी वहाँ नहीं दीखता, परन्तु भीतर से जोरों की ज्वाला जलती रहती है। जिस जगह से भाप बाहर निकल जाती है, उस स्थान का बरतन कच्चा ही रह जाता है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर रसिकेन्द्रशेखर श्रीशुकमुनि राधा-रूपी अपने परम धन को गुप्त रखते थे, राधा के नाम का आस्वादन अन्तर्बाष्प भाव से अपने चमत्कृत अन्तःकरण में ही करते थे। उन्होंने सारों का सार अत्यन्त मूल्यवान् सार पदार्थ समझ कर उसे बाहर प्रकट करना नहीं चाहा--

> गोपनादिष्टसम्पत्तिः सर्वथा परिसिध्यति।
> कुलालपुर के पात्रमन्तर्वाष्पतया तथा॥

परम रसिक श्रीव्यासजी ने अपने एक पद में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है--

> परमधन श्री राधानाम आधार।
> जाहि स्याम मुरली में टेरत सुमिरत बारम्बार॥

१. द्रष्टव्य : भागवतसम्प्रदाय, पृ० ६५४-५६ (प्रकाशक--नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी सं० २०१०)।

जंत्र मंत्र औ वेदतन्त्र में सबै तार को तार।
श्री सुकदेव प्रगट नहीं भाख्यौ जान सार कौ सार॥
कोटिक रूप धरै नँदनन्दन, तऊ न पायौ पार।
व्यासदास अब प्रकट बखानत, डारि भार में भार॥

इस पद की तीसरी पंक्ति में व्यास जी ने पूर्वोक्त तथ्य को ही अपनी भाषा में प्रकट किया है कि राधा का नाम सार पदार्थों का भी सार है और इसीलिए शुकदेवजी ने उसे गुप्त ही रखा, प्रकट नहीं किया।

(३) रसिकों का कथन है कि राधा का नाम गुप्त रखना शुकदेव जी की चातुरी है कि उन्होंने अन्य लीलाओं का वर्णन तो नदी के समान उन्मुक्त शैली में किया, परन्तु रास का वर्णन कूप जल के समान निगूढ शैली में किया—

लीलाशुकस्य लीलेयं लीलान्यासोपवर्णिता।
कल्लोलिनीस्वरूपेण रासं कूपजलोपमम्॥

इसका आशय यह है कि जिस प्रकार नदी से कोई प्यासा विना पात्र के ही जल पीकर अपनी प्यास बुझा सकता है, उसी प्रकार भागवत में श्रीकृष्ण के सख्य, वात्सल्य आदि लीलाओं का आस्वादन प्रत्येक प्रकार का भक्त कर सकता है। किन्तु रास की वर्णन-भंगी कुएँ के जल के समान है। लोटा और डोरी जिस व्यक्ति के पास न हो, तो वह प्यासा होने पर अपनी प्यास नहीं बुझा सकता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के पास निष्ठा-रूपी डोरी तथा प्रेम-रूपी पात्र का अभाव है, वह चाहे कितना भी जिज्ञासु क्यों न हो, रासपंचाध्यायी का एक अक्षर भी यथार्थतः नहीं समझ सकता। रास-पंचाध्यायी के प्राण हैं श्रीराधिका। उन्हें समझने के लिए शुकदेव मुनि जिज्ञासुजनों में विशुद्ध भक्ति का उद्रेक चाहते हैं। तभी तथ्य प्रकट हो सकता है।

(४) 'विशुद्धिरसदीपिका' नामक भागवत की व्याख्या उक्त श्लोक की टीका आराधयतीति आराधिका व्युत्पत्ति कर राधा की ओर स्पष्ट संकेत करती है और कहती है कि राधा के सुधोपम साहचर्य को पाकर ही गोविन्द 'भगवान्' वनते हैं। 'भगवान्' का अर्थ ही है—सकल ऐश्वर्य तथा माधुर्य का प्रकाशक। राधा के कारण ही गोविन्द की भगवत्ता है—

भगवान् सकलैश्वर्यमाधुर्यप्रकाशकः। अनया तया सह गोविन्दो भगवान्। एतत् कृतैव अस्य भगवत्ता इति भावः।

राधा-नाम-गोपन के विषय में इस व्याख्याकार का कथन है कि 'परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विष,(देवता लोग प्रत्यक्ष के द्वेषी होते हैं तथा परोक्ष के प्रेमी होते हैं) इस न्याय को दृष्टि में रखकर ही नाम का गोपन किया गया है। रसिकों की दृष्टि में व्यंजना-शक्ति का महत्त्व है, मुख्या वृत्ति (अभिधा) का नहीं। व्यंजना के द्वारा अभिव्यक्त की गई वस्तु अत्यन्त रुचिर तथा वेधक होती है। अभिधा द्वारा कथन न रोचक होता है, न हृदयाकर्षक। इसी साहित्य-शैली को दृष्टि में रखकर पूर्वोक्त श्लोक में श्रीमती राजरानी ठकुरानी 'राधा' का नाम व्यंजना के द्वारा संकेतित है; वह अभिधा के द्वारा अव्यक्त होकर अरसिकों की समझ से बाहर ही रखा गया है। 'अरसिकेषु कवित्व निवेदनम्' की भाँति 'अभक्तेषु राधानामनिवेदनम्' भी

घोर-घोरतर अपराध है। इसी अपराध से बचने के लिए भागवत में यह बात जान-बूझकर रखी गई है—

साक्षान्नामानुक्तिश्च विपक्षादिसमुदायगोपनीयत्वात् रसिकानां मते व्यञ्जनाया एव मुख्यत्वं न तु मुख्याया इति सहचरीणामभिप्रायः। —विशुद्धिरसदीपिका, १०।३०।२८ पर।

(५) 'विशुद्धिरसदीपिका' के अनुसार इस नाम के अप्रकटन में शुकदेवजी का एक गूढ अभिप्राय और भी है। श्रीराधाजी हैं कृष्णचन्द्र की साक्षात् आत्मा। वह स्वयं परब्रह्मभूता हैं जो मन तथा वचन से अगोचर होने के कारण सर्वथा अनिर्देश्य हैं। इसीलिए उपनिषदों में आत्मा का वर्णन शब्द-प्रयोग के द्वारा इदं (यह) इत्थम् (इस प्रकार) रूप से नहीं किया गया है। बाध्वमुनि को वाष्कलि ऋषि ने ब्रह्म के स्वरूप के विषय में पूछा, एक बार ही नहीं, दो बार और तीन बार। परन्तु बाध्व चुपचाप ही रहे। उन्होंने प्रश्न के उत्तर में किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया। ('वाष्कलिना च बाध्वपृष्टः सन् अवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाच इति श्रूयते।'—शंकरभाष्य ३।२।१७)। तीसरी बार प्रश्न किये जाने पर उन्होंने झट उत्तर दिया—'मैं तो प्रति बार प्रश्न का उत्तर दे रहा हूँ, परन्तु आप उसे समझ नहीं रहे हैं। आत्मा शांत रूप है। उसका निर्देश शब्दों के द्वारा नहीं होता।' इसी भाव को दृष्टि में रखकर शुक मुनि ने परब्रह्मरूपा राधा के नाम का निर्देश शब्दों से नहीं किया है—

श्रीहरेरात्मत्वेन वक्ष्यमाणाया परपरब्रह्मभूतायाः मनोवचोऽगोचराया अनिर्देश्यात् गौरवाच्च नामानुक्तिरिति श्रीमुनीन्द्राभिप्रायः। आत्मना रमयेत्यन्यत्रापि आत्मानश्चानिर्वचनीयत्वेनैव कथनम् 'अवचनेनैव प्रोवाच' इति श्रुतेः।

—विशुद्धिरसदीपिका, १०।३०।२८ पर।

श्रीमद्भागवत में 'राधा' का नाम प्रतिपादित है, परन्तु वह भी अस्पष्ट रूप से ही है। द्वितीय स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में श्रीशुकदेवजी ने कथा आरम्भ करने से पहले जो दिव्य स्तुति की है, उसमें एक पद्य में राधा का अस्पष्ट उल्लेख माना जा सकता है—

नमो नमोऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्त साम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः॥ —भागवत, २।४।१४

श्लोक का तात्पर्य है, जो भक्तों के पालक हैं, हठपूर्वक भक्तिहीन साधन करनेवाले लोग जिनकी छाया भी नहीं छू सकते, जिनके समान भी किसी का ऐश्वर्य नहीं है, फिर उससे अधिक तो हो ही कैसे सकता है? ऐसे ऐश्वर्य से युक्त होकर जो निरन्तर अपने ब्रह्मस्वरूप धाम में विहार करते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्ण को मैं बारंबार प्रणाम करता हूँ।

इस पद्य में राधस् शब्द शक्ति तथा ऐश्वर्य का वाचक है। राध् धातु से 'सर्वधातुभ्योऽसन्' इस औणादिक सूत्र से अस् प्रत्यय करने पर 'राधस्' शब्द सिद्ध होता है और इसी की तृतीया विभक्ति है 'राधसा'। 'राधा' शब्द भी इसी राध् धातु से सिद्ध होता है। फलतः राधस् तथा राधा एक ही अर्थ के वाचक शब्द हैं।

इस विवेचन का सारांश है कि श्रीमद्भावगत में प्रत्यक्ष रूप से 'राधा' का नामोल्लेख न मिलने पर भी अप्रत्यक्ष उल्लेख का निषेध नहीं किया जा सकता। उल्लेख के अप्रत्यक्ष किये जाने के कतिपय कारणों का भी निर्देश ऊपर किया गया है। फलतः श्रीमद्भागवत को 'राधा' से नितान्त अपरिचित कहने का साहस किसी भी विज्ञ आलोचक को नहीं होना चाहिए[१]।

विष्णुपुराण रचना की दृष्टि से प्राचीन पुराणों में अन्यतम माना जाता है।[२] तमिल भाषा में लिखा गया प्राचीन काव्य 'मणिमेखलै' विष्णुपुराण से परिचय रखता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईसवी पूर्व दो सौ वर्ष पहले यह पुराण सुदूर दक्षिण के तमिल-प्रान्त में प्रसिद्धि पा चुका था। इस प्राचीन पुराण का श्लोक-परिमाण भागवत की अपेक्षा एक तिहाई से अधिक नहीं है। इसके पंचम अंश (खण्ड) में श्रीकृष्ण का वर्णन ३८ अध्यायों में संक्षेप में किया गया है। इस अंश के तेरहवें अध्याय में रासलीला का वर्णन है, जो श्रीमद्भागवत के वर्णन से बहुत भिन्न नहीं है। विष्णुपुराण का यह महत्त्वपूर्ण अध्याय ब्रह्मपुराण के १८९वें अध्याय में ज्यों-का-त्यों मिलता है। अन्तर इतना ही है कि ब्रह्मपुराण ने विष्णुपुराणीय वर्णन को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में रखा है। अनेक श्लोक जान-बूझकर इस संक्षिप्तीकरण में छोड़ दिये गये हैं और उसमें वह श्लोक भी है, जिसमें राधा का संकेत, अस्पष्टरूपतया ही सही, किया गया मिलता है। विष्णु पुराण के वर्णन में एक प्रधान गोपी का अस्पष्ट निर्देश है। गोपियाँ कह रही हैं––अरी देखो, कृष्ण के साथ कोई पुण्यवती मतमाती युवती भी गई है, जिसके ये घने छोटे-छोटे और पतले चरण-चिह्न दिखलाई देते हैं, (श्लोक ३३)। यहाँ निश्चय ही दामोदर ने ऊँचे होकर पुष्पचयन किया है; इसी कारण यहाँ उन महात्मा के चरणों के केवल अग्रभाग ही अंकित हुए हैं (३४) यहीं बैठकर उन्होंने निश्चय ही किसी बड़भागिनी का फूलों से श्रृंगार किया है। अवश्य ही उसने अपने पूर्वजन्म में सर्वात्मा श्री विष्णुभगवान् की उपासना की होगी।

अत्रोपविश्य वै तेन काचित् पुष्पैरलङ्कृता।
अन्यजन्मनि सर्वात्मा विष्णुरभ्यर्चितस्तया॥ (५।१३।३५)

इस श्लोक का 'अभ्यर्चितस्तया' 'अनया राधितः' के समान ही शब्द-योजना में है। 'राधितः' या 'आराधितः' के स्थान पर यहाँ 'अभ्यर्चितः' पद का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार भागवत तथा विष्णुपुराण के रास-वर्णन में भाव तथा भंगी की दृष्टि में बहुत कुछ अनुरूपता है। भागवत का पंचाध्यायी रास-वर्णन विस्तृत है। विष्णुपुराण का एकाध्यायी वर्णन संक्षिप्त है। अन्तर इतना ही है।

---

१. भागवत के समय के लिए देखिए मेरा ग्रन्थ––भागवत सम्प्रदाय (प्रकाशक––नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी; सं० २०१०) पृ० १५१–१५३।

२. संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों में भी विष्णुपुराण के श्लोक दृष्टान्त देने के लिए उद्धृत किये गये हैं। उदाहरण के लिए, 'तच्चित्तविमह्लाद' (५।१३।२१) और 'चिन्तयन्ती जगत् सूतिं' (५।१३।२१) ये दोनों पद्य काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में ध्वनि के दृष्टान्त में उद्धृत किये हैं। पाठभेद भी है। 'तच्चित्तविमलाह्लाद' के स्थान पर काव्यप्रकाश में 'तच्चिन्ताविपुलाह्लाद' पाठ मिलता है।

पद्मपुराण का जो वर्त्तमान रूप हमें उपलब्ध होता है, उसके अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि पुराणों में यह मुख्य वैष्णव पुराण है और राधातत्त्व के उन्मीलन में यह प्रवल रूप से जागरूक है। रूपगोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वलनीलमणि' में और कृष्णदास कविराज ने अपने 'चैतन्यचरितामृत' में पद्मपुराण का राधा का उल्लेख करनेवाला यह श्लोक उद्धृत किया है—

यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा।
सर्वगोपीषु सैवेका विष्णोरत्यन्तवल्लभा ॥

परन्तु इस पुराण में राधा का नाम, यश, स्वरूप तथा व्रत का वर्णन इतनी अधिकता से आज उपलब्ध हो रहा है कि विद्वानों को इन विषयों की प्राचीनता में सन्देह उत्पन्न हो रहा है। राधा-तत्त्व का विकसित रूप हमें इस पुराण में उपलब्ध होता है। यदि इस वर्णन की प्राचीनता निःसन्देह रूप से सिद्ध हो जाय, तो मानना पड़ेगा कि राधा के इसी विवरण को गौडीय वैष्णवों ने अपने ग्रन्थों में गृहीत किया है। परन्तु इसके रचना-काल का ठीक-ठीक परिचय नहीं मिलता। इसलिए ऐतिहासिक निर्णय के लिए स्थिति वड़ी ही जटिल तथा संशयोत्पादिनी है।

राधाविषयक उल्लेखों से यह पुराण तो भरा पड़ा है। इस पुराण के ब्रह्मखण्ड के सप्तम अध्याय में 'राधाष्टमी' के व्रत का पूर्ण विधान है। राधा के जन्म के विषय में कहा गया है कि भादों मास के शुक्लपक्ष की अष्टमी को वृषभानु की यज्ञभूमि में राधा का प्राकट्य हुआ। यज्ञ के लिए जब राजा वृषभानु भूमि का शोधन कर रहे थे, तब उन्हें राधाजी मिलीं और उन्हें लाकर उन्हें अपनी पत्नी को दिया, जिसने कन्या का लालन-पालन कर बड़ा किया (श्लोक ३९–४०)। पातालखण्ड के अध्याय ६९ से आरंभ कर अनेक अध्यायों में वृन्दावन की महिमा का उद्घोष वड़े विस्तार से किया गया है। यहाँ वताया गया है कि नित्य वृन्दावन ब्रह्माण्ड के ऊपर स्थित है, वहाँ ब्रह्मसुख तथा ऐश्वर्य की पूर्णता रहती है और वह अव्यय आनन्ददायक लोक है। 'गोलोक' का ऐश्वर्य प्रतिष्ठित है, 'गोकुल' में; 'वैकुण्ठ' का वैभव विराजता है 'द्वारिका' में और वह नित्य दिव्य वृन्दावन स्वयं मथुरा-मण्डल में वर्त्तमान प्राकृत वृन्दावन के रूप में शोभित होता है। अ० ६९ में इसका वर्णन वहुत ही सूक्ष्मता से किया गया है और यहाँतक कहा गया है कि यह पूर्ण ब्रह्मसुख का आश्रय है और गोविन्द की देह से अभिन्न है, जिससे धूलिकण के स्पर्शमात्र से साधकों को मुक्ति प्राप्त हो जाती है (श्लोक ७२)। यहीं पर माणिक्य के सिंहासन पर विराजमान गोविन्द के रूप का वड़ा ललित तथा साहित्यिक विवरण है। इसी प्रसंग में राधाजी का उल्लेख है—

तत्प्रिया प्रकृतिस्त्वाद्या राधिका कृष्णवल्लभा।
तत्कलाकोटिकोट्यंशा दुर्गाद्यास्त्रिगुणात्मिकाः ॥
तस्या अङ्घ्रिरजः स्पर्शात् कोटिविष्णुः प्रजायते ॥११८॥—पातालखण्ड, अ० ६९

राधा आद्या प्रकृति तथा कृष्ण की वल्लभा हैं। दुर्गा आदि त्रिगुणमयी देवियाँ उसकी कला के करोड़वें अंश को धारण करती हैं, और उनके चरण की धूलि के स्पर्शमात्र से करोड़ों विष्णु उत्पन्न होते हैं। ७०वें अध्याय में राधा मूल प्रकृति वतलाई गई हैं और उस प्रकृति की अंश-रूपिणी नाना गोपियों का उल्लेख है, जो उसके स्वर्णसिंहासन के आसपास रहती हैं। इसी खण्ड के ७७ वें अध्याय में राधा विद्या तथा अविद्यारूपिणी, परा, त्रयी, शक्तिरूपा, मायारूपा

चिन्मयी, देवत्रय की उत्पादिका तथा वृन्दावनेश्वरी वतलाई गई हैं। जिसका आलिंगन कर वृन्दावनेश्वर सर्वदा आनन्दमग्न रहते हैं—

तासां मध्ये तु या देवी तप्तचामीकरप्रभा ।। १३ ।।
द्योतमाना दिशः सर्वाः कुर्वती विद्युदुज्ज्वलाः ।
प्रधानं या भगवती यया सर्वमिदं ततम् ।। १४ ।।
सृष्टिस्थित्यन्तरूपा या विद्याऽविद्या त्रयी परा ।
स्वरूपा शक्तिरूपा च मायारूपा च चिन्मयी ।। १५ ।।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां देहकारणकारणाम् ।
चराचरं जगत् सर्वं यन्मायापरिरम्भितम् ।। १६ ।।
वृन्दावनेश्वरी नाम्ना राधा धात्राऽनुकारणत् ।
तामालिङ्ग्य वसन्तं तं मुदा वृन्दावनेश्वरम् ।। १७ ।।

——पद्मपुराण, पातालखण्ड, अ० ७७

इस पुराण की पूर्ण मान्यता है कि राधा के समान न कोई स्त्री है और कृष्ण के समान न कोई पुरुष है—न राधिकासमा नारी न कृष्णसदृशः पुमान् (१ लोक ५१), अर्थात् राधाकृष्ण की युगलमूर्त्ति आदर्श नायिका-नायक की है। मेरी दृष्टि में यही उक्ति साहित्य-संसार में राधाकृष्ण को आदर्श दम्पती के रूप में चित्रित करने में कारण मानी जा सकती है। पिछले युग के भक्त-कवियों ने इस आदर्श युगल के चित्रण में अपनी समग्र प्रतिभा, सम्पूर्ण काव्य-चातुरी तथा मनोरम रसमाधुरी का उपयोग कर जो स्निग्ध चित्र खींचा है, वह संसार के साहित्य में अनुपम और अतुलनीय है।

श्रीदेवीभागवत में भी राधा की उपासना तथा पूजा पद्धति का विशेष विवरण मिलने से यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उस युग में राधा को श्रीकृष्ण का साहचर्य प्राप्त हो गया था। नवम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में महाविष्णु की उत्पत्ति चिन्मयी राधा से बतलाई गई है। यह महाविष्णु महान् विराट्-स्वरूप वालक के रूप में चित्रित किये गये हैं। परमात्म-स्वरूपा प्रकृतिसंज्ञक राधा से उत्पन्न यह बालक सम्पूर्ण विश्व का आधार बतलाया गया है। इसके प्रत्येक रोम कूप में असंख्य ब्रह्माण्डों की सत्ता है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा, विष्णु और शिव विद्यमान हैं। इस प्रकार इस बालक के शरीर में विद्यमान ब्रह्माण्डों की संख्या जताई नहीं जा सकती। इसी स्कन्ध के ५० वें अध्याय में राधा के मन्त्र का स्वरूप, जपविधि तथा फल का विवरण विशेष रूप से दिया गया है। राधा का मन्त्र है—'श्रीराधायैस्वाहा।' इस मन्त्र के आदि में मायाबीज (ह्रीं) का प्रयोग करने से यह श्रीराधावाञ्छा-चिन्तामणि मन्त्र बन जाता है, जिसका स्वरूप है—'ह्रीं श्रीराधायै स्वाहा।' राधा की अर्चना के विना कृष्ण की अर्चा में किसी का अधिकार नहीं है। इसलिए वैष्णवों का कर्त्तव्य है कि वे कृष्ण-पूजा से पहले राधा की पूजा अवश्य करें। राधा कृष्ण को प्राणों से भी अधिक प्रिय है। वें व्यापक परमात्मरूप कृष्ण राधा के अधीन सर्वदा बने रहते हैं और उनके विना वे क्षण-भर भी नहीं रहते—

कृष्णार्चायां नाधिकारो यतो राधार्चनं विना ।
वैष्णवैः सकलैस्तस्मात् कर्त्तव्यं राधिकार्चनम् ।।१७।।

कृष्णप्राणाधिका देवी तदधीनो विभुर्यतः ।
रासेश्वरी तस्य नित्यं तया विना न तिष्ठति ॥१८॥

—देवी भागवत, ६।५०।

'राधा' नामकी व्युत्पत्ति सिद्ध्यर्थक राध् धातु से मानी गई है—

राध्नोति सकलान् कामान् तस्माद् राधेति कीर्त्तिता ।

एक वात विशेष ध्यान-योग्य है। राधा की पूजाविधि का सम्बन्ध सामवेद के साथ वतलाया गया है। भगवती राधा के दिव्य रूप की झाँकी इस अध्याय में वड़े शोभनरूप में दी गई है। भगवती राधा का रूप श्वेत चम्पक के समान है और उनका श्रीविग्रह असंख्य चन्द्रमा के समान चमचमा रहा है। रत्नमय आभूषणों से विभूषित ये देवी सदा वारह वर्ष की ही अवस्था की प्रतीत होती है। राधा-यन्त्र के रूप का भी यहाँ विवरण दिया गया है। इसी पुराण के एक दूसरे स्थल पर कहा गया है कि मूल प्रकृति राधा के दक्षिण अंग से राधा का प्राकट्य होता है और वाम अंग से लक्ष्मी का यह कथन उस युग का संकेत करता है, जव लक्ष्मी गौण हो चली थी और राधा की प्रमुखता वैष्णव धर्म में अपने उत्कर्ष पर थी। देवीभागवत वस्तुतः शक्ति की उपासना तथा महिमा वतलाने वाला पुराण है। यही कारण है कि वह अन्य शक्तियों का भी विपुल वर्णन उपस्थित करता है। श्रीकृष्ण की शक्तिरूपा चिन्मयी राधा की सत्ता, उनके मन्त्र का विधान, पूजा की विधि तथा राधा यन्त्र की महिमा इस तथ्य का द्योतक है कि इस युग में राधा की पूर्ण प्रतिष्ठा वैष्णव धार्मिक जगत् में सम्पन्न हो चुकी थी।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण[1] के 'कृष्णजन्म' खण्ड नामक अन्तिम खण्ड में, जो परिमाण में इस पुराण के अन्य खण्डों के सम्मिलित अध्यायों से भी वढ़कर है (पूरा अध्याय, संख्या १३१), श्रीराधा तथा कृष्ण का चरित्र वड़े ही संरम्भ के साथ वर्णित है। पन्द्रहवें अध्याय में 'राधा' के स्वरूप का वड़ा चमत्कारी साहित्यिक विवरण प्रस्तुत किया गया है, जिससे प्रतीत होता है कि कवि उन्हें आदर्श-नारी का प्रतिनिधि मानकर अपना काव्य-कौशल अभिव्यक्त कर रहा है। इसी अध्याय में राधा के साथ कृष्ण का विधिवत् विवाह वर्णित है। २७वें अध्याय में राधा-कृष्ण संवाद का प्रसंग है, जिसमें राधा के साथ अपने अविनाभाव सम्वन्ध को प्रकट करते समय पार्वती का वचन है—

यथा क्षीरेषु धावल्यं यथा वह्नौ च दाहिका ।
भुवि गन्धो जले शैत्यं तथा कृष्णे स्थितिस्तव ॥२१२ ॥

जिस प्रकार दूध में धवलता, अग्नि में दाहकता, पृथ्वी में गन्ध, जल में शीतलता का निवास रहता है, उसी प्रकार कृष्ण में तुम्हारी स्थिति है। उससे वढ़कर सौभाग्यशालिनी नारी का सर्वथा अभाव है। इसके अनन्तर अध्यायों में रासक्रीडा का वड़ा ही विस्तृत वर्णन है (अ० २८ तथा २९)। राधा के साथ माधव के अन्तर्हित होने की वात यहाँ उसी रूप में है, जिस रूप में वह भागवत तथा विष्णुपुराण में वर्णित है (२९।१२)। अध्याय ९२ में उद्धवजी ने राधा की जो स्तुति की है, उसमें परवर्त्ती भावों का विशेष मिश्रण लक्षित होता है। संसार में

१. यह गुरुमण्डल-ग्रन्थमाला में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है (१४वाँ पुष्प; प्रकाशक—राधाकृष्ण भोर, कलकत्ता, १९५५)।

जितनी शक्तियाँ हैं—सावित्री, दुर्गा, पार्वती, त्रिपुरा, सती, अपर्णा, गौरी आदि—उन सबके साथ राधा का ऐक्य स्थापित किया गया है और यहाँ भी शक्ति और शक्तिमान् का अभेद स्थिर किया गया है (९२।८६,८७) राधा-उद्धव के संवाद अनेक अध्यायों में वर्णित हैं। इस संवाद में ऐसी अनेक बातें दृष्टिगोचर होती हैं जिनमें भक्ति के प्राचुर्य का माहात्म्य, कीर्त्तन विशेष रूप से वर्त्तमान है। प्रेम की चर्चा करते-करते उद्धव वेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ते हैं और गोपियाँ उनका गला पकड़कर रोती है और राधा उनके मुँह में जल डाल कर उन्हें उठाती हैं ये सब वर्णन प्रेम के गौरव-प्रदर्शन के निमित्त किये गये प्रतीत होते हैं। १११वें अध्याय में कृष्ण के नाना नामों की निरुक्ति विस्तार के साथ दी गई है। इसमें 'राधा' शव्द की भी निरुक्ति है। एक व्युत्पत्ति के अनुसार 'राधा' मे 'रा' शव्द विष्णु का तथा 'धा' शव्द धात्री (माता या जननी) का वाचक वताया गया है। इस प्रकार राधा को विष्णु की जननी, ईश्वरी तथा मूल प्रकृति सिद्ध किया गया है—

राशब्दश्च महाविष्णुर्विश्वानि यस्य लोमसु।
विश्वप्राणिषु विश्वेषु धा धात्री मातृवाचकः॥ ५७॥
धात्री माताहमेतेषां मूलप्रकृतिरीश्वरी।
तेन राधा समाख्याता हरिणा च पुरा बुधैः॥ ५८॥

इस प्रकार ब्रह्मवैवर्त्तपुराण राधा-माधव की लीला से ओतप्रोत है। कुछ बातें तथा घटनाएं यहाँ ऐसी हैं, जो अन्य पुराणों में दृष्टिगोचर नहीं होतीं। कृष्ण के साथ राधा का विवाह भी ऐसा ही एक विचित्र प्रसंग है (अध्याय १५)। वर्णनों को पढ़कर प्रतीत होता है कि इस युग में राधा की महिमा अपने उत्कर्ष पर विद्यमान थी। उनका शक्तिरूप प्रतिष्ठित हो गया था और कृष्ण के साथ उनका साहचर्य अविनाभाव रूप से उन्मीलित किया जा चुका था। 'राधा' की व्युत्पत्ति में भी यहाँ कपोल-कल्पना को विशेष आश्रय दिया गया है। सन्देह उत्पन्न करने-वाली विलक्षण वात तो यह है कि वैष्णव गोस्वामियों ने इस पुराण की राधालीला का उल्लेख कहीं भी अपने ग्रन्थों में नहीं किया है, जवकि यह पुराण उन लीलाओं से आकण्ठ पूर्ण है।

पुराणों में राधा-वर्णन का यही संक्षिप्त रूप है। गौडीय वैष्णवों ने प्रसिद्ध पुराणों में से केवल पद्मपुराण तथा मत्स्यपुराण में राधा का उल्लेख माना है। जीवगोस्वामी ने 'ब्रह्मसंहिता' की टीका में 'राधा वृन्दावने इति मत्स्य पुराणात्' कहकर राधा की स्थिति मत्स्यपुराण में मानी है। यदि अन्य पुराणों में राधा का विशिष्ट उल्लेख उन्हें प्राप्त होता। तो वे उसे निर्दिष्ट करने से कभी पराङ्मुख नहीं होते। गोस्वामियों ने इस विषय में प्रयत्न कम नहीं किया है—राधा की प्राचीनता के सूचक वचनों की ओर संकेत करने में। 'उज्ज्वलनीलमणि' में रूप-गोस्वामी का कहना है कि 'गोपालोत्तरतपिनी' उपनिषद् में राधा 'गान्धर्वी' के नाम से विश्रुत है तथा ऋक्-परिशिष्ट में राधा माधव के साथ कथित हैं—

गोपालोत्तरतापिन्यां गान्धर्वीति विश्रुता।
राधेत्यृक्परिशिष्टे च माधवेन सहोदिता॥

गोपालोत्तरतापिनी में गान्धर्वी व्रजस्त्रियों में श्रेष्ठ बतलाई गई है (तासां मध्ये हि श्रेष्ठ गान्धर्वी ह्युवाच, खंड ५) और इसे ही रूपगोस्वामी गोपियों में सर्वगुणाधिका राधिका का

प्रतिनिधि मानते हैं। जीवगोस्वामी ने 'ब्रह्मसंहिता' की टीका के श्लोक के निर्दिष्ट वचन को उद्धृत किया है—

राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका।

तन्त्र में भी राधा के निर्देश को रूपगोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वलनीलमणि' के राधा-प्रकरण में दिया है—'ह्लादिनी जो महाशक्ति है, जो सर्वशक्तिवरीयसी है, वही राधा तत्सारभावरूपा है, तन्त्र में भी यही बात प्रतिष्ठित है।' जीवगोस्वामी तथा कृष्णदास कविराज ने 'बृहद् गौतमीय तन्त्र' से भी राधा के विषय में जो श्लोक खोज निकाला है, वह यह है—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा॥

जीवगोस्वामी ने 'ब्रह्मसंहिता' की टीका में 'सम्मोहनतन्त्र' से भी राधा के विषय में यह श्लोक उद्धृत किया है—

यान्नाम्ना नाम्नि दुर्गाहं गुणैर्गुणवती ह्यहम्।
यद् वैभवान्महालक्ष्मी राधा नित्या पराद्वया॥

इन तन्त्रों के समय के विषय में अभी तक यथेष्ट अनुशीलन नहीं किया गया है। फलतः इनकी प्राचीनता के विषय में हम किसी सन्देह-हीन सिद्धान्त पर अभी तक नहीं पहुँचे हैं। अब 'राधा' के परिचय के लिए पुराणों तथा तन्त्रों से प्राचीनतर वैदिक साहित्य पर दृष्टि डालना उचित प्रतीत होता है।

वैदिक साहित्य में राधा

वैदिक साहित्य में 'राधा' का उल्लेख कहाँ है? इसकी खोज प्राचीन लेखकों ने की है। उपनिषदों में दो उपनिषद् राधा से सम्बद्ध हैं—एक है राधोपनिषद् तथा दूसरा है राधिकातापनीयोउपनिषद्। राधोपनिषद् गद्य में ही है और राधा की महिमा का प्रतिपादक है। इसमें राधा कृष्ण की परमान्तरंगभूता ह्लादिनी शक्ति बतलाई गई है। राधा की व्युत्पत्ति राध् धातु से है—**'कृष्णेन आराध्यते' इति राधा। 'कृष्णं समाराधयति सदा' इति राधिका गान्धर्वीति व्यपदिश्यते।** कृष्ण के द्वारा जो आराधित है, वही राधा है तथा कृष्ण को सदा आराधना करनेवाली राधिका है। गान्धर्वी शब्द के द्वारा उसीका निर्देश किया गया है। यहाँ स्पष्ट ही रूपगोस्वामी का पूर्वनिर्दिष्ट संकेत मिलता है। 'गान्धर्वी' नाम गोपालोत्तरतापिनी उपनिषद् में उपलब्ध होता है, यह ऊपर दिखलाया गया है। यहाँ कहा गया है—'व्रज की गोपाङ्गनाएँ, श्रीकृष्ण की समस्त महिषियाँ तथा वैकुण्ठ की अधीश्वरी श्रीलक्ष्मीजी इन्हीं श्रीराधा की काय्व्यूह (अंशरूपा) हैं। ये राधा और रससागर कृष्ण एक होते हुए भी शरीर से क्रीडा लिए दो हो गये हैं। राधिका की अवहेलना करके जो श्रीकृष्ण की आराधना करना चाहता है, वह महामूर्ख ही नहीं, मूढतम है।' इसके अनन्तर राधा के अट्ठाइस नामों का निर्देश किया गया है। इसके बाद सन्धिनी शक्ति के स्वरूप का भी वर्णन कर फलश्रुति के साथ यह उपनिषद् समाप्त होता है।

अथर्ववेदीय 'राधिकातापनीय' उपनिषद् भी परिमाण में छोटा ही है। इसमें भी राधिका की प्रशस्त स्तुति है और वही सर्वश्रेष्ठ बतलाई गई है। श्रीकृष्ण का उत्कृष्ट प्रेम तथा सातिशय

आदर राधा के निमित्त हैं। राधा की प्रशंसा में इस उपनिषद् का तो यहाँतक कहना है कि विश्वभर्त्ता श्रीकृष्णचन्द्र एकान्त में अत्यन्त प्रेमार्द्र होकर जिनकी पद-धूलि अपने मस्तक पर धारण करते हैं, जिनके प्रेम में निमग्न होने पर उनके हाथ से वंशी भी गिर जाती है एवं अपनी बिखरी अलकों का भी उन्हें स्मरण नहीं रहता तथा वे क्रीतदास की तरह जिनके वश में सदा रहते हैं, उन राधिका को हम नमस्कार करते हैं—

यस्या रेणुं पादयोर्विश्वभर्ता
धरते मूर्ध्नि रहसि प्रेमयुक्तः।
स्रस्तवेणुः कवरीं न स्मरेद्य
तल्लीनः कृष्णः क्रीतवत्तां नमामः ।।श्लोक ७।

इन दोनों उपनिषदों में 'येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिदेहश्चकः क्रीडनार्थं द्विधाऽभूत्' यह पद्यार्ध उद्धृत किया गया है, जो किसी प्राचीन ग्रंथ का जान पड़ता है। 'सामरहस्य उपनिषद्' में भी इसी तथ्य को ही हम दूसरे शव्दों में निर्दिष्ट पाते हैं—

अनादिरयं पुरुष एक एवास्ति। तदेव रूपं द्विधा विधाय समाराधनतत्परोऽभूत्। तस्मात् तां राधां रसिकानन्दां वेदविदो विदुः ॥

राधा की वर्णनपरक उपनिषदों का संकेत करना ही हम इस प्रसंग में उचित समझते हैं। इनके समय का निर्णय यथार्थ रूप से नहीं किया जा सकता। इनका आविर्भाव-काल १७वीं शती के अनन्तर ही प्रतीत होता है। यदि ये इस काल से पूर्ववर्ती होते, तो गौडीय गोस्वामियों के ग्रन्थों में द्वारा इनका संकेत तथा उरद्धण अवश्य ही कहीं-न-कहीं उपलब्ध होता। ऐसे सुस्पष्ट वचनोंका उद्धरण न देना आश्चर्य की ही वात है। फलतः इनकी अर्वाचीनता नितान्त स्पष्ट है।

वैदिक मन्त्रों में कृष्णचरित्र का अनुसन्धान महाभारत के प्रख्यात टीकाकार नीलकण्ठ चतुर्धर ने सांगोपांग रूप से किया है। इस ग्रन्थ का नाम है—मन्त्रभागवत, जिसमें कृष्ण के नाना चरित तथा लीला के प्रदर्शक मन्त्र ऋग्वेद से उद्धृत किये गये हैं और उनके ऊपर नीलकण्ठ ने अपनी नई व्याख्या भी दी है, जिसमें उन मन्त्रों का कृष्णपरक तात्पर्य स्पष्टतया निर्दिष्ट किया गया है। धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने पर भी यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता। इन्होंने समस्त महाभारत पर टीका ('भारत भावदीप') लिखी है, जो अठारहों पर्वों पर उपलब्ध है तथा नितान्त लोकप्रिय है। इनके पूर्वज तो महाराष्ट्र के कूर्पर-ग्राम (आजकलकोपरगाँव) के मूल निवासी थे, परन्तु काशी में आकर बस गये थे और काशी में ही इन्होंने इस गौरवपूर्ण ग्रन्थ का प्रणयन किया। इनके एक ग्रन्थ का रचना-काल १६९५ ई० मिलता है। फलतः इनका समय १७वीं शती का उत्तरार्ध तथा १८वीं शती का आरम्भ (१६५० ई०–१७२० ई० लगभग) मानना उचित प्रतीत होता है। निश्चित है कि इस शताब्दी के पूर्व ही वैष्णव धर्म का महान् अभ्युदय हो चुका था और उसके सिद्धान्तों को वेद से निकालने की प्रवृत्ति विद्वानों में जागरूक थी। इसीलिए, नीलकण्ठ ने मन्त्ररामायण[1] में रामायण की कथा तथा मन्त्रभागवत[2] में भागवत की मुख्य कथाओं तथा घटनाओं का निर्देश बड़ी मार्मिकता के

१—२. इन दोनों का प्रकाशन खेमराज श्रीकृष्णदास ने बम्बई से किया है। मन्त्ररामायण पुस्तकाकार प्रकाशित (सं० १९६७) है। कथा मन्त्रभागवत पत्राकार प्रकाशित है।

साथ खोज निकाला है। मन्त्रों की स्वप्रणीत टीका में तत्तत् अर्थ को प्रकट करने का स्तुत्य प्रयास किया गया है।

नीलकण्ठ के अनुसार 'राधा' का नाम इस मन्त्र में निर्दिष्ट है—

अतारिषुर्भरता गव्यवः सम-
भक्त विप्रः सुमतिं नदीनाम्।
प्रपिन्वध्वमिषयन्ती सुराधा
आवक्षाणाः पृणध्वं यात शीभम्॥—ऋ० ३।३३।१२

इस मन्त्र के अर्थ करने में नीलकण्ठ ने बड़ी पंडिताई तथा ऊँची प्रतिभा दिखलाई है। यह मन्त्र प्रसिद्ध विश्वामित्र नदीसूक्त (३।३३) के अन्तर्गत आता है, जिसमें विश्वामित्र तथा नदियों में परस्पर संवाद है। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी नीलकण्ठ का कथन है कि नदी-समुद्र के व्याज से विश्वामित्र गोपियों को कृष्ण के प्रति अभिसार करने के लिए प्रेरित करते हैं। राधा को अत्यन्त महत्त्वशालिनी होने के कारण गोपियाँ यहाँ 'सुराधा' कही गई हैं। जिस प्रकार नदियाँ समुद्र के पास जाकर अपने को पूर्ण करती हैं और जीवन को चरितार्थ करती हैं, उसी प्रकार गोपियों को भी (जिनमें 'राधा' मुख्य गोपी है) कृष्ण से मिलकर अपने जीवन को पूर्ण बनाने का उपदेश इस मन्त्र में दिया गया है। कृष्ण का सूचक यहाँ 'शीभ' शब्द है। इसकी व्याख्या है—

शेतेऽस्मिन् सर्वमिति शीः। भाति स्वयं ज्योतिष्ट्वेन प्रकाशते इति भः। शीश्चासौ भश्चेति शीभः। तं सर्वलयाधिष्ठानचिन्मात्रस्वरूपमित्यर्थः। यद्वा शीभ् कत्थने। शीभन्ते कत्थन्ते श्लाघन्ते आत्मानमनेन इति शीभः। अकर्त्तरि च कारके संज्ञायामिति करणे घः। यं प्राप्य भक्ताः कृतार्थमात्मानं मन्यन्ते इत्यर्थः।

इस एक शब्द की व्याख्या से ही विज्ञ पाठक ग्रन्थकार की पद्धति से किञ्चित् परिचय प्राप्त कर सकते हैं। यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में पुरुष की दो पत्नियों का उल्लेख किया गया है— श्री और लक्ष्मी।

श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे
पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्। —शुक्लयजुर्वेद, ३१।२२

उव्वट ने अपने भाष्य में इन दोनों शब्दों की कोई भी व्याख्या नहीं की है। महीधर ने श्री का अर्थ किया है सम्पत्ति (यथा सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्रीः। श्रीयतेऽनयाश्रीः सम्पदित्यर्थः) और लक्ष्मी का अर्थ किया है सौन्दर्य, वह वस्तु जिसके द्वारा कोई वस्तु मनुष्यों के द्वारा लक्षित की जाती है (लक्ष्यते दृश्यते जनैः सा लक्ष्मीः। सौन्दर्य मित्यर्थः)। इनको पत्नी कहने से तात्पर्य है वश्य होने से। अर्थात् जिस प्रकार कोई जाया पति के वश में रहती है, उसी प्रकार सम्पत्ति और सौन्दर्य पुरुष के वश में रहते हैं। हरिव्यासदेव ने वेदान्त कामधेनु की टीका 'सिद्धान्तरत्नावली' में यहाँ श्री का तात्पर्य राधा से लिया है। अर्थात्, विष्णु की दो पत्नियाँ हैं—एक हैं राधा और दूसरी हैं लक्ष्मी। इस प्रकार, इस आचार्य के मत में 'राधा' का संकेत इस वैदिक मन्त्र में किया गया है।

राधा की लीला को सूचित करनेवाले वचनों का यहाँ एक संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इन निर्देशों का समीक्षण करने से हम कतिपय महत्त्वशाली तथ्यों पर पहुँचते हैं, जो राधा की समस्या को सुलझाने में योगदान कर सकते हैं। मेरी दृष्टि में राधा को कृष्णप्रिया के रूप में अंकित

करनेवाला प्राचीनतम निर्देश हाल की गाथा सप्तशती में पाया जाता है। विष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवत दोनों ग्रन्थ इस सप्तशती से अवश्यमेव प्राचीन हैं, परन्तु इन दोनों में किसी विशिष्टा गोपी की सत्ता का निर्देशमात्र हमें मिलता है। उस गोपी का व्याभिधान था, इसका पता नहीं चलता। भागवत के 'अनयाराधितो नूनं' श्लोक में राधा के नाम का संकेत निकालना गौडीय वैष्णव गोस्वामियों की प्रतिभा का विलास प्रतीत होता है। भागवत के प्राचीनतम टीकाकार श्रीधर-स्वामी ने अपनी टीका में इस गूढ संकेत की ओर इंगित भी नहीं किया है। 'चैतन्यचरितामृत' के पाठकों को यह तथ्य अविदित नहीं है कि स्वयं चैतन्य महाप्रभु श्रीधर स्वामी की व्याख्या को वड़े आदर तथा भूयसी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और कहा करते थे कि वही साध्वी पतिव्रता है जो स्वामी (श्रीधरस्वामी तथा पति) का अनुगमन करती है। अन्य तथ्यों की आलोचना में गौडीय गोस्वामियों ने श्रीधरी का अनुगमन किया है। जीवगोस्वामी अपने वैष्णव तथ्यों की व्याख्या के लिए श्रीधरस्वामी के विशेष ऋणी हैं; ऐसा दोनों व्याख्याओं की अन्तरंग परीक्षा करने पर किसी भी विज्ञ आलोचक को स्पष्ट होगा। परन्तु इस श्लोक की व्याख्या में श्री सनातनगोस्वामी ने राधा के नाम निर्देश की जो वात कही है, तव एकदम अपूर्व है। उनका अनुगमन जीव गोस्वामी आदि अन्य गोस्वामियों ने आदर के साथ किया है। इस प्रच्छन्न निर्देश के ऊपर हम कोई ऐतिहासिक तथ्य खड़ा नहीं कर सकते।

गाथा सप्तशती को हम प्रथम शती की रचना मानते हैं। क्योंकि इसके संग्रहकर्त्ता हाल कुन्तल-जनपद के स्वामी तथा प्रतिष्ठानपुर (पैठण) के अधीश्वर सातवाहन नरेन्द्र से अभिन्न हैं। सातवाहन नरेशों का आविर्भाव-काल प्रथम शती में प्रथमतः हुआ था। इस सप्तशती में अनेक प्राचीन प्राकृत भाषा के कवियों की उत्कृष्ट गाथाएँ चुनकर रखी गई हैं। श्रीपालित नामक कवि हाल के द्वारा पुरस्कृत तथा पूजित किये गये थे; इस तथ्य का परिचय हमें अभिनन्द-प्रणीत 'रामचरित' महाकाव्य के एक श्लोक से मिलता है।[1] फलतः इस संग्रह के प्रणयन में श्रीपालित कवि का सम्पूर्ण नहीं, तो आंशिक सहयोग मानना कथमपि अनुचित नहीं कहा जा सकता। गाथाओं में निर्दिष्ट भौगोलिक नामों से स्पष्ट परिचय मिलता है कि इस ग्रन्थ का भौगोलिक क्षेत्र विन्ध्यपर्वत, नर्मदा और गोदावरी नदियों से संवलित प्रदेश था। विन्ध्य का उल्लेख दो-तीन गाथाओं में मिलता है। (१।७०, २।१५–१६, ६।७७)। गाथा का कवि नर्मदा से अपरिचित नहीं है। वह कहता है—

जइ रे रे वाणीरं रेवाणीरं पि णो भरसि। (६।९९)
(यदि रे रे वानीरं रेवानीरं स्मरस्यपि न।)

---

१. हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः
ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारातिना।
श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलं
सद्यः सत्क्रिययाऽभिनन्दमपि श्रीहारवर्षोऽग्रहीत्॥

—रामचरित के ३२ वें सर्ग के अन्त में।

नमः श्रीहारवर्षाय येन हालादनन्तरम्।
स्वकोषः कविकोषाणामाविर्भावाय संभृतः॥ —वही; सर्ग ७ तथा १५ के अन्त में

वह गोदावरी के तट से भी परिचय रखता है—

मा वच्च पुप्फलाविर देवा उअअञ्जलीहिं तूसन्ति।
गोआअरीअ पुत्तक सीलुम्मूलाहूँ कूलाइं। (४।५५)
मा व्रज पुष्पलवनशील देवा उदकाञ्जलिभिस्तुष्यन्ति ॥
गोदावर्याः पुत्रक शीलोन्मूलानि कूलानि॥

उपरिनिर्दिष्ट "मुहमासएण' (१।८९) गाथा 'पोहिस' नामक किसी प्राकृत कवि की रचना है जो सम्भवतः उस युग से प्राचीन किसी काल के कवि थे। निष्कर्ष यह कि राधा का प्रथम निश्चित आविर्भाव प्रथम शती में हो चुका था और उसके उदय का क्षेत्र उत्तरी महाराष्ट्र या गुजरात का प्रान्त था। यहीं से यह कल्पना कालान्तर में व्रजमण्डल में आई, जहाँ १२वीं शती में श्रीनिम्बार्क ने अपनी दशश्लोकी में पहली वार धार्मिक जगत् में कृष्ण की सहचरी के रूप में वृषभानुनन्दिनी राधा का उल्लेख किया। मध्ययुग में गुजरात के साथ व्रजमण्डल का सांस्कृतिक सम्पर्क विशेषरूप से दृष्टिगोचर होता है। अतः हमारा यह अनुमान है कि राधा गुजरात या महाराष्ट्र में आविर्भूत होकर धीरे-धीरे वृन्दावन में पनपनेवाले कृष्णभक्ति, सम्प्रदायमें प्रतिष्ठित हो गई। यह घटना प्रथम शती के आसपास की होनी चाहिए। विक्रम-पूर्व प्रथम शती में आविर्भूत महाकवि कालिदास राधा से परिचित नहीं थे; ऐसा अनुमान करना असम्भव नहीं है। यदि वे परिचित होते, तो जहाँ उन्होंने अपने मेघदूत में 'गोपवेसस्य विष्णोः' (पूर्व मेघ) कहकर मयूरपिच्छधारी श्रीकृष्ण का उल्लेख किया है, वहाँ वे उनकी प्रेयसी माधुर्य की खानि 'राधा' के उल्लेख से विरत नहीं होते—यदि राधा का परिचय उन्हें होता। फलतः मानना पड़ता है कि साहित्य-संसार में राधा का प्राकट्य कालिदास से पश्चाद्वर्त्ती और सातवाहन से पूर्ववर्ती है।

अब हम एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। वह है वैदिक साहित्य में राधाकृष्ण का अस्तित्व। देवकीनन्दन कृष्ण का प्रथम निश्चित निर्देश छान्दोग्य उपनिषद् (३।१७।६) में मिलता है। उल्लेख इस प्रकार है—

तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वा उवाच, अपिपास एव स बभूव।
सोऽन्तवेलायामेतत् त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमसि, अच्युतमसि प्राणसंशितमसीति ॥

आशय है कि घोर आङ्गिरस ऋषि ने देवकीपुत्र कृष्ण को उपदेश दिया कि जब मनुष्य का अन्त समय आये, तब उसे इन तीन यजुर्मन्त्रों का जप करना चाहिए—(१) त्वम् अक्षितमसि—तुम अविनश्वर हो, (२) त्वम् अच्युतमसि—तुम अच्युत हो; (३) त्वं प्राणसंशितमसि—तुम सूक्ष्मप्राण हो। इन उपदेशों को पाकर कृष्ण पिपासाहीन हो गये, अर्थात् उनकी पिपासा या तृष्णा शान्त हो गई। इस प्रसंग में दो ऋचाएँ उद्धृत की गई हैं—(१) आदित् प्रत्नस्य रेतसः ८।६।१० तथा (२) उद्वयं तमसस्परि १।१५०।१०। इन ऋचाओं का आशय है कि अन्धकार से परे वर्त्तमान ज्योतिःस्वरूप सूर्य को प्राप्त करें, जो देवों में सबसे उत्तम ज्योति है।

इस शिक्षा की समीक्षा करने पर दो बातें स्पष्ट होती हैं कि कृष्ण अपने जीवन में किये गये कार्यों के कारण 'सपिपास' थे—प्यासे थे, तृष्णा के कारण पीड़ित थे, परन्तु इस उपदेश को पाकर वह 'अपिपास' हो गये। उनकी तृष्णा—मनोवेदना शान्त हो गई। दूसरी बात 'अच्युतमसि'

के विषय में है। आगे चलकर कृष्ण का नाम ही 'अच्युत' पड़ गया। उपनिषदों के निर्माण-काल के विषय में विद्वानों में मतभेद वना हुआ है। छान्दोग्य निश्चय रूप से प्राचीन उपनिषदों के अन्तर्गत माना जाता है। वहुत-से विद्वान् इसका रचना-काल विक्रम-पूर्व पन्द्रह सौ वर्ष से अर्वाचीन नहीं मानते, परन्तु अन्य विद्वान् उपनिषदों के रचना-काल का आरम्भ २५०० विक्रमी मानते हैं; क्योंकि तिलक के अनुसार मैत्रायणीय उपनिषद् का निर्माण समय १९०० विक्रमी पूर्व माना जाता है। फलतः छान्दोग्य का समय इससे प्राचीन होना चाहिए। देवकीपुत्र कृष्ण का यह उल्लेख भी विक्रम-पूर्व दो सहस्र वर्ष से अर्वाचीन नहीं हो सकता।

ऋग्वेद के विष्णुसूक्त के मन्त्रों में कतिपय वड़े गौरवशाली उल्लेख प्राप्त हैं, जिनके आधार पर कृष्ण -लीला का विस्तार पिछले युगों में नैसर्गिक रूप से माना जा सकता है। ऋग्वेद के मन्त्रों में अनेक देवों के लिए 'गोपा' शब्द का प्रयोग मिलता है—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानम्——१।१६४।३१
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः——१।१६४।२१
जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविः——५।११।१ (अग्नि के लिए)
ऋतस्य गोपावधि तिष्ठतो रथम्——५।६१।१ (मित्रावरुण के लिए)
राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्——१।१।८ (अग्नि के लिए)

विष्णु के लिए 'गोपा' पद का प्रयोग इस प्रसिद्ध मन्त्र में किया गया है—

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन् (१।२२।१८)

इस मन्त्र में कहा गया है कि विष्णु ने तीन पगों में इस विश्व का क्रमण किया। वह किसी के द्वारा न पराजित होनेवाला रक्षक है। मेरी दृष्टि में विष्णु के लिए 'गोपाः' का यह प्रयोग वड़े महत्त्व का है। इसी 'गोपा' पद के प्रयोग से विष्णु की 'गोप'-रूप में कल्पना कालान्तर में प्रतिष्ठित की गई। यदि समय के व्यवधान को हम अकिञ्चित्कर मानें, तो कालिदास के 'गोपवेषस्य विष्णोः' में हम 'विष्णुर्गोपा अदाभ्यः' की वहुत ही दूरगामी प्रतिध्वनि पाते हैं। विष्णु के उत्तम लोक का वर्णनपरक यह प्रसिद्ध मान्त्र है—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै
यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः
परमं पदमव भाति भूरि॥ (१।१५४।६)

यहाँ विष्णु के ऊर्ध्वतम लोक में गायों की सत्ता का निर्देश है। ये गायें अनेक शृंगों से युक्त हैं तथा शीघ्रगामी हैं (अयासः)। विष्णु सूर्य के ही प्रतीक है। 'गो' का एक अर्थ है—किरण, रश्मि। सूर्य के ऊर्ध्वलोक में शीघ्रगामी तथा भूरिशृंग रश्मियों का अस्तित्व होना स्वाभाविक है। विष्णु का ऊर्ध्वलोक इसी कल्पना के आधार पर 'गोलोक'[1] कहलाने लगा, जो

---

१. ब्रह्मवैवर्त्त के 'कृष्णजन्म' खण्ड के चतुर्थ अध्याय में गोलोक का बड़ा ही विस्तृत और रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। 'गोलोक' बैकुण्ठ से भी ऊपर पचास करोड़ योजन परिमाण में बतलाया गया है, जो भगवन् की स्वेच्छा से निर्मित है और वायु के द्वारा

सबसे उत्कृष्ट लोक माना जाता है। जो लोग विष्णु की भक्ति करने से इस लोक में जाते हैं, वे अमृत प्राप्त करते हैं; क्योंकि उस लोक में 'मधु का उत्स' है—

विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः (१।१५४।५)

एक अन्य मन्त्र में विष्णु का 'व्रज' के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है—

तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना
क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः ॥
दाधार दक्षमुत्तम हर्विदं
व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते ॥ (१।१५६।४)

इन्हीं सब सूत्रों को एकत्र कर कालान्तर में श्रीकृष्ण का सम्बन्ध गायों, गोपों, गोपियों तथा गोकुल के साथ स्थापित किया गया। इस धार्मिक विकास की एक रूपरेखा भी खींची जा सकती है।

वैदिक आर्यों के प्राधान जातीय देवता 'इन्द्र' ही थे। यही कारण है कि ऋग्वेद का चतुर्थ अंश इन्द्र की स्तुति से भरा हुआ है और इन्द्रसूक्तों की संख्या सबसे अधिक है। इन्द्र अपने पराक्रम से सब देवों को पराभूत कर देते हैं और उत्पन्न होते ही देवों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त कर लेते हैं। आर्यों के शत्रुओं को ध्वस्त कर उन्हें बीहड़ जंगलों में भेज देने का श्रेय इन्द्र को ही है। वे शत्रुओं के पुरों को, अर्थात् दुर्ग से वेष्टित नगरों को ध्वस्त करनेवाले हैं (पुरभित्)। वज्र इन्द्र का विशिष्ट आयुध है, जिसे त्वष्टा ने लोहे का बनाया था—सुनहला, भूरा, तेज और अनेक सिरा-वाला। इसी इन्द्र ने आर्यों के महान् प्रतिपक्षी वृत्र को अपने वज्र से मार डाला था। फलतः आर्यों की सभ्यता तथा साम्राज्य के विस्तार में इन्द्र का दैवी अनुग्रह सदा जागरूक रहता था। अतएव आर्यों को विजय प्रदान करनेवाले देव होने के नाते इनकी भव्य स्तुतियाँ बल तथा ओज से परिपूर्ण हैं। इन्द्र के स्वरूप का प्रतिपादक यह मन्त्र नितान्त प्रसिद्ध है—

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः ॥ —ऋग्वेद, २।१२।९

जिसके बिना योद्धा विजय नहीं पा सकते; युद्ध के लिए जानेवाले लोग रक्षा के लिए सदा बुलाते हैं, जो विश्व का प्रतिनिधि है और जो च्युत न होनेवाले, सदा स्थिर रहनेवाले पर्वत आदिकों को अपने स्थान से च्युत कर देता है, वही इन्द्र है।

कालान्तर में इस जातीय देवता इन्द्र की प्रमुखता का ह्रास होने लगा और उसके स्थान पर 'सूर्य' की प्रतिष्ठा होने लगी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पराक्रम से प्रकाश की ओर श्रद्धा का निर्देश

धार्यमाण है। विवरण नितान्त रुचिर और साहित्यिक है (श्लोक ७८–१९०)। वृन्दावन के ऊपर इसकी स्थिति है (श्लोक १३२)। यह लोक सबसे ऊँचा है। इससे ऊँचा कोई स्थान नहीं है—

ब्रह्माण्डाद् बहिरूर्ध्वं च नास्ति लोकस्तदूर्ध्वगः
ऊर्ध्वे शून्यमयं सर्वं तदन्ता सृष्टिरेव च ॥१९१।

यहाँ विरजा नदी तथा 'वृन्दावन' वर्त्तमान है, जहाँ राधामाधव सदा रासमडल में आसक्त रहते हैं (श्लोक ११२–११५)

नैसर्गिक है। पराक्रम भौतिक बल को लक्ष्य करता है और प्रकाश आध्यात्मिक गुण की ओर। फलतः पराक्रम के देव इन्द्र से धार्मिक श्रद्धा बढ़कर प्रकाश के देव सूर्य की ओर स्वाभाविक रीति से विकसित होकर प्रतिष्ठित हो जाती है। अन्य धर्मों के विकास में यही तथ्य लक्षित होता है और वैदिक धर्म का विकास इस नियम का अपवाद नहीं था। फलतः वैदिक धर्म में भी उपासकों की श्रद्धा इन्द्र से हटकर सूर्य की ओर विकसित होकर प्रतिष्ठित हो जाती है। इस धार्मिक परिवर्तन का इतिहास ऋग्वेद के एक प्रख्यात सूक्त 'वृषाकपि सूक्त' (१०।८६) में अन्तर्निहित तथ्य को लेकर गूँथा हुआ है। इस सूक्त के अध्ययन से पता चलता है कि किस प्रकार इन्द्र की प्राचीन पूजा तथा वृषाकपि (सूर्य) की नूतन पूजा के बीच में एक महान् संघर्ष उपस्थित था, उस युग में और किस प्रकार नवीनता के आगे प्राचीनता नतमस्तक हुई थी और इन्द्र ने ही सूर्य की महत्ता स्वीकार कर उनके साथ सामंजस्य स्थापित किया था। इस धार्मिक विकास की दिशा जानने के लिए वृषाकपि सूक्त का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है। सौभाग्य की बात है कि हमारे मित्र वैदिक धर्म तथा साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान पण्डित क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपने एक पाण्डित्यपूर्ण निबन्ध[1] में इस सूक्त के रहस्य को भली भाँति समझाया है। इस रहस्यमय सूक्त की विशद व्याख्या कर उन्होंने वैदिक धर्म के नैसर्गिक विकास का रहस्योद्घाटन किया है।

'वृषाकपि' में वृषा शब्द प्रजनन करनेवाले के अर्थ में है और 'कपि' शब्द सूर्य का वाचक है। कपि, कपिल तथा कपिश वर्णवाचक होकर एक ही अर्थ के बोधक हैं। कपिशवर्ण होने के कारण ही सूर्य इस 'कपि' शब्द के द्वारा प्रतिपाद्य है। दोपहर के समय मध्याकाश में सूर्य का रंग कपिश या कपिल ही रहता है। इस सूक्त में इन्द्राणी इन्द्र के गौरव तथा पूजन के ह्रास के कारण अत्यन्त दुःखित है और इन्द्र से वृषाकपि के महत्त्वशाली होने की शिकायत कर उसके क्रोध को उद्दीप्त करती है, परन्तु उसके सब प्रयत्न फलहीन होते हैं और यह प्राचीन नेता वृषाकपि के लिए प्रेम तथा सहयोग प्रदर्शित करता है और उसकी पूजा के कारण किसी प्रकार का द्वेष नहीं दिखलाता। इन्द्राणी अपने प्रयत्नों में असफल रहती है और वृषाकपि (=विष्णु=सूर्य) की पूजा इन्द्र के महत्त्वपूर्ण समर्थन पाने में कृतकार्य होतीहै। इस सूक्त का ऋषि, जो एकमात्र वृषाकपि का ही उपासक है, याज्ञिक लोगों के विरोध के प्रशमन में समर्थ होता है; क्योंकि वह इन्द्र को ही विष्णु-पूजा का समर्थक सिद्ध कर देता है, परन्तु वह बड़ा ही चतुर है। इसलिए वह इन्द्र को सब देवों से श्रेष्ठ होने की घोषणा प्रत्येक मन्त्र के अन्त में करता है। 'विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः' (इन्द्र सबसे श्रेष्ठ है) यह उक्ति प्रत्येक मन्त्र के अन्त में दी गई है, जो दोनों देवों की पूजा का सामञ्जस्य प्रदर्शित करती हुई इन्द्र की श्रेष्ठता का चातुरीपूर्वक उल्लेख करती है। कतिपय मन्त्र इस तथ्य की सिद्धि के लिए यहाँ दिये जाते हैं—

> वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत।
> यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा॥
> विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१॥

इस मन्त्र में इन्द्राणी इन्द्र का पूजाह्रास और गौरवनाश के कारण दुःखित होकर कहती है—मनुष्यों ने सोम के रस को चुलाना छोड़ दिया है और वे इन्द्र की पूजा नहीं कर रहे हैं। मेरे

1. इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज, खण्ड १, पृ० ९७–१५६ (प्रयाग, १९२५)।

मित्र वृषाकपि धार्मिक लोगों (या धनी लोगों) के धन में (अर्थात् उनके द्वारा दी गई वस्तुओं में) अपने को मत्त कर रहे हैं। इन्द्र सबसे श्रेष्ठ है। इन्द्राणी के द्वारा क्रोध के लिए उद्दीप्त किये जाने पर भी इन्द्र शान्त बने रहते हैं और पूछते हैं कि मेरे मित्र वृषाकपि ने तुम्हें क्या हानि पहुँचाई है कि जो उसका इतना विरोध कर रही हो (मन्त्र ३)। वहुत ही वातचीत के वाद इन्द्र स्वयं वृषाकपि को अपना मित्र घोपित करते हैं और उनकी पूजा से अपने को उपकृत तथा सत्कृत मानते हैं (मन्त्र १८-२१)। इस प्रकार, यह सूक्त वृषाकपि (=विष्णु=सूर्य) की महिमा को द्योतित करती है।

इस सूक्त के तथ्य का समर्थन पुराण की कथाओं से भी होता है, विशेषतः श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के अध्याय २४ में उल्लिखित गोवर्धनपूजा के द्वारा। नन्द इन्द्रमख या इन्द्रपूजा के लिए विपुल सामग्री एकत्र करते हैं; क्योंकि इन्द्र गायों, गोपों तथा व्रजमण्डल के जीव-जन्तुओं के महान् उपकारी देवता हैं। वे वृष्टि प्रदान करते हैं, जिससे पूरा व्रजमण्डल जल से तथा शस्य से आप्यायित होता है, फलतः इन्द्र की पूजा का अनुष्ठान गोपों की पर्याप्त कृतज्ञता का सूचक है। इन्द्र की पूजा हमारे कुल में परम्परा से चली जाती है। जो मनुष्य काम, लोभ, भय तथा द्वेष के वश में होकर इस परम्परागत धर्म को छोड़ देता है, उसका कभी मंगल नहीं होता।

य एवं विसृजेद्धर्मं पारम्पर्यागतं नरः।
कामाल्लोभाद्भयाद् द्वेषात् स वै नाप्नोति शोभनम्॥

—भागवत, १०।२४।११

इन्द्र का पूजन आर्यों का परम्परागत धर्म था, जिसके त्याग का फल कभी मंगलदायक नहीं होता। इन्द्र के प्रति आर्यों की यही वद्धमूल दृढ भावना थी। परन्तु कृष्ण ने अपने प्रौढ तर्कों से इसका प्रवल खण्डन किया। उनके खण्डन का मूल आधार कर्मवाद का सिद्धान्त है। मनुष्य के द्वारा किये गये कर्मों का ही फल इन्द्र देता है। यदि मनुष्य कर्म नहीं करेगा, तो क्या उसे फल की प्राप्ति होगी? कृष्ण ने देवता की मानों नई व्याख्या इस वाक्य में प्रस्तुत की है—

अञ्जसा येन वर्त्तेत तदेवास्य हि दैवतम् (१८)

अर्थात् जिसके द्वारा मनुष्य की जीविका सुगमता से चलती है, वही उसका इष्टदेव होता है। विष्णुपुराण में भी इससे मिलते-जुलते तथ्य का निरूपण है—

विद्यया यो यया युक्तस्तस्य सा दैवतं महत्।
सैव पूज्यार्चनीया च सैव तस्योपकारिका॥

—पंचम अंक, १०।३०

इसी प्रकार के अनेक तर्क इन्द्रपूजा के विरोध में प्रस्तुत किये गये हैं। इन्द्र के स्थान पर पूजा की गई गोवर्धन की, परन्तु वस्तुतस्तु वह पूजा स्वयं कृष्ण ही ग्रहण की।

कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः।
शैलोऽस्मीति ब्रुवन् भूरि बलिमादद् बृहद्वपुः॥ (१०।२५।३५)

इन्द्र ने व्रजमण्डल को ध्वस्त करने का पूरा प्रयत्न किया। प्रलयंकारी सांवर्त्तक नामक मेघ-व्यूहों को उन्होंने व्रज को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए भेजा, परन्तु कृष्ण ने अपनी एक ही उँगली पर गोवर्धन को उखाड़कर धारण कर लिया। इन्द्र का अभिमान धूल में मिल गया और कृष्ण

के पराक्रम के सामने वह स्वयं नतमस्तक हो गया और उसने कृष्ण के आगे अपना पराभव स्वीकार किया—

त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो वृथोद्यमः ।
ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः ॥—(१०।२७।१३)

प्रभो, आपने मुझ पर वड़ा ही अनुग्रह किया। मेरी चेष्टा व्यर्थ होने से मेरे घमंड की जड़ उखड़ गई। आप मेरे स्वामी हैं, गुरु हैं और मेरे आत्मा हैं। मैं आपकी शरण में हूँ।

यहाँ स्पष्ट ही इन्द्र ने कृष्ण के सामने अपना पराजय स्वीकार किया। यह घटना आकस्मिक नहीं है, प्रत्युत वैदिक धर्म के ऐतिहासिक विकास में एक शृंखला जोड़ती है। कृष्ण विष्णु के प्रतिनिधि हैं और विष्णु सूर्य ही हैं। फलतः कृष्ण के सामने इन्द्र का मानभंग सूर्य के सामने प्राचीन देवता इन्द्र के पराजय की सूचना है। जिस तथ्य की सूचना ऋग्वेदीय 'वृषाकपि सूक्त' में बीज-रूप से दी गई है, उसी का पल्लवन इस गोवर्धन-लीला में किया गया है।

पारिजातहरण का प्रसंग भी इन्द्र के पराभव तथा विष्णु (श्रीकृष्ण) के उत्कर्ष का पर्याप्त सूचक है। भागवत में यह प्रसंग थोड़े में ही है (दशमस्कंध, श्लोक ३९–४०), केवल दो श्लोकों में; परन्तु विष्णुपुराण (पञ्चम अंश, अध्याय ३०) में इसका वड़ा विस्तार लक्षित होता है। सत्यभामा नन्दनवन के रक्षकों के साथ इस वृक्ष को लेने के लिए वड़ा संघर्ष करती है और सदर्प युक्ति देती है यदि यह समुद्र-मन्थन के समय उत्पन्न हुआ है, तो यह सवकी सम्पत्ति है। अकेला इन्द्र ही इसे कैसे ले सकता है ?

सामान्यः सर्वलोकस्य यद्येषोऽमृतमन्थने
समुत्पन्नस्तरुस्त स्मादेको गृह्णाति वासवः ॥४६

शची को भी वह खरी-खोटी सुनाती है। दोनों पक्षों में घनघोर युद्ध होता है। इन्द्र की सहायता करने के लिए उनकी ओर से सव देवता लड़ते हैं, परन्तु कृष्ण केवल अपने बाहुबल से सवको परास्त कर इन्द्र के अभिमान को चूर कर डालते हैं। इन्द्र से सत्यभामा कहती है कि तुम्हारी स्त्री को तुम्हारे कारण बड़ा गर्व था, घर जाने पर उसने मेरा स्वागत नहीं किया। उसी का फल यह संग्राम है। इन्द्र अपनी पराजय से दुःखित नहीं होते, प्रत्युत कृष्ण के गौरव और वड़प्पन को मानते हुए नतमस्तक होना अपना श्रेय समझते हैं। वे कहते हैं, जो सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार करनेवाले हैं, उन विश्वरूप प्रभु से पराजित होने में मुझे कोई लज्जा नहीं है—

न चापि सर्गसंहार स्थितिकर्त्ताखिलस्य यः ।
जितस्य तेन मे व्रीडा जायते विश्वरूपिणा ॥ (७८)

श्रीकृष्ण के प्रभुत्व की यह स्वीकारोक्ति इन्द्र के अवधीरित सम्मान को स्पष्ट सूचित कर रही है। दोनों घटनाएँ स्पष्ट कर रही हैं कि किस प्रकार इन्द्र अपने महनीय पद से च्युत हो गये और देवाधिदेव के पद पर श्रीकृष्ण की (विष्णु की) प्रतिष्ठा हो गई।

यादवों में सूर्य की पूजा विशेष रूप से प्रचलित थी और इसलिए विष्णु की (तदनन्तर श्रीकृष्ण की) पूजा का उनमें प्रचलन होना स्वाभाविक था। इस तथ्य की प्रतिष्ठा साम्ब के द्वारा सूर्य-मन्दिर की स्थापना से भी होती है। भविष्यपुराण में यह कथा वर्णित है कि किस प्रकार

साम्ब को कुष्ठरोग से मुक्त करने के लिए गरुड शकद्वीप से मग ब्राह्मणों को द्वारका में ले आये। उन लोगों ने द्वारका में सूर्य के मन्दिर की स्थापना की तथा सूर्य के विधिवत् अनुष्ठान की विधि भी प्रचलित की। यह घटना ईसवी पूर्व चतुर्थ शती के आसपास घटी होगी, ऐसा ऐतिहासिकों का अनुमान है। सूर्य की मूर्त्तियाँ भारतीय पद्धति से न होकर शक-पद्धति से निर्मित हैं और इसीलिए सूर्य की प्राचीन मूर्त्तियों में पैरों में लम्बे -चौड़े जूते तथा चुस्त पाजामा आज भी देखा जा सकता है। मेरा अनुमान है कि यह वर्णन प्राचीन सूर्यपूजा के नवीन रूप से परिबृंहण का सूचक है, न कि उस पूजा के आरम्भ का। मग ब्राह्मणों से सूर्यपूजा के गहरे सम्बन्ध पर विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है, ईरान के प्राचीन धार्मिक इतिहास में इसके प्रचुर प्रमाण विद्यमान हैं। एक बात ध्यान देने की है कि सूर्य के बड़े-बड़े मन्दिर जिन स्थानों पर पाये जाते हैं, वहाँ या उसके पास ही मग ब्राह्मणों की बस्तियाँ अधिकता से मिलती हैं। देवता तथा उसके पुजारी का एक स्थान पर निवास नितान्त स्वाभाविक घटना है।

कृष्ण आरम्भ में सात्वतों या यादवों के ज्ञात देवता प्रतीत होते हैं। पाञ्चरात्र के चतुर्व्यूह के चारों पुरुष वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध यादवों के महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक व्यक्ति थे। कालान्तर में ये चतुर्व्यूह के रूप में चित्रित तथा गृहीत किये गये हैं। ऋग्वेद के अन्तिम काल में ही विष्णु की महत्ता की सूचना मिलती है, ब्राह्मण जो युग में प्रतिष्ठित हो जाती है। ऐतरेय ब्राह्मण के आरम्भ में ही विष्णु के उत्कृष्ट देव और अग्नि के हीन देव होने की सूचना मिलती है—

अग्निर्वै देवानामवयो विष्णुः परमः। (१।१)

यादवों में भी इसी प्रकार विष्णु की पूजा का प्रचलन हो चला। तब यह स्वाभाविक था कि उनके कुलदेवता कृष्ण का विष्णु के साथ सामंजस्य स्थापित किया जाय। फलतः कृष्ण विष्णु प्रतिनिधि माने जाने लगे और विष्णुविषयक अनेक वैदिक तथ्यों का समावेश कृष्ण की पूजा में किया जाने लगा। विष्णु के विषय में ऊपर दिये गये सूत्रों को एकत्र कर गोपरूप में कृष्ण की अवतारणा इसी युग में की जाने लगी। ऊपर दिखलाया ही गया है कि यादवों में सूर्य की पूजा विशेष रूप से प्रचलित थी। फलतः इसी सूर्य के एक विशिष्ट रूप विष्णु के साथ अपने जातीय देव श्रीकृष्ण का सामञ्जस्य स्थापित कर सात्वतों ने अपने भागवत या सात्वत धर्म का विस्तार तथा प्रसार किया। कृष्ण-पूजा जो कभी एकक्षेत्रीय पूजा थी, सर्वक्षेत्रीय पूजा के रूप में शीघ्र ही गृहीत हो गई।

वेद में राधा

वेद में 'राधस्' शब्द का विपुल प्रयोग हम पाते हैं। यह शब्द नाना विभक्तियों में प्रयुक्त किया गया उपलब्ध होता है। दो-एक उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

सञ्चोदय चित्रमर्वाग् राध इन्द्र वरेण्यम् असदित् ते विभु प्रभु। (१।९।५)
यस्य ब्रह्मवर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः। (२।१२।१४)
सखाय आनिषीदत सविता स्तोम्यो नु नः दाता राधांसि शुम्भति। (१।२२।८)

इसी प्रकार यह शब्द अपने तृतीयान्त 'राधसा' रूप में अनेकत्र प्रयुक्त है। (१।४८।१४; ३।३०।२०; ४।५५।१०; १०।२३।१ आदि)। चतुर्थ्यन्त 'राधसे' भी बहुशः उपलब्ध होता है—

१।१७।७; ३।४१।६; ४।२०।२; ५।३५।४ ; १०।१७।१३ आदि। षष्ठचन्त 'राधसः' का भी कम प्रयोग नहीं मिलता—१।१५।५, ४।२०।७; ६।४४।५; १०।१४०।५ आदि। 'राधसाम्' षष्ठी वहुवचन का प्रयोग एक स्थान पर है (८।९०।२) तथा सप्तम्यन्त 'राधसि' भी एक ही बार ऋग्वेद में प्रयुक्त है (४।३२।२१)।

अव इस वैदिक शब्द का अर्थ विचारणीय है। निघण्टु में 'राधः' शब्द धन नाम में पठित है (२।१०)। यह शब्द 'राध साध संसिद्धौ' से असुन् प्रत्यय जोड़ने से निष्पन्न होता है, इसलिए स्कन्द स्वामी ने इस पद के अर्थ की द्योतना की है—वह वस्तु, जो धर्म आदि पुरुषार्थों को सिद्ध करता है—सध्नुवन्ति साध्नुवन्ति धर्मादीन् पुरुषार्थानिति स्कन्दस्वामी। सकारान्त होने के अतिरिक्त यह आकारान्त भी है और इस प्रकार राधा शब्द का प्रयोग दो मन्त्रों में किया गया उपलब्ध होता है—

(१) स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते विभूतिरस्तु सुनृता।

यह मन्त्र ऋग्वेद (१।३०।५) में, सामवेद में तथा अथर्ववेद (२०।४५।२) तीनों वेदों में समान रूप से उपलब्ध होता है।

(२) इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते पिबा त्वस्य गिर्वणः।

यह मन्त्र ऋग्वेद के एक स्थल (३।५१।१०) पर तथा सामवेद के दो स्थलों (१६५, ७३७) पर प्रयुक्त मिलता है। दोनों मन्त्रों में 'राधानां पते' इसी रूप में प्रयुक्त है और दोनों जगह यह इन्द्र के विशेषण-रूप में आया है।

मेरी दृष्टि में 'राधः' तथा 'राधा' दोनों की उत्पत्ति 'राध् वृद्धौ' धातु से है, जिसमें 'आ' उपसर्ग जोड़ने पर 'आराधयति' धातुपद वनता है। फलतः इन दोनों शब्दों का समान अर्थ है आराधना, अर्चना, अर्चा। 'राधा' इस प्रकार वैदिक राधः या राधा का व्यक्तिकरण है। राधा पवित्र तथा पूर्णतम आराधना की प्रतीक है। 'आराधना' की उदात्तता उसे प्रेमपूर्ण होने में है। जिस आराधना या अर्चना में विशुद्ध प्रेम नहीं झलकता, जो उदात्त प्रेम के साथ नहीं सम्पन्न की जाती, क्या वह कभी सच्ची 'आराधना' कहलाने की अधिकारिणी होती है ? कभी नहीं। इस प्रकार राधा शब्द के साथ प्रेम के प्राचुर्य का, भक्ति की विपुलता का, भाव की महनीयता का सम्वन्ध कालान्तर में जुटता गया और धीरे-धीरे राधा विशाल प्रेम की प्रतिमा के रूप में साहित्य और धर्म में प्रतिष्ठित हो गई।

ऊपर उद्धृत मन्त्रों में इन्द्र 'राधानां पते' नाम से सम्वोधित किये गये हैं। फलतः वेद में वे ही 'राधापति' हैं। कालान्तर में जव इन्द्र का प्राधान्य विष्णु के ऊपर आया और कृष्ण का विष्णु के साथ सामञ्जस्य स्थापित किया गया, तव कृष्ण का राधापति होना स्वाभाविक है, ऐसी मेरी धारणा है और मेरा विचार है। यह धारणा भ्रान्त और तर्कहीन नहीं कही जा सकती। वैदिक धर्म के विकास की जो रूपरेखा ऊपर खींची गई है, वह इस परिबृंहण के लिए पर्याप्त साधन प्रस्तुत करती है।

श्रीकृष्ण-चरित्र का विकास

श्रीकृष्ण का चरित्र अनेक विलक्षणताओं से भरा हुआ है। उन्हें हम बाल्यकाल में गोपों तथा गोपियों के साथ रँगीली लीलाएँ करते हुए पाते हैं, अनन्तर कंस-जैसे अत्याचारी तथा जरासन्ध-जैसे पराक्रमी नरेशों का विध्वंस करते हुए देखते है तथा महाभारत के युद्ध में उन्हें हम

वीरशिरोमणि अर्जुन की मोहनिद्रा को दूर करनेवाली गीता का ज्ञान सिखाते हुए पाते हैं। कृष्ण के जीवन का आरम्भ तथा अवसान इतने परस्पर विरुद्ध हैं कि आलोचकों को एक के स्थान पर अनेक कृष्ण की कल्पना में विश्वास करते देखते हैं। दो कृष्ण की वात तो कतिपय आलोचक सच्ची समझते हैं, परन्तु किन्हीं के मत में तो तीन कृष्ण थे (१) गीता के वक्ता श्रीकृष्ण, (२) पाण्डवों के सखा तथा सलाहकार महांराज कृष्ण, जो डॉक्टर याकोवी के शब्दों में 'अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए चाहे जिस उपाय का अवलम्वन कर लेते थे', तथा (३) गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण, जिन्होंने कंस को मारकर अपने वन्धु-वान्धवों को द्वारका में जाकर वसाया, जहाँ महाराज कृष्ण भी निवास करते थे। डॉक्टर विटरनित्स ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि 'पाण्डवों के सखा और सलाह-कार भगवद्गीता के सिद्धान्त के प्रचारक, वाल्यकाल में दैत्यों का वध करनेवाले वीर, गोपियों के वल्लभ तथा भगवान् विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण एक ही व्यक्ति थे; इस वात पर विश्वास होना वहुत ही कठिन है ?'[1] डॉक्टर रामकृष्ण भंडारकर का कथन है[2]—'विष्णकुश में उत्पन्न महाराज कृष्ण गोकुल में संवर्धित हुए। यह वात उनके अगले जीवन से, जिसका वर्णन महाभारत में मिलता है, मेल नहीं खाती।' छान्दोग्य-उपनिषद् (३।१७।६) में कृष्ण 'देवकीपुत्र' के नाम से अभिहित किये गये हैं। इस कथन को अनेक विद्वानों ने तूल दिया है और डॉक्टर याकोवी का कहना है कि कृष्ण को 'वसुदेव' नामक एक सामन्त का पुत्र मानना ठीक नहीं है। उनके 'वासुदेव' नाम से ही यह कल्पना कर ली गई है कि उनके पिता का नाम 'वसुदेव' था।

इन तथ्यों का अधिकारी विद्वान् प्रामाणिक रूप से खण्डन करते आये हैं, परन्तु अभी तक भारतीय विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक इन्हीं निर्मूल कल्पनाओं को निर्भ्रान्ति सत्य के रूप में अपने छात्रों को पढ़ाते हैं और उनमें भ्रम उत्पन्न करते हैं। इसलिए इस विषय की भी संक्षिप्त मीमांसा यहाँ अपेक्षित है।

महाभारत तथा पुराण का अध्ययन श्रीकृष्ण के समस्त जीवन-चरित की जानकारी के लिए नितान्त आवश्यक है। महाभारत में कृष्ण के समग्र चरित की उपलब्धि की आशा करना दुराशा-मात्र है; क्योंकि इसमें प्रधानतया पाण्डवों के जीवन-वृत्तान्त और कार्यों का वर्णन है; कृष्ण का तो केवल उनके सहायक और पथदर्शक के रूप में ही उल्लेख मिलता है। पुराणों में ही श्रीकृष्ण का जीवन चरित, कहीं विस्तार से और कहीं संक्षेप से, वाल्यकाल से उपलब्ध होता है। इन पुराणों में विष्णुपुराण , श्रीमद्भागवत, हरिवंश, पद्मपुराण तथा ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में कृष्ण का जीवन विस्तार के साथ दिया गया है तथा ब्रह्मपुराण, वायुपुराण, अग्निपुराण, लिंगपुराण और देवी-भागवत में वह संक्षेप में वर्णित है।

इनमें से ब्रह्मपुराण और विष्णुपुराण में जो कृष्ण कथा मिलती है, उसमें दोनों पुराणों में

---

१. It is difficult to believe that Krishna the friend and Counciller of Pandavas, the herald of the doctrine of the Bhagavatgita, the youthful hero and demon-slayer, the favaurite lover of the cow-herdesses and finally Krishna the incarnation of God Vishnu was one and the same parson.

—Winternitz.

२. 'वैष्णविज्म शैविज्म' नामक ग्रन्थ में।

एक-से श्लोक मिलते हैं। विष्णुपुराण में कहीं-कहीं पाठभेद तथा-कुछ अधिक श्लोक अवश्य मिलते हैं। ब्रह्मवैवर्त्त में राधा का बड़ा ही विस्तृत विवरण दिया गया है, जो इस पुराण की विलक्षणता प्रतीत होती है। वायुपुराण में भिन्न-भिन्न राजवंशों के प्रसंग में श्रीकृष्ण-चरित का भी वर्णन मिलता है। हरिवंश महाभारत का 'खिल' या परिशिष्ट माना जाता है, जिसमें केवल कृष्ण की ही कथा का वर्णन है। महाभारत में प्रसंगतः उपात्त कृष्ण-चरित की पूर्त्ति के लिए ही 'हरिवंश' का निर्माण किया गया, ऐसी धारणा रखना अस्वाभाविक नहीं मालूम पड़ता। इन विभिन्न पुराणों में वर्णित श्रीकृष्ण-चरित का तुलनात्मक अध्ययन से यही सिद्ध होता है कि उनमें सामान्य अन्तर कहीं-कहीं भले ही हों, परन्तु कथा के मुख्य विषय सर्वत्र एक ही हैं।

महाभारत का वर्ण्य विषय पाण्डवों तथा कौरवों के बीच संघर्ष है और इसीके बीच श्रीकृष्ण का चरित्र पाण्डवों के जीवन-सखा तथा पथप्रदर्शक के रूप में बहुशः निर्दिष्ट है। अतः दोनों में अन्तर होना स्वाभाविक है। पुराणों में भगवान् के जीवन का पूर्ण वृत्तान्त है और महाभारत में उनके जीवन का वह आंशिक रूप चित्रित है, जो पाण्डवों के जीवन से सम्बद्ध है। इसी कमी की पूर्त्ति के लिए हमारा अनुमान है 'हरिवंश' की रचना खिल या परिशिष्ट-रूप में पीछे की गई। इन भिन्न-भिन्न प्रसंगों में ऐसा कोई महान् वैषम्य लक्षित नहीं होता कि उसके लिए हम एक के स्थान पर अनेक कृष्ण की कल्पना करें। यह तो श्रीकृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व का महान् उत्कर्ष है कि वे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में यशस्वी तथा प्रतापशाली सिद्ध हुए। जो श्रीकृष्ण बचपन में अपने सखाओं के साथ एक साधारण ग्वाले की भाँति नाना शौर्यसूचक खेलों को खेला था, उन्हों ने जीवन की प्रौढ दशा में महाभारत-रूपी नाटक में सूत्रधार का काम किया और उन्हींने भगवद्गीता के उच्च तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया। इसमें विषमता रंचमात्र भी लक्षित नहीं होती।

महाभारत में श्रीकृष्ण का राजनीतिज्ञ के रूप में बड़ा ही सम्मानपूर्वक वर्णन है। बात यह थी कि श्रीकृष्ण के वंश में, यादवों में भिन्न-भिन्न कुल थे, जिनमें प्रधान अन्धक और वृष्णि गण थे और जिनमें गणतन्त्र की शासन-प्रणाली प्रचलित थी। उस समय अन्धक वृष्णिगणों का एक गणसंघ था, जिसके प्रधान के पद पर कृष्ण ने वृद्ध राजा उग्रसेन को प्रतिष्ठित किया था। ये गण आपस में समय-समय पर लड़ा करते थे और उनके बीच सौहार्द स्थापित कर राज चलाना एक विषम पहेली थी। कृष्ण ने अपनी विषम राजनीतिक स्थिति का जो वर्णन नारदजी से किया है, वह उनकी राजनीतिक चिन्ता और चातुरी का कुछ आभास दे सकती है —

दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां तु करोम्यहम्।
अर्धं भोक्तास्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे ॥
अरणिमग्निकामो वा मथ्नाति हृदयं मम।
वाचा दुरुक्तं देवर्षे तन्मां दहति नित्यदा ॥
बलं संकर्षणे नित्यं सौकुमार्यं सदा गदे।
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद ॥
स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ किन्नु दुःखतरं ततः।
यस्य चापि न तौ स्यातां किन्नु दुःखतरं ततः ॥

सोऽहं कितवमातेव द्वयोरपि महामुने !
एकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्यापराजयम् ।।

आशय है, हे नारद, नाम तो मेरा ईश्वर है, परन्तु करता हूँ गुलामी अपने जाति-भाइयों की। भोग तो आधा ही मिलता है, परन्तु गालियाँ खूब मिलती हैं। जैसे आग जलाने की इच्छा से लोग अरणि के काठ को मथते हैं, वैसे ही ये मेरे सम्बन्धी गालियों से मेरा हृदय मथा करते हैं। मेरे जेठे भाई बलराम अपने बल के अभिमान में चूर रहते हैं। छोटे भाई गद नज़ाकत के मारे मरे जाते हैं। मेरे जेठे पुत्र प्रद्युम्न को रूप के मद की बदहोशी रहती है। फलतः मैं एकदम असहाय हूँ। मेरे भक्त आहुक और अक्रूर सदा लड़ा करते हैं। इनके मारे मेरी नाकों में दम है। मेरी दशा जुआड़ी के उस माता के समान है, जो अपने दोनों जुआड़ी पुत्रों में से चाहती है कि एक तो जीते, परन्तु दूसरा हारे नहीं।

इस विषम स्थिति को सँभालने के लिए नारदजी ने उपदेश दिया कि बिना लोहे के शस्त्र से इन ज्ञातियों की जीभ काटिए, अर्थात् इन के प्रति सज्जनता और उदारता से इन्हें ऐसा वश में कर लीजिए कि ये कभी अपमान या बुराई नहीं कर सकें। कहने का तात्पर्य है कि जो श्रीकृष्ण अपने ज्ञातियों के परस्पर कलह के सुलझाने में अपनी राजनीतिमत्ता का परिचय देते हैं, वे ही श्रीकृष्ण कौरवों के साथ सन्धि करने के लिए स्वयं दूत बनकर जाते हैं और अवसर आने पर धर्म-संकट में पड़नेवाले वीर अर्जुन को गीता का तत्त्व-ज्ञान सुनाकर उत्साहित करते हैं, धर्मयुद्ध करने के लिए उत्तेजित करते हैं तथा भारतवर्ष की राजनीति-क्षेत्र में अधर्म को उन्मूलित कर धर्म की स्थापना करते हैं। तभी तो व्यासदेव को घोषित करना पड़ा है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।। —गीता, १८।७८

अर्थात् योगेश्वर कृष्ण तथा धनुर्धर पार्थ की स्थिति जहाँ है, वहीं पर अवश्यम्भावी राज्य-लक्ष्मी, शत्रुविजय, ऐश्वर्य और सर्वसाधनी अमोघनीति का भी निवास है, यही मेरा मत है। व्यासदेव के वचन मननीय तथा गौरवपूर्ण हैं। यतः कृष्णस्ततो विपत् ..—जिधर कृष्ण की स्थिति है, वहाँ से विपत्तियाँ दूर भागती हैं, यह कृष्ण के आध्यात्मिक महत्त्व का सूचक है।

श्रीकृष्ण के जीवन के प्रौढकाल का यह चित्र है, जो उनके बाल्यकाल के जीवन से किसी प्रकार का वैषम्य नहीं उपस्थित करता। प्रौढकाल के राजनीतिज्ञ को बाल्यकाल में चाञ्चल्य का परिचय देना कोई विषमता की बात नहीं है। वैष्णव ग्रन्थों में कृष्ण की तीन लीलाएँ मानी जाती हैं—व्रजलीला, माथुरलीला तथा द्वारिकालीला। एक ही व्यक्ति ने इन तीनों लीलाओं का प्रदर्शन अपने जीवन के भिन्न-भिन्न भागों में किया था। अतः श्रीकृष्ण की एकता में अवि-श्वास करना नितान्त निराधार घटना है। कृष्ण एक ही थे और उन्होंने अपने अलौकिक व्यक्तित्व के कारण नाना कार्यों का सम्पादन अपने जीवन के विभिन्न भागों में किया था जो आपाततः साधारण रीति से देखने पर विरुद्ध-से प्रतीत होते हैं, परन्तु भीतर से देखने पर उनमें किसी प्रकार की विषमता नहीं जान पड़ती। फलतः महाभारत तथा पुराणों में वर्णित श्रीकृष्ण के वृत्तान्त एक दूसरे के सहकारी और समर्थक हैं। अतएव कतिपय आधुनिक आलोचकों की यह मान्यता कि श्रीकृष्ण अनेक थे एकदम मिथ्या तथा निराधार है। इसे मानने के लिए कोई भी मान्य

तर्क उपस्थित नहीं किया गया है। डॉ० याकोबी का कथन भी निराधार है; क्योंकि सब पुराणों में कृष्ण के पिता 'वसुदेव' बतलाये गये हैं तथा महाभारत में भी वे 'वसुदेवनन्दन' के नाम से अनेकशः अभिहित किये गये हैं। 'देवकीपुत्र' शब्द के ऊपर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि जिस प्रकार पिता के नाम पर पुत्र की प्रसिद्धि होती है, उसी प्रकार माता के नाम पर भी पुत्र को पुकारने की प्रथा प्राचीन काल में थी। अथर्ववेद के एक मन्त्र में (४।१६) वर्णन आता है कि अमुक गोत्रोत्पन्न, अमुक माता का पुत्र, अमुक नामधारी मैं तुम्हें इन सारी बेड़ियों से बाँधता हूँ—

तैस्त्वा सर्वैरभिष्यामि पाशैरसा वामुस्यायणामुष्याः पुत्र।
तानु ते सर्वाननुसन्दिशामि।—अथर्व, ४।१६।६

कृष्ण का शौर्य

श्रीकृष्ण के ऐतिहासिक जीवन-चरित की मीमांसा करने से स्पष्ट है कि वे एक शूर-वीर योद्धा तथा दैत्यों के विध्वंसक के रूप में ही आरम्भ में गृहीत किये गये थे। उनका जीवन वीरता का प्रतीक था; उनकी केलियाँ शूरता से मण्डित थीं। आरम्भ में कृष्ण का यही रूप था, इसे मानने के लिए आलोचकों के पास पर्याप्त साधन है। यह इतिहास-प्रसिद्ध घटना है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में सिल्यूकस निकातर द्वारा नियुक्त मैगस्थनीज नामक प्रख्यात यूनानी राजदूत पाटलिपुत्र में रहता था। वह कई वर्षों तक भारत में रहा और उसने उस समय की भारतीय वस्तुओं तथा घटनाओं का बड़ा ही सांगोपांग विवरण प्रस्तुत किया, जो मूलतः नष्ट हो जाने पर भी एरियन नामक परवर्त्ती इतिहास-लेखक के द्वारा उद्धृत होने से अंशतः उपलब्ध है। मैगस्थनीज एक स्थान पर लिखता है—

यह भारतीय हैराक्लीज[1] शारीरिक और आत्मिक बल में सबसे बढ़ा-चढ़ा था। उसने सारी पृथिवी और समुद्रों को पाप-शून्य कर दिया था और कई नगर बसाये थे। उसके इस संसार से चले जाने के बाद लोग उसे ईश्वर की भाँति पूजने लगे। भारतवर्ष की 'शौरसेनी' (यादव) जाति के लोग इस हैराक्लीज की विशेष रूप से पूजा करते हैं। मथुरा और क्लीसोबरा नाम की दो बड़ी नगरियों पर इस जाति का आधिपत्य है और इन दोनों के बीच में 'जोहारीज' नदी (जमुना) बहती है।[2] इस उद्धरण में हैराक्लीज का तात्पर्य श्रीकृष्ण से लगाया जाता है।

---

१. यूनान की पौराणिक कथाओं में हैराक्लीज (Heracles) अथवा हरक्यूलीज (Hercules) नामक एक वीर का विशेष उल्लेख मिलता है। उसने अनेक प्रबल राक्षसों और भयंकर प्राणियों से युद्ध कर उन्हें मारा था और अपने बल के लिए लोक-विश्रुत हो गया था। इसीलिए यूनानी लेखकों ने श्रीकृष्ण अथवा बलराम की हरक्यूलीज से तुलना की है।

२. He, the Indian Heracles, excelled all men in strength of body and spirit; he had purged the whole earth and sea of evil and founded many cities, and after his death divine honours were paid. This Heracles is espectally worshipped by the souraseniaus, an Indian nation in whose land are to great cities Mathura and Cleisobara, and through it flows the navigable river Johares (Jumna) यह अवतरण Arrian's Arabasis of Alexander & Indica नामक ग्रन्थ के E. J. Chinnock द्वारा किये गये अनुवाद से लिया गया है। (पृ० ४०८)।

क्लीसोवरा या क्रीसोवरा (Chrysobara) नगरी को कुछ लोग कालिसपुर (Calishpura) का अपभ्रंश मानते हैं, परन्तु प्लिनी (Pliny) नामक विख्यात यूनानी इतिहास-लेखक ने इसे 'कृष्णपुर' (कृष्ण की नगरी) का विकृत रूप माना है। शायद उसका अभिप्राय द्वारकापुरी से है, जिसे कृष्ण ने वसाया था। जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् लासेन (Lassen) की धारणा है कि यहाँ भारतीय हैराक्लीज से तात्पर्य श्रीकृष्ण से है। परन्तु प्रोफेसर विल्सन की सम्मति में कृष्ण के जेठे भाई वलराम का यहाँ संकेत है। इस प्रसंग में कप्तान विल्फोर्ड ने एक पते की वात लिखी है[1]—सिसरो नामक यूनानी इतिहास लेखक की सम्मति में भारतीय 'हरक्यूलीज' का नाम बेलस (Belus) था। यही श्रीकृष्ण के वड़े भाई 'बल' (या बलराम) थे और इन दोनों भाइयों की मथुरा में साथ ही पूजा की जाती है। इतना ही नहीं, वास्तव में इन दोनों को मिलाकर ही भगवान् विष्णु का अवतार मानते हैं। वल के विषय में यह लिखा है कि वे अत्यन्त वलिष्ठ थे और अपने पास हल और मूसल रखते थे। उन्हें वलराम भी कहते हैं। विष्णु अर्थात् हरि के अवतार होने से वे सचमुच 'हरिकुल' (Haricula, Hericules) या हरिक्यूलीज[2] थे।

मैगस्थनीज का यह उद्धरण वड़े ही महत्त्व का है। चाहे वह श्रीकृष्ण का निर्देश करता हो, चाहे उनके जेठे भाई वलराम का, इससे हमारे सिद्धान्त को हानि नहीं पहुँचती; क्योंकि ईसवी-पूर्व द्वितीय शती में शुंगों के राज्य-काल में वासुदेव और संकर्षण दोनों की पूजा प्रचलित थी; इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। संकर्षण और वासुदेव इन दो नामों का जोड़ा शुंग-काल में साथ-साथ प्रसिद्ध हो गया था। पतञ्जलि ने सूत्र २।२।२५ के भाष्य में लिखा है—

सङ्कर्षणद्वितीयस्य बलं कृष्णस्यवर्धताम्।

महाभारत के उद्योगपर्व (४७।७२) में कृष्ण को 'वलदेव द्वितीय' कहा गया है और आरण्यक पर्व (१३।३६) में कृष्ण 'वलदेवसहायवान्' कहे गये हैं। प्राचीन मध्यमिका की 'नारायण-वाटिका' के शिलालेख में संकर्षण वासुदेव सर्वेश्वर नाम से अभिहित हैं। यह शिलालेख इसी काल का है। वेसनगर का गरुड-स्तम्भ शिलालेख इसी युग से सम्वन्ध रखता है,

---

१. The Indian Heracles according to Cicero was called Belus. He is the same as Bala, the brother of Krishna, and both are conjointly worshipped at Mathura; indeed, they are considred as one Avatar or incarnation of Vishnu. Bala is represented as a stout man with a club in his hand. He is called also Balarama. As Bala, springing from Vishnu or Hari he is certainly Heri-cula, Heri-cules, Hercules.

—Captain Wilford.

२. संस्कृत में 'हरि' शब्द का अर्थ 'उद्धारक' है और कुल का अर्थ है वंश। फलतः 'हरिक्यूलीज' शब्द का अर्थ है 'हरि के कुल में उत्पन्न होनेवाला पुरुष'। हिग्गिन्स (Higgnis) नामक विद्वान् का मत है कि यह शब्द न तो यूनानी भाषा का है और न लातनी भाषा का, किसी असभ्य जाति की भाषा का है।—देखिए एनाकैलिप्सिस (Anacalypsis), जिल्द पहली, पृ० ३२९। (तो क्या यह असभ्य भाषा संस्कृत ही है?)

जिसमें तक्षशिला के निवासी हेलियोडोरस ने, जो यवन महाराज अन्तलिकित का राजदूत था, अपने को 'भागवत' वतलाया है। उसने ही इस गरुडध्वज की स्थापना की थी। नानाघाट के गुहाभिलेख में वासुदेव तथा संकर्षण का उल्लेख एक ही समस्तपद में किया गया है। पाणिनि-सूत्र ८।१।१५ पर द्वन्द्व या दो नामों का ऐसा उदाहरण देने के लिए, जिनमें उन दोनों की एक साथ लोक-प्रसिद्धि (साहचर्येण अभिव्यक्ति) प्रकट हो, काशिका में 'संकर्षणवासुदेवौ' कहा गया है। निश्चय ही यह उदाहरण काशिका (सप्तम शती) से वहुत प्राचीन होना चाहिए और उसका स्तर पतञ्जलि के महाभाष्य के युग में रखा जाना चाहिए। इसलिए मैगस्थनीज चाहे श्रीकृष्ण को या वलराम को भारतीय हैरावलीज के नाम से पुकारता है; इस उल्लेख से यह निष्कर्ष भली भाँति निकाला जा सकता है कि ईसवी पूर्व चतुर्थ-शती में वलराम के समान कृष्ण की भी ख्याति उनके शौर्य द्योतक कार्यों के कारण ही थी। अर्थात् उस युग में श्रीकृष्ण एक वीर तथा प्रतापी योद्धा के रूप में ही प्रधानतया पूजे जाते थे। महाभारत और पुराणों से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

श्रीकृष्ण की बाललीला

यह अनुमान असंगत नहीं है कि श्रीकृष्ण की वाललीलाओं में शनैः-शनैः परि-वर्धन तथा परिबृंहण होता गया। कुछ लीलाएँ अत्यन्त प्राचीन काल से प्रसिद्ध थीं, जो काला-न्तर में श्रीकृष्ण के साथ जोड़ दी गईं; ऐसा अनुमान लगाने का पर्याप्त साधन उपलब्ध हुआ है। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक मिट्टी-गुटिका श्रीकृष्ण की वाललीला से सम्वद्ध यमलार्जुन दृश्य को अंकित करनेवाली मानी गई है। इसे खोदकर निकालने वाले 'मैके' साहव का कहना है कि— इस दृश्य में दो व्यक्ति दिखलाये गये हैं जो अपने हाथों में दो उखाड़े हुए पेड़ किसी वृक्ष देवता को बन्धन-मुक्त करने के लिए पकड़े हुए हैं अथवा जो इन वृक्षों को रोपना चाहते हैं। वृक्ष देवता ने उनकी ओर अपने दोनों हाथ बढ़ा रखे हैं, जो मुद्रा उसके आशीर्वाद या प्रसन्नता को द्योतित करती है। वे इस दृश्य को श्रीकृष्ण के यमलार्जुनोद्धारलीला के किसी प्राचीन रूप को मानने के लिए तैयार हैं।[1] इतने प्राचीन युग में आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व इस दृश्य को श्रीकृष्ण की एक प्रख्यात वाललीला से सम्वद्ध मानना ऐतिहासिक रीति से युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। प्राचीन काल में यक्षपूजा विशेष रूप से प्रचलित थी। सम्भवतः यह गुटिका उसी प्राचीन युग की स्मृति लिये है। जो कुछ भी हो, ऐसे दृश्य या लीला सामान्य जनता में प्रसिद्ध थी और उसे श्रीकृष्ण के संग में जोड़कर उन्हें धार्मिक रूप दे दिया गया है; यह तथ्य स्वीकार करने में विद्वानों को विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अष्टम या नवम शती में श्रीकृष्ण की वाललीला के दृश्य शिलापट्टों पर अंकित होकर भारत तथा भारत के वाहर भी प्रसिद्ध होने लगे। वंगाल के पहाड़पुर की खुदाई में गोवर्धन-धारण की एक वड़ी ही सुन्दर मूर्त्ति मिली है, जो काफी प्राचीन है। कम्वोडिया (प्राचीन कंवुज) की राजधानी अंकोरवाट, जिसका प्राचीन नाम 'यशोधरपुर' था, के मन्दिर में कृष्ण की बाललीला के दृश्यों की उपलब्धि वैष्णवधर्म के विपुल प्रसार को सूचित करती है। यहाँ १२वीं शती के

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य—मैके: फर्दर एक्सकवेशन्स एट मोहेंजोदड़ो (जिल्द १, पृ० ३५४-५५; जिल्द २, प्लेट ९०, चित्र २३-२४) तथा पोद्दारअभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ ७८१।

आरम्भ (लगभग ११२५ ई०) में विशाल मन्दिरों का निर्माण हुआ, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण मन्दिर सम्राट् सूर्यवर्मा द्वितीय का बनवाया हुआ है। जिस समय गीतगोविन्द की रचना बंगाल में हो रही थी, उसी समय अंकोरवाट में शिलापट्टों पर बालकृष्ण की लीलाएँ अंकित की जा रही थीं। ऐसी पाँच लीलाओं का अंकन मिलता है[1]—(१) यमलार्जुन-उद्धार, (२) गोवर्धन-धारी कृष्ण, (३) दावानल-आचमन, (४) प्रलम्बासुरवध तथा (५) कृष्ण द्वारा इन्द्रमख की सामग्री का भक्षण। इनमें दूसरा दृश्य बड़ा ही प्रभावोत्पादक है। कृष्ण की मूर्त्ति सबसे बड़ी है। बीच में खड़े हुए वे दाहिने हाथ के ऊपर पर्वत उठा रहे हैं और बायें हाथ में एक मोड़दार छड़ी है। नीचे दो पंक्तियों में खड़े ग्वाल-बाल और गाय-बछड़े अत्यन्त भक्तिभाव से कृष्ण की ओर देख रहे हैं और कुछ प्रणाम कर रहे हैं। ये दृश्य बाललीला की लोक-प्रियता के ज्वलन्त उदाहरण हैं—भारत के भीतर ही नहीं, भारत के बाहर सुदूर के कंबोज में।

अब यहाँ गोपीलीला का समीक्षण प्रासंगिक है। श्रीकृष्ण ने बाल्यकाल में गोपियों के संग अनेक लीलाएँ खेलीं, जिनका वर्णन श्रीमद्भागवत में और इतर वैष्णव पुराणों में बड़ा ही सरस और चटकीला हो गया है। विचारणीय प्रश्न है कि यह लीला कितनी प्राचीन है? क्या यह महाभारत में भी है अथवा यह पुराणों के युग की एक कमनीय कल्पना है? महाभारत में चीर-हरण के समय द्रौपदी की यह कृष्ण से प्रार्थना है—

श्रीकृष्ण द्वारिकावासिन् गोपगोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥

मेरी सम्मति में इस पद्य का 'गोपगोपीजनप्रिय' शब्द इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि महाभारत कृष्ण की बाललीला गोपियों के साथ क्रीडा करने से पूर्णतया परिचित है। अतः इन लीलाओं को नवीन तथा कल्पित मानना नितान्त अनुचित है। इस विषय में श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है—'महाभारत को वर्त्तमान स्वरूप ईसवी-सन् से २५० वर्ष पूर्व मिला। उस समय तक यह कल्पना थी कि गोपियाँ श्रीकृष्ण के साथ जो प्रेम करती थीं, वह निर्व्याज, विषयातीत और ईश्वर-भावना से युक्त था। यही कल्पना महाभारत में दिखलाई पड़ती है। 'गोपीजनप्रिय' नाम का यही अभिप्राय है कि वे दीन अबलाओं के दुःखहर्त्ता हैं। इस नाम में यदि निन्द्य अर्थ होता, तो सती द्रौपदी को पातिव्रत की अग्नि-परीक्षा के समय उसका स्मरण नहीं होता। यदि होता भी तो उसे वह अपने मुँह से कदापि नहीं निकालती और यदि निकालती भी, तो वह उसके लिए फलप्रद नहीं होता। अतएव यह निर्विवाद है कि इस नाम में गोपियों का विषयातीत भगवत् प्रेम ही गर्भित है।[2]

गोपियों के साहचर्य से कृष्ण के जीवन में दोष उत्पन्न हो गया होता, तो शिशुपाल इस दोष के वर्णन से कभी पराङ्मुख नहीं होता। राजसूय यज्ञ की समाप्ति पर जब युधिष्ठिर ने सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति की पूजा के रूप में श्रीकृष्ण को अर्घ्यदान किया, तब शिशुपाल के लिए यह असह्य हो उठा था और उसने कृष्ण की खूब ही निन्दा की थी, परन्तु उसने कहीं पर भी इस प्रसंग का उल्लेख नहीं किया। इससे इसकी निर्दोषता स्पष्टतः सिद्ध होती है। एक बात और। श्रीकृष्ण बचपन से ही मल्ल-

१. पोद्दार अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ७९९ (मथुरा, सं० २०१०)।
२. महाभारतमीमांसा, पृ० ५९८ (पूना, १९२०)।

विद्या के शौकीन थे और कुश्ती लड़ने के लिए ही कंस ने उन्हें मथुरा में बुलाया था। यह निर्भ्रान्त सिद्धान्त है कि ऐसे वालमल्ल को काम का व्यसन कभी नहीं हो सकता। फलतः महाभारत के अनुशीलन से यही प्रतीत होता है कि वह श्रीकृष्ण की गोपीलीला से परिचय रखता है, परन्तु यह लीला विशुद्ध भगवत्प्रेम की ही एक उज्ज्वल प्रतीक थी——काम-वासना से विल्कुल दूर; अत्यन्त सुदूर।

श्रीकृष्ण की वाललीला में गोपीलीला अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह श्रीकृष्ण के प्रति भक्तों की माधुर्यमयी भक्ति की मनोरम प्रतीक है। भगवान् के समान ही गोपियाँ भी परमरसमयी और सच्चिदानन्दमयी ही हैं। साधना की दृष्टि से भी उन्होंने न केवल जडशरीर का ही त्याग कर दिया है, वल्कि सूक्ष्म शरीर से प्राप्त होनेवाले स्वर्ग को तथा कैवल्य से अनुभव होनेवाले मोक्ष का भी त्याग कर दिया है। उनकी दृष्टि में केवल चिदानन्दरूप श्रीकृष्ण हैं और उनके हृदय में श्रीकृष्ण को तृप्त करनेवाला प्रेमामृत है। उन्होंने अपना घर, अपना परिवार और अपने पतियों को छोड़ दिया है। उनकी दृष्टि में एक ही पुरुष है, जो परमसौन्दर्यरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण हैं। उनके प्रति उन्होंने अपना सर्वस्व निछावर कर दिया है। वे विशुद्ध प्रेम की प्रतीक हैं। उन्हीं के कारण श्रीकृष्ण का जीवन-चरित भक्तों के लिए इतना आह्लादजनक, इतना रसमय तथा इतना उल्लासमय है। अव विचारणीय है कि यह 'शृंगारी रहस्यवाद' (एरोटिक मिस्टिसिज्म) कृष्ण-पूजा के साथ कव तथा कैसे सम्वद्ध हुआ। 'कव' का उत्तर कठिन है, परन्तु 'कैसे' के उत्तर के लिए वेद के मन्त्रों से सहायता प्राप्त होती है।

वृषाकपि सूक्त के महत्त्व का प्रदर्शन पहले किया गया है। इस सूक्त का अन्तिम मन्त्र इस प्रसंग पर विशेष प्रकाश डालता है। मन्त्र इस प्रकार है——

पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम्।
भद्रं भल त्यस्या अभूद् यस्या उदरमामयद्
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।

इस मन्त्र[1] का तात्पर्य है कि मानुषी स्त्री पर्शु ने एक साथ बीस बच्चों को पैदा किया। यह उसके लिए अच्छा ही हुआ, जिसका उदर फूल गया था और उसे पीड़ा दे रहा था। इन्द्र सबसे श्रेष्ठ है। यह स्त्री ही इस मन्त्र की द्रष्टा है। वह वृषाकपि (विष्णु=सूर्य) की उपासिका है, जो अपने आराध्य इष्टदेव की प्रभुता के लिए पैरवी करती है और स्वयं इन्द्र से उनकी श्रेष्ठता की स्वीकृति प्राप्त करती है। वह पर्शु, अर्थात् यादव वंश की है। वह एक साथ बीस बच्चों को पैदा करती है और इसका कारण वह अपने इष्टदेव को मानती है। एक साथ बीस बच्चों को पैदा करनेवाली शूकरी ही होती है, जिससे प्रतीत होता है कि वृषाकपि दिव्य वराह के प्रतीक हैं। 'वृषा' का अर्थ है शक्तिशाली। 'कपि' का अर्थ है कपिश वर्ण का पशु। इस पद का संकेत वराह के लिए मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, भूरे रंग का वराह प्रायः उपलब्ध होता है। क्योंकि

१. ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यादव किसी समय भारतवर्ष के पश्चिम देश से बाहर जाकर फारस में प्रतिष्ठित हो गये थे। पर्शु यादवों के ही एक विशिष्ट अंग थे, जो भारत में रहते थे। कालान्तर में वे बाहर उपनिवेश बनाकर ईरान में रहने लगे थे। देखिए चट्टोपाध्यायजी का उक्त लेख, पृ० १३७-१४५।

पुराणों में विष्णु को वराह के रूप में अवतार लेते हम पाते हैं। वैदिक साहित्य में ऐसे बहुत-से संकेत हैं, जिनके आधार पर-वराह अवतार की कल्पना का पुराणों में क्रमशः विकास हुआ है।

निष्कर्ष यह है कि यदि यह पर्शु मानवी, अर्थात् यादव-वंश की स्त्री अपने को दिव्य वराह की भार्या मानती है, तो इसे शृंगारी रहस्यवाद का एक रोचक उदाहरण मानना चाहिए। इसका महत्त्व इस घटना से भी अधिक है कि वह कृष्ण, जिनके विषय में गोपियों के साथ प्रेमलीला का प्रसंग पुराणों में वर्णित है, यादव-वंश में उत्पन्न हुए थे। इस वृषाकपि सूक्त में सूर्य की शृंगारी रहस्यमयी पूजा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। कालान्तर में कृष्ण इसी सूर्य या विष्णु के अवतार माने गये थे। फलतः सूर्य की शृंगारी पूजा कृष्ण के साथ भी सम्बद्ध कर दी गई; ऐसा मानना केवल कल्पना का विलास नहीं माना जा सकता है।

इस प्रसंग में अपाला आत्रेयी का वैदिक चरित्र ध्यान से अध्ययन-योग्य है। अपाला के द्वारा दृष्ट सूक्त सात मन्त्रों का है, जो पाठकों की सुविधा के लिए नीचे दिया जाता है—

कन्या वारवायती सोममपि स्रुताविदत्।
अस्तं भरन्त्यब्रवीदिन्द्राय सुनवै त्वा शक्राम सुनवैत्वा ॥१॥
असौ य एषि वीर को गृहं गृहं विचाकशत्।
इमं जम्भसुतं पिब धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्त मुक्थिनम् ॥२॥
आ चन त्वा चिकित्सामोऽधि चन त्वा नेमसि।
शनैरिव शनकै रिवेन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥३॥
कुविच्छकत् कुवित् करत् कुविन्नो वस्यसस्करत्।
कुवित् पतिद्विषो यतीरिन्द्रेण सङ्गमामहै ॥४॥
इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय।
शिरस्ततस्योर्वरा मादिदं म उपोदरे ॥५॥
असौ च या न उर्वरा दिमां तन्वं कुरु।
असौ ततस्य यच्छिरः सर्वा ता रोमशा कृधि ॥६॥
खे रथस्य खे ऽनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृण्णोः सूर्यत्वचम् ॥७॥

इस सूक्त के भाष्य के आरम्भ में सायणाचार्य ने बड़े विस्तार के साथ अपाला का चरित्र दिया है। वे कहते हैं कि उसका शरीर त्वग्दोष से विकृत था। उसने सोमलता का अभिषवण इन्द्र के लिए किया। इन्द्र उसे पीकर प्रसन्न हो गये और अपाला से वर माँगने को कहा। अपाला ने तीन वर माँगा। पहला था कि उसके पिता के खल्वाट सिर पर वाल निकल आवें। दूसरा था कि उसके पिता के ऊसर खेत शस्य से सम्पन्न हो जायें और तीसरा था कि उसके उदर के नीचे का भाग रोएँ से युक्त हो जाय। इन्द्र ने इन तीनों वरदानों को देकर अपाला के मनोरथ को सिद्ध कर दिया और रथ के छेद से, शकट के छेद से तथा युग के छेद से अपाला को तीन बार खींचकर उसके चर्म को सूर्य के समान चमकीला वना दिया।

इस सूक्त की समीक्षा इस प्रसंग में बड़े ही महत्त्व की है। अपाला अविवाहिता कुमारी और इसलिए अपने पिता के घर में रहती थी। सूक्त के अन्तिम मन्त्र के आधार पर सायण ने

उसे विवाहिता तथा श्वेत कुष्ठ से दूषित बतलाकर पति के द्वारा तिरस्कृत बताया है ; परन्तु सूक्त के आरम्भ में ही वह कन्या कही गई है, जिससे सायण की कल्पना निराधार सिद्ध होती है। कुमारी होने से उसका अपने पिता के लिए वरदान माँगना नितान्त सुसंगत प्रतीत होता है। सूक्त के तीसरे मन्त्र से पता चलता है कि जब वह अपने दाँतों से सोमलता को चबाकर रस का आस्वादन कर रही थी, तब वह इन्द्र के साथ संगम पाने का सुख अनुभव करती थी। इन्द्र से उसने जो तीसरा वर अपने लिए माँगा था (मन्त्र ५), वह उसे काम-क्रीडा के लिए समर्थ बनाने की ओर स्पष्ट संकेत करता है। सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में नः, वयस्यः, पतित्विषः' 'यतीः' 'सङ्गमामहै' इन बहुवचनान्त पदों का प्रयोग किया गया है, जो एक विशेष तथ्य की ओर इंगित कर रहे हैं। उस युग में ऐसी बहुत-सी कुमारियाँ विद्यमान थीं, जो अपने पतियों से द्वेष करती थीं (पतित्विषः) तथा इन्द्र के संगम करने की इच्छुक थीं।(इन्द्रेण सङ्गमामहै)। पति से द्वेष करनेवाली ये कुमारियाँ इन्द्र को अपने प्रियतम पति के रूप में पूजती थीं, यह पार्थिव प्रेम न होकर अपार्थिव प्रेम था। भौतिक तथा लौकिक प्रेम के स्थान पर कुमारियों ने इन्द्र से दिव्य तथा अलौकिक प्रेम का सम्बन्ध स्थापित किया था। इसकी सूचना सूक्त के दूसरे और तीसरे मन्त्र से नितान्त स्पष्ट रूप से मिलती है। चतुर्थ मन्त्र में ये कुमारियाँ कहती हैं कि हमलोग पतियों से द्वेष करती हैं। हमें इन्द्र के साथ संगम करने दो; ऐसी वे प्रार्थना करती हैं—

कुवित् पतिद्विषो यतीरिन्द्रेण सङ्गमामहै ।

यहाँ इन्द्र को प्रियतम मानकर उपासना करने का गूढ अर्थ छिपा हुआ है। इस सूक्त का अध्ययन हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि वैदिक युग में कुमारियाँ विवाह-बन्धन से दूर रहकर सर्वश्रेष्ठ देवता इन्द्र की प्रियतम रूप से उपासना करती थीं। जब पिछले युगों में इन्द्र की प्रभुता का ह्रास हुआ, तब विष्णु सर्वश्रेष्ठ देव के रूप में जनमानस में प्रतिष्ठित हुए और यादवों के जातीय देवता श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार रूप में अंगीकृत किये गये, तब स्वाभाविक था कि इन्द्र की समस्त लीलाएँ श्रीकृष्ण के ऊपर भी आरोपित की जायें। फलतः यह इन्द्र के साथ सम्बद्ध श्रृंगारी रहस्यवाद श्रीकृष्ण के साथ भी धार्मिक जगत् में प्रतिष्ठित हो गया और वैदिक युग की कुमारियाँ गोपियों में रूपान्तरित होकर व्रजलीला में उनकी संगिनी तथा प्रियतमा बन गईं। इस प्रकार वृषाकपि सूक्त तथा अपालासूक्त का एक साथ अनुशीलन करने पर हम उस सूत्र को पकड़ने में समर्थ होते हैं, उस बीज को समझने में कृतकार्य होते हैं, जो श्रीराधाकृष्ण की लीला के रूप में शताब्दियों पीछे पल्लवित तथा पुष्पित हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि राधा का नाम ही वेद में उपलब्ध नहीं होता, प्रत्युत उनकी मधुर लीला की भी मनोरम झाँकी वेद के मन्त्रों में यत्र-तत्र विज्ञ रसिकों को मिलती है।

द्वितीय खण्ड

धर्म के आलोक में श्रीराधा

प्रथम परिच्छेद

विषय प्रवेश

श्रीराधा का विकास

श्रीराधा-तत्त्व के विकास पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि उस विकास को हम तीन स्तरों में विभक्त कर सकते हैं। पहला स्तर राधा के नाम से परिचय नहीं रखता। वह इतना ही जानता है कि श्रीकृष्ण की विशेष प्रेमपात्री कोई सुन्दरी गोपी थी, जिसके वश में होकर उन्होंने अन्य गोपियों कीं ममता छोड़ दी थी। वह बड़ी भाग्यशालिनी, सुभगा तथा सुन्दरी थी। इसीलिए उसका आकर्षण श्रीकृष्ण के लिए समधिक प्रबल था। इस स्तर का परिचय हमें विष्णुपुराण तथा श्रीमद्‌भागवत में मिलता है। प्रथम परिच्छेद में दिखलाया गया है कि श्रीकृष्ण की आराधना अथवा समर्चना करनेवाली गोपी का संकेत तो निश्चय रूपेण इन दोनों पुराणों में है, परन्तु वह अनामिका है—एकदम नाम रहित तथा विशेष इतिहास से विहीन। इस राधा-तत्त्व के विवेचक साधकों के लिए यह युग सबसे प्राचीन काल होगा। मेरी दृष्टि में यह काल विक्रम से दो या तीन शती पूर्व होना चाहिए; क्योंकि तमिल भाषा का प्रख्यात प्रबन्ध काव्य 'मणिमेखलै' जिसकी रचना का काल विक्रमपूर्व द्वितीय शती है, विष्णुपुराण से भली भाँति परिचित है। फलतः 'विष्णुपुराण' का समय विक्रमपूर्व तृतीय शती में मानना अनुचित नहीं होगा।

द्वितीय स्तर में हम 'राधा' के नाम से परिचित होते हैं। राधा कृष्ण की प्रिया के रूप में संस्कृत-साहित्य-जगत् में अपनी प्रतिष्ठा पाती है। इस युग का आरम्भ विक्रम की प्रथम शती

से होता है और विक्रम १३वीं या १४वीं शती तक यह विस्तृत होता है। इस दीर्घ काल में संस्कृत तथा प्राकृत-साहित्य राधा की कमनीय शृंगारी लीलाओं से भली भाँति परिचित है। वह जानता है कि जब राधा रास को छोड़कर केलि कुपित होकर इधर-उधर उन्मनी भाव से घूमने लगती है, तब कृष्ण चाटुकारिता से ही नहीं, प्रत्युत पाद-पतन द्वारा भी उसे मनाने से कथमपि विरत नहीं होते। यहाँ राधा कृष्ण की केवल प्रियतमा हैं—प्रेम का आधार हैं, परन्तु अभी तक वह ह्लादिनो शक्ति के रूप में अपने पूर्ण उत्कर्ष पर नहीं पहुँची हुई हैं। कृष्ण को आनन्द-दान की बात की अवहेलना न करके भी वह अभी तक केवल कृष्ण का नाना उपायों से चित्त विनोद करती हैं तथा उनके हृदय में हर्ष का संचरण करती हैं। गाथा सप्तशती में उसका सर्वप्रथम उल्लेख मिलने से हमने ऊपर अनुमान लगाया है कि विक्रम की प्रथम शती में उसका प्राकट्य साहित्य-संसार में कृष्ण-प्रेयसी के रूप में हो चुका था। निम्बार्क तथा वल्लभाचार्य के द्वारा निर्दिष्ट राधा को भी हम इसी स्तर का प्राणी समझते हैं। निम्वार्क के मत से वृषभानुनन्दिनी सखी-सहस्रों से परि-वेष्टित होकर श्रीकृष्ण के वाम अंग में विराजती है। पुष्टिमार्ग के संस्थापक वल्लभाचार्य कृष्णचन्द्र को राधिकारमण तथा राधिकावल्लभ के रूप में जानते हैं। विट्ठलनाथ उसे स्वामिनीजी के रूप में मानते हैं। जयदेव भी राधा-तत्त्व से पूर्णतः परिचित हैं, यह सहसा नहीं कहा जा सकता। राधा-तत्त्व का विशेष पल्लवन श्रीचैतन्य महाप्रभु के पार्षद-रूपगोस्वामी तथा जीवगोस्वामी के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। फलतः चैतन्य से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व होनेवाले जयदेव इस तत्त्व से विशेष परिचय रखते होंगे, ऐसा मानना ऐतिहासिक भूल करना होगा।

तृतीय स्तर षोडश तथा सप्तदश शतियों के युग से सम्बद्ध है, जब महाप्रभु चैतन्य ने अपनी अलौकिक चमत्कारी लीलाओं से राधा की प्रेम-माधुरी का व्यावहारिक परिचय दिया और गौडीय वैष्णव गोस्वामियों ने दर्शन की प्रौढ भित्ति पर आधृत कर राधा-तत्त्व की नितान्त तर्कबहुल-दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की। राधा भगवान् की, महाभावस्वरूपिणी आह्लादिनी शक्ति है जो भगवान् को आह्लादित करती है और जिसके द्वारा भगवान् अपने भक्तों को दिव्य आह्लाद प्रदान करते हैं—राधा की यह मीमांसा निःसन्देह गौडीय गोस्वामियों की, विशेषतः रूप तथा जीव की दार्शनिक बुद्धि की दिव्य विभूति है। इस तत्त्व को इसके पूर्ववर्त्ती वैष्णव आचार्यों के ग्रन्थों में खोजना भी इतिहास की दृष्टि से भयंकर भूल होगी। तान्त्रिक शक्तिवाद के सिद्धान्त से प्रभावित यह तत्त्व-व्याख्या इस युग के पहले आविर्भूत हो चुकी थी, इसे मानने के लिए आलोचक के पास निश्चित तथा निर्णायक प्रमाणों का अभाव-सा प्रतीत होता है। फलतः यह हम मानें कि राधा-तत्त्व का पूर्ण विकास चैतन्य महाप्रभु के भक्त गोस्वामी आचार्यों के प्रखर पाण्डित्य का परिणत फल है, तो हमारी दृष्टि में यह मान्यता यथार्थता से वहुत दूर नहीं होगी। राधा-तत्त्व के विवेचकों को इन त्रिविध स्तरों की सत्ता मानने से विवेचना की अनेक कठिनाइयाँ दूर हो सकती हैं।

श्रीराधा के स्वरूप की जानकारी के लिए माधुर्य भक्ति के रूप तथा वैशिष्ट्य से परिचित होना नितान्त आवश्यक है। इसलिए राधा के धार्मिक तथा दार्शनिक रूप की विवेचना से पूर्व यह परिच्छेद भूमिका के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

कान्त-भक्ति का विकास

भगवान् की प्राप्ति के साधनों में भक्ति का साधन बहुत ही उपादेय, सरल तथा अमोघ माना जाता है। भागवत-सम्प्रदाय भगवान् को रसरूप और आनन्दरूप मानकर उसकी प्राप्ति के के लिए सतत उद्योगशील रहता है। रसोपासना का मूल मन्त्र तो उपनिषद् के इस प्रख्यात वाक्य में अन्तर्निहित है—**रसो वै सः। रसं ह्येव लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति।**

वह मूल तत्त्व रसरूप है। उस रूप को पाकर ही साधक आनन्दी होता है। उसी की मात्रा पाकर प्राणी जीवित रहते हैं, जहाँ कहीं भी रस का उन्मेष कणिका के रूप में भी उपलब्ध होता है, वह उसी मूल रस की अभिव्यक्ति के कारण है। श्रीमद्भागवत में रसोपासना का बीज प्रधानतया लक्षित होता है। समस्त वैष्णव सम्प्रदायों में इस उपासना का यत्किञ्चित् परिचय मिलता है, परन्तु चैतन्य मत की उपासना का तो यह सर्वस्व ही है। श्रीराधा के स्वरूप से परिचय पाने के लिए इस उपासना से परिचित होना आवश्यक है।

'रस' एक समग्र सम्पूर्ण मानसिक वृत्ति है और 'भाव' उसी का प्रारम्भिक आधार। 'रस' भाव की ही एक दशा है और वह भावमयी अवस्था एक अखण्ड अनन्य मनोऽवस्था है। रस के उन्मेष के निमित्त आन्तरिक आधार की बाह्य वस्तुओं के परिपोष की नितान्त आवश्यकता होती है। इनमें अन्दर की वस्तु है भाव तथा बाहरी वस्तुएँ हैं—विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि। रस के उन्मेष के लिए 'भाव' ही मुख्य आधार है। भाव एक मनःस्थिति है, जो परमात्मा की चिच्छक्ति की दिव्य अभिव्यक्तियों का प्राकृतिक गुण होने के कारण स्वभावतः तथा स्वरूपतः शुद्ध चित्त ही है। जब यह भाव चंचलता को छोड़कर मन में अचल हो जाता है, तब इसे 'स्थायी-भाव' कहते हैं। रस का स्थायी भाव 'श्रीकृष्णरति' ही है। अलंकारकौस्तुभ के अनुसार यह स्थायी भाव 'आस्वादाङ्कुरकन्द'-रूपी कोई धर्म है। भगवान् की ही वह ह्लादिनी शक्ति, जो जीव के अन्दर सूक्ष्म तथा अप्रकट रूप से अवस्थित रहती है, सनातन है, इसका आविर्भाव चित्त में तभी होता है, जब वह रज तथा तम से रहित होकर विशुद्ध सत्त्व में प्रतिष्ठित होता है।[1] कृष्ण-रति तो वस्तुतः एक रूपा ही होती है, फिर भी एक ही व्यापक भाव चित्त-भेद से विभिन्न रूपों में उदित हो सकता है। चित्त की भिन्नता विविध प्रकार से लक्षित होती है। मुख्यतया सात्त्विक होने पर भी रज तथा तम के किञ्चित् मिश्रण से उसके नाना प्रकार के विभेद दृष्टिगोचर होते हैं। इसलिए यह कृष्णरति वैष्णव ग्रन्थों में पाँच प्रकार की मानी गई है—शान्ति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य तथा प्रियता (अथवा माधुर्य) और इन्हीं विभिन्न स्थायीभावरूपा रति से पाँच प्रकार के रस उत्पन्न होते हैं, जिनका संक्षिप्त विवेचन नीचे किया जाता है।

शांतरस—का उदय 'शांतिरति' से होता है। शांति का अर्थ है शम और भागवत के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण में निरन्तर अनुराग होना ही 'शम'[2] है। ज्यों ही भक्त का चित्त भगवान् में अनुरक्त होता है, त्यों ही वह संसार के विषय-प्रपंचों से विरक्त हो जाता है। इसलिए शान्त

---

१. **आस्वादाङ्कुरकन्दोऽस्ति धर्मः कश्चन चेतसः।**
रजस्तमोभ्यां हीनस्य शुद्धसत्त्वतया मनः।
स स्थायी कथ्यते विज्ञैर्विभावस्य पृथक् तया॥—अलङ्कारकौस्तुभ, किरण ५, श्लोक २।

२. भक्तिरसामृत सिन्धु, २।५।१३-१४।

रस के अनुयायी भक्तों का प्रधान लक्षण है भगवान् में चित्त की अवाध गति से अनुरक्ति। इनकी पहचान अनेक चिह्नों से होती है—नासाग्रदृष्टि का होना, तपस्वी के समान वाहरी व्यवहार, अभक्तों से द्वेष का अभाव तथा भक्तों से राग का अभाव, सांसारिक वस्तुओं में रागद्वेष का राहित्य आदि-आदि। जिस प्रेम से शान्तरस के परमानन्द की प्राप्ति होती है, उसमें एक वड़ा दोष है कि वह भगवान् के साथ किसी वैयक्तिक सम्वन्ध के ऊपर आश्रित नहीं रहता और इसीलिए वैष्णव ग्रन्थों में रस के आरोहण-क्रम में शान्त रस का स्थान वहुत नीचे है। एक बात ध्यान देने की है। यह बात तो सव स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक भाव का एक वैशिष्ट्य होता है। भाव के वैशिष्ट्य के अनुसार एक ओर जहाँ भक्त का वैशिष्ट्य निरूपित होता है, उसी प्रकार दूसरी ओर भाव की परिपक्व अवस्था में आविर्भूत भगवान् का भी वैशिष्ट्य निरूपित होता है। शान्त भक्त जिस प्रकार का होता है, उसके सामने प्रकटित भगवान् का रूप भी तदनुसार ही होता है। शान्त भक्ति एक प्रकार की होती है, परन्तु उसके भीतर होनेवाले अवान्तर भेदों को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। दृष्टिभेद से भावपूर्ण भी होता है और साथ ही साथ भावान्तर-सापेक्ष भी होता है। जैसे शिशुरूप में निरपेक्ष तथा स्वतःपूर्ण होता है, परन्तु साथ-ही-साथ उसका एक क्रम-विकास भी होता है जिसके कारण वह वालक-रूप में तदनन्तर किशोर-रूप में उसके वाद युवक-रूप में परिणत होता है। शान्त भाव की भी ऐसी ही दशा होती है। भावरूप में शान्त भाव की एक निरपेक्ष पूर्णता है, परन्तु उसकी परिणति भी है। शान्तभाव क्रमशः परिणत होता है दास्यभाव में, दास्यभाव की परिणति होती है सख्यभाव में, सख्य की वात्सल्य में और वात्सल्य की माधुर्य में। एक भाव के विकास के साथ-साथ एक-एक गुण की भी अभिव्यक्ति होती है। अतएव इस प्रणाली से चलने पर जव साधक महाभाव में पहुँचता है, तव उसमें सव सम्भाव्य गुणों का विकास सम्पन्न हो ही जाता है। वैयक्तिक गुणों की सत्ता के कारण एक भाववाले व्यक्तियों में भी वैशिष्ट्य विद्यमान रहता है आदि से अन्त तक। महाभाव की दशा में भी यह वैशिष्ट्य विद्यमान रहता है। रेखागणित की भाषा में कह सकते हैं कि वृत्त के अन्तर्गत प्रत्येक विन्दु केन्द्र रूपी मध्यविन्दु में प्रवेश लाभ कर उसके साथ अभिन्नता भी प्राप्त कर ले, तथापि उसमें वैशिष्ट्य वना ही रहता है। भावापत्ति की भी यही दशा है।

दास्यभक्तिरस—दास्य रस का स्थायी भाव 'प्रीति' है।[1] इस रस के अनुयायी भक्त की यही कामना रहती है कि भगवान् सेव्य हैं और मैं उनका सेवक हूँ, भगवान् प्रभु हैं, भक्त उनका दास है; भगवान् अनुग्राहक हैं और भक्त उनका अनुग्राह्य है। प्रीति दो प्रकार की होती है—(क) संभ्रम प्रीति और (ख) गौरव प्रीति। 'संभ्रम प्रीति' वहाँ होती है, जहाँ भक्त भगवान् से अपने को अत्यन्त दीन-हीन समझता है और भगवान् की कृपा की अभिलाषा रखता है। 'गौरव प्रीति' में भक्त भगवान् के द्वारा सदा अपनी रक्षा तथा पालन की कामना करता है। दास भक्त के चित्त में यह भावना निरन्तर जाग्रत् रहती है कि श्रीकृष्ण ही मेरे प्रभु तथा रक्षक हैं, उनको छोड़कर मेरे लिए कोई अन्य गति नहीं है। इसीको भक्तिशास्त्र में 'गौरव' के नाम से पुकारते हैं। प्रीति रस के भक्तों में हीनता तथा दीनता की भावना के साथ-साथ मर्यादा-रक्षण की भी भावना सर्वदा

१. स्वस्माद् भवन्ति येन्यूनास्तेऽनुग्राह्या हरेर्मताः।
आराध्यत्वात्मिका तेषां रतिः प्रीतिरितीरिता॥—भक्तिरसामृत, २।५।२३

विद्यमान रहती है। वह भगवान् के सामने मर्यादा की रक्षा करता हुआ ही आता है। भगवान् के दास स्वामी के समीप सदा ही नीची दृष्टि किये रहते हैं, वे ऊँची दृष्टि ही नहीं करते। स्वामी की आज्ञा के पालन में वह किञ्चित्मात्र भी पीछे नहीं हटते तथा स्वामी की बातों को विश्वास के साथ रक्षा करते हैं। वह प्रभु को सवसे वड़ा मानता हुआ सर्वदा नम्र तथा विनयी रहता है। आदर्श दास की यही पहिचान भक्ति ग्रन्थों में दी गई है।[1] दास्यरस की भक्ति में चार बातें बाधक होती हैं, जिनका त्याग भक्त के लिए अनिवार्य होता है। ये वस्तुएँ हैं—सकाम भाव, अभिमान, आलस्य तथा विषयासक्ति। इनसे भक्तों के हृदय में अपनी प्रभुता की भावना ही जाग्रत रहती है और नम्रता तथा हीनता का उसमें सर्वथा अभाव होता है।

दास्य रस के उपासक की भावना इस सुन्दर पद्य में वर्णित है—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीसु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन
व्योम्नि व्योम तदीय वर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥

हे प्रभो, इस शरीर के पाँचों तत्त्व अपने-अपने कारण में लय तो होनेवाले ही हैं, आप कृपया इतना तो कर दीजिए कि इसका जलीय भाग श्रीकृष्ण के कूप में, तेज भगवान् के दर्पण में, आकाश का भाग उनके आँगन में, पृथिवी का भाग उनके चलने के रास्ते में तथा वायु का भाग उनके पंखे की हवा में मिल जाय। इस प्रकार मृत्यु के समय जव वे पाँचों तत्त्व अलग-अलग हो जायें, तब भी भगवान् की सेवा में लगे रहें। जीवित दशा में ये संयुक्त होकर भगवान् का सेवा-कार्य कर रहे हैं, मृत्यु-दशा में भी विमुक्त होकर भगवान् की ही सेवा में लगे रहें, जिससे मेरा जीवन सम्पूर्णरूपेण भगवान् को समर्पित हो जाय।

दास भक्त चार प्रकार का होता है—अधिकृत, आश्रित, पारिषद तथा अनुग। अधिकृत दास किसी विशिष्ट अधिकार का सम्पादन करता हुआ भगवान् की सेवा करता है, जैसे जगत् के स्रष्टा ब्रह्मा, देवों के राजा इन्द्र, कुबेर आदि। आश्रित भगवान् के आश्रय में रहनेवाला दास होता है, जो भावना के अनुसार त्रिविध होता है (क) 'शरणागतः' सुग्रीव, विभीषण आदि शरणापन्न भक्त। (ख) 'ज्ञाननिष्ठः' भक्त-भगवान् के तत्त्व को जानकर मोक्ष की भी कामना को छोड़कर केवल भगवान् का ही आश्रय लेनेवाले भक्त इस कोटि में आते हैं। (ग) 'सेवानिष्ठः' भगवान् की सतत सेवा परायण भक्त, जैसे हनुमान, पुण्डरीक आदि। 'पारिषद' भक्तों में उद्धव भीष्म आदि की गणना है, जो समय-समय पर भगवान् को मन्त्रणा दिया करते हैं। 'अनुग' भक्त भगवान् का सर्वदा अनुगमन किया करते हैं। भगवान् के अनुगमन और सेवन ही उनके जीवन का उद्देश्य होता है।

दास्य रस का स्थायी भाव है संभ्रम प्रीति, जो प्रेमा, स्नेह और राग का रूप धारण कर उत्तरोत्तर वढ़ती ही जाती है। संभ्रम प्रीति के अन्तिम रूप राग में भक्त श्रीकृष्ण के साक्षात्कार से या कृपा-लाभ से उनका अन्तरंग बन जाता है, तब दुःख भी सुख के रूप में परिणत हो जाता है

---

१. दासास्तु प्रश्रितास्तस्य निदेशवशवर्त्तिनः।
विश्वस्ताः प्रभुताज्ञान विनम्रधियश्च ते॥

और अपने प्राणों के नाश होने का भय न रखकर भी भक्त भगवान् की प्रीति के अर्जन में लगा रहता है।

प्रेयोरस—दास्यभाव की प्रीति वढ़ने पर प्रेयोरस का रूप धारण करती है। दास्यभाव का सबसे बड़ा प्रतिवन्ध यह है कि प्रभु के सामने दास भक्त मर्यादा के द्वारा विजृम्भित तथा नियन्त्रित रहता है, जिससे वह अपना हृदय खोलकर दिखाने में समर्थ नहीं होता। यह त्रुटि इस सख्यभाव में नहीं होती। संभ्रम (गौरव के द्वारा उत्पन्न व्यग्रता) के स्थान पर 'विश्रम्भ' विराजने लगता है। यही सख्य रति का मुख्य चिह्न है। विश्रम्भ—किसी प्रकार के प्रतिवन्ध से रहित गाढ़ विश्वास :

प्रायः समानयोरत्र सा सौख्यं स्थायिशब्दभाक् ।
विश्रम्भो गाधविश्वासविशेषो यन्त्रणोज्झितः ॥५५॥

—भ० र० सि० पश्चिम विभाग, लहरी ३

सख्य की सबसे वड़ी विशेषता है कि अपने प्रियपात्र से वह अपनी गुह्य से गुह्य बातों को प्रकट करने में तनिक भी आनाकानी नहीं करता। विश्रम्भ में मित्रों में किसी प्रकार की भेद-भावना के लिए स्थान नहीं रहता है। सखा खुलकर मिलते हैं, हृदय की बातें कहते हैं तथा सुनते हैं। यहाँ किसी प्रकार की यन्त्रणा (बन्धन या संकोच) नहीं रहती और इसी कारण दास्य की अपेक्षा सख्य का भक्ति के भावों के विकास में उन्नत स्थान है।

सख्य भाव की अभिव्यक्ति इस पद्य में वड़ी सुन्दरता से की गई है—

उन्निद्रस्यययुस्तवात्र विरतिं सप्तक्षपास्तिष्ठतो
हृत्तश्रान्त इवासि निक्षिप सखे श्रीरामपाणौ गिरिः ।
आधिर्विध्यति न स्त्वमर्पय करे किं वा क्षणं दक्षिणे
दोष्णस्ते करवाम काममधुना सख्यस्य संवाहनम् ॥

श्रीकृष्ण ने विशाल गोवर्धन पर्वत को अपने हाथ पर उठा रखा है। इससे उनके हाथ में कितनी पीड़ा होती होगी तथा उसे दूर करने के लिए सखाओं की यह मनोरम उक्ति है—हे श्याम सुन्दर, तुमने विना सोये सात रातें विता दीं। खड़े-खड़े थके-से मालूम पड़ रहे हो। इसे अव श्रीदामा के हाथ में फेंक दो, जिससे तुम्हारा वोझ तो हल्का हो जाय। तुमने वहुत ही कष्ट सहा, जिसे देखकर हमारे हृदय को असीम पीड़ा वेध रही है। यदि हमारी वात नहीं मानते, तो कम-से-कम एक क्षण के लिए पहाड़ को दाहिने हाथ पर तो ले लो। इतने में हम तुम्हारे बायें हाथ को मल देंगे, जिससे तुम्हारी पीड़ा तो मिट जायगी। सखा के हृदय का यह मार्मिक उद्गार कितना चुटीला है।

सख्य रस के भक्तों के दो प्रधान भेद हैं: पुर-सम्वन्धी जैसे—अर्जुन, भीम, द्रौपदी आदि तथा व्रज सम्वन्धी जिसके चार अवान्तर भेद मैत्री-भाव की दृष्टि से किये गये हैं—

(क) सुहृत्-सखा—श्रीकृष्ण से उम्र में कुछ अधिक, वात्सल्य भाव से युक्त, अतएव उनकी रक्षा में सदा तत्पर। जैसे सुभद्र, वलभद्र आदि।

(ख) सखा—वय में श्रीकृष्ण से कम और उनके सेवासुख की आकांक्षा रखनेवाले मित्र। जैसे मरन्द, मणिवन्ध आदि।

(ग) प्रिय सखा—वय में श्रीकृष्ण के समान वयवाले, अतएव श्रीकृष्ण के साथ निःसंकोच भाव से खेलनेवाले सखा। जैसे श्रीदाम, सुदाम आदि।

(घ) प्रियनर्म सखा—जो कृष्ण के अत्यन्त गोपनीय अन्तरंग लीलाओं के सहचर होते हैं। जैसे सुवल, उज्ज्वल, अर्जुन, गोप आदि।

वात्सल्य रस—वात्सल्य रस में भगवान् को ठीक वालक समझकर उपासना की जाती है। इस रस में विभूति और ऐश्वर्य का ज्ञान नहीं रहता। वालक के लिए माता-पिता जैसे हितचिन्तन किया करते हैं, वही भावना यहाँ भगवान् के प्रति रहती है। यहाँ न तो संभ्रम के लिए स्थान रहता है (दास-रति के समान), न विश्रम्भ के लिए स्थान रहता है (सख्य-रति के अनुरूप); प्रत्युत इन दोनों से ऊपर उठकर अनुकम्पा करनेवाले व्यक्ति की अनुकम्पा पात्र के लिए स्वाभाविक रति होती है, उसी का नाम वात्सल्य है—

सम्भ्रमादिच्युता या स्यादनुकम्प्ये ऽनुकम्पितुः।
रतिः सैवात्र वात्सल्यं स्थायी भावो निगद्यते ॥

—भ० र० सि०, पश्चिम विभाग, चतुर्थ लहरी

'कृष्ण मेरा है', 'मेरा प्यारा दुलारा है'—यह ममता के नाम से प्रसिद्ध भाव ही वात्सल्य कहलाता है। नन्द तथा यशोदा का श्रीकृष्ण के प्रति जो ममत्व-भावना है, वही वात्सल्य का प्राण है। श्रीकृष्ण परमात्मा थे, अनन्त शक्तियों से संवलित भगवान् थे, तथापि व्रजलीला में आने पर उन्हें भी माता यशोदा के द्वारा ऊखल में बँधना पड़ा था। यही है वात्सल्य रस की महिमा—

परमिममुपदेशमाद्रियध्वं
निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीनां
उपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम् ॥

कोई भावुक गोपवाला अनन्त ब्रह्म को वेदों में ढूंढ़नेवाले किसी वेदान्ती उपासक को लक्ष्य कर कह रही है—वेदों में ब्रह्म को खोजते-खोजते उन्हें न पाकर दुःखी होनवाले ए भक्तो, सुनो मेरी वात। यदि तुम वास्तव में ब्रह्म को साक्षात् देखना चाहते हो, तो चले जाओ उस गोपी के भवन में, जहाँ उपनिषद् का प्रतिपाद्य ब्रह्म ऊखल में बँधा हुआ वैठा है। वात्सल्य-भाव की यही महिमा है कि जिस भगवान् ने असुर, नाग, गन्धर्व तथा मानव को कर्म की डोरी में बाँध रखा है, उसी अविच्छिन्न ब्रह्म को यशोदा ने डोरी में बाँध रखा है, जिसे वे तोड़ नहीं सकते—

जिन बाँध्यौ सुर असुर नाग नर प्रबल कर्म की डोरी।
सोइ अविच्छिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यौ सकत न छोरी ॥

वात्सल्य रस पूर्ववर्णित रसों की अपेक्षा उत्कर्ष में कहीं अधिक होता है। इसका एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक कारण है। प्रेयोरस की सिद्धि में विषय की प्रीति का ज्ञान नितान्त आवश्यक होता है। 'कृष्ण की प्रीति मेरी ओर है', यह जानकर ही सखा भगवान् की ओर वढ़ता है, उनसे स्नेह वढ़ाता है। क्योंकि यहाँ तो बरावरी का भाव है। भावानुकूल्यपर ही प्रेयोरस आश्रित है। विषय में भाव की प्रतिकूलता या अभाव का ज्ञान सख्य-भाव का कथमपि पोषक नहीं हो सकता। परन्तु वात्सल्य रति के लिए यह ज्ञान आवश्यक नहीं है। माता का हृदय पुत्र के लिए

स्वभाव से ही दयार्द्र तथा प्रेमासक्त होता है। श्रीकृष्ण प्रेम रखें या न रखें; यशोदा के प्रेम मे किसी प्रकार की कमी नहीं होती। इसका निर्देश श्रीरूपगोस्वामी ने इस श्लोक में किया है—

अप्रतीतौ तु हरिरतेः प्रीतस्य स्यादपुष्टता।
प्रेयसस्तु तिरोभावो वात्सल्यस्यास्य न क्षतिः॥

—भ० र० सि०, ३।४।२८

'स्तन्य-स्राव' इसी वात्सल्य का अनुभाव है। इसे स्तम्भ, स्वेदादि आठ सात्त्विक भावों के अतिरिक्त नवम सात्त्विक भाव मानना चाहिए। भक्तोंमें 'भाव-मिश्रण' के भी दृष्टान्त दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें अनेक भावों का एकत्र मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। जैसे संकर्षण (बलरामजी) कृष्णजी के जेठे भाई थे; साथ-ही-साथ खेल-कूद में भी साथ देनेवाले थे। फलतः उनका सख्य-भाव प्रीति तथा वात्सल्य से युक्त था। युधिष्ठिर का वात्सल्य प्रीति तथा सख्य से संपुटित था।

माधुर्यरस—इस रस का स्थायी भाव है—प्रियता, जो कृष्ण और गोपियों के संभोग का आदि कारण है। श्रीकृष्ण की कान्तभाव से उपासना करना माधुर्य रस के नाम से अभिहित किया जाता है। यह भक्ति की अन्तिम उदात्ततम दशा मानी जाती है; क्योंकि यहाँ भगवान् के साथ किसी प्रकार मर्यादा-निर्वाह की बात नहीं उठती, न किसी तरह के संकोच का ही अवसर आता है। लौकिक दाम्पत्य से यह सर्वथा भिन्न होता है। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। लौकिक दाम्पत्य काम-वासना पर आश्रित होनेवाला भाव है, जिसमें स्वार्थ की ही प्रवृत्ति मुख्य होती है, परन्तु माधुर्य रस दिव्य वस्तु है, जिसमें निःस्वार्थ प्रेम का आलोक भक्त के चित्त को आलोकित कर उसे आनन्द के उन्मुक्त आकाश में विचरण का अवसर देता है। इस रस दशा में राधा और कृष्ण का वियोग क्षण-भर के लिए भी नहीं होता। दोनों आपस में मिलकर प्रेम के उत्कर्ष को स्वयं चखते हैं तथा दूसरे को चखाते हैं। कृष्ण कभी राधा बनकर सारी चेष्टाएँ करते हैं और कभी कृष्ण राधा बनकर समग्र लीलाएँ करते हैं। इसमें आश्रय तथा विषय में किसी प्रकार का अन्तर या वैभिन्य नहीं रहता। यह रागानुगा भक्ति का चरम उत्कर्ष है। भक्त कवियों ने इस आनन्दमयी दशा की अभिव्यंजना अपने काव्यों में बड़ी सरसता के साथ की है। प्रेमी के लिए सर्वस्व-त्याग की भव्य भावना का प्राकट्य इस दशा का प्रकट चिह्न है। किसी भक्त गोपी की प्रेम दशा का सुन्दर चित्रण देखिए—

घर तजों बन तजों नागर नगर तजों
बंसी बट तट तजों काहू पै न लगिहों।
देह तजों गेह तजों नेह कहो कैसे तजों
आज राज काज सब ऐसे साज सजिहों।
बावरो भयो है लोक बावरी कहत मोकों
बावरी कहैते में काहु न बरजिहों।
कहैया सुनैया तजों, बाप और भैया तजों
दैया तजों मैया पै कन्हैया नाहि तजिहों॥

माधुर्य रसोपासना की यही दिव्य भावविभूति है।

प्रेम तथा काम का तारतम्य

साधारणतया प्रेम तथा काम एक ही भाव के द्योतक विभिन्न शब्द हैं, परन्तु दोनों में तारतम्य विद्यमान रहता है। प्रेम में त्याग की भावना की प्रवलता रहती है और काम में स्वार्थ की भावना की। प्रेमी प्रेमपात्र के लिए अपने सौख्य तथा सम्पत्ति को न्योछावर करने के लिए उद्यत रहता है, परन्तु कामी की दृष्टि अपने ही स्वार्थ की चरितार्थता की ओर लगी रहती है। उसका दृष्टि विन्दु प्रियपात्र न होकर अपना ही क्षुद्र आत्मा होता है। नारदजी की दृष्टि में प्रेम की प्रधान पहचान है—'तत् सुखसुखित्वम्' अर्थात् प्रियतम के सुख में अपने को सुखी मानना। आधार तथा विषय दोनों के लिए यह लक्षण चरितार्थ है। राधा के जीवन में हम प्रेम की इस विशुद्ध भावना की चरितार्थता पाते हैं। उसके हृदय में अपने किसी स्वार्थ सिद्धि की भावना विद्यमान नहीं थी। राधा का जीवन ही कृष्णमय था, उसका जीवन कृष्ण के लिंए था; समग्र चेष्टाएँ कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए थीं। काम दूसरे के द्वारा अपनी तृप्ति चाहता है, परन्तु प्रेम अपने द्वारा प्रेमपात्र की तृप्ति चाहता है। इन दोनों का पार्थक्य 'चैतन्यचरितामृत' में बड़े सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है—

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तार नाम काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा तार काम प्रेम॥
कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल।
कृष्ण सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रवल॥
अतएव काम प्रेमेर बहुत अन्तर।
काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर॥
अतएव गोपी गणे नाहि काम गन्ध।
कृष्ण सुख हेतु मात्र कृष्णेर सम्बन्ध॥

श्रीमधुसूदन सरस्वती ने अपनी रसविषयक पुस्तक 'भक्तिरसायन' में काम तथा प्रेम के पार्थक्य पर विचार किया है। उनका कथन है कि स्नेह आदि अग्नि के समान है। अग्नि के द्वारा पिघली हुई लाह (जतु) को जिस पदार्थ में डाला जाता है, वह उस पदार्थ के आकार को झट ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार स्नेहरूप अग्नि से प्रेमी का अन्तःकरण द्रवीभूत हो जाता है। श्रीकृष्ण भगवान् सात्त्विक आलम्वन हैं। फलतः साधक का जव चित्त भगवान् के चिन्तन में निरत होता है, तव उस समय साधक के द्रुत चित्त पर भगवदवच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है, यही है प्रेम। परन्तु जव नायिकावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है उस द्रुत चित्त में, तव यह भावना काम के नाम अभिहित की जाती है। इस प्रकार काम दुःख तथा पाप-रूप है और प्रेम सुख तथा पुण्यरूप है।

राधावल्लभ-सम्प्रदाय के भक्त कवियों की वाणी में भी यह पार्थक्य भली भाँति प्रदर्शित किया गया है। ध्रुवदासजी का कथन है[1] कि जव राधाकृष्ण का प्रेमांकुर भक्त के हृदय में उत्पन्न

---

[1] प्रेम बीज उपजै मन माहीं, तब सब विषै वासना नाहीं।
जगतै फिरै भयौ बैरागी, वृन्दावन रस में अनुरागी॥
—ध्रुवदासकृत ब्यालीसलीला

होता है, तब उस काल में संसार के विषयों से उसकी इच्छा नष्ट हो जाती है, जगत् से उसे वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और वह वृन्दावन-रस का अनुरागी वन जाता है। यही उसका अनुराग प्रेमशब्द-वाच्य है। राधाकृष्ण का विग्रह ही चिन्मय है, रसमय है। वह भौतिक तथा लौकिक नहीं है। ऐसी दशा में उनके प्रेम में काम की गन्ध भी होगी; ऐसा कथन तो 'वदतोव्याघात' के समान नितान्त विरुद्ध तथा निर्मूल है। फलतः कृष्णमूलक भाव प्रेम है और संसारमूलक काम। पहला अमृत है, तो दूसरा विष। पहला मोक्ष है, तो दूसरा वन्धन। पहला उन्मुक्त आलोक है, तो दूसरा वद्ध-विजडित अन्धकार। अतः साधक का कर्त्तव्य है कि वह अपने चित्त को प्रेम की वेदी पर समर्पण करे और काम से दूर-सुदूर रहे।

माधुर्यभक्ति मनोविज्ञान की दृष्टि में

भगवान् के साथ कोई-न-कोई व्यक्तिगत सम्वन्ध अवश्य स्थापित करो। भक्तिमार्ग में यही सवसे आवश्यक वस्तु है। परमात्मा के साथ जीवात्मा का, भगवान् के साथ भक्त का, कोई-न-कोई सम्वन्ध स्थापित होना ही चाहिए। यदि यह वात नहीं, तो हम साधना के मार्ग पर अग्रसर क्यों कर हो सकते हैं। एक व्यक्ति के जितने सम्वन्ध दूसरे व्यक्ति के साथ हो सकते हैं, जो सम्भावना की कोटि में आते हैं, उन सवका समावेश उस जगन्नियन्ता के भीतर हैं। वह साधक के लिए क्या नहीं है? भगवत्गीता के शब्दों में—

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ (९।१८)

यह तो उपलक्षणमात्र है। इस श्लोक पर ध्यान देने से उसके कतिपय प्रख्यात रूपों का परिचय हमें होता है। भगवान् ही लक्ष्य है, जहाँ जीव को गमन करना आवश्यक होता है (गतिः); वह विश्व का भरण तथा पोषण करता है (भर्त्ता); वह विश्व का शासन करता है (प्रभुः)। वह प्राणियों के कृताकृत कर्मों का द्रष्टा है (साक्षी)। विश्व उसी में वास करता है (निवासः)। वह आर्त्त पुरुषों की आर्त्ति तथा पीडा को सर्वथा दूर कर देता है (शरणम्)। वह ऐसा उपकारी है, जो प्रत्युपकार की तनिक भी अपेक्षा नहीं रखता (सुहृत्)। विश्व की उत्पत्ति उसी से है (प्रभवः) तथा अन्त समय में यह विश्व उसी में लीन होता है (प्रलयः)। जगत् की स्थिति तथा अधिष्ठान वही है, उसीमें स्थित होने से इस मायिक जगत् की सत्ता है (स्थानम्)। प्राणियों के कालान्तर में उपभोग करने योग्य कर्मों का भांडार रूप भी वही है (निधानम्) तथा उत्पत्ति-शील वस्तुओं की उत्पत्ति का अविनाशी कारण भगवान् ही है (अव्ययं वीजम्)। इस प्रकार भगवान् के नाना रूपों की अभिव्यञ्जना इस श्लोक में की गई है।

भगवान् के प्रति अनेक व्यक्तिगत सम्वन्ध-भावों की सम्भावना है। भगवान् को यदि हम वहुत दूर की वस्तु समझते हैं, जिसका सम्वन्ध जीवों के साथ साक्षात् रूप से नहीं है, तो सचमुच उसका उपयोग ही हमारे लिए क्या है? भगवान् की सत्ता का पूर्ण विश्वास तो आस्तिकता की दृढ आधार-शिला है; परन्तु इस विश्वास तथा श्रद्धा से ही साधक का काम नहीं सरेगा, उसे चाहिए कोई ठोस अभ्रान्त सम्वन्ध की नियमित स्थापना। जितने वैयक्तिक सम्वन्ध एक मनुष्य के दूसरे मनुष्य के साथ हो सकते हैं, उनमें से किसी एक सम्वन्ध की भावना भगवान् में भी रुचि-अनुसार साधक को करनी चाहिए। कतिपय सम्वन्धों की रूपरेखा यहाँ दी जा रही है।

सबसे प्रथम भावना है—स्वामी-सेवक की, प्रभु-दास की। भगवान् स्वामी हैं, जगदाधार ईश अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के नायक हैं तथा साधक उनका सेवक तथा दास है—भक्ति की यही आरम्भिक भावना है, जिसमें भगवत्तत्त्व के ऐश्वर्य पक्ष का आश्रय कर जीव साधना-मार्ग में अग्रसर होता है। इस मार्ग के सर्वश्रेष्ठ साधक हैं—भक्तप्रवर मारुतनन्दन हनुमान्। श्रीहनुमानजी का हृदय दास्य-भाव से ओतप्रोत था। भगवच्चरण की एकान्त निष्ठा तथा तूष्णींभाव से उपासना श्रीहनुमानजी के साधन-मार्ग की विशिष्टता थी। श्रीमर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र का उन्होंने इतना उपकार किया, उनके कार्यों की सिद्धि के लिए इतनी निष्ठा दिखलाई कि श्रीराम को भी बलात् कहना पड़ा था—

मदङ्गे जीर्णतां यातु यत् त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥

—वाल्मीकि उत्तर, २०।२४

'हे हनुमानजी! आपने जो मेरे साथ उपकार किया है, वह मेरे साथ ही समाप्त हो जाय, उसका बदला चुकाने का अवसर ही मेरे जीवन में न आये। वह इतना महान् था कि उसका प्रत्युपकार हो ही नहीं सकता था। क्योंकि विपत्ति पड़ने पर ही मनुष्य की उपकृत से प्रत्युपकार पाने की स्थिति होती है।'

दूसरी भावना है—पिता-पुत्र की। भगवान् हमारे पिता हैं और हम उनकी संतान हैं। यही बहुल भावना है। इस भावना का विपर्यय भी कभी-कभी देखा जाता है, जब साधक अपने को पिता और भगवान् को ही पुत्र मानता है, जैसे नन्दजी तथा वसुदेवजी की भावना; परन्तु यह बहुत ही विरल है। इसी भावना से मिलती-जुलती भावना है—माता-पुत्र की। भगवान् हमारी माता हैं और हम उनके पुत्र हैं। शाक्तों की उपासना इसी कोटि में आती है। जो साधक शक्तिमान् की अपेक्षा शक्ति की आराधना पर ही विशेष आग्रह रखते हैं, उनकी यही भावना है। सीता तथा लक्ष्मी, पार्वती तथा दुर्गा की आराधना में यही भाव अपनी प्रबल कोटि पर विद्यमान रहता है। भगवान् के साथ अधिक परिचय होने पर ही इस भाव-साधना का उदय होता है। दास्यभाव में वह ऐश्वर्यमण्डित होने से विशेष रूप से समादर का भाजन रहता है; इस भावना में भी उसमें ऐश्वर्य रहता है अवश्य, परन्तु वह प्रेम से स्निग्ध रहता है। प्रभु के सामने हम न्याय की भिक्षा माँगते हैं, परन्तु माता-पिता के सामने प्रेम की, दुलार की। इस प्रकार यह साधना एक कोटि आगे बढ़ी हुई प्रतीत होती है। पिता से भी हम भय खाते हैं, अपराध करने पर दण्ड के डर से काँपते रहते हैं; परन्तु माता के सामने तो करोड़ों अपराधों के करने पर भी हम डरते नहीं। इस भाव में भक्त अपने व्यक्तित्व को भुलाकर अपने आपको माता की गोद में सुला देता है तथा उसके चरणों में अपनी आत्मा को रखकर पूर्ण निश्चिन्तता का अनुभव करने लगता है। दयामयी माता का प्रेम पुत्र के लिए पिता की अपेक्षा अधिक होता ही है और इसीलिए तो शास्त्र माता का स्थान पिता की अपेक्षा दसगुना अधिक मानते हैं—'**पितुर्दशगुणां माता गौरवेणातिरिच्यते**'। इन दोनों भावनाओं में भगवान् को गुरुकोटि में रखा गया है।

तीसरी भावना है—सख्य भाव की। भगवान् हमारे सखा हैं और हम भी उनके संगी-साथी हैं। दोनों में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं है। दोनों आपस में अपने रहस्यों का—

छिपी बातों का प्रकटन खुलकर करते हैं। इस भाव में हम भगवान् को समानता की कोटि पर उतार लाते हैं। इस भावना का उत्कृष्ट उन्मेष हम सुदामाजी में पाते हैं। कृष्ण और सुदामा ने एक ही वृक्ष का आश्रय अपने छात्रावस्था में लिया था। यह 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' श्रुति का ही व्यावहारिक निदर्शन है।

चौथी भावना है– पति-पत्नी की। भगवान् हमारे प्रियतम हैं और भक्त उनकी प्रियतमा है। इसमें भगवान् के पूर्ण माधुर्य की अभिव्यक्ति होती है। इसका समर्थ उदाहरण व्रजांगनाओं की भक्ति-भावना में दृष्टिगोचर होता है। इसके विपर्यय की भी सम्भावना है, जिसमें भक्त अपने को तो प्रेमिक तथा भगवान् को प्रियतमा मानता है। इस भावना का विकास भारतवर्ष की उपासना-पद्धति में कभी नहीं हुआ। यह साधना सूफी लोगों की उपासना में पूर्ण-रूप से विराजमान है, भारत में नहीं। कहना न होगा कि पति-पत्नी-भाव की भावना में पूर्ण एकता का अखण्ड साम्राज्य है, अनेकता पिघलकर एकता के रूप में पूरे तौर पर मिल गई है और द्वैत की कल्पना के लिए तनिक भी स्थान नहीं है। सख्य-भाव में पृथक्ता के लिए स्थान अवश्य था; वह सर्वथा यहाँ दूर भग जाती है और अखण्ड अभिन्नता की भावना भक्त के हृदय को आनन्द-सागर में डुवा देती है।

पूर्वोक्त भावनाओं के क्रमिक विकास पर ध्यान दीजिए। प्रथमत: आदिम दोनों भावनाओं में भेद का राज्य रहता है, तृतीय में समानता का तथा अन्तिम में एकान्त अभेद का। अलंकार-शास्त्र की दृष्टि से भी इसे विशद किया जा सकता है। उपमा, रूपक तथा अतिशयोक्ति, इन प्रख्यात अलंकारों का जीवन या सार कहाँ है? उपमा, उपमान तथा उपमेय के भेद पर आधारित रहती है; रूपक में उपमान तथा उपमेय का पूर्ण साम्य रहता है; परन्तु अतिशयोक्ति में जहाँ उपमेय का उपमान के द्वारा पूर्ण निगरण हो जाता है—पूर्ण अभेद हो जाता है। 'चन्द्र इव मुखं सुन्दरम्' (चन्द्रमा के समान मुख सुन्दर है) भेदप्रधान उपमा है, 'मुखं चन्द्रः' रूपक है; परन्तु जहाँ मुख का सर्वथा तिरस्कार करके 'चन्द्रोऽयम्', यह चन्द्र ही है, यह भावना जाग्रत् होती है—वहीं अतिशयोक्ति का वैभव विराजता है। संक्षेप में इन का यह रूप होगा—

दास्यभाव पुत्रभाव	.. .. भेद	उपमा
सख्यभाव	.. .. समानता	रूपक
माधुर्यभाव	.. .. अभेद	अतिशयोक्ति

विचार करने से ये ही भाव प्रधान प्रतीत होते हैं। इनके अवान्तर भेद भी अनेक हैं और हो सकते हैं, परन्तु जितने अन्य भावों की कल्पना की जा सकती है, उन सवका समावेश इन्हीं के भीतर किया जा सकता है। भक्तिमार्ग की यह सोपान-परम्परा क्रमिक तथा सुव्यवस्थित है।

साधक को चाहिए कि इन भावनाओं में से किसी एक भावना को दृढ बनाकर उसी पर स्थिर हो जाय। इसके लिए हृदय को टटोलना पड़ेगा और देखना पड़ेगा कि उसका हृदय किस भावना के लिए व्याकुल है, किसके लिए तरसता है। जिस मनुष्य के हृदय में जिस सम्वन्ध की जितनी अधिक लालसा वनी हुई है, उसमें उसी सम्वन्ध से भगवत्प्रेम जागरूक होगा, इसमें तनिक

भी संदेह नहीं है। सम्बन्ध का चुनाव करना कठिन अवश्य है; क्योंकि इसके ऊपर मनुष्य के वय का भी बड़ा प्रभाव पड़ा करता है। बालक के हृदय में माता की ममता तथा संगी-साथी पाने की इच्छा प्रबल होती है। युवक प्रियतमा के पाने की लालसा को हृदय के कोने में छिपाये रहता है। वृद्ध में संतान की अभिलाषा प्रबलतम होती है और वह अपने समस्त अनुराग अपनी संतान के ऊपर उड़ेल देता है। यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधृत होने से अवश्य उपादेय तथा यथार्थ है। परन्तु, कुछ ऐसे भी भाव होते हैं, जो स्थायी रूप से जमे रहते हैं। मनुष्य के हृदय के अन्तराल में इन्हें ही खोज निकालना चाहिए। विश्वास रखिए, साधक अपने सच्चे भाव को भगवान् के साथ ज्यों ही स्थापित करेगा, वह साधना में निस्संदेह अग्रसर होगा। जिस वैयक्तिक सम्बन्ध के लिए हमारा हृदय लालायित रहता है और जिसके अभाव में वह वेदना तथा व्यथा का अनुभव करता है, उसी सम्बन्ध से भगवान् के साथ प्रेम करना चाहिए। वह प्रेम अवश्य सफल होगा तथा शीघ्र फलद होगा, इसमें हमारे प्रख्यात भक्तों की जीवनी पर्याप्त रूपेण निर्दशिका है। इसीलिये साधना-शास्त्र का प्रथम सूत्र है—भगवान् के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करो। वह अपना है, उसे अपना बनाकर रखो।

(३)
आलवार भक्ति-काव्य में राधा

धर्म में राधा के प्रवेश की छानबीन करते समय आलोचक का चित्त स्वभावतः तमिलनाड़ के प्राचीन भक्तों की ओर आकृष्ट होता है। ये वैष्णव भक्त आलवार के नाम से विख्यात हैं। इन्होंने अपने हृदय की कोमल भक्ति-भावना की अभिव्यंजना बड़े ही सुन्दर ढंग से अपनी तमिल भाषा की कविता में की है। 'आलवार' शब्द का अर्थ है अध्यात्म ज्ञान-रूपी समुद्र में गहरा गोता लगानेवाला व्यक्ति। ये भगवान् नारायण तथा श्रीकृष्ण के अनन्य उपासक थे। उनके जीवन का एक ही व्रत था विष्णु के विशुद्ध प्रेम में स्वतः लीन होना और अपने उपदेशों द्वारा दूसरों को उस प्रेम में लीन कराना। इनकी भक्ति उस पावनसलिला गंगा के नैसर्गिक प्रवाह के समान है जो स्वयं उद्वेलित होकर अबाध गति से बहती है और जो कुछ सामने आता है, उसे तुरन्त बहाकर अलग फेंक देती है। इनके जीवन का एकमात्र सार था प्रपत्ति, भगवान् के श्रीचरणों में अपने जीवन का विसर्जन, विशुद्ध शरणागति। भगवान् के पास पहुँचने के लिए विशुद्ध भक्ति की आवश्यकता होती है, न जात-पाँत की और न शिक्षा-दीक्षा की। सुनते हैं, इनमें कुछ आलवार नीच जाति के थे, परन्तु इससे उनकी भावना में किसी प्रकार की कमी नहीं थी। उनके जीवन का आदर्श इस पद्य में बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया गया है—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का ?
जातिर्वा विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत् सुदाम्नो धनम्
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

भगवान् माधव भक्ति के वश में होकर भक्ति से प्रसन्न होते हैं, गुणों से नहीं। नीच व्याध का आचरण कैसा था? ध्रुव का वय कितना था? गजेन्द्र की वह विद्या कितनी थी? विदुर की जाति क्या थी? यादवपति वृद्ध उग्रसेन में कितना पुरुषार्थ था? कुबड़ी कुब्जा में क्या कुछ

सौन्दर्य था कि जिससे वह कृष्ण को लुभाने में समर्थ हुई थी। दरिद्र सुदामा के पास कितना धन था कि कृष्ण के प्रेम पाने में वे समर्थ हुए थे। फलतः आचरण, वय, विद्या, जाति, पौरुष, रूप तथा धन ये यथार्थतः सद्गुण स्वीकार किये जाते हैं, परन्तु इनमें से किसी गुण में क्या भगवान् को संतुष्ट करने की शक्ति है? नहीं, कभी नहीं। भगवान् तो केवल भक्ति से सन्तुष्ट होते हैं।

इन आलवारों की संख्या मुख्यतः बारह मानी जाती है, इनमें से एक आलवार स्त्री-जाति के थे जिनका तमिल नाम 'आण्डाल' तथा संस्कृत नाम 'गोदा' है। इन आलवारों के द्वारा लिखित भगवत्स्तुतियों का विराट् संग्रह नालायिर प्रबंधं (चतुःसहस्र दिव्य प्रबन्ध) के नाम से प्रख्यात है जो पवित्रता और आध्यात्मिकता की दृष्टि से वेद के समान पवित्र माना जाता है और इसीलिए तमिल-वेद के नाम से भक्तों में प्रसिद्ध है। इन आलवारों के अलग-अलग समय को बतलाना सम्भव नहीं, साधारणतया इनका युग पंचम शती से नवम शती तक माना जाता है। इनके गायनों में श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन बड़े विस्तार तथा श्रद्धा के साथ किया गया है। बालक गोपाल किस प्रकार गायों को चराने के लिए जंगलों में जाते हैं, गायें चराते हैं, शाम को घर लौटते हैं, अपनी वंशी-ध्वनि से गोप-गोपियों को आकृष्ट करते हैं, माता यशोदा किस प्रकार उनका मनोहारी शृंगार रचना कर उनके शरीर को सुसज्जित करती है—आदि नाना बाललीलाओं का कवित्वमय चमत्कारी वर्णन इन सन्तों के भक्त हृदय के साथ-ही-साथ उनकी अपूर्व प्रतिभा का भी परिचय देता है। इन रचनाओं में कहीं भी कृत्रिमता की गन्ध नहीं है; स्वाभविकता अपने पूर्ण वैभव के साथ इन गीतियों में अपना रूप दिखलाती है। इसीलिए, यह प्राचीन तमिल-भाषा की अनमोल निधि मानी जाती हैं। उदाहरणार्थ यहाँ एक कविता दी जाती है जो आलवार विष्णु-चित्त की रचना है, जो आज भी भगवान् के मन्दिर में उन्हें माल्यार्पण के अवसर पर गाई जाती है। माता यशोदा कृष्ण को बुला रही है कि तुम आओ और इन फूलों से अपने देह को भूषित कर लो। वह कहती है—'हे कृष्ण, ऊँचे महलों के ऊपर जहाँ-जहाँ स्त्रियाँ निवास करती हैं, उन स्थानों में जाकर तुम उनके कञ्चुकी वस्त्र को ढीला कर देते हो। इस प्रकार की दुश्चेष्टाओं के लिए तुम सर्वदा उत्सुक रहते हो। शेषाचल के शिखर पर निवास करनेवाले भगवान्, तुम दमनक तथा पाटल-फूल को पहनने के लिए यहाँ आओ।'

मूल तमिल-गीति—

मच्चोडुमाड़ हैंयेरि मादर्हंड़ तम्मिडम् पुक्कु
कच्चोडु पट्टै क्किड़त्तु काम्बुत्तिहिलवै कीरि।
निच्चलुम् तीमैहड़ शेयवाय् नीड़ तिरुवेङ्ग्उत्तेन्दाय्
पच्चैत्तमनहत्तोडु पादिरिप्पूच्चूट्ट वाराय्॥

संस्कृत में पद्यानुवाद[1]—

आरुह्य प्रसभं महत्तरगृहप्रासाददेशादिषु
प्राप्य स्त्रीजनतान्तिकं शिथिलयन् तच्चोलचेलाविकम्।

---

१. अंग्रेजी अनुवाद बंगलोर से प्रकाशित 'विशिष्टाद्वैतिन्' पत्रिका (खण्ड १, सं० १२–१४) पृ० १०, सन् १९०६) से उद्धृत।

नित्यं दुश्चरितोत्सुक क्षितिधरे शेषाभिधे सन् प्रभो
वोढुं सद्मनं च पाटलसुमं स्वामिन् समागच्छ भोः ॥

आण्डाल इन्हीं विष्णुचित्त की पोष्या पुत्री थी, जो उन्हें अपनी पुष्पवाटिका में तुलसी के पास मिली थीं। श्रीवैष्णव भक्त उन्हें अयोनिजा होने से लक्ष्मी का साक्षात् अवतार मानते हैं। उनका प्रख्यात गीति-काव्य है तिरुप्पावै, जिसमें तीस गाथायें हैं। 'प्पावै' तमिल का शब्द है, जिसका अर्थ है व्रत। 'तिरु' तो 'श्री' का तमिल रूप है। फलतः 'तिरुप्पावै' का अर्थ है श्रीव्रत-प्रवन्ध। इसका विषय भागवत में वर्णित कृष्ण की वाललीला से सम्वद्ध एक प्रख्यात कथा है। व्रज की गोपियाँ मार्गशीर्ष में व्रत-विधान करती हैं श्यामसुन्दर से मिलने के लिए। इसमें व्रज के वृद्धजन विघ्न डालते हैं। युवतियों का किसी पुरुष के पास, विशेषतः श्रीकृष्ण के पास जाना नितान्त अनुचित है,। इसलिए वे उन्हें रोकते हैं, परन्तु विशुद्ध प्रेम-पन्थ की रसिका ये गोपिकायें क्या अपने पन्थ से विरत होनेवाली हैं ? वे कृष्ण के मन्दिर में पहुँचती हैं, तो उन्हें एक विशेष प्रेमपात्री गोपी के संग में सोते हुए पाती हैं। वे उस गोपी से प्रार्थना करती हैं कि प्यारे कृष्ण को जगाओ, अपनी चूड़ियों की मंजुल ध्वनि करते हुए किवाड़ खोलो, जिससे वे उस रसिकशिरोमणि के दर्शन करने में कृतकार्य हों। इसी प्रसंग की दो गीतियाँ यहाँ दी जाती हैं संस्कृत तथा अँगरेजी अनुवाद[1] के रूप में —

नीले नन्दस्नुषे भोः सुरभिकचभरे कन्दुकोल्लासिहस्ते
कूजन्तः कुक्कुटाः सन्त्यथ च पिकगणो माधवीकुञ्जवासी।
शश्वत् कूजत्यहो त्वं निजकरवलयान् नादयन्ती कवाटं
हस्तेनोद्घाटयेथाः स्वपतिनुतयइत्यूचुषीं नौमि गोदाम् ॥१८॥

Lo perfum-tressed Nap-pinai ! the daughter fair
Of Nanda strong as ichor-rutting elephants,
And bold in fronting foes, rise thou ann ope the doors !
Behold, shrill clarion the chanticleess all around ;
On entwined sheds of Madhavi oftsing the koils
Bole-fingered fair ! So that we praise thy cousin sweet
With lotus hands of thine and bracelets tinkling, if
Thou joyous openest : The Bliss we pray is ours.

अगले पद्य में गोपियाँ नीला की निर्दयता की निन्दा कर रही हैं कि तुम श्रीकृष्ण के साथ कोमल सेज पर सो रही हो, उनके संग का दिव्य आनन्द उठा रही हो; हमसे तुम बोलती भी नहीं और न अपने प्रियतम को सेज से उठने ही देती हो। क्षण-भर का वियोग भी तुम्हें इतना असह्य हो रहा है क्या ?

---

१. संस्कृत अनुवाद के लिए देखिए श्रीकाञ्चीसिंहासनाधीश्वर श्रीमद् अण्णङ्गराचराचार्यप्रणीत 'दिव्यप्रबन्धम्' (प्रथम सहस्र), प्रकाशक खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई १९५८, पृ० १८०–१८१। अँगरेजी अनुवाद बंगलोर से प्रकाशित 'विशिष्टाद्वैतिन्' पत्रिका (खण्ड १, सं० १२-१४, पृ० १०, सन् १९०६) से उद्धृत।

प्रज्वाल्योत्तुङ्गदीपं मृदुतरतलिमे दन्तिदन्तोत्थखट्वा-
संस्तीर्णे दिव्यनीला कुचतटकलिताश्लेषवक्षःस्थलेश ।
वाचं नैव प्रदत्से बत बत सहसे नैव नीले क्षणार्धं
विश्लेषं चापि हा हा किमिदमिति वदन्त्यस्तु मे वाचि गोदा ॥१६॥

On downy fire fold mattressed couches ivory wrought
All brilliant lit around, expansive-chested Lord
Who slumb' rest with hands imprest on breasts of her
Sweet Nap-pinnai, with locks inwove of clustering blooms;
O Gracious, ope thy lips ! And thou broad satin-eyed,
But know we well thou never wouldst allow Him wake.
If thou brook'st not even, a second's parting thus
'Tis unwise most ! Rise genrous and : The Bliss we
pray make ours.

तिरुप्पावै के इन दोनों पद्यों में किसी विशिष्ट गोपी की ओर स्पष्ट संकेत है, जो श्रीकृष्ण को अपने वश में कर उनके साथ रमण में प्रवृत्त होती है। श्रीवैष्णवों के संस्कृत-ग्रन्थों में इस भाग्य-शालिनी का नाम नीळा देवी है और तमिल-भाषा में उसका 'नप्पिनै प्पिराट्टि' नाम है। अलवार काव्य के समीक्षकों का कथन है कि पूरे चार हजार गाथावाले 'दिंव्य प्रवन्ध' में रुक्मिणी देवी का प्रसंग तो तीन-चार स्थलों में ही आता है और नीला देवी का प्रसंग तो सैकड़ों स्थलों पर मिलता है। श्रीभक्तिसार मुनीन्द्र ने अपने 'तिरुच्चन्द विरुत्त' नामक प्रवन्ध में लिखा है कि नीला देवी के साथ विवाह करने के लिए ही कृष्ण ने गोपकुल में प्रवेश किया था। नीला लक्ष्मी का ही अंश है। श्रीवैष्णवों की मान्यता है कि जब लक्ष्मीजी ने देखा कि सैकड़ों उपदेशों से भी भगवान् जीवों पर अनुग्रह करने के लिए उद्यत नहीं हुए, अनुकूल नहीं हुए, तब उन्हें अनुकूल करने के लिए ही उन्होंने यह दिव्य सौन्दर्य-मण्डित रूप धारण किया नीला देवी का। इसीलिए, इन गाथाओं में सर्वत्र उनके दिव्य आभामय स्वरूप का प्रतिपादन विशिष्ट विशेषणों के द्वारा किया गया है। फलतः, श्रीवैष्णवों की दृष्टि में जो काम लक्ष्मीजी के द्वारा सम्पन्न न हो सका, वही कार्य नीलादेवी के द्वारा अनायास ही सिद्ध हो गया।

यही नीलादेवी अथवा नप्पिनै श्रीराधा की तमिल-प्रतिनिधि हैं। आण्डाल के जीवन-चरित के अध्ययन से स्पष्ट है कि वह दिव्यभावापन्न थी। वह नप्पिनै ही समझकर भगवान् श्रीरंगनाथ के चरणारविन्द में अपने को समर्पित कर दिया। नप्पिनै को प्राप्त करने के लिए इन गायनों में श्रीकृष्ण को हम 'वृषवशीकरण' का अनुष्ठान करते हुए पाते हैं। यह प्रथा तमिल-देश में प्रचलित थी और आज वहाँ की किन्हीं जातियों में इसका प्रचलन बतलाया जाता है। इस अनुष्ठान के द्वारा वर की शूरता की परीक्षा की जाती थी। सुनते हैं कि प्राचीन काल में एक बाड़े में साँड़ों को घेर कर रखा जाता था। बाजा बजाकर उन्हें भड़काया जाता था। जब वे क्रुद्ध हो जाते थे, तब बाड़े का मुँह खोल दिया जाता था। जिधर से वे साँड़ निकलते थे, उधर ही अपनी योग्यता की परीक्षा देनेवाले युवक खड़े रहते थे। यदि वे उन साँड़ों को अपने काबू

में करने में समर्थ होते थे, तो कुमारियाँ उनके गले में जयमाल डालकर उनका पति-रूप में वरण करती थीं। नीला देवी की प्राप्ति के लिए भी श्रीकृष्ण को यह अनुष्ठान करना बड़ा था। ऐसा उल्लेख यहाँ मिलता है। रास-नृत्य से मिलता-जुलता एक नृत्य तमिल-देश में प्रसिद्ध था, जो 'कुरवइकुट्टू' के नाम से सर्वत्र ख्यात था। इस नाच में स्त्रियाँ एक दूसरे का हाथ पकड़कर नाचा करती थीं। श्रीकृष्ण के प्रसंग में भी उल्लेख मिलता है कि उन्होंने भी अपने अग्रज बलराम और प्रेयसी नप्पिनै के साथ यह नृत्य कभी किया था। 'तिरुप्पावै' की १९वीं गाथा में नीलादेवी 'कुसुमस्तवकालंकृत—केशपाशाञ्चित नीला देवी' कही गई हैं। यह विष्णुपुराण के उस प्रख्यात श्लोक का अनुसरण करता है, जिसे हमने राधा का निगूढ संकेत स्वीकार किया है—

> अत्रोपविश्य सा तेन कापि पुष्पैरलङ्कृता
> अन्यजन्मनि सर्वात्मा विष्णुरभ्यर्चितो यया ॥ —विष्णुपुराण, ५।१३।३५

निष्कर्ष यह है कि अलवार भक्तों में श्रीकृष्ण की प्रेयसी गोपी का नाम 'नप्पिनै' (नीला देवी) था। कृष्ण का उसके साथ विधिवत् पाणिग्रहण हुआ था। फलतः, वह उनकी स्वकीया थीं। वह लक्ष्मी का अंश मानी गई हैं। भगवान् विष्णु के अनुग्रह को भक्तों के निमित्त परिचालित करने के लिए ही लक्ष्मीजी ने नप्पिनै का यह मधुर-मनोहर रूप धारण किया था। इससे स्पष्ट है कि इस नप्पिनै को ही राधा की प्रतिनिधि मानने में किसी प्रकार का संशय न होना चाहिए।

(४)

पुराण में राधा-तत्त्व

पुराणों में 'राधा' की उपलब्धि तथा महिमा का संकेत पिछले अध्याय में किया गया है। विचारणीय है कि राधा के विषय में पुराणों का मन्तव्य क्या है? यहाँ इसी विषय को संक्षेप में समझाने का प्रयास किया जा रहा है।

(क) राधा की उत्पत्ति

पुराणों के अनुसार राधा की उत्पत्ति दैवी है, मानुषी नहीं है। वह परमात्मभूत श्रीकृष्ण के वामार्ध से उत्पन्न हुई थी। ऐसा अनेक पुराणों के विवरण में निर्देश किया गया है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के अनुसार प्राचीन-काल में गोलोकस्थित परमरम्य वृन्दावन के रासमण्डल में, जो शतशृंग पर्वत के एक भाग में स्थित है और मालती आदि पुष्पों से घिरा हुआ है, एक शोभन रत्नमय सिंहासन पर जगदीश्वर श्रीकृष्ण विराजमान थे। उसी समय उस इच्छामय के हृदय में रमण की उत्कण्ठा जाग उठी। उनकी यह रमणेच्छा ही मूर्त्तिमती होकर सुरेश्वरी श्रीराधा के रूप में प्रकट हो गई। इसमें किसी प्रकार के आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि वह स्वेच्छामय ठहरा और उसकी इच्छा से, उसके संकल्प से ही जगत् की सृष्टि होती है। इसी बीच प्रभु दो रूपों में विभक्त हो गये। उनका दाहिना अंग श्रीकृष्ण के रूप में स्थित हो गया और बायाँ अंग (वामार्ध) श्रीराधा के रूप में स्थित हुआ—

> पुरा वृन्दावने रम्ये गोलोके रासमण्डले।
> शतशृङ्गैकदेशे च मालतीमल्लिकावने ॥२६॥
> रत्नसिंहासने रम्ये तस्थौ तत्र जगत्पतिः।
> स्वेच्छामयश्च भगवान् बभूव रमणोत्सुकः ॥२७॥

रमणं कर्तुमिच्छा च तद्‌ब भूव सुरेश्वरी ।
इच्छया च भवेत् सर्वं तस्य स्वेच्छामयस्य च ॥२८॥
एतस्मिन्नन्तरे दुर्गे द्विधारूपो बभूव सः ।
दक्षिणाङ्गं च श्रीकृष्णो वामार्धाङ्गं च राधिका ॥२६॥

—ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, अ० ४८

इस प्रकार श्रीराधा का अमानवत्व पुराणों में बहुशः प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्मवैवर्त्त (श्रीकृष्णखण्ड अध्याय २७) का इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य है। भगवती पार्वती राधा से कह रही हैं कि आप सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के अर्धाङ्ग (वामाङ्ग) से आविर्भूत हुई हैं तथा तेज में श्रीकृष्ण के ही समान हैं। आपके अंश तथा कला से समस्त देवियों की उत्पत्ति हुई है; फिर, ऐसी दशा में आप मानवी कैसे हो सकती हैं।[1] आप श्रीहरि की प्राणस्वरूपा हैं तथा श्रीहरि स्वयं आपके प्राण हैं। वेद आप दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं बतलाता। ऐसी दशा में तुम मानवी कैसे मानी जा सकती हो?[2] साठ हजार वर्षों तक लगातार ब्रह्माजी ने तपस्या की, परन्तु तो भी तुम्हारे चरण-कमल का दर्शन नहीं कर सके। तब आप मानवी क्यों कर हो सकती हैं?[3] हे शान्ते, श्रीकृष्ण की आज्ञा से गोपी का रूप धारण कर तुम इस भूतल पर आई हो, ऐसी दशा में तुम मानवी क्योंकर मानी जा सकती हो।[4] इतना ही नहीं, मनुवंश में उत्पन्न होनेवाले राजा सुयज्ञ आपकी ही कृपा से गोलोक में चले गए, तब तुम्हें मानुषी कौन कहता है[5]? इतना ही नहीं; परशुरामजी भी आपकी ही कृपा के बल पर अनेक अलौकिक कार्यों को सम्पन्न करने में लब्धमनोरथ हुए थे। क्षत्रियों को इक्कीस बार मार डालना कोई साधारण घटना नहीं है; परन्तु आपके ही मन्त्र तथा क़वच के प्रभाव से वे इस अलोक-सामान्य कार्य की सिद्धि में समर्थ हुए थे। इतना ही क्यों? कार्त्तवीर्य के मार डालने में आपके ही मन्त्र का प्रभाव जागरूक रहा, जिसे उन्होंने शंकर से प्राप्त किया था तथा पुष्कर में जिसकी सिद्धि की थी।[6] महादेव ने

---

१. श्रीकृष्णार्धाङ्गसम्भूता कृष्णतुल्या च तेजसा ।
तवांशकलया देव्यः कथं त्वं मानुषी सति ॥१९६॥

२. भवती च हरेः प्राणाः भवत्याश्च हरिः स्वयम् ।
वेदे नास्ति द्वयोर्भेदः कथं त्वं मानुषी सति ॥१९७॥

३. षष्टिवर्षसहस्राणि ब्रह्मा तप्त्वा तपः पुरा ।
न ते ददर्श पादाब्जं कथं त्वं मानुषी सति ॥१९८॥

४. कृष्णाज्ञया च त्वं देवि ! गोपीरूपं विधाय च ।
आगतासि महीं शान्ते ! कथं त्वं मानुषी सति ॥१९९॥

५. सुयज्ञो हि नृपश्रेष्ठो मनुवंशसमुद्‌भवः ।
त्वत्तो जगाम गोलोकं कथं त्वं मानुषी सति ॥२००॥

६. त्रिःसप्तकृत्वो निर्भूपां चकार पृथिवीं भृगुः ।
तव मन्त्रेण कवचात् कथं त्वं मानुषी सति ॥२०१॥
शङ्करात् प्राप्य त्वन्मन्त्रं सिद्धिं कृत्वा च पुष्करे ।
जघान कार्त्तवीर्यं च कथं त्वं मानुषी सति ॥२०२॥

क्रोध में आकर जब मुझे (पार्वती) को भस्मसात् करना चाहा, तब आपने ही आकर मेरी रक्षा की थी; ऐसी दशा में आप मानुषी कैसे कही जा सकती हैं ?[1]

पुराणों के मत में भगवान् श्रीकृष्ण की राधिका स्वयं आत्मरूप हैं, जिसके साथ वे सर्वदा रमण किया करते हैं और इसी कारण वे 'आत्माराम' शब्द के द्वारा प्रशंसित किये जाते हैं—

आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ
आत्मारामतया प्राज्ञैः प्रोच्यते गूढवेदिभिः ॥२२॥

—स्कन्दपुराण, भागवतमाहात्म्य, अध्याय १

इसी तथ्य को इसी स्कन्दपुराण ने अन्यत्र अभिन्न शब्दों में प्रतिपादित किया है। श्रीकृष्ण की प्रियतमा श्रीकालिन्दीजी अन्य पत्नियों से उनके स्वरूप का प्रतिपादन करती कह रही हैं—

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका
तस्या दास्यप्रभावेण विरहोऽस्मान्न संस्पृशेत् ।
तस्या एवांशविस्ताराः सर्वाः श्रीकृष्णनायिकाः ।
नित्यसम्भोग एवास्ति तस्याः साम्मुख्ययोगतः ॥
स एव सा स सैवास्ति वंशी तत्प्रेमरूपिका ।
रुक्मिण्यादिसमावेशो मयात्रैव विलोकितः ॥ (वही, दूसरा अध्याय ११–१४)

इस कथन का आशय है कि श्रीराधिका ही आत्माराम श्रीकृष्ण की आत्मा हैं। उनकी सेवा के प्रभाव से ही श्रीकृष्ण का वियोग हमें स्पर्श भी नहीं करता। रुक्मिणी, सत्यभामा आदि श्रीकृष्ण की जितनी भी पत्नियाँ हैं, वे सब राधा के ही अंश का विस्तार हैं। श्रीराधा तथा श्रीकृष्ण सदा सर्वदा एक दूसरे के सम्मुख रहते हैं, अर्थात् इनका परस्परसंयोग नित्यसिद्ध है।
श्री कृष्ण ही राधा हैं और श्री राधा ही श्रीकृष्ण हैं इन दोनों का प्रेम ही वंशी है। यहाँ श्रीराधा में रुक्मिणी आदि का समावेश मैंने देखा है।

(ख) राधा का स्वरूप

राधा के स्वरूप का विवेचन भी पुराणों में बहुशः किया गया है। राधा मूल प्रकृति हैं। सत्त्व, रज तथा तम की अधिष्ठात्री श्रीदुर्गा आदि देवियाँ उनके करोड़वें अंश के भी करोड़वें अंश से प्रकट होती हैं। उनकी पादधूलि के स्पर्शमात्र से करोड़ों विष्णु उत्पन्न होते हैं। ऐसी है अनुपम महिमा राधा की—

तत्प्रिया प्रकृतिस्त्वाद्या राधिका कृष्णवल्लभा ।
तत्कलाकोटिकोट्यंशा दुर्गाद्यास्त्रिगुणात्मिकाः ॥
तस्याः पादरजःस्पर्शात् कोटिविष्णुः प्रजायते ।—पद्म, पातालखण्ड ६९।११८

राधा के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण के ये उद्गार बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इनसे पता चलता है कि राधा श्रीकृष्ण की भी आधाररूपा हैं, वह समस्त शक्ति की पुंजभूता हैं, जगत् की मूल प्रकृति तथा स्वामिनी हैं। मैं श्रीकृष्ण ब्रह्मरूप से चेष्टारहित हूँ। तुम्हारे संयोग से मेरे (श्रीकृष्ण के) भीतर चेष्टा उत्पन्न होती है। श्रीकृष्ण के भीतर राधा की स्थिति है—दूध में उज्ज्वलता, अग्नि में

---

१. मय्युद्धतायां कोपेन भस्मसात् कर्त्तुमीश्वरः ।
रक्षागत्य मत्प्रीत्या कथं त्वं मानुषी सति ॥२०४॥

दाहिका शक्ति, पृथ्वी में गन्ध तथा जल में शैत्य के समान। आशय यह है कि श्रीकृष्ण शक्तिमान् हैं तथा राधा शक्ति हैं। दोनों में किसी प्रकार का अन्तर या भेद नहीं है। क्या दूध और उसकी धवलता में पार्थक्य है? अथवा क्या अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति में किसी तरह का भेदभाव है? नहीं, कोई नहीं। ठीक इसी प्रकार, राधा तथा श्रीकृष्ण की अपृथक्भूत स्थिति है[1]।

जगत् की सृष्टि में वह कारणभूता है। विना राधा के श्रीकृष्ण जगत् की सृष्टि में सर्वथा असमर्थ हैं। जिस प्रकार कुम्भकार मिट्टी के विना घड़े वनाने में कथमपि समर्थ नहीं होता और सोनार सुवर्ण के विना गहनों के गढ़ने में सर्वदा असमर्थ होता है, ठीक इसी प्रकार राधा के विना कृष्ण की दशा है। न्याय की भाषा में सुवर्णकार तथा कुलाल निमित्तकारण हैं तथा सुवर्ण और मृत्तिका उपादान कारण है। इसी प्रकार जगत् की सृष्टि में श्रीकृष्ण निमित्त कारण हैं तथा राधिका उपादान कारण है। आत्मा जिस प्रकार स्वरूप से नित्य है; उसी प्रकार तुम भी प्रकृति-नित्य हो। तुम सर्वशक्तियों से समन्वित, सव की आधारभूता तथा सर्वदा रहनेवाली सनातन हो। भगवती लक्ष्मी, अशेष मंगलमयी देवी सरस्वती, ब्रह्मा, शंकर, अनन्त (शेषनाग) तथा धर्म मेरे प्राणतुल्य हैं, परन्तु तुम तो मुझे प्राणों से भी वढ़कर प्यारी हो।[2]

श्रीकृष्ण ने इसी तत्त्व को प्रकट करने के लिए प्रायः इन्हीं के सदृश शब्दों का प्रयोग अन्यत्र किया है। इन पद्यों के अनुशीलन से यही भाव स्पष्ट रूप से भासित होता है कि पुराण की दृष्टि में राधा परमात्मरूप भगवान् श्रीकृष्ण के वामार्ध से उद्भूत हैं, वह शक्तिरूपा हैं, मूल प्रकृति हैं तथा जगत् की स्वामिनी हैं। विश्व की सृष्टि में वह उपादानस्थानीया हैं। राधा के सम्पर्क

---

१. ममाधारस्वरूपा त्वं त्वयि तिष्ठामि शाश्वतम्।
त्वं च शक्तिसमूहा च मूलप्रकृतिरीश्वरी ॥२०९॥
त्वं शरीरस्वरूपासि त्रिगुणाधाररूपिणी।
तवात्माहं निरीहश्च चेष्टावांश्च त्वया सह ॥२१०॥
+ + +
यथा क्षीरे च धावल्यं दाहिका च हुताशने।
भूमौ गन्धो जले शैत्यं तथा त्वयि मम स्थितिः ॥२१४॥
धावल्यं दुग्धयोरैक्यं दाहिकानलयोर्यथा।
भूगन्धजलशैत्यानां नास्ति भेदस्तथावयोः ॥२१५॥

२. मया विना त्वं निर्जीवा चादृश्योऽहं त्वया विना।
त्वया विना भवं कर्त्तुं नालं सुन्दरि! निश्चितम् ॥२१६॥
मृदा विना घटं कर्त्तुं यथा नालं कुलालकः।
विना स्वर्णं स्वर्णकारोऽलङ्कारं कर्त्तुमक्षमः ॥२१७॥
स्वयमात्मा यथा नित्यस्तथा त्वं प्रकृतिः स्वयम्।
सर्वशक्तिसमायुक्ता सर्वाधारा सनातनी ॥२१८॥
मम प्राणसमा लक्ष्मीर्वाणी च सर्वमङ्गला।
ब्रह्मेशानन्तधर्माश्च त्वं मे प्राणाधिका प्रिया ॥२१९॥

—ब्रह्मवैवर्त्त, श्रीकृष्णजन्म, अ० ६

से ही कृष्ण में जगदीश्वरत्व की सिद्धि होती है। नहीं तो वे स्वतः निरीह निश्चेष्ट तथा क्रिया-रहित हैं। क्रिया-शक्ति के साथ संयोग तभी होता है, जब वे राधा के साथ संवलित होते हैं। एक स्थल पर तो कृष्ण ने यहाँतक कह डाला है कि तुम्हारे विना सम्पर्क के तो लोग मुझे केवल 'कृष्ण' नाम से पुकारते हैं और 'श्रीकृष्ण' नाम तो मुझे तभी प्राप्त होता है, जब मैं राधा के साथ संयुक्त रहता हूँ। श्रीराधिका के अलौकिक सार्वभौम रूप के विषय में इससे अधिक महत्त्वपूर्ण कथन क्या हो सकता है ?

कृष्णं वदन्ति मां लोकास्त्वयैव रहितं यदा।
श्रीकृष्णं च तदा तेऽपि त्वयैव सहितं परम् ॥ —ब्रह्मवैवर्त्त ६।६३

देवीभागवत के एक पद्य में इसी महिमा की एक शोभन प्रतिध्वनि हमें कर्णगोचर होती है। इस पुराण का कथन है कि राधा श्रीकृष्ण के प्राणों की अधिष्ठात्री देवी हैं। इसलिए, परमात्मा श्रीकृष्ण उनके सर्वथा अधीन हैं। वे रासेश्वरी सर्वदा उनके निकट ही निवास करती हैं। उनके विना श्रीकृष्ण नहीं टिकते—

कृष्णा-प्राणाधिदेवी सा तदधीनो विभुर्यतः।
रासेश्वरी तस्य नित्यं तया हीनो न तिष्ठति ॥ - देवीभागवत, ९।५०।१७

पद्मपुराण के चतुर्थ (पाताल) खण्ड के अनेक अध्यायों में श्रीकृष्ण के रूप, लीला, धाम (वृन्दावन) तथा रासेश्वरी राधा का बड़ा ही विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। ऊपर कहा गया है कि यह विवरण इतना विस्तृत तथा पुंखानुपुंख है कि इसके ऊपर ऐतिहासिकों की अर्वाचीनत्व की कल्पना होना स्वाभाविक है। इस पुराण में वर्णित राधा-तत्त्व का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

पद्मपुराण गोपियों को श्रुतियों की ऋचाएँ मानता है, जिनके द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण अपने नित्यधाम वृन्दावन में सर्वदा वेष्टित होकर विराजते हैं—

अवाप्तगोपीदेहाभिः श्रुतिभिः कोटिकोटिभिः।
तत्पादाम्बुजमाध्वीकचिन्ताभिः परितो वृतम् ॥
—पाताल खण्ड ७७।१२

इन गोपियों के मध्य में सबसे श्रेष्ठ है श्रीराधा। उनके शरीर की प्रभा तप्त सुवर्ण के समान शोभायमान है। वह अपनी प्रभा से सब दिशाओं को विजली के समान उज्ज्वल वनाती हुई विराजमान रहती हैं। वह भगवती हैं। उन्हीं के द्वारा यह संसार निर्मित है। वहीं सृष्टि, स्थिति तथा लयरूपा हैं। वही विद्या तथा अविद्या हैं। श्रेष्ठ ज्ञानरूपा श्रुति भी वे ही हैं। वह शक्तिरूपा, चिन्मयी तथा मायारूपिणी हैं। वे ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवों के शरीर-धारण करने की कारण हैं। यह समग्र जगत्—चर तथा अचर—उन्हीं की माया का विजृम्भण है। वह वृन्दावन की ईश्वरी (स्वामिनी) राधा हैं—

द्योतमाना दिशः सर्वाः कुर्वती विद्युदुज्ज्वलाः।
प्रधानंया भगवती तया सर्वमिदं ततम् ॥१४॥
सृष्टिस्थित्यन्तरूपा या विद्याऽविद्या त्रयी परा।
स्वरूपा शक्तिरूपा च मायारूपा च चिन्मयी ॥१५॥

ब्रह्मविष्णुशिवादीनां देहकारणकारणम् ।
चराचरं जगत् सर्वं यन्मायापरिरम्भितम् ॥१६॥
वृन्दावनेश्वरी नाम्ना राधा..............॥१७॥

—पातालखण्ड, अ० ७७

अन्यत्र राधा मूल प्रकृति मानी गई हैं तथा श्रीकृष्ण की आठों सखियाँ अष्टधा प्रकृति मानी गई हैं। इन सखियों के नाम हैं (१) ललिता, (२) श्यामला, (३) धन्या, (४) हरिप्रिया, (५) विशाखा, (६) शैव्या, (७) पद्मा, (८) चन्द्रावती।[1] जिस प्रकार मूल प्रकृति ही अष्टधा रूप में विभक्त होती है, उसी प्रकार राधा ही इन सखियों के रूप में विभक्त होकर विराजती हैं—

ललिताद्याः प्रकृत्यंशा मूलप्रकृती राधिका। (७०।४)
प्रधानप्रकृतिस्त्वाद्या राधा। (७०।८)

राधा के साथ श्रीकृष्ण स्वर्ण-सिंहासन के ऊपर विराजमान रहते हैं तथा पूर्वोक्त आठों सखियाँ उस सिंहासन की भिन्न-भिन्न दिशाओं में घेरे रहती हैं। सखियों की संख्या सोलह भी बताई गई हैं। कहीं कृष्ण-प्रियाओं की संख्या आठ हैं और कहीं वह संख्या द्विगुणित कर दी गई हैं। इसका कारण खोजा जा सकता है। भगवद्गीता (७।४) के अनुसार भगवान् की अपरा प्रकृति आठ प्रकार की मानी गई है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

—गीता ७।४

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश (अर्थात् पाँचों महाभूत), मन बुद्धि और अहंकार ये भगवान् की अष्टधा प्रकृति हैं। फलतः मूल प्रकृतिरूपिणी राधा की सखियों की संख्या आठ होना स्वाभाविक ही है। सांख्य के अनुसार प्रकृति से उत्पन्न होने से केवल विकारों की संख्या षोडश है। (षोडशकस्तु विकारः। सांख्यकारिका)—जिनके नाम हैं—ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक् तथा श्रोत्र), कर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ), मन तथा पञ्चमहाभूत। इन सबको मिलाकर केवल विकृतियों की संख्या १६ है। इन विकृतियों की प्रतीकभूता होने के कारण कहीं-कहीं गोपियों की संख्या १६ मानी गई है। राधा को मूल प्रकृति होने का निर्देश पद्मपुराण के अन्य वचनों में भी उपलब्ध होता है। फलतः, पद्मपुराण के मन्तव्यानुसार राधा मूलप्रकृतिरूपा है, ललितादिक सखियाँ प्रकृति के अंश हैं, दुर्गा आदिक देवियाँ राधा के करोड़वें अंश का भी करोड़वें अंश हैं तथा उसके पदरज के स्पर्शमात्र से करोड़ों विष्णुओं का उदय होता है। राधा के विषय में पुराणों का मन्तव्य-संक्षेप यही है।

(ग) 'राधा' शब्द की व्युत्पत्ति

'राधा' शब्द की व्युत्पत्ति पुराणों में अनेकशः की गई है। ब्रह्मवैवर्त्त के अनुसार राधा भक्तों को निर्वाण देने वाली हैं। इसीलिए उनका वैसा नाम है—

(१) 'रा' शब्दोच्चारणाद् भक्तो याति मुक्तिं सुदुर्लभाम्।
'धा' शब्दोच्चारणाद् दुर्गे धावत्येव हरेः पदम्॥

1. पद्मपुराण, पातालखण्ड, अ० ७०, श्लो० ४–८।

(२) 'रा' इत्यादान वचनो 'धा' च निर्वाणवाचकः ।
ततोऽवाप्नोति मुक्तिं च सा च राधा प्रकीर्त्तिता ॥
(३) राधेत्येवं च संसिद्धा राकारो दानवाचकः ।
स्वयं निर्वाणदात्री या सा राधा परिकीर्त्तिता ॥

——ब्र० वै०, कृष्णजन्मखण्ड, १७।२२३

श्रीमद्‌भागवत में 'राधा' शब्द प्रसंगतः संकेतित है, स्पष्टतः प्रतिपादित नहीं है। वहाँ इस शब्द की व्युत्पत्ति 'राध्' धातु से मानी गई है, जिसका अर्थ होता है आराधना करनेवाली, पूजा करनेवाली। भगवान् की अर्चा में अपना जीवन लगानेवाली, मेरी दृष्टि में 'राधा' की यही निरुक्ति उचित तथा प्रामाणिक प्रतीत होती है, जैसा इस ग्रन्थ के पूर्व अध्याय में दिखलाने का पूर्ण प्रयास किया गया है। ऊपर दी गई पौराणिक निरुक्तियाँ राधा की विशिष्ट महिमा को प्रकट करनेवाली परम्परा के उदय से अर्वाचीन प्रतीत होती हैं। 'राधा' शब्द को दो अंशों में विभक्त कर दो धातुओं से उनका सम्बन्ध दिखलाना निरुक्ति के मान्य नियमों से विरुद्ध नहीं ठहरता, तथापि इस शब्द को एक ही धातु से सिद्ध हो जाने पर भी प्रकारान्तर से निरुक्ति की आवश्यकता तो निरुक्तिकार के समधिक श्रद्धाभाव का ही द्योतक माना जा सकता है।

(घ) राधा का ध्यान

राधा के साथ कृष्ण की लीला का वर्णन पुराणों में अनेक स्थलों पर किया गया है। यही निकुञ्ज-लीला के नाम से वैष्णवों में प्रख्यात है। इसका वर्णन पद्मपुराण के अनुसार इस प्रकार है। भगवान् श्रीकृष्ण पीताम्बर पहने हैं, सुन्दर द्विभुज हैं। नवजलधर के वर्णवाले श्याम शरीर के ऊपर गले में वनमाला तथा मस्तक पर मयूरपिच्छ शोभायमान हैं। उनका मुख-मण्डल करोड़ों चन्द्रमाओं के समान मनोहर है। वे नेत्रों को घुमा रहे हैं; कानों में कनेर के फूल खोंसे हुए हैं। भाल में गोलगोल चन्दन का तिलक, जिसके बीच केशर का विन्दु सुशोभित है। दोनों कानों में बालसूर्य के समान कान्तिवाले कुण्डल शोभायमान हैं। दर्पण-समान कपोलों पर स्वेदकण अत्यन्त शोभा पा रहे हैं। भगवान् की दृष्टि श्रीराधा के वदन-कमल की ओर लगी हुई है। भगवान् की शोभा अतुलनीय, असामान्य तथा अवर्णनीय है। नासिका के अग्रभाग में लटकता हुआ मोती, विम्बफल के समान लाल अधर, भुजाओं में केयूर-अंगद आदि भूषण, उँगलियों में मुद्रिकाओं की शोभा, कमर में करधनी, चरणों में नूपुर, दाहिने हाथ में मुरली तथा बायें हाथ में लीलाकमल—भगवान् की यह मोहनी मूर्त्ति भक्तों की सर्वदा ध्येय है। रत्नसिंहासन के ऊपर ऐसी शोभा तथा मुद्रा से सम्पन्न विराजते हैं श्रीकृष्ण, जिनके वाम भाग में स्थित हैं श्री राधा रानी। राधाजी नीले रंग की चोली पहनी हुई हैं, तप्त सोने के समान उनका शरीर देदीप्यमान है। उनके मन्दहास्ययुक्त मुखारविन्द का आधा भाग उनकी रेशमी साड़ी के अञ्चल से ढका हुआ है। वे चंचल नेत्रों से चकोरी की भाँति अपने प्रियतम के मुखचन्द्र की ओर निहार रही हैं और अपने अँगूठे तथा तर्जनी से उनके मुख में कटे हुए पान के साथ सुपारी का चूर्ण अर्पण कर रही हैं। उनके सुन्दर पीन उन्नत वक्षःस्थल पर मोतियों का हार लटक रहा है; कटिदेश नितान्त क्षीण है। स्थूल नितम्ब पर करधनी विराजमान है। वे आनन्दरस में डूबी हुई हैं, और उनके अंगों में नवयौवन की झलक है। वे किशोरी हैं तथा श्यामसुन्दर भी उसी प्रकार किशोर हैं। उनकी सखियाँ भी उन्हीं के समान गुण और अवस्थावाली हैं। राधाजी पर चँवर

डुला रही हैं और पंखा झल रही हैं। इस प्रकार, राधाकृष्ण के अलौकिक विहार का यह सरस वर्णन पिछले वैष्णव कवियों तथा भक्तों का आदर्श है—

पीताम्बरं घनश्यामं द्विभुजं वनमालिनम्।
बर्हिबर्हकृतापीडं शशिकोटिनिभाननम्॥
घूर्णयमाननयनं कर्णिकारावतंसिनम्।
अभितश्चन्दनेनाथ मध्ये कुङ्कुमबिन्दुना॥
रचितं तिलकं भाले बिभ्रतं मण्डलाकृतिम्।
तरुणादित्यसंकाशकुण्डलाभ्यां विराजितम्॥
घर्माम्बुकणिका-राजद्दर्पणाभकपोलकम्।
प्रियास्यन्यस्तनयनं लीलया चोन्नतभ्रुवम्॥
अग्रभागन्यस्तमुक्ताविस्फुरत्प्रोच्चनासिकम्।
दशनज्योत्स्नया राजत्-पक्वबिम्बफलाधरम्॥
केयूराङ्गदसद्रत्नमुद्रिकाभिर्लसत्करम्।
बिभ्रतं मुरलीं वामे पाणौ पद्मं तथैव च॥
काञ्चीदामस्फुरन्मध्यं नूपुराभ्यां लसत्पदम्।
रतिकेलिरसावेशचपलं चपलेक्षणम्॥
हसन्तं प्रियया सार्धं हासयन्तं च तां मुहुः।
इत्थं कल्पतरोर्मूले रत्नसिंहासनोपरि॥
वृन्दारण्ये स्मरेत् कृष्णं संस्थितं प्रियया सह।
वामपार्श्वे स्थितां तस्य राधिकां च स्मरेत्ततः॥
नीलचोलकसंवीतां तप्तहेमसमप्रभाम्।
कान्तवक्त्रे न्यस्तनेत्रां चकोरी चपलेक्षणाम्॥
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां च निजप्रियमुखाम्बुजे।
अर्पयन्तीं पूगफलीं पर्णचूर्णसमन्विताम्॥
मुक्ताहारस्फुरच्चारु पीनोन्नतपयोधराम्।
क्षीणमध्यां पृथुश्रोणीं किङ्किणीजालमण्डिताम्॥
रत्नताटककेयूरमुद्रावलयधारिणीम्।
लसत्कटकमञ्जीररत्नपादाङ्गुलीयकाम्॥
लावण्यसारमुग्धाङ्गी सर्वावयवसुन्दरीम्।
आनन्दरससंमग्नां प्रसन्नां नवयौवनाम्॥
सख्यश्च तस्या विप्रेन्द्र तत्समानवयोगुणाः।
तत्सेवनपरा भाव्याश्चामरव्यजनादिभिः॥

निकुञ्ज-लीला का यह वर्णन बड़ी सुन्दरता के साथ रोचक शब्दों में किया गया है। यह वर्णन मध्ययुगीय वैष्णव कवियों के लिए आदर्श है। इसी के आधार पर कवियों का सरस रोचक वर्णन भाषा-कवियों के मधुर काव्यों में दृष्टिगोचर होता है।

(५) तन्त्र में राधातत्त्व

'वृहद्‌गौतमीय तन्त्र' में श्रीराधिका के वर्णन के अवसर पर उनका स्वरूप-विवेचन इस प्रकार है—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा ।।

देवी—श्रीकृष्ण की सेवारूपी क्रीडा की नित्य-निवासस्थली होने से या श्रीकृष्ण के नेत्रों को अनन्त आनन्द देनेवाली द्युति से समन्वित परमसुन्दरी होने के कारण ये 'देवी' हैं।

कृष्णमयी—श्रीकृष्ण ही राधा के रूप में प्रकट हैं; अथवा उनकी प्रेमरसमययी ह्लादिनी शक्ति होने के कारण ये श्रीकृष्ण से सर्वथा अभिन्न हैं, या जहाँ भी भीतर-वाहर उनकी दृष्टि पड़ती या मन जाता है, वहीं सर्वत्र उन्हें कृष्ण-ही-कृष्ण दीख पड़ते हैं। उनका भीतर तथा वाहर, अन्तः तथा वहिः, मन तथा इन्द्रियाँ सव ही सदा-सर्वदा श्रीकृष्ण का ही संस्पर्श प्राप्त करती हैं, इसलिए वे 'कृष्णमयी' हैं। इसी भाव की अभिव्यक्ति में सूर का यह प्रसिद्ध पद निर्दिष्ट किया जा सकता है— **जहँ देखों तहँ श्याममयी है।**

राधिका—आराधना करने के कारण ही वे इस नाम से पुकारी जाती हैं। प्रेमास्पद श्रीकृष्ण की सव प्रकार की इच्छा पूर्ण करने के रूप में ये नित्य ही तन-मन-वचन से श्रीकृष्ण की आराधना में अपने को नियुक्त करती हैं, इसलिए ये 'राधिका' हैं।

परदेवता—समस्त देव-ऋषि मुनियों के द्वारा पूजनीया, सवका पालन-पोषण करनेवाली तथा अनन्त कोटि व्रह्माण्डों की जननी होने के कारण ये 'परदेवता' हैं।

सर्वलक्ष्मीमयी—समस्त लक्ष्मियों की अधिष्ठान, आश्रय या आधाररूपा होने के कारण, भगवान् श्रीकृष्ण के छहों ऐश्वर्यों (ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य) की प्राणस्वरूपा या समस्त ऐश्वर्यों की मूलरूपा होने के कारण अथवा वैकुण्ठ की नारायणवक्षविलासिनी लक्ष्मीगण इन्हीं की वैभवविलास के अंशरूपा होने के कारण ये 'सर्वलक्ष्मीमयी' कहलाती हैं।

सर्वकान्ति—सम्पूर्ण शोभा-सौन्दर्य की खानि, समस्त लक्ष्मियों तथा शोभाधिष्ठात्री देवियों की मूल उद्‌भवरूपा अथवा नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की समस्त इच्छाओं की साक्षात् पूर्त्ति होने के कारण ये 'सर्वकान्ति' हैं।

सम्मोहिनी—भुवनमनमोहन, अनन्त मदनमोहन, स्वमनमोहन श्रीश्यामसुन्दर की भी मनमोहिनी होने के हेतु ये 'सम्मोहिनी' हैं। अपने अलौकिक दिव्यरूप की सम्पदा से व्रजकिशोर कृष्ण तो समस्त विश्व का, चराचर प्राणियों का, मोहन करते हैं तथा उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, परन्तु राधिकाजी उनका भी उस विश्वमदनमोहन का भी चित्त मुग्ध कर देती हैं। फलतः, उनका 'सम्मोहिनी' नाम नितान्त सार्थक है।

परा—श्रीकृष्ण ही परमतत्त्व के रूप में गृहीत होते हैं। परन्तु, ये उनकी भी परमा आराध्या हैं, परम प्रेयसी हैं तथा परा शक्तिरूपा हैं। फलतः, उन्हें 'परा' शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। इस 'परा' शक्ति की महिमा से ही शक्तिमान् होकर कृष्ण सम्पूर्ण दिव्य-मधुर लीलाओं को सम्पन्न करते रहते हैं। जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के गुणों की इयत्ता नहीं है, अवधि नहीं है, उसी प्रकार श्रीराधिका के भी गुणों की गणना नहीं, अवधि नहीं। दोनों ही अनन्त गुणों से सम्पन्न हैं।

नारद पञ्चरात्र वैष्णव सम्प्रदाय का एक नितान्त प्रख्यात ग्रन्थ है, जिसके समय का

निरूपण तो यथार्थतः नहीं किया गया है, परन्तु वह अर्वाचीन भी नहीं है। इसमें पञ्चरात्र के तत्त्वों का विवेचन किया गया है। 'राधा' के आविर्भाव तथा स्वरूप के विषय में इस तन्त्र का संक्षिप्त विवेचन निम्न लिखित पद्यों में किया गया है—

अपूर्वं राधिकाख्यानं गोपनीयं सुदुर्लभम्।
सद्यो मुक्तिप्रदं शुद्धं वेदसारं सुपुण्यदम्॥
यथा ब्रह्मस्वरूपश्च श्रीकृष्णः प्रकृतेः परः।
तथा ब्रह्मस्वरूपा च निर्लिप्ता प्रकृतेः परा॥
+ + +
आविर्भाव-तिरोभावस्तस्याः कालेन नारद।
न कृत्रिमा च सा नित्या सत्यरूपा यथा हरिः॥
प्राणाधिष्ठानदेवी या राधारूपा च सा मुने।
रसनाधिष्ठात्री देवी स्वयमेव सरस्वती॥
बुद्ध्यधिष्ठात्री च या देवी दुर्गा दुर्गतिनाशिनी।
अधुना या हिमगिरेः कन्या नाम्ना च पार्वती॥

—नारदपञ्चरात्र, ३।५०–५१; ३।५४–५६

भगवान् शंकर का वचन देवर्षि नारद से—श्रीराधा की कथा विलक्षण एवं नई, रहस्यमयी, अत्यन्त दुर्लभ, अविलम्ब मुक्ति देनेवाली, शुद्ध (पाप रहित), वेद की सार रूपा तथा बड़ी ही पुण्यदायिनी है।

जिस प्रकार श्रीकृष्ण साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं, अतएव प्रकृति से परे हैं, इसी प्रकार श्रीराधिकाजी भी हैं। ये ब्रह्मस्वरूपा हैं, माया के सम्बन्ध से रहित हैं एवं प्रकृति से परे हैं।

राधा का न तो जन्म होता है, न मृत्यु होती है। किन्तु, श्रीकृष्ण की इच्छा से ही समय-समय उनका आविर्भाव (प्राकट्य) तथा तिरोभाव होता है। वे कृत्रिम हैं, अर्थात् प्रकृति की कार्यरूपा नहीं हैं। हरि के समान ही वे सदा नित्य हैं तथा सत्यरूपा हैं।

हे मुनिवर्य, राधाजी श्रीकृष्ण के प्राणों की अधिष्ठात्री देवी हैं। वह उनकी जिह्वा की अधिष्ठात्री देवी स्वयमेव सरस्वती हैं।

वह बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी हैं। वह भक्तों की दुर्गति (विपत्ति) को दूर करनेवाली दुर्गा हैं। हिमालय की कन्या के रूप में अवतीर्ण होनेवाली पार्वती भी वही हैं।

इस वर्णन का तात्पर्य है कि राधा प्रकृति के साम्राज्य के बाहर की जीव हैं। वह सदा-सर्वदा नित्यरूपेण विराजमान हैं। वे श्रीकृष्ण की रसना तथा बुद्धि-तत्त्व की ही अधिष्ठात्री नहीं हैं, प्रत्युत उनके प्राणों का भी अधिष्ठान राधा की ही कृपा का फल है।

सम्मोहन-तन्त्र का यह प्रख्यात कथन वैष्णवी साधना का आधार-पीठ है, जिसमें श्री राधा के विना श्याम तेज की अर्चना करनेवाला व्यक्ति पातकी वतलाया गया है—

गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्पयेत्।
जपेद्वा ध्यायते वापि स भवेत् पातकी शिवे॥

फलतः, तन्त्रों में राधिका की प्रतिष्ठा पुराणों से न्यून नहीं है।

—:०:—
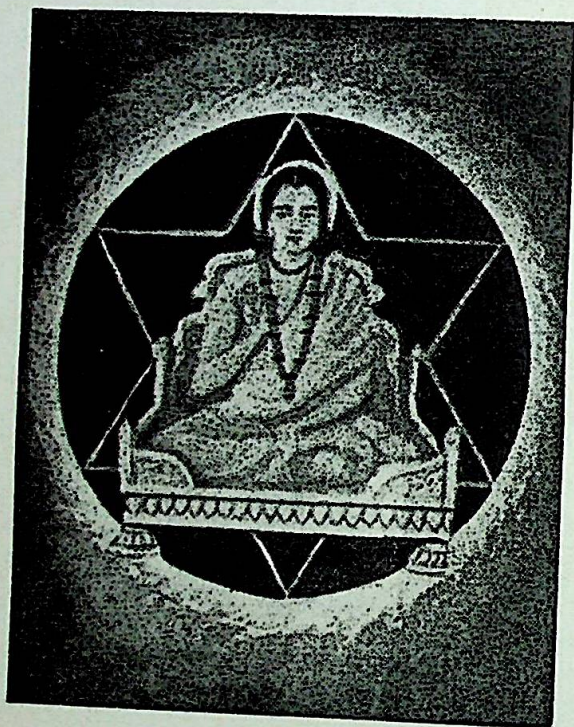
श्रीश्रीनिम्बार्काचार्य

द्वितीय परिच्छेद

निम्बार्क-मत में राधा-तत्त्व

भारतवर्ष के धार्मिक क्षेत्र में राधा का प्राकट्य एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। इतना तो निश्चित है कि मध्ययुगी कृष्णप्रेमाश्रयी शाखावाले वैष्णव-सम्प्रदायों में निम्बार्क-सम्प्रदाय प्राचीनतम है। राधा का प्रथम धार्मिक आविर्भाव इसी सम्प्रदाय में मानना उचित प्रतीत होता है। इस सम्प्रदाय के ऐतिहासिक प्रतिनिधि आचार्य निम्बादित्य या निम्बार्क हैं। सम्प्रदाय के इतिहास के अनुसार सनत्कुमार के योगविषयक प्रश्नों का उत्तर भगवान् ने 'हंस' का रूप धारण कर दिया था। ये ही हंसावतार भगवान् इसके आद्य प्रवर्त्तक हैं। हंस के साक्षात् शिष्य हैं सनत्कुमार, जिन्होंने इसका उपदेश महर्षि नारद को दिया और नारद ने इस तत्त्व का उपदेश आचार्य निम्बार्क को दिया। निम्बार्क के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। डॉ० रामकृष्ण भंडारकर ने गुरु-परम्परा की छानबीन करके निम्बार्क का आविर्भाव समय ११६२ ईस्वी के आसपास माना है। परन्तु गुरु, परम्परा बीच में छिन्न-भिन्न भी हुआ करती है। अतः, पीढ़ियों की ठीक-ठीक संख्या का पता नहीं चलता। दूसरी कठिनाई है पीढ़ियों की परस्पर दूरी का निर्णय। निम्बार्कानुयायी पण्डितों का कथन है कि हमारे आचार्य योगाभ्यासी होने के कारण विशेष दीर्घजीवी थे और उन्हें दो-तीन सौ वर्षों की आयु प्राप्त थी। वे आचार्य निम्बार्क

को वेदव्यास का समकालीन मानते हैं। इसका कारण यह है कि एकादशी के निर्णय के अवसर पर 'भविष्यपुराण' निम्बार्क को 'भगवान्' की आदरणीय उपाधि से मण्डित करता है[1]--

निम्बार्को भगवान् येषां वाञ्छितार्थफलप्रदः ।
उदयव्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे ।।

और यह भविष्यपुराण वेदव्यास की रचना होने से दोनों की समकालीनता सिद्ध मानी जाती है। परन्तु, पुराणों के विषय में इतने प्रक्षेप की सम्भावना दीखती है कि इस श्लोक की प्रामाणिकता के ऊपर आलोचकों को सद्यः विश्वास नहीं उत्पन्न होता। हमारी दृष्टि में यह सम्प्रदाय वैष्णव सम्प्रदायों में प्राचीनतम प्रतीत होता है। इस सम्प्रदाय के प्राचीन आचार्य अपने विशिष्ट दार्शनिक मत के मण्डन में ही संलग्न दीखते हैं; अन्य मतवालों से शास्त्रार्थ में विशेष रूप से नहीं उलझते। आचार्य निम्बार्क ने ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में (वेदान्तपारिजातसौरभ में) किसी के मत का खण्डन नहीं किया है, केवल अपने द्वैताद्वैत-सिद्धान्त का प्रतिपादन लघ्वक्षरों में किया है। यह प्रतिपादन-शैली ग्रन्थकार की प्राचीनता का सविशेष प्रमाण है। वृन्दावन का आश्रय कर पनपनेवाले कृष्णभक्तिपरक सम्प्रदायों में निम्बार्क-मत की प्राचीनता निःसन्देह अक्षुण्ण है।

इसी मत के द्वारा राधा का प्रथम प्राकट्य धार्मिक क्षेत्र में मानने में विशेष विप्रतिपत्ति दृष्टि-गोचर नहीं होती। आचार्य निम्बार्क ने अपने प्रख्यात स्तोत्र 'वेदान्तकामधेनु' (दशश्लोकी) में भगवान् श्रीकृष्ण के वाम अंग में विराजमान वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिका का स्मरण किया है—

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ।।

वृषभानु की आत्मजा, अर्थात् राधा भगवान् श्रीकृष्ण के वाम अंगमें विराजती हैं। वह समस्त कामनाओं और इच्छाओं को देनेवाली हैं। श्रीकृष्ण के अनुरूप ही उनका सौन्दर्य तथा सौभाग्य है तथा वह हजारों सखियों के द्वारा सदा सेवित हैं (वेदान्तकामधेनु श्लोक, ५)।

राधाकृष्ण की युगल मूर्त्ति की उपासना इस सम्प्रदाय को इष्ट है और इस उपासना की प्राचीनता बतलाते हुए निम्बार्क का कथन है कि सनत्कुमार ने इसी का उपदेश अखिलतत्त्वसाक्षी श्रीनारदजी को दिया था (वेदान्तकामधेनुश्लोक ६)। फलतः, इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण के साथ राधिका का साहचर्य सर्वतोभावेन मान्य है।

श्रीनिम्बार्क के शिष्यों में अन्यतम शिष्य श्रीऔदुम्बराचार्य ने अपने मान्य ग्रन्थ 'औदुम्बर संहिता' नामक ग्रन्थ में राधाकृष्ण के युगल तत्त्व का विवेचन विशेष रूप से किया है। उनका

---

१. द्रष्टव्यः श्रीसंकर्षणशरणदेव-रचित--वैष्णवधर्मसुरद्रुममंजरी, पृ० १२४–१३०। इस पद्य को कमलाकर भट्ट ने अपने 'निर्णयसिन्धु' में और भट्टोजिदीक्षित ने भी अपने तद्विषयक ग्रन्थ में भविष्यपुराणीय कहकर आदर के साथ उल्लिखित किया है।

कथन है कि राधाकृष्ण का यह युग्म सदा-सर्वदा विद्यमान रहता है। यह नित्य वृन्दावन में नित्य विहार करता है। यह जोड़ी सच्चिदानन्द रूप है और सामान्यतया अगम्य होने से विरले ही सुजन इस तत्त्व को जानते हैं। राधा और मुकुन्द दोनों समभावेन अवस्थित रहते हैं। दो दृष्टिगोचर होने पर भी वास्तव में दोनों एक रूप ही हैं। इनकी आकृतियाँ आपस में एक दूसरे-से नितान्त संपृक्त है। इस विषय में उदाहारण दिय गया है दो कल्लोलों का। जिस प्रकार सरिता के वक्षःस्थल पर प्रवाहित होनेवाले दो कल्लोल (लहर) अलग-अलग दीखते हैं, परन्तु दोनों मिलकर इस प्रकार एकरूप बन जाते हैं कि उनका विश्लेषण कथमपि नहीं किया जा सकता--

जयति सततमाद्यं राधिकाकृष्णयुग्मं
व्रतसुकृतनिदानं यत् सदैतिह्यमूलम् ।
विरलसुजनगम्यं सच्चिदानन्दरूपं
व्रजवलयविहारं नित्यवृन्दावनस्थम् ॥
कल्लोलकौ वस्तुत एकरूपकौ
राधामुकुन्दौ समभावभावितौ ।
यद्वत् सुसम्पृक्तनिजाकृतिध्रुवा--
वाराधयामो व्रजवासिनौ सदा ॥

औदुम्बराचार्य ने जितना वल राधाकृष्ण के नाम जप के ऊपर दिया है, उतना ही राधा की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराने पर भी आग्रह दिखलाया है। उनका यह कथन है कि कृष्ण के संग में हरिप्रिया राधा की भी अर्चा या प्रतिमा वनानी चाहिए; क्योंकि दोनों के 'साहित्य-पूजन' (एक संग अर्चन) के ही द्वारा साधक परम गति को प्राप्त होता है। सम्मोहन-तन्त्र के उस प्रख्यात वचन की ही यह प्रतिध्वनि है, जिसमें गौर तेज के साथ ही कृष्ण तेज की पूजा का विधान वतलाया गया है। इस पूजा में श्रीराधा तथा कृष्ण में किसी प्रकार की भेदभावना या न्यूनाधिक भावना कभी न करनी चाहिए। एक ही तत्त्व के युगल रूप होने से इस प्रकार की न्यूनाधिक भावना सर्वथा निषिद्ध तथा निन्दित हैं--

संसेवितं तत्र न भेदमाचरेत्
श्रीराधिकाकृष्णयुगार्चनव्रती ।
दोषाकरत्वाद्धि भिदानुवर्त्तिनाम्
सत्कर्मणामेवमभेद्यभेदिनाम् ॥

(औदुम्बरसंहिता, युग्माराधन व्रत)

विचारणीय प्रश्न यह है कि जब श्रीनिम्वार्काचार्य का ऐसा स्पष्ट वचन नहीं मिलता, जिसमें राधा श्रीकृष्ण का अंश या शक्ति कही गई हो अथवा उसके स्वकीया-परकीयाभाव कीचर्चा हो, तव उनकी मान्यता का रूप क्या था? इसका उत्तर यही है कि वे भी राधा को कृष्ण की शक्ति ही मानते थे; ऐसा अनुमान उनके ग्रन्थों के मर्म से लगाया जा सकता है। औदुम्बराचार्य उनके साक्षात् शिष्यों में अन्यतम थे और उन्होंने स्वयं लिखा है कि आचार्य निम्वार्क ने अनेक विधि-अनुष्ठानों से युक्त इस युगलव्रत का उपदेश उन्हें अपने ही आप दिया था, तो हमें सन्देह करने का स्थान

नहीं रह जाता कि यह उपासना निम्बार्क-सम्प्रदाय में मौलिक है तथा प्राचीन काल से प्रवर्त्तित होती चली आ रही है। औदुम्बराचार्य का कथन इस विषय में नितान्त प्रामाण्य रखता[1] है।

इस सम्प्रदाय के प्रख्यात आचार्य श्रीभट्टजी तथा उनके शिष्य हरिव्यासदेव ने अपने ग्रन्थों में राधा-तत्त्व का उन्मीलन अधिकता तथा विशदता के साथ किया है। श्रीभट्ट के समय के विषय में पर्याप्त मतभेद है। ये इस सम्प्रदाय में व्रजभाषा के आदि वाणीकार माने जाते हैं। इनका प्रख्यात ग्रन्थ 'जुगलशत' या 'जुगलसतक' अपने नाम से ही राधा को कृष्ण की सहचरी उद्घोषित कर रहा है। इस ग्रन्थ की रचना का काल भी अभी तक निःसन्देह रूप से निर्णीत नहीं हुआ। इस ग्रन्थ के एक हस्तलेख में इसका समय १६५२ सं० दिया गया है[2]; परन्तु कुछ लोग इस दोहे में पाठभेद मानकर इसका समय तीन सौ वर्ष पहले सं० १३५२ में मानते हैं, परन्तु अभी तक इसका निर्भ्रान्ति प्रमाण नहीं मिलता कि दोनों काल-निर्देशों में किसे यथार्थ माना जाय।

श्रीभट्टजी सम्प्रदाय में मान्य तथा प्रचलित युगल उपासना के प्रसिद्ध आराधक थे तथा अपने ग्रन्थ में इस तत्त्व के उन्मीलन की ओर भी इनका विपुल प्रयास है। एक नितान्त सुन्दर पद में इस तत्त्व का विवरण कमनीय उपमा के सहारे किया गया है—

दर्पन में प्रतिबिम्ब ज्यौं नैनजु नैननि माँहि
यों प्यारी पिय पलकहूँ न्यारे नहि दरसाँहि।
प्यारी तन स्याम, स्यामा तन प्यारौ
प्रतिबिम्बित तन अरसि परसि दोउ
एक पलक दिखियत नँहि न्यारौ।
ज्यों दर्पण में नैन, नैन में नैन सहित दर्पन दिखवारौं
श्रीभट जौंट की अति छवि ऊपर तन मन धन न्यौछावर डारौं॥

आशय है,—श्रीराधा और कृष्ण कथमपि अलग-अलग दृष्टिगोचर नहीं होते। श्रीराधा श्यामसुन्दर का विग्रह हैं, तो कृष्ण श्रीराधिका की ही मूर्त्ति हैं—दर्पण और उसके प्रतिविम्बं के समान। जैसे कोई पुरुष दर्पण में अपना मुख देखता है, तो उसे दर्पण में अपना मुखमण्डल दिखलाई पड़ता है। उस व्यक्ति का नेत्र दर्पण में प्रतिविम्वित होता है, और उसके नेत्र की कनीनिका में वह नेत्र-सहित दर्पण प्रतिविम्वित होकर दिखलाई पड़ता है। ठीक यही दशा है राधा और कृष्ण के प्रतिबिम्वित रूप की। यहाँ श्रीभट्ट ने लौकिक उदाहरण के द्वारा दोनों के परस्पर प्रतिविम्व के तथ्य को भली भाँति समझाया है।

---

१. प्रादात् प्रसिद्धं युगसेवनव्रतं
नानाव्यवस्थानविवेकसंयुतम्।
तदादिभूतं शरणं व्रजाम्यहं
निम्बार्कमात्मीयगुरुं सुदर्शनम्॥

२. नैन बान पुनि राग ससि, गिनौ अंक गति वाम।
जुगल सतक पूरनभयौ संवत अति अभिराम॥

यह दोहा हिन्दी-खोज-विवरण के १९२३ वाले विवरण में ग्रन्थ की एक प्रति में उल्लिखित मिलता है।

श्रीभट्ट देवजी के प्रधान शिष्य हरिव्यासदेवाचार्यजी ने अपने अद्भुत ग्रन्थ 'महावानी' में राधा के स्वरूप, लीला तथा विलास का बड़ा ही विशद वर्णन प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ का यह आदिम पद ही निम्बार्क-सिद्धान्त के अनुसार राधा-तत्त्व का विशद चित्रण करता है। राधाकृष्ण की जोड़ी सहज सुख से पूर्ण है। यह अत्यन्त अद्भुत है, जिसे कहीं न देखा गया और न सुना ही गया। यह किशोर तथा किशोरीजी सकल गुणों, कला-कौशलों से मण्ड़ित हैं। एक ही ज्योति दम्पति-रूप से दो रूप में है। अतः वस्तुतः दोनों एक ही हैं। यह युगल जोड़ी देखने में दो रूप दीखती है, परन्तु उनका शरीर एक है और मन भी एक है। इस प्रकार, राधाकृष्ण का युगल रूप नेत्रों के सामने दो शरीरवाला प्रतीत होता है, परन्तु वह दो भी एक है। इस प्रकार, इनकी दृष्टि में राधा का श्रीकृष्ण के साथ नित्य साहचर्य है—एक तन तथा एक मन; देखने में आपाततः दो, परन्तु वस्तुतः एक। युगल सरकार का यही रूप इस मत में स्वीकृत है—

> सहज सुख रंग की रुचिर जोरी।
> अतिहि अद्भुत, कहूँ नाहिं देखी-सुनी
> सकल गुन कला कौसल किसोरी ॥१॥
> एक ही द्वैजु द्वै एकहिं दिपहिं दिन
> कहिं साँचै निपुनई करि सुढोरी ॥२॥
> श्री 'हरिप्रिया' दरस हित दोय तन दर्संवत
> एक तन एक मन एक दो री ॥३॥

व्याकरण-आगम के अनुसार शब्द-ब्रह्म से ही सृष्टि होती है, परन्तु यह शब्द-ब्रह्म है क्या? श्रीराधाजी के चरण-कमलों में नूपुर से होनेवाला कलरव। यह बड़े ही उच्च कोटि का संकेत है। जिस शब्द-ब्रह्म से जगत् की सृष्टि होती है, वह भी स्वयं राधाजी के पैर के नूपुर का कलरव ही तो है। फलतः, राधा सृष्टि की अधिष्ठात्री देवी हैं और शब्द-ब्रह्म से नितान्त उच्चतम उदात्त तत्त्व हैं—

> श्री राधा पद कमल तैं, नूपुर कलरव होय।
> निर्विकार व्यापक भयौ, शब्द ब्रह्म कहि सोय॥

यहाँ भी राधा श्यामसुन्दर की आह्लादिनी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित की गई है। एक पद में कहा गया है कि श्यामसुन्दर आनन्द-स्वरूप हैं और राधा उस आनन्द का आह्लाद है। फलतः, दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है बीज-वृक्ष की भाँति। बीज के उदय का ही परिणाम है वृक्ष। अतः, दोनों आपस में मिले हुए एक रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। उसी प्रकार राधा-कृष्ण का सम्बन्ध अन्योन्याश्रय है। राधा के विना न कृष्ण की स्थिति है और न कृष्ण के विना राधा की तिष्ठा। फलतः, उनका नाम दो दीख पड़ता है, परन्तु वे दोनों एक ही स्वरूप हैं। फलतः युगलता भी एक नित्य वस्तु हैं—

> एक स्वरूप सदा द्वै नाम।
> आनंद के अहलादिनि स्यामा, अहलादिनि के आनंद स्याम।

सदा सर्वदा जुगल एक तन, एक जुगल तन विलसत धाम।
श्री 'हरिप्रिया' निरंतर नित प्रतिकामरूप अद्भुत अभिराम।
—महाबाणी, सिद्धान्तसुख २६।

महावाणी में बड़ी सुन्दरता से दिखलाया गया है कि अपार माधुर्य की मूर्त्ति, सर्वेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र ही एकमात्र परात्पर तत्त्व हैं। निराकार शुद्ध चैतन्य निर्गुण ब्रह्म तो इस नित्य विहारीजी के चिदंशमात्र हैं। वृन्दावन धाम में ये ही सर्वेश्वर अपनी आह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीराधारानी के संग नित्य विहार का सुख अनुभव करते हैं। शक्ति तथा शक्तिमान् के नित्य सम्बन्ध के समान युगल सरकार सदा एक साथ विहार करते हैं और आनन्द-सागर में निमग्न रहते हैं।

प्रसिद्ध स्वामी हरिदासजी के सखी-सम्प्रदाय में भी राधा की उत्कृष्टता तथा प्रधानता सर्वतो-भावेन विराजमान है। हरिदासजी संगीत-कला के महनीय आचार्य थे और तानसेन के गुरु थे। इनके उपास्य 'वाँकेविहारी' जी हैं, जिनका विशाल मन्दिर आज भी वृन्दावन में अपनी शोभा विस्तार कर रहा है। सखी-रूप से आराधना करने तथा उनका प्रेम सम्पादन करने के कारण ही यह 'सखी-सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। स्वामीजी ने अपने विश्रुत ग्रन्थ 'केलिमाला' में राधाकृष्ण की केलि तथा एकरूपता का वड़ा ही सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है—

प्यारी जैसी तेरी आँखिन में हौं अपनपौं
देखत, तैसे तुम देखति हौ किधौं नाहीं।
हौं तों सौं कहों प्यारे, आँखि मूँदि
रहौं, लाल निकसि कहाँ जाहीं।
मो कौं निकसिबे को ठौर बताऔ.
साँची कहौं, बलि जाऊँ, लागौ पाँहीं।
श्री हरिदास के स्वामी स्याम,
तुमहिं देखत चाहत और सुख लागत नाहीं।

यह राधाकृष्ण का परस्पर प्रेमालाप है। कृष्ण कहते हैं—प्यारी, मैं जैसी तेरी आँखों में अपने रूप को प्रतिष्ठित देखता हूँ, वैसी तुम देखती हो या नहीं? इस पर राधा कहती हैं—'प्यारे, मैं तुमसे सच कहती हूँ कि मैं अपनी आँखें इसीलिए तो वन्द कर लेती हूँ कि लाल कहीं निकलकर बाहर न चले जायें।' इस पर कृष्ण का पूछना है कि मुझे निकलने की जगह तो वताओ। मैं तुम्हारे पैरों पर गिरकर मिन्नत करता हूँ। श्रीहरिदासस्वामी इसी युगल रूप के उपासक थे और इसी-लिए कहते हैं कि तुम्हें देखते और चाहते दूसरा सुख अच्छा नहीं लगता।

राधिका श्रीकृष्ण की स्वकीया मानी जाती हैं। यह सम्प्रदाय राधिका के परकीया रूप से परिचय नहीं रखता। श्रीजयदेव ने 'गीतगोविन्द' में तथा निम्बार्कीय भाषा-कवियों ने राधा के अभिसार का वर्णन किया है। इस वर्णन से राधा का परकीया होना नहीं सूचित होता है। यह बाल्यकाल की नाना लीलाओं में एक है और राधा के स्वकीया होने पर कथमपि विरुद्ध नहीं माना जा सकता। राधिका कृष्ण की विवाहिता थीं। अवतार-लीला में राधा का जो विवाह ब्रह्म-

वैवर्त्तपुराण तथा गर्गसंहिता में वर्णित है; उसे यह सम्प्रदाय स्वीकार करता है। राधा के लिए 'कुमारिका' शब्द का प्रयोग अविवाहिता होने का सूचक नहीं है, केवल अवस्थासूचक है। भक्ति-शास्त्र में किशोर रूप के ध्यान का विधान है। इसलिए 'कुमारी' शब्द का प्रयोग किशोर अवस्था का सूचक है। निष्कर्ष यह है कि नित्य लीला में नित्य सम्बन्ध के सिद्ध होने पर विवाह की चर्चा ही नहीं उठती, परन्तु अवतार-लीला में राधिका की विवाह लीला ही शास्त्रसिद्ध है। पुराणों में 'छाया राधिका' की कथा अवश्य मिलती है जिसे लौकिक दृष्टि से परकीया कह सकते हैं। अतः, राधा के परकीया के अभासवाले स्थानों पर 'छाया राधा' की बात माननी चाहिए। निम्बार्क-सम्प्रदाय का राधा के स्वकीया-परकीया विषय में यही मान्य सिद्धांत है।
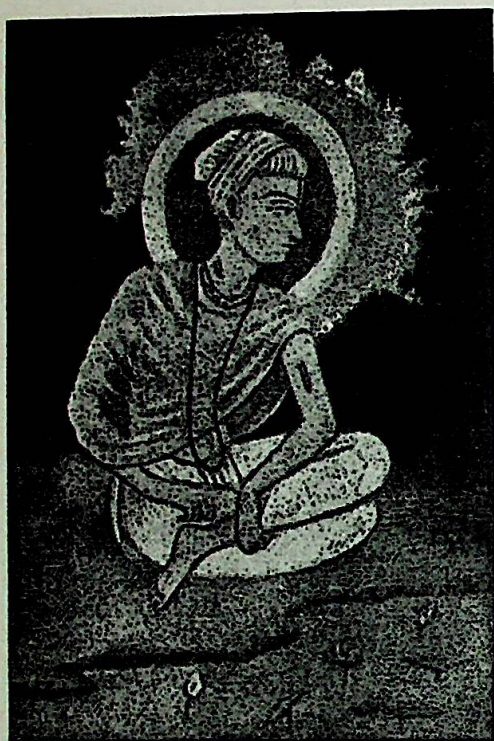
श्रीहितहरिवंशचन्द्र
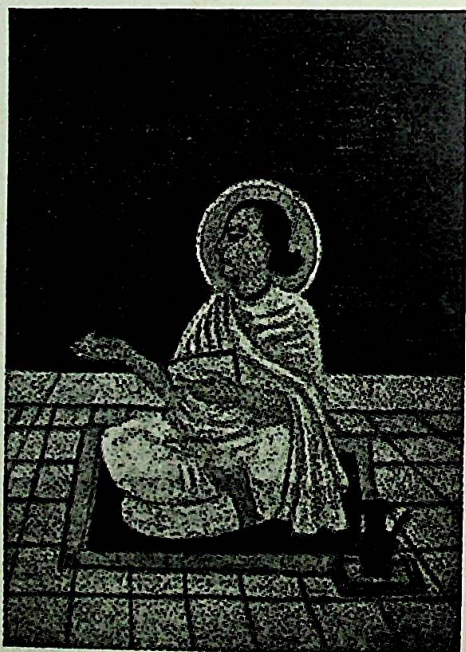
श्रीवल्लभाचार्य

तृतीय परिच्छेद

वल्लभमत में राधा-तत्त्व

कृपयति यदि राधा बाधिता-शेषबाधा ।
किमपरमवशिष्टं पुष्टिमर्यादयोर्मे ।
—गोस्वामी विट्ठलनाथ

वल्लभाचार्य के द्वारा प्रतिष्ठापित पुष्टिमार्गीय साधनों में पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के संग में स्वामिनीजी के नाम से राधाजी की आराधना की सुव्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। राधा-तत्त्व के विवरण में वल्लभाचार्य के सिद्धान्त अन्य वैष्णव मतों के एतद्विषयक सिद्धान्त से विशेष भिन्न नहीं हैं। पुराणों में व्याख्यात राधा-तत्त्व इस मत के लिए भी नितान्त प्रमाणभूत है। श्रीस्वामिनी राधाजी की पृथक्सत्ता का निर्देश लीला-परिकर के आलम्बनभूत होने के लिए शास्त्रों में किया गया है, वस्तुतः दोनों में पूर्ण अद्वैत-भावना का ही विलास सर्वथा नित्यरूपेण विद्योतित होता रहता है। धर्म-धर्मी की मूलभूत अभेद-भावना के कारण ये दोनों पृथक्-तत्त्व नहीं हैं; इन दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। जहाँ श्रीकृष्ण की सत्ता है, वहीं श्रीराधा की भी सत्ता विराजमान है; क्योंकि वे दोनों अभेद-भावना के द्वारा ही नित्य विद्योतमान रहते हैं। राधा शक्तिरूपिणी हैं तथा श्रीकृष्ण शक्तिमान् रूप हैं। पृथ्वी और गन्ध, जल और शैत्य, तेज और प्रकाश, आकाश तथा व्याप्ति के समान इनका संयोग स्वाभाविक हैं।

साम्प्रदायिक विद्वानों की मान्यता है कि 'स्वकीया तथा परकीया शब्द सापेक्ष और संकुचित अर्थ के द्योतक हैं। इनमें वह अन्तरंगता नहीं है, जो धर्म-धर्मीयुक्त आत्मा में है। इसलिए, पुष्टि-सम्प्रदाय में श्रीराधा को न तो स्वकीयात्वेन और न परकीयात्वेन निर्देश किया है। यहाँ तो वे सर्वत्र सच्चिदानन्द रसमय पुरुषोत्तम की मुख्य शक्ति स्वामिनी के रूप में आलेखित हुई हैं।'[1]

पुष्टि सम्प्रदाय में राधा-तत्त्व के प्रथम प्रतिपादन के विषय में विद्वानों में मतभेद-सा है। कुछ विद्वान् इस तत्त्व के प्रथम प्रतिपादन का श्रेय गोसाईं विट्ठलनाथजी को ही प्रदान करते हैं, जिनके अनेक ग्रन्थों में—दानलीलाष्टक, रससर्वस्व, श्रृंगार रस आदि लघु ग्रन्थों में तथा 'श्रृंगारमण्डन' आदि बृहद् ग्रन्थों में—इस तत्त्व का स्पष्ट तथा विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया उपलब्ध होता है। परन्तु, ऐतिहासिक तथ्य इसके विपरीत हैं। आचार्य वल्लभ इस राधा-तत्त्व से कथमपि अपरिचित नहीं ठहराये जा सकते। उनके अनेक स्तोत्रों में कृष्ण के साथ राधा का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। उन्होंने अपने 'पुरुषोत्तमनामसहस्र स्तोत्र' में श्रीकृष्ण का स्मरण 'राधाविशेष-सम्भोगप्राप्तदोषनिवारकः' के रूप में किया है, जिसमें राधा के विशिष्ट संभोग का स्पष्ट संकेत किया गया है। इस विशेषण के द्वारा 'राधावरुन्धनरतः' 'राधासर्वस्वसम्पुष्टः' 'राधिकारतिलम्पटः' आदि सरस विशेषणों के द्वारा 'श्रीकृष्णप्रेमामृत' स्तोत्र में आचार्य ने पुरुषोत्तम का अनेकशः स्मरण किया है तथा 'श्रीकृष्णाष्टक' में 'श्रीराधिकारमण', 'राधावरप्रियवरेण्यः', राधिकावल्लभः' आदि राधा-संयुक्त विशेषणों का प्रयोग देखकर भी कौन कहने का साहस करेगा कि वल्लभाचार्य राधा के स्वरूप से अपरिचित थे ? उन्होंने 'निरस्त साम्यातिशयेन राधसा स्वधामिनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः (भागवत २।४।१४) श्लोक की 'सुबोधिनी' में जिस तत्त्व का प्रतिपादन किया है, वह आचार्यचरण की राधा-तत्त्व से पूर्ण अवगति का विशद परिचायक है। इस श्लोक की सुबोधिनी स्पष्ट है—

काचिद् भगवतः सिद्धिरस्ति 'राधस्' शब्द वाच्या। न तादक् सिद्धिः क्वचिदन्यत्र, न वा ततोऽप्यधिका। तया सिद्ध्या भगवान् स्वगृहे एव रमते। तच्चाक्षरात्मकं ब्रह्म। रंस्यन्निति स्वनिष्ठमेव रसं तत्सम्बन्धादभिव्यक्तं करोतीति। एतावता स्वरूपव्यतिरेकेण नान्यत्र रंस्यतीति भगवदीयो रसस्तत्रैव प्राप्तव्यः। गृहं च तस्यैव। तत्साधनं च निरस्तसाम्यातिशया सिद्धिः। अतोऽन्येषां सर्वथा तत्प्राप्तिर्दुर्लभा गृहसेवकस्य तु सुलभेति॥

आशय यह है कि भगवान् की कोई सिद्धि है, जिसे 'राधस्' शब्द के द्वारा संकेतित करते हैं। वह सिद्धि साम्य तथा अतिशय इन दोनों भावों से विरहित होती है। उसके समान सिद्धि न कहीं अन्यत्र है, न उससे अधिक सिद्धि कहीं है। उसी सिद्धि से भगवान् अपने घर में रमण किया करते हैं। यह अक्षर ब्रह्म का संकेत है। मूल में 'रंस्यन्' शब्द का आशय यह है कि वह आत्मनिष्ठ ही रस को उसी सिद्धि के सम्बन्ध से प्रकट करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वह स्वरूप को छोड़ कर दूसरे स्थान पर रमण नहीं करेगा। फलतः, भगवदीय रस की प्राप्ति वहीं होती है। वह उसीका घर है। उसका साधन है—निरस्तसाम्यातिशया सिद्धिः। इसलिए, वह गृहसेवक के ही लिए सुलभ है। दूसरों के लिए उसकी प्राप्ति नितान्त दुर्लभ है।

---

१. द्रष्टव्य, श्रीकण्ठमणि शास्त्री का लेख—'श्रीराधा-गुणगान' ग्रन्थ में पृ० ८१ (गोरखपुर, सं० २०१७)।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भगवान् स्वीय 'राधस्' शक्ति से संवेष्टित होकर स्वरूपानन्द में स्वयं विहार किया करते हैं। यही है श्रीस्वामिनीजी का दिव्य अलौकिक रूप। 'राधस्' शब्द 'राधा' का ही प्रतीक है—ऐसा अभिप्राय आचार्यचरणों का यहाँ स्पष्ट ही सूचित हो रहा है। इन तथ्यों के प्रामाण्य पर आचार्य वल्लभ शक्तिरूपिणी राधा के स्वरूप से पूर्णतः परिचित प्रतीत होते हैं; इसमें सन्देह करने की कहीं गुंजाइश नहीं है।

व्रजगोपियों के भेद

श्रीवल्लभाचार्यजी ने अपनी सुबोधिनी में व्रजगोपियों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—(१) अन्यपूर्वा, (२) अनन्यपूर्वा तथा (३) सामान्या। **अन्यपूर्वा** गोपियाँ वे थीं, जिनका विवाह तो हो चुका था, परन्तु जिनकी आसक्ति श्रीकृष्णचन्द्र में ही केवल थी। इन्होंने अपने विवाहित पतियों को छोड़कर 'जार' भाव से श्रीकृष्ण के साथ प्रेम किया था। **अनन्यपूर्वा** गोपियों में दो प्रकार बतलाया गया है। एक तो थीं कुमारियाँ, जिन्हें कृष्ण के साथ विवाह करने की साध सर्वदा बनी रही, जिसके लिए वे तप-व्रत आदि की उपासना भी किया करती थीं, परन्तु जो जीवन-भर कुमारिकाएँ ही बनी रहीं। दूसरे प्रकार की गोपियों ने कृष्ण के साथ विवाह कियाथा। इसलिए वे 'ऊढा' की संज्ञा धारण करती हैं। अनन्यपूर्वा के दोनों प्रकार की गोपियों ने श्रीकृष्ण को पति-रूप में वरण किया था। इसलिए, वे 'स्वकीया' की कोटि में आती हैं। आरम्भ में ये कुलमर्यादा का पालन करनेवाली थीं, परन्तु प्रेम के उत्कृष्ट कोटि में पहुँच जाने पर इन लोगों ने भी सामान्य मर्यादा का परित्याग कर दिया था। **सामान्या** गोपियों से तात्पर्य उन व्रज-गोपियों से हैं, जो यशोदाजी के समान कृष्ण के प्रति मातृ-भावना धारण करती थीं और जो उन्हें पुत्रभाव से लालन-पालन करने में ही आसक्त थीं। इनमें रास की अधिकारिणी-रूप से प्रथम दोनों श्रेणियों की ही गोपियाँ आती हैं। प्रथम भाव (जार-भाव से कृष्ण की उपासना) भक्ति का उच्चतम सोपान माना गया है। द्वितीयभाव (मर्यादा-भक्ति से कृष्ण की उपासना) उच्चतर सोपान है तथा तृतीय भाव (मातृ-भाव से कृष्ण का चिन्तन, अर्थात् वात्सल्य-रति) भक्ति का उच्च सोपान माना जाता है। यह तीसरा आरंभिक भाव है, जहाँ से साधक पुष्टि-भक्ति की प्राप्ति के लिए अग्रसर होता है। और यही कारण है कि पुष्टिमार्गीय मन्दिरों में बालकृष्ण की सेवा-अर्चा पर इतना आग्रह दिखलाया जाता है।

स्त्रीभाव की भक्ति द्वारा भगवान् के भजन को आचार्य वल्लभ तामस भक्त के लक्षण के अन्तर्गत मानते हैं। भोग तथा ज्ञान के, तर्क तथा विवेक के, साधन का जिन भक्तों में सर्वथा अभाव है और जो केवल प्रेम द्वारा ही भगवत्तत्त्व की उपलब्धि के लिए अग्रसर होते हैं, वे निः-साधन माने जाते हैं और ऐसे भक्तों के लिए स्त्रीभाव से उपासना मंगलमयी मानी गई है। आचार्य जी के शब्द हैं—

स्त्रिय एव हि तं पातुं शक्तास्तासु ततः पुमान् ।
अतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमेऽहर्निशम् ॥ —सुबोधिनी

रास में स्थान पानेवाली गोपियों को वल्लभाचार्य ने तीन कोटियों में विभक्त किया है, जो अवान्तर कोटियों में विभक्त होकर १९ प्रकार की सिद्ध की गई हैं। प्रथम दो कोटि तो वही उपरि-वर्णित कोटियाँ ही हैं—अन्यपूर्वा तथा अनन्यपूर्वा (ऊढा तथा कुमारिका)। तृतीय कोटि की

संज्ञा है निर्गुणा, अर्थात् गुणातीता। इनमें से निर्गुणा गोपी एक ही प्रकार की होती है, परन्तु प्रथम दोनों नौ-नौ प्रकार की होती हैं। तामस,राजस तथा सात्त्विक भेदसे दोनों तीन-तीन प्रकार की होती हैं और इनके परस्पर मिश्रण से (३×३=९) नौ-नौ भेद दोनों के हो जाते हैं। इस प्रकार, १९ प्रकार की गोपियों ने रास में भाग लिया था और इसका संकेत मिलता है भागवत के गोपी-गीत से जिसके १९ श्लोकों में प्रत्येक प्रकार की गोपी का मनोभाव अपनी विचित्र भावभंगी में अंकित है। इसीके आधार पर वल्लभाचार्यजी ने उक्त प्रकार का विभाजन कर अपनी सूक्ष्म अन्तरंगता का परिचय दिया है।

विट्ठलनाथ और राधा-तत्त्व

गोस्वामी विट्ठलनाथजी के ग्रन्थों में यह राधा-तत्त्व विशेष रूप से परिस्फुट तथा विशदतया व्याख्यात है। उनके साहित्य में भगवदाराध्य इस रहस्य का अधिक मंजुल दर्शन हमें प्राप्त होता है। गोस्वामीजी ने अपने तीन स्तोत्रों में अत्यन्त विशद रूप से श्रीकृष्ण-प्रेयसी राधिका के चरणकमलों में अपने जीवन को समर्पित करने का वर्णन किया है। चतुः श्लोकी राधा-प्रार्थना में वे अपने मनोरथ की सिद्धि का प्रकार बड़ी सुन्दरता से दिखलाया है। वे कहते हैं—भगवान् के साथ सम्मेलन होने में उपस्थित होनेवाली विघ्न-बाधाओं को दूर कर यदि स्वामिनी राधाजी इस जीव को कृपामृत की वर्षा से अभिषिक्त कर देती हैं,तो फिर पुष्टिमार्ग और मर्यादा-मार्ग में ऐसा कौन-सा कर्त्तव्य शेष रह जाता है ? जिसे विना किये प्रत्यवाय लगता हो। साधक के जीवन की चरम अभिलाषा है श्रीराधाजी की कृपा का पात्र बनना। यदि वे अपनी शुभ्र दन्तावली के किरणों द्वारा मन्दस्मितपूर्वक अनुपम शोभा बिखेरती हुई दो चार मधुर वचन बोल दें, तो इससे बढ़कर साधक का भाग्य ही क्या हो सकता है ? इन मधुर वचनों के सामने मुक्ति-रूपी शुक्ति (सीपी) का मूल्य ही क्या हो सकता है ? मुक्ति तो एक तिरस्करणीय वस्तु है, जिसकी प्राप्ति के लिए साधक कभी लालायित नहीं रहता। फलतः, भक्त के लिए राधा का कृपाभाजन बनना तथा उनके मुख से निःसृत कतिपय मधुमय वचनों का श्रवण ही भाग्य की पराकाष्ठा है। वह उन वचनों के ऊपर मोक्ष को भी लुटाने के लिए तैयार रहता है—

> कृपयति यदि राधा बाधिताशेषबाधा
> किमपरमवशिष्टं पुष्टिमर्यादयोर्मे।
> यदि वदति च किञ्चित् स्मेरहंसोदितश्री-
> द्विजवरमणिपङ्क्त्या मुक्तिशुक्त्या तदा किम् ?

इतना ही नहीं गोस्वामीजी की दृष्टि में पुष्टिमार्ग में श्रीस्वामिनीजी का स्थान इतना उदात्त तथा उन्नत है कि वे अपने भौतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं का अवसान श्रीराधाजी के विविध कार्यों के द्वारा ही सम्पन्न होना बतलाते हैं। जीवन के निर्वाह के लिए जिस अन्न-जल की आवश्यकता होती है तथा साधन की पवित्रता के लिए जिस स्नान, जप-जाप तथा सन्ध्या-वन्दन की आवश्यकता है, उन सबका समाधान तथा पूरण श्रीराधिकाजी के विविध कृत्यों के द्वारा ही सम्पन्न हो जाता है, ऐसा गोसाईंजी का साग्रह कथन है। वे कहते हैं कि मुझे स्नान के लिए किसी जल की आवश्यकता नहीं है। हे राधे ! अपने प्रियतम व्रजेन्द्रनन्दन के नेत्रों से कटाक्ष-रूपी बाणों की वर्षा होने पर तुम्हारे होठों से जो मधुर हास्य की उज्ज्वल धारा फूट निकलती है

एवं तुम्हारे नेत्रों से जो आँसुओं का प्रवाह छूट पड़ता है, उसीमें मैं सदा गोता लगाता रहूँ, स्नान किया करूँ, साधारण जल की जरूरत ही क्या ?

श्रीराधे प्रियतमदृक्पातनसञ्जातहास-दृक्सलिलैः ।
भवदीयैः स्नानं मे भूयात् सततं न पाथोभिः ॥

मेरा अन्नपान भी आप पर ही अवलम्बित है। जब-जब मुझे भूख लगे, तुम्हारे मुँह से उगले हुए पान के बीड़े का ही मैं भोजन कर लिया करूँ; अन्य किसी आहार की मुझे आवश्यकता न पड़े। जब-जब मुझे प्यास लगे, आपकी करुणाव्यंजक मधुर मुस्कान तथा चितवन-रूपी अमृत का पान करके ही मैं अघा जाऊँ—साधारण पानी की आवश्यकता ही न पड़े।[1] इसी प्रकार, अत्यन्त दीन-भाव से तीनों समय आपके चरणों में प्रणाम ही मेरी त्रिकालसन्ध्या हो। विरह-जनित ताप एवं क्लेश में गहरे डूबकर आपके नामों का जोर-जोर से उच्चारण ही जप हो।[2] डूबते हुए सूर्य-रूपी प्रचण्ड अग्नि में दिन-भर के वियोग-जनित दुःख का मैं हवन किया करूँ और तुम्हारे पूछने पर प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर की बात कहना ही मेरे लिए ब्रह्मयज्ञ—वेदों का स्वाध्याय हो।[3] प्रियतम के समागम होने पर आपके मन में जो महान् उल्लास का आविर्भाव होता है, उसके देखने से ही मेरे मन की साध पूरी हो जाती है—मैं कृतार्थ हो जाता हूँ। उस समय मेरे सम्पूर्ण इन्द्रियों की जो तृप्ति हो, वही मेरे लिए तर्पण हो।[4] इस प्रकार, मेरी जीवन-यात्रा चलती रहे और एक क्षण के लिए भी तुम्हारे चरणों से अलग होते ही मेरी मृत्यु हो जाय। इस प्रकार श्री राधाजी, आप ही मेरे लिए तथा मेरे जीवन के लिए शरण बनिए—

इत्थं जीवनमस्तु क्षणमपि भवदङ्घ्रिविप्रयोगे तु ।
मरणं भवतादेवंभावे शरणं त्वमेव मे भूयाः ॥

इस दिव्य प्रार्थना के अनुशीलन से पुष्टिमार्ग में राधा की नितान्त उदात्त भावना का परिचय स्पष्ट ही मिलता है। इसी प्रकार की भक्तिभावना का परिचय हमें गुसाईं जी के **'श्रीस्वामिन्यष्टक'** नामक एक दूसरे स्तोत्र से भी मिलता है। उनका यह कथन राधा के प्रति उनकी उदात्त प्रेम-भावना का सुदृढ परिचायक है। उनकी उक्ति है—

रहस्यं श्रीराधेत्यखिलनिगमानामिव धनं
निगूढं मद्वाणी जपतु सततं जातु न परम् ।
प्रदोषे दृङ्मोषे पुलिनगमनायातिमधुरं
चलत्तस्याश्चञ्चत् चरणयुगमास्तां मनसि मे ॥

---

१. भूयान्मेऽभ्यवहारस्तावकताम्बूलचर्वणेनैव ।
पानं करुणाकूतस्मितावलोकामृतेनैव ॥

२. त्रिषवणमिह भवदङ्घ्रिप्रणतिः सन्ध्या प्रकृष्टदैन्येन ।
जपस्तु तापक्लेशैर्विगाढभावेन कीर्त्तनं नाम्नाम् ॥

३. अस्तं गच्छत् सूर्याशुशुक्षणौ दिवसदुःखहोमोऽस्तु ।
त्वत्पृष्टप्रियवार्त्ता कथनं मे ब्रह्मयज्ञोऽस्तु ॥

४. भवतीनां प्रियसङ्गमसञ्जातमनोमहोत्सवेक्षणतः ।
तर्पणमिह सर्वेन्द्रियतृप्तिर्भवतात् मनोरथाप्ता मे ॥

"श्रीराधा'—यह नाम समस्त वेदों का मानों छिपा हुआ धन है। मेरी वाणी इसी मन्त्र को चुपचाप जपती रहे, किसी दूसरे को वह नहीं जपे। जब प्रदोष में अन्धकार दृष्टि को चुरा लेता है, तब यमुना के पुलिन की ओर जाने के लिए उद्यत श्रीराधाजी के चरण-युगल मेरे मानस में निवास करें।" इतने स्पष्ट शब्दों में अपनी अभिलाषा प्रकट करके वे मौन नहीं हो जाते, प्रत्युत इस स्तोत्र के अन्तिम पद्य में वह राधाजी के चरण-कमल की सेवा के आगे उस आनन्दमयी मुक्ति की भी अवहेलना करते हैं, जिसके लिए योगी-यति कठिन तपस्या करने का क्लेश उठाते हैं। विट्ठलनाथ की यह उक्ति बड़ी मार्मिक तथा हृदयावर्जिका है—

न मे भूयान् मोक्षो न नरमराधीशसदनं
न योगो न ज्ञानं न विषयसुखं दुःखकदनम्।
त्वदुच्छिष्टं भोज्यं, तव पदजलं पेयमपि तद्
रजो मूर्ध्नि स्वामिन्यनुसवनमस्तु प्रतिभवम् ॥

न मुझे मोक्ष की कामना है, न स्वर्गनगरी के वास की; योग, ज्ञान तथा विषय सुख को मैं तिलांजलि देता हूँ। तो आपको चाहिए क्या ? मेरा भोजन हो श्रीराधा का जूठा भोजन (प्रसाद), मेरा पेय हो राधा का चरणामृत; राधाके पदतल की धूलि मेरे उत्तमांग की शोभा बढ़ावे; हे स्वामिनीजी, प्रत्येक जन्म में मुझे आपके पाने की कामना है।

'श्रीस्वामिनीस्तोत्र' नामक एक अन्य स्तोत्र में गोस्वामीजी श्रीव्रजनन्दन तथा कीर्त्तिजा-किशोरी की निकुंज-सेवा में दासी-भाव से उपस्थित होनें और तत्कालोचित यत्किञ्चित् सेवा प्रदान करने के लिए विनम्र प्रार्थना उपस्थित करते हैं—

गेहे निकुञ्जं निशि सङ्गतायाः
प्रियेण तल्पे विनिवेशितायाः।
स्वकेशवृन्दैस्तव पादपङ्कजं
सम्मार्जयिष्यामि मुदा कदापि ॥

यहाँ मनोरथ-साफल्य की पराकाष्ठा का चित्र खींचा गया है। चरण पंकज में रज का संसर्ग होना स्वाभाविक है। कमल में धूलि का सान्निध्य नैसर्गिक ही होता है। उस रज को मैं अपने केश-पुंजों से झाड़कर साफ कर दूँ, यही उनके मनोरथ की चरम सीमा है।

इन प्रमाणों पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि पुष्टिमार्गीय भक्ति में युगल सेवा का तत्त्व एक नितांत आवश्यक साधन है। इस सम्प्रदाय में विट्ठलेश्वर के समय में राधावाद का प्रचार मानना ऐतिहासिक रीतिसे उतना समीचीन नहीं प्रतीत होता; वल्लभाचार्य को कृष्ण-प्रेयसी के रूप में राधा मूलतः परिचित थी, इसका संकेत ऊपर किया गया है। युगल उपासना का प्रचार इस सम्प्रदाय में कहाँ से आया ? इसका याथातथ्य उत्तर देना विशेष कठिन है। वल्लभाचार्य चैतन्य महाप्रभु के समसामयिक थे। एक ही समय इन दोनों दिव्य विभूतियों ने अपने मत का प्रचार किया। १५७५ सं० के आसपास इन्होंने पुरी की यात्रा की थी। वहीं इनकी भेंट चैतन्य महाप्रभु के साथ हुई थी; ऐसा वल्लभदिग्विजय में बहुशः वर्णित है। चैतन्य-मत में राधावाद एक अन्तरंग मौलिक तत्त्व है। इसलिए, कतिपय विद्वानों का यह संकेत या अनुमान है कि चैतन्य के प्रभाव का ही यह अभिव्यक्त फल था; परन्तु यह केवल अन्दाजा ही है, कोई तर्क-प्रतिष्ठित तथ्य

नहीं। युगल-उपासना, उपासना-जगत् का एक सर्वमान्य अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त है, जिसका अनुगमन प्रायः प्रत्येक वैष्णव समाज ने किया है। इस उपासना के प्रचार के लिए एक सम्प्रदाय का दूसरे सम्प्रदाय के ऊपर प्रभाव बतलाना भी उतना समीचीन नहीं प्रतीत होता। चैतन्य-मत में राधा परकीया रूप में ही बहुशः अंगीकृत की गई है, परन्तु पुष्टिमार्ग में वह परम स्वकीया है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। पुष्टि-मार्ग की सेवा-भावना में युगल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। अलौकिक शृंगार रस के संयोग-वियोगात्मक दोनों विभेदों का ऐक्य तथा परमानन्द रस का पूर्ण परिपाक ही श्रीराधाकृष्णतत्त्व है, जिसमें लीला-भावना के अतिरिक्त अन्य कोई स्वरूपात्मक भेद नहीं है। दोनों एकरस हैं, एकस्वरूप हैं, और एकात्मा है। यही तथ्य इन दोनों आचार्यों के ग्रन्थों के अनुशीलन से उन्मीलित होता है।

पुष्टिमार्ग के एक प्रख्यात आचार्य हरिराय ने कृष्ण के चिन्तन के लिए राधा के चिन्तन को माध्यम बतलाया है। उन्होंने अपने **'श्रीमत्प्रभोश्चिन्तनप्रकारः'** नामक ग्रन्थ में राधा के कमनीय रूप का जो चित्रण किया है वह नितान्त श्लाघनीय है श्री स्वामिनीजी जगत् में सबसे अधिक श्रीकृष्णपरायण हैं; उनका प्रत्येक क्षण श्रीकृष्ण के चिन्तन, ध्यान तथा अनुसन्धान में ही बीतता है। कृष्ण के विरह में कभी वह सन्तप्त हो उठती हैं, तो कभी उनके साक्षात्कार से आह्लाद की सरिता में बहने लगती हैं। इस प्रकार, श्री स्वामिनीजी के चिन्तन द्वारा ही भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन किया जा सकता है; क्योंकि वे श्रीस्वामिनीजी के हृदय-सरोज में सर्वदा विराजमान रहते हैं। हरिरायजी ने पुष्टिमार्गीय वैष्णवों से आग्रह किया है कि वे प्रथमतः राधा के ही चिन्तन में अपने को आसक्त करें; तभी उनके कृष्ण-साक्षात्काररूप मनोरथ की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं। इस मान्यता से राधा का पुष्टिमार्गीय साधना में समधिक महत्त्व का अनुमान भली भाँति लगाया जा सकता है।

अष्टछाप के कवियों ने अपने काव्यों में शुद्धाद्वैत मत की दार्शनिक मान्यता को बड़े सरस शब्दों में अभिव्यक्त किया है। इन्होंने युगल सेवा के अनेक सरस पदों में राधाकृष्ण के अनुपम मिलन तथा विहार का विवरण प्रस्तुत किया है। पूर्वोक्त आचार्यों के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त ही इनके काव्यों के रसमय कलेवर में विराजमान है। एक बात ध्यान देने योग्य है। ये आठों सुप्रसिद्ध कवि अष्टसखी तथा अष्टसखा उभय रूप में सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित किये गये हैं। तथ्य यह है कि मधुर भाव से भक्ति करनेवाले साधक सखी-रूप होते हैं तथा सख्यभाव से भक्ति करनेवाले भक्त सखा-रूप होते हैं। श्रीकृष्ण के परिचारक-वर्ग में आठ ही मुख्य सखा थे। कृष्ण, तोक, अर्जुन, ऋषभ, सुबल, श्रीदामा, विशाल तथा भोज। मुख्य सखियाँ आठ हैं—चम्पकलता, चन्द्रभागा, विशाला, ललिता, पद्मा, भामा, विमला तथा चन्द्ररेखा। अष्टछाप के ये कवि श्रीकृष्ण के गोचारण आदि लीला में सखा-रूप हैं तथा शृंगारिक कुञ्जलीला में ये सखी-रूप हैं।[1] इन कवियों के कतिपय पदों को देखिए, जिनमें राधा के स्वरूप का तथा युगल लीला का वर्णन उपलब्ध होता है।

---

१. देखिए डा० दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, पृ० ५०९ (प्रकाशक, साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग)।

अष्टछाप की दृष्टि में राधा—

राधा के विषय में सूरदास का कथन है कि राधा प्रकृति है तथा कृष्ण पुरुष हैं। दोनों को एक ही मानना चाहिए। उनमें जो भेद बतलाया गया है, वह शब्दों का भेद है, वास्तव नहीं—

ब्रजहि बसे आपहु बिसरायो
प्रकृति पुरुष एकै करि जानो, बातनि भेद करायो
जलथल जहाँ रहों तुम बिन नहिं भेद उपनिषद गायो
द्वै तनु जीव एक हम तुम दोऊ सुख कारन उपजायो
ब्रह्मरूप द्वितीया नहिं कोई तब मन त्रिया जनायो
'सूर' श्यामसुख देखि अलप हँसि आनंद पुंज बढ़ायो ॥

—सूरसागर, दशमस्कन्ध

एक दूसरे पद में सूरदास ने राधा-तत्त्व का विवेचन करते हुए लिखा है—राधा जगत् के नायक जगदीश की प्यारी हैं तथा जगज्जननी हैं। गोपाललाल के साथ उनका विहार वृन्दावन में नित्य ही चलता रहता है—अविरत गति से, जो कभी अन्त को नहीं पाती। श्रीराधा अशरण को शरण देनेवाली हैं, भक्तों की रक्षिका हैं तथा मंगल देनेवाली हैं। रसना एक है, सौ नहीं हैं कि श्रीराधाकी शतकोटिक अपार शोभा का यथावत् वर्णन किया जा सके। राधा के माध्यम से श्रीकृष्ण की भक्ति सुलभ है। इसलिए, सूरदास उसके लिए निरन्तर प्रार्थना करते हैं—

जग नायक जगदीश पियारी जगत जननि जगरानी
नित बिहार गोपाल लाल संग वृन्दावन रजधानी।
अगतिन को गति, भक्तन को पति श्रीराधापद मंगलदानी
अशरणशरनी, भवभयहरनी वेदपुराण बखानी।
रसना एक, नहीं शत कोटिक शोभा अमित अपारी
कृष्ण भक्ति दीजै श्रीराधे 'सूरदास' बलिहारी ॥

—सूरसागर, दशमस्कन्ध

अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी इसी प्रकार के रम्य उद्गार श्रीराधा के विषय में अपने काव्यों में प्रकट किये हैं। परमानन्ददासजी ने अपने एक पद में श्रीराधिका के चरणों की स्तुति की है कि वे कृष्ण-विरह को पार जाने के लिए नौका-रूप हैं। इसलिए, वह रसिक लाल श्रीकृष्ण के मन में मोद उत्पन्न करनेवाली हैं। उन्हीं का आश्रय लेकर साधक व्रजनन्दन के मंगलमय सान्निध्य का उत्कृष्ट लाभ उठा सकता है :—

धनि यह राधिका के चरण।
हैं सुभग शीतल अति सुकोमल कमल कैसे बरन ॥
रसिकलाल मनमोदकारी विरह सागर तरन।
विवश 'परमानन्द' छिन छिन श्यामजी के शरन ॥

पुष्टिमार्ग में युगल सरकार की राधा तथा कृष्ण की उपासना पर विशेष आग्रह है। इसलिए, हम अष्टछाप के कवियों के काव्यों में युगल-विहार का वर्णन बड़े ही कमनीय शब्दों में, अलंकृत भाषा में रुचिर रूप से पाते हैं। उनके अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि यह तत्त्व वल्लभ-मत का एक

अन्तरंग साधना-तत्त्व था, जिसकी उपेक्षा कोई भी पुष्टिमार्गीय कवि कथमपि नहीं कर सकता था। राधा और कृष्ण की जोड़ी के ऊपर 'कृष्णदासजी' की यह सरस उक्ति देखिए—

देखौ माई, मानों कसौटी कसी
कनक बेलि वृषभानुनन्दिनी गिरिधर उर जु बसी।
मानों श्याम तमाल कलेवर सुन्दर अंग मालती घुसी
चंचलता तजि कै सौदामिनि जलधर अंग वसी।
तेरौ वदन सुढार सुधानिधि विधि कीनै भाँति ग्रसी
कृष्णदास सुमेरु सिंधु तैं सुरसरि धरनि धँसी॥

पुष्टिमार्ग में 'राधा' परम स्वकीया हैं, इसीलिए सूरदास ने रास में श्रीराधाजी का विवाह कृष्णजी के साथ विधिवत् करा दिया है, जिसमें किसी प्रकार की विरुद्ध टीका-टिप्पणी के लिए तनिक भी अवकाश न रह जाय। उनका कथन है कि श्रीकृष्ण को पति बनाने की भव्य भावना की सिद्धि के निमित्त ही गोपियों ने कात्यायनी का व्रत किया था और रास के रूप में उसी व्रत की सिद्धि सर्वथा लक्षित होती है। फलतः, राधा के स्वकीयात्व में यहाँ किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

गोपियों के विषय में इन कवियों के मन्तव्यों से परिचित होने के बाद राधा के उदात्त चरित्र का परिचय हमें स्वतः हो जाता है। परमानन्ददास की दृष्टि में गोपियाँ प्रेम की ध्वजा हैं। उनके प्रेम की प्रशंसा किन शब्दों में की जाय? जिन्होंने अपनी छाती पर श्यामसुन्दर की भुजा रख कर (अर्थात् उनका आलिंगन कर) जगदीश को वश में कर लिया। यद्यपि वे उच्च वर्ण में उत्पन्न नहीं हुई थीं, तथापि वे ब्राह्मणों से भी बढ़कर मानी जाती हैं। भगवान् के सम्मुख जाना ही पावनता की कसौटी है और इस कसौटी पर कसने से वे खरी उतरी थीं—

गोपी प्रेम की ध्वजा
जिन जगदीश किये वश अपने उर धरि स्याम भुजा।
सिव विरंचि प्रसंसा कीनी, ऊधो सन्त सराहीं
धन्य भाग गोकुल की वनिता अति पुनीत मुख माहीं।
कहा विप्र घर जन्महि पाये हरिसेवा विधि नाहीं
ते ही पुनीत दास परमानन्द जे हरि सम्मुख जाहीं[1]॥

नन्ददासजी भी इसी प्रकार गोपियों को निर्मत्सर सन्तों में चूडामणि मानते हैं। इन्होंने कृष्ण की आराधना विशुद्ध हृदय से की थी और यही कारण है कि इन्हें कृष्ण के अधर-सुधारस के पान करने का अधिकार और अवसर पूर्णरूप से मिला था।[2] उनका रूप ही पञ्चभूतों से निर्मित

---

१. **'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' में उद्धृत, पृ० ५१३।**

२. **धन्य कहति भई ताहि, नाहिं कछु मन में कोपीं।**
निरमत्सर जे संत तिननि चूरामणि गोपी॥
इन नीके आराधे हरि ईश्वर वरं जोई।
तातें अधर सुधारस निधरक पीवत सोई॥

नहीं हुआ था, प्रत्युत वे शुद्ध प्रेम की मूर्ति थीं। वे संसार में एक दिव्य ज्योति की भाँति उजाला करनेवाली थीं।[1] भला, उनके चरित्र के विषय में कोई किसी प्रकार का दोषारोपण कर सकता है ?

पुष्टिमार्ग में गोपियों का यही स्वरूप अभीष्ट है। श्रीस्वामिनीजी इन गोपियों में सर्वश्रेष्ठ थीं। फलतः, वे अपने उदात्त प्रेम तथा विशुद्ध अन्तःकरण से भगवान् श्रीकृष्ण की संतत आराधना में आसक्त रहती थीं; कृष्ण के साथ उनका तादात्म्य सम्पन्न हो गया था। दो मूर्त्ति होने पर भी वे दोनों एक ही रूप थे, एक ही आत्मा थे। इस तथ्य पर पूर्ण विश्वास रखकर साधना में अग्रसर होनेवाला साधक ही अपने चरम लक्ष्य तक पहुँचने में कृतकार्य होता है——वल्लभ-मत में राधावाद का यही संक्षिप्त परिचय है।

अष्टछाप काव्यमें युगल विहार

युगल-विहार के पद अष्टछाप के कवियों के काव्यों में वड़े रोचक ढंग के उपलब्ध होते हैं। उनके अनुशीलन से स्पष्ट ही पता चलता है कि माधुर्य भाव की उपासना का प्रचार वल्लभ-मत में बहुशः हो गया था। इस भक्ति का उपासक भक्त राधाकृष्ण की ललित केलि के दर्शनमात्र से ही अपने को कृतकार्य मानता है। सखी या चेरी के रूप में राधाकृष्ण की परिचर्या को ही वह अपनी साधना का लक्ष्य मानता है। न तो उसे रसकेलि में सम्मिलित होने का अधिकार ही है, न उसकी वह अभिलाषा ही है। राधा की सखी वनकर उनकी सेवा का लाभ पाना तथा इस प्रकार गोपाललाल के चित्त का अनुरंजन करना ही भक्त का कर्त्तव्य होता है। इस भावना का विशेष प्रचलन राधावल्लभ-सम्प्रदाय में उपलब्ध होता है, जिसका विवरण अगले परिच्छेद में दिया जायगा। अष्टछाप काव्यों से कतिपय युगल-विहार के पद यहाँ दिये जाते हैं।

सूरदास——

> सँग राजति वृषभानुकुमारी।
> कुंजसदन कुसुमनि सेज्या पर दम्पति शोभा भारी।
> आलस भरे मगन रस दोऊ अंग अंग प्रति जोहत,
> मनहुँ गौर श्याम कैरव शशि उत्तम बैठे सन्मुख सोहत।
> कुंज भवन राधा मनमोहन चहूँ पास ब्रजनारी,
> 'सूर' रहीं लोचन इकटक करि डारति तन मन वारी ॥[1]

परमानन्ददास——

> आज बनी दम्पति बर जोरी
> साँवर गौर बरन रूपनिधि नन्दकिशोर वृषभानुकिशोरी।
> एक शीश पचरंग चूनरी, एक सीस अद्भुत पटखोरी।
> मृगमद तिलक एक के माँथे, एक माँथे सोहे मृदु रोरी।
> नख शिख उभय भाँति भूषन छवि ऋतु बसन्त खेलत मिलि होरी।
> अतिसै रंग बढ्यो 'परमानन्द' प्रीति परसपर नाहिन थोरी ॥[2]

१. शुद्ध प्रेममय रूप पंचभूतन ते न्यारी।
तिन्हें कहा कोऊ कहै जोति सी जग उजियारी ॥ ——रासपञ्चाध्यायी।

कुम्भनदास—

इनकी दृष्टि में राधाकृष्ण की जोड़ी इतनी सुन्दर तथा सुभग प्रतीत होती है कि करोड़ों कामदेव तथा रति की सुन्दरता चुराकर यह जोड़ी तैयार हुई है। राधा श्रीकृष्ण के मुखारविन्द को इकटक निरख रही है और श्रीकृष्ण राधा के मुख-पंकज का एक दृष्टि से अवलोकन कर रहे हैं। जान पड़ता है कि चन्द्रवदन को चकोर और चकोरी परस्पर पान कर रहे हों—

बनी राधा गिरिधर की जोरी
मनहुँ परस्पर कोटि मदन रति की सुन्दरता चोरी।
नौतन स्याम नन्दनन्दन वृषभानुसुता नव गोरी,
मनहुँ परस्पर वदन चन्द को पिवत चकोर-चकोरी।
'कुम्भनदास' प्रभु रसिक लाल बहुविधि वर रसिकनि निहोरी,
मनहुँ परस्पर बढ्यो रंग अति उपजी प्रीति न थोरी॥[३]

छीतस्वामी—

राधाकृष्ण की केलि का अत्यन्त सरस वर्णन छीतस्वामी ने इस पद में किया है। दोनों रस के निधान नागर-नागरी कुंज-भवन में सातिशय रस-भरी क्रीडाओं में संलग्न हैं। इस केलि के अवसर पर साधक भक्त खिड़कियों के छेद से उस लीला की एक भव्य झाँकी निरखकर अपने आपको परम धन्य मानता है—

राधे रूप-निधान गुन-आगरी नन्दनन्दन रसिक संग खेली,
कुंज के सदन अतिचतुर बर नागरी चतुर नागरि सों करति केली।
नील पट तन लसे, पीत कंचुकी कसे, सकल अंग भुवन निरूप रेली,
परम आनन्द सों लाल गिरधरन हृदै सों लागि लागि भुजन करि केली।
'छीतस्वामी' नवल वृषभानुनन्दिनी करति सुखरासि पीय संग नवेली।
सहचरी मुदित सब जाल रन्ध्रनि निरखि माती अपनो भाग करत केली॥[४]

निष्कर्ष यह है कि भगवदनुग्रह को ही समधिक महत्त्व देनेवाले इस पुष्टिमार्गीय वैष्णव-सम्प्रदाय में भी राधा का श्रीकृष्ण के साथ पूजा-विधान में नितान्त अन्तरंग स्थान है। राधाजी 'स्वामिनी' जी के नाम से यहाँ अभिहित की गई हैं। पुष्टिमार्ग के संस्थापक आचार्य वल्लभ भी राधाजी के रूप से पूर्णतः परिचित थे और इसलिए उन्होंने अपने स्तोत्रों में 'राधा' नाम के साथ संवलित 'कृष्ण' की उपासना की ओर स्पष्टतः संकेत किया है। गोसाईं विट्ठलनाथजी ने 'राधाप्रार्थना—चतुःश्लोकी', 'स्वामिन्यष्टक', 'श्रीस्वामिनी स्तोत्र' तथा 'स्वामिनी-प्रार्थना' नामक भक्ति-भरित सरस स्तोत्रों का निर्माण कर पुष्टिमार्गीय उपासना में राधा का अविच्छेद्य सम्बन्ध स्थापित किया तथा राधाकृष्ण की युगल उपासना पर विशेष रूप से आग्रह दिखलाया। तबसे सम्प्रदाय में स्वामिनी की प्रतिष्ठा तथा ख्याति वृद्धिगत हुई; यह मानना अनुचित नहीं कहा जायगा। अष्टछाप के कवियों ने तो अपने कमनीय काव्यों में राधाकृष्ण के युगल-विहार के विषय में एक प्रचुर पद-साहित्य खड़ा किया है, जो अपनी शाब्दिक सरसता में, भावों के मनो-

१–४. ये चारों पद यहाँ 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' में उद्धृत किये गये हैं। द्रष्टव्य पृ० ६४४, ६४५ तथा ६४६।

वैज्ञानिक विश्लेषण में तथा नूतन अर्थों की अभिव्यंजना में अपनी तुलना नहीं रखता। राधा श्रीकृष्ण के संग नित्य रास में विहार करनेवाली, विशुद्ध प्रेम की प्रतिमा हैं; जिनके उदात्त प्रेम की समता इस विश्व में अन्यत्र कहीं ठौर नहीं पाती। वे परम स्वकीया हैं; चैतन्य-मत के समान न तो वे परकीया हैं और न वे श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति ही हैं। आह्लादिनी शक्ति का तत्त्व चैतन्य-मत की अपनी विशिष्टता है, दार्शनिक आधार पर परिबृंहित यह एक परम रहस्यमय सिद्धान्त है, जिसका विवेचन हम अगले परिच्छेदों में कुछ विस्तार से करेंगे।

———o———

चतुर्थ परिच्छेद

राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा-तत्त्व

कालिन्दीतटकुञ्जे पुञ्जीभूतं रसामृतं किमपि ।
अद्‌भुतकेलिनिधानं निरवधि राधाभिधानमुल्लसति ॥

—राधासुधानिधि, पद्य १६८

राधा-तत्त्व के निरूपण में राधावल्लभ-सम्प्रदाय का अपना एक विशिष्ट मन्तव्य है। यह वैष्णव-सम्प्रदाय १६वें शतक में वृन्दावन में उत्पन्न हुआ और यहीं पुष्पित तथा फल-सम्पन्न हुआ। इस सम्प्रदाय का इतिहास तथा सिद्धान्त विशेष रूप से जनसाधारण में प्रख्यात नहीं है। इसीलिए इस मत के संस्थापक का थोड़ा परिचय देना अप्रासंगिक नहीं माना जायगा।

इस मत के संस्थापक का नाम हरिवंशजी (या हितहरिवंशजी) हैं, जो श्रीकृष्णचन्द्रजी की मुरली के अवतार माने जाते हैं। इनके पूर्व पुरुष उत्तरप्रदेश के सहारनपुर जिले के प्रसिद्ध स्थान 'देववन्द' के निवासी थे, परन्तु हरिवंशजी का जन्म-स्थान 'बादग्राम' नामक स्थल है, जो आज मथुरा से चार कोस की दूरी पर है। इनके पिता का नाम था व्यास मिश्र और माता का नाम तारा रानी। ये गौड़ ब्राह्मण थे और आज भी इनके वंशज देववन्द और वृन्दावन दोनों स्थानों में पाये जाते हैं। व्यासमिश्र के पाण्डित्य की ख्याति विशेष थी और इसीलिए किसी मुसलमान बादशाह के वे विशेष कृपापात्र थे। वे रहते तो थे देववन्द में ही, परन्तु किसी दैवी प्रेरणा से

ये अपनी गर्भवती पत्नी को साथ लेकर वृन्दावन के लिए चल पड़े। यहीं वादग्राम में इनके पुत्र हितहरिवंशजी का जन्म हुआ। इनके जन्म-संवत् के विषय में भी मतभेद-सा है, परन्तु साम्प्रदायिक प्रामाण्य पर माना जाता है कि इनका जन्म संवत् १५५९ (१५०३ ईस्वी) की वैशाख शुक्ल एकादशी, सोमवार को प्रातःकाल सूर्योदय के समय हुआ था। श्रीभगवतमुदित कृत 'रसिकमाल' के हितचरित्र में इस समय का उल्लेख इन शब्दों में किया गया है—

पन्द्रह सै उनसठि संवतसर, वैशाखी सुदि ग्यास सोमवर।
तहाँ प्रगटे हरिवंश हित, रसिक मुकुट मनिमाल।
कर्म ज्ञान खंडन करन, प्रेम भक्ति प्रतिपाल॥

हितहरिवंशजी का आरंभिक जीवन उनके पितृग्राम में ही बीता, जहाँ वे रुक्मिणी देवी से विवाह कर बड़े आनन्द के साथ अपना गार्हस्थ्य जीवन विताते थे। अनन्तर श्रीराधिकाजी के आदेश से ये अकेले ही वृन्दावन के लिए चल पड़े। यह घटना १५९० संवत् (१५३४ ई०) की बतलाई जाती है, जब इनके पिता का वैकुण्ठवास हो गया था। राधाजी के ही आदेश से 'चिरथावल' गाँव के निवासी आत्मदेव नामक ब्राह्मण की दो कन्याओं से इन्होंने विवाह किया तथा श्रीकृष्णचन्द्र की एक सुन्दर मूर्त्ति भी इन्हें वहीं प्राप्त हुई। यह राधावल्लभजी का विग्रह था, जिसे हरिवंशजी ने मन्दिर बनवाकर वृन्दावन में स्थापित किया।

विक्रमी संवत् १५९१ (१५३५ ई०) में भगवतमुदित की सूचना के अनुसार इस मन्दिर का प्रथम 'पटमहोत्सव' सम्पन्न हुआ था। इनका दीक्षा-गुरु कोई व्यक्ति नहीं था, प्रत्युत श्रीराधाजी ने इन्हें स्वप्न में अपने मन्त्र की दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया। इस घटना का उल्लेख सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थों में किया गया मिलता है। श्रीहितहरिवंशजी द्वारा विट्ठलदास को लिखित एक पत्र में यह घटना स्पष्टतः निर्दिष्ट की गई है कि राधाजी ही इस मार्ग की गुरु-स्थानीया हैं।[1] फलतः, इस मार्ग में कृष्ण की अपेक्षा राधाजी का ही विशेष महत्त्व होना स्वाभाविक है। अपने मत का तथा रसमयी साधना का प्रचार कर इन्होंने गृहस्थी में रहते हुए भी विरक्त जीवन विताया। पचास साल की आयु में सं० १६०९ विक्रमी (१५५३ ई०) की शारदी पूर्णिमा के दिन इन्होंने भगवान् की अन्तरंग-लीला में प्रवेश किया।

मार्ग की विशिष्टता

यह विशुद्ध रसमार्गी सिद्धान्त है, जिसमें विशुद्ध प्रेम ही परमतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। यह प्रेमतत्त्व ही अनेक रूपों में विद्यमान रहता है। वही जीव रूप है और वही विभु-रूप है। इस परमतत्त्व का अभिधान 'हित' है। यह 'हित' ही ब्रह्म है। प्रेम ही परमात्मा है। यही व्यापक प्रेम नित्य-विहार-केलि में चार रूपों में व्याप्त है अर्थात् युगलरूप-राधा और कृष्ण, श्रीवृन्दावन और सहचरीगण। विश्व में जितने स्थावर-जंगम प्राणी विद्यमान हैं; वे सब प्रेम के ही स्थूल रूप हैं। यह प्रेम चर तथा अचर में सर्वत्र व्याप्त रहता है। लाड़लीदासजी के शब्दों में—'सबै चित्र हित मित्र के जहँ लौ धामी धाम', अर्थात् जहाँ तक धाम है और जहाँ तक

१. जो शास्त्र मर्यादा सत्य है और गुरु महिमा ऐसी ही सत्य है तो व्रज नव तरुणि कदम्ब चूड़ामणि श्रीराधे तिहारे स्थापे गुरुमार्ग विषै अविश्वास अज्ञानी को होत है। ताते यह मर्यादा राखनी।—'राधावल्लभ-सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य' ग्रन्थ में उद्धृत, पृ० १०१।

धामी हैं, सब उसी एक 'हितमित्र' (प्रेम-देवता) के चित्र हैं। इस विशुद्ध प्रेम का ही नाम है— हित। इसकी व्यापकता को चाचा श्रीहितवृन्दावनदासजी ने बड़े सुन्दर शब्दों में प्रकट किया है कि यही प्रेम दम्पती (युगलकिशोर) के हृदय में है तथा वही मुनियों का मन मोहित करता है तथा स्थिर-चर सब में व्याप्त है।[1] यह प्रेम अनिर्वचनीय तत्त्व है। वह एक होकर भी अनेक है। वही प्रिया है, वही प्रियतम है; वही सखी है, वही श्रीवृन्दावन है और वह इन सबसे परे भी है। ये सब मिलकर उसका रसास्वादन करते हैं। उसे जानना चाहते हैं, पर जान नहीं पाते। उसने सबके चित्त का हरण कर रखा है। प्रेम उनके चित्त को कैसे वश में कर रहा है; यह बात सर्वज्ञ होकर भी मुनिजन नहीं जान पाते। यह प्रेम अमृतरूप है। मूक के आस्वादन की भाँति अव्यक्त है और यह एक रहस्य है, जो राधा और कृष्ण के चित्त को हरण करनेवाला है। इसकी प्रशंसा में आचार्य ने स्वयं लिखा है—

यन्नारदाजेशशुकैरगम्यं, वृन्दावने वञ्जुलमञ्जुकुञ्जे।
तत्कृष्ण चेतोहरणैकविज्ञम्, अत्रास्ति किञ्चित् परमं रहस्यम्॥

यहाँ वृन्दावन के वेतस-कुंजों में एक रहस्य है। औरों की बात ही क्या? यह ब्रह्मा, नारद तथा शुकदेव के लिए भी अगम्य है। ये महाभागवतगण भी उसे नहीं जान पाये हैं। उसकी सबसे भारी विशेषता तो यह है कि वह श्रीराधा और कृष्ण के चित्त चुराने में चतुर है। यही दिव्य प्रेम ही इस मार्ग में परमार्थस्थानीय है। इसी की प्राप्ति साधक के जीवन का परम लक्ष्य है।

प्रेम का रूप

राधावल्लभी सम्प्रदाय प्रेमतत्त्व का उपासक रसमार्गी सम्प्रदाय है। प्रेम के निरूपण में इसने एक नवीन मार्ग का अनुसरण किया है। प्रेम के उत्कर्ष का काल कौन-सा है? संभोग-काल या वियोग-काल? प्रिया-प्रियतम का जब मधुर मिलन होता है, तब प्रेम अपने चरम उत्कर्ष पर रहता है? अथवा प्रिया-प्रियतम के वियोग-काल में प्रेम अपना उत्कृष्ट रूप धारण करता है? कोई साधक संयोग में,-चित्त की परम संतृप्ति की दशा में,-प्रेम का अतिशय मानते हैं, तो कतिपय साधकों की दृष्टि में विरह में, प्रियतम के लिए नितान्त व्याकुलता की दशा में, प्रेम का उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। परन्तु हितहरिवंश का दृष्टिकोण इन दोनों पक्षों से नितान्त विलक्षण है, तथा उनकी मनोवैज्ञानिक सूझ का पर्याप्त बोधक है। मधुर-से-मधुर पदार्थ की उपस्थिति में उसके लिए जबतक एक उत्कट पिपासा, एक अतृप्त भूख और एक अक्षुण्ण चाह नहीं बनी रहती तब तक उस मधुर के माधुर्य का आनन्द नहीं मिलता। मिलन के लिए उत्कट पिपासा तथा अतृप्त भूख के क्षण में वह मधुर पदार्थ नितान्त दूर तथा व्यवहित रहता है। फलतः, उस समय भी माधुर्य की यथार्थ अनुभूति नहीं होती। दोनों में नित्य मिलन में तथा नित्य विरह में— माधुर्य के आनन्द का सर्वथा अभाव रहता है। स्वकीया-परकीया दोनों भाव अपूर्ण हैं। स्वकीया में मिलन है, पर विरह नहीं। उधर परकीया में विरह है, तो मिलन का पूर्ण सुख नहीं। इसीलिए, प्रेम-राज्य में स्वकीया-परकीया की भावना केवल एकदेशीय तथा एकांगी भावनाएँ हैं। प्रेम की पूर्णता तब होती है, जब नित्य मिलन में भी विरह का सुख (ललक) उपस्थित हो अथवा विरह में भी नित्य मिलन का आनन्द विद्यमान रहे।

श्रीहरिवंशजी ने चकई तथा सारस के प्रेम का प्रदर्शन कर स्वकीया-परकीया उभयभाव की

भर्त्सना की है तथा नित्य महासंयोग में नित्य महावियोगानुभूतिवाली प्रेमविधि के सिद्धान्त को मान्य तथा आदर्श सिद्ध किया है। प्रियतम से वियुक्त होने पर भी चकई जीवित रहती है; यह बात सारस की दृष्टि में प्रेम की परमन्यूनता सूचित करती है —

चकई प्राण जु घट रहै पिय बिछुरन्त निकज्ज।
सर अन्तर अरु काल निशि तरफि तेज घन कज्ज ।।
तरफि तेज घन कज्ज, लज्ज तुहि बदन न आवै।
जल बिहून करी नैन, भौर किय भाय बितावै ।।
हित हरिवंस बिचारि याद अस कोन जु चकई।
सारस यह सन्देश प्राण घट रहै जु चकई ।।

—हितहरिवंश : स्फुटवाणी, पद संख्या ५

भला चकई में प्रेम की पराकाष्ठा कहाँ ? जो प्रियतम से वियुक्त होने पर न जाने किस लोभ से जीवित रहती है। इस पर व्यंग्य कसता हुआ सारस कहता है—हे चकई, प्रिय-वियोग के बाद भी तेरे देह में प्राण व्यर्थ ही रहते हैं। तालाब के दोनों किनारों की यह दूरी, कालरात्रि के समान यह अँधेरी रात, बिजली की यह चमक, मेघ का यह गम्भीर गर्जन—इतना होने पर भी तू अपने प्रिय के विरह में अपने प्राणों को नहीं छोड़ती। इस निर्लज्ज जीवन पर तुझे लज्जा नहीं आती। प्रातःकाल अश्रुविहीन नेत्रों से अपने प्रियतम से फिर मिलने के लिए आती हो ? किस आशा से तुम जीवित रहती हो ? विरह के दारुण क्षणों में भी जीवित रहना क्या प्रेम की निशानी है ? नहीं, कभी नहीं। फलतः, चकई का प्रेम एकांगी है, त्रुटिपूर्ण है तथा कथमपि सच्चा नहीं है। यह हुआ प्रेम का एक पक्ष।

सारस की धर्म-प्रिया सारसी अपने प्रियतम से विछुड़ते ही प्राण छोड़ देती है। वह अपने प्रियतम के संग रहने में ही अपने जीवन की कृतार्थता मानती है। प्रियतम का क्षण-भर भी वियोग उसके लिए असह्य हो उठता है और इसलिए वह प्रिय प्राणों को निछावर करने से तनिक भी नहीं हटती। इसलिए, जैसे सारस की दृष्टि में चकई का प्रेम एकांगी तथा हारहीन है, वैसे ही चकई की दृष्टि में सारसी का प्रेम भी नितान्त एकांगी, अपूर्ण और मिथ्या है। इसलिए, वह प्रेम के मिलन-पक्ष की कटु आलोचना करती हुई कह रही है—

सारस, सर बिछुरन्त को जो पल सहै सरीर।
अग्नि अनंग जु तिय भखै तौ जानै पर पीर ।।
तौ जानै पर पीर धीर धरि सकहि वज्र तन।
मरत सारसहि फूटि पुनि न परचौ जु लहत मन ।।
हित हरिवंश विचारि प्रेम-विरहा बिन वा रस।
निकट कंत कत रहत मरम कह जानै सारस ।। —स्फुटवाणी, पद ६

हे सारस, तुम अपनी प्रिया से वियोग होने पर अपना प्राण छोड़ देते हो। फलतः तुम प्रेम की पीर क्या जानो ? यह वह व्यक्ति जानता है, जो वियोग में शरीर धारण कर वेदना को सहता है और प्रेमाग्नि की तीव्र ज्वाला को अपने ऊपर लेकर भी जीवित रहता है। प्रेम में प्राण देने से तो अपने प्रिय के सामने प्रेम की मर्म-भरी अभिव्यक्ति करने का अवसर ही नहीं मिलता है। प्रेम

की यथार्थ और परिपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए विरह की घड़ियों का दाह सहना अनिवार्य होता है। तुम तो कान्ता के पास सदा रहते हो। इसलिए, प्रेम का मर्म क्या जानो ? तात्पर्य यह है कि चकई का प्रेम विरह-प्रधान है, तो सारसी का प्रेम मिलन-प्रधान है। इस प्रकार दोनों ही एक-पक्षीय हैं, एकांगी हैं, अपूर्ण हैं तथा अप्रमाण हैं। प्रेम की सच्ची पहचान है—प्रेमविरहा (मिलन में भी विरह की सत्ता का भान)।

'प्रेम विरहा' की व्याख्या में मैं अपने एक कथन को उद्धृत करना चाहता हूँ। "यह 'प्रेमविरहा' ही राधावल्लभीय पद्धति का सार है। मिलन में भी विरह-जैसी उत्कण्ठा इसका प्राण है। युगल सरकार श्री राधावल्लभलाल के नित्य मिलन में वियोग की कल्पना तक नहीं है, परन्तु इस मिलन में प्रेम की क्षीणता नहीं है, प्रत्युत प्रतिक्षण नूतनता का स्वाद है, चाह और चटपटी है। प्रेमासव का अनवरत पान करने पर भी अतृप्ति-रूप महान् विरह की छाया सदा वनी रहती है। प्रतीत होता है 'मिलेहि रहत मानौ कवहुँ मिलै ना'। इस प्रकार स्वकीया-परकीया विरह-मिलन एवं स्व-पर भेद-रहित नित्य विहार रस ही श्री हितमहाप्रभु का इष्ट तत्त्व है"।[1]

श्री करपात्री जो ने इस प्रेमतत्त्व का प्रतिपादन दोनों दृष्टान्तों को दृष्टि में रखकर इस प्रकार किया है—

'सारसपत्नी लक्ष्मणा केवल सम्प्रयोगजन्य रस का ही अनुभव करती है और चकवी विप्रयोग-जन्य तीव्र ताप के अनन्तर सहृदय-हृदय-संवेद्य सम्प्रयोगजन्य अनुपम रस का आस्वादन करती है, परन्तु वह भी विप्रयोग-काल में सम्प्रयोगजन्य रसास्वादन से वंचित रहती है। परन्तु, नित्य निकुंज में श्रीनिकुंजेश्वरी को अपने प्रियतम परम-प्रेमास्पद श्रीव्रजराज किशोर के साथ सारस-पत्नी लक्ष्मणा की अपेक्षा शतकोटिगुणित दिव्य सम्प्रयोगजन्य रस की अनुभूति होती है और साथ ही चकवी की अपेक्षा शत-कोटि-गुणित अधिक विप्रयोग-जन्य तीव्र ताप के अनुभव के अनन्तर पुनः दिव्य रसानुभूति होती है। यही उसकी विशेषता है।[2]

राधावल्लभीय सम्प्रदाय की प्रेम-कल्पना की यह मान्यता अवश्य अपूर्व तथा विलक्षण है। प्रेम की चटपटी चाह की मंजुल व्याख्या जो ऊपर दी गई है, सचमुच निराली, अन्तरंग तथा मनोवैज्ञानिक है।

हितहरिवंशजी के द्वारा ऊपर व्याख्यात 'प्रेमविरहा' की कल्पना अन्य रसिक-समाज में भी मान्य है। गम्भीरता से देखने पर ज्ञात होगा कि विरह दो प्रकार का होता है —स्थूल तथा सूक्ष्म। स्थूल-विरह मिलन के अनन्तर होनेवाली दशा है, जिसमें स्थान की विभिन्नता तथा पार्थक्य के कारण विरह का पार्थक्य वना रहता है। इस स्थूल विरह की स्वीकृति राधावल्लभ-सम्प्रदाय में महत्त्व नहीं रखती। सूक्ष्म विरह वह दशा है, जिसमें प्रिया-प्रियतम के मिलन होने पर भी, सहवास होने पर भी तन तथा मन की पृथक्ता के कारण परस्पर मिलन की गाढ उत्कण्ठा वलवती होती है और दोनों विरह के उत्ताप से अपने

१. बलदेव उपाध्याय: भागवत सम्प्रदाय पृ० ४४०,।
२. श्रीभगवत्तत्त्वः श्री करपात्रीजी, (इंडियन प्रेस, प्रयाग) पृ० १६१,।

हृदय को सन्तप्त अनुभव करते हैं। रूपगोस्वामी इस भाव को प्रेमवैचित्त्य के नाम से पुकारते हैं[1] —

प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षः स्वभावतः ।
या विश्लेषधियार्त्तिस्तत् प्रेमवैचित्त्यमुच्यते ॥[1]

प्रिय के सन्निकर्ष होने पर भी प्रेम का उत्कर्ष होना स्वाभाविक होता है। उस समय विश्लेष की बुद्धि से जो हृदय में पीडा उत्पन्न होती है, वही 'प्रेमवैचित्त्य' की संज्ञा पाती है। यह 'प्रेम-वैचित्त्य' ही ऊपर व्याख्यात 'प्रेमविरहा' का अभिव्यञ्जक तत्त्व है। इसके उदाहरण मध्ययुगीय भक्त कवियों के काव्यों में विशेषतः उपलब्ध होते हैं। रूपगोस्वामी ने इसके उदाहरण में यह पद्य दिया है, जिसमें कृष्ण के प्रत्यक्ष रहने पर भी राधा के हृदय की तड़पन, सखियों से कृष्ण से भेंट कराने की प्रार्थना, विरह की आर्त्ति इतनी अधिक दृष्टिगोचर होती है कि जिसे देख कृष्ण भी विस्मित हो जाते हैं—

आभीरेन्द्रसुते स्फुरत्यपि पुरस्तीव्रानुरागोत्थया
विश्लेषज्वरसम्पदा विवशधीरत्यन्तमुद्घूर्णिता ।
'कान्तं मे सखि दर्शये' ति दशनैरुद्गूर्ण-शस्याङ्कुरा
राधा हन्त तथा व्यचेष्टत यतः कृष्णोऽप्यभूद् विस्मितः ॥

व्रजभाषा के कृष्ण-कवियों के वर्णन में इस भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति पाई जाती है। सूरदास ने इस पद में यही भाव दरसाया है—

राधेहि मिलेहू प्रतीति न आवति ।
यदपि नाथ विधु-वदन विलोकति दरसन को सुख पावति ॥
भरि-भरि लोचन रूप परम निधि उर में आनि दुरावति ।
विरह विकलमति दृष्टि दुहुँ दिसि सचि सरधा ज्यों पावति ॥
चितवत चकित रहित चित अन्तर नैन निमेष न लावति ।
सपनों आहि कि सत्य ईश बुद्धि वितर्क बनावति ॥
कबहुँक करति विचारि कौन हौं हरि केहि यह भावति ।
'सूर' प्रेम की बात अटपटी मन तरंग उपजावति ॥ —सूरसागर, दशमस्कन्ध

हितहरिवंश ने भी अपने एक पद में इसी भाव को सुन्दर रूप में दरसाया है। राधा कृष्ण के सामने बैठी है, परन्तु एक क्षण के लिए उसके नेत्रों के सामने केशों का लट आ जाता है, जिससे दर्शन में बाधा पड़ने के हेतु वह तीव्र विरह-वेदना का अनुभव करती है—

कहा कहौं इन नैननि की बात ।
ये अलि प्रिया वदन अम्बुज रस अटके अनत न जात ॥
जब जब सकत पलक सम्पुट लट अति आतुर अकुलात ।
लम्पट लव निमेष अन्तर ते अलप कलप सत सात ॥
श्रुति पर कंज दृगंजन कुच बिच मृगमद ह्वै न समात ।
हित हरिवंश नाभि सर जलचर जाँचत साँवल गात ॥—हितचौरासी, पद ६०

---

१. रूपगोस्वामी : उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५४८–४९ ।

राधा का माहात्म्य

इस सम्प्रदाय में अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की अपेक्षा राधा का सातिशय माहात्म्य प्रतिपादित किया गया है। इतर वैष्णव सम्प्रदायों में कृष्ण ही परमतत्त्व हैं तथा राधा उनकी शक्ति मानी गई हैं—स्वरूपशक्ति अथवा आह्लादिनी शक्ति। परन्तु, राधावल्लभ-सम्प्रदाय में राधा ही परम तत्त्व मानी गई हैं। अर्थात् कृष्ण की भी अपेक्षा राधा का पद नितान्त समुन्नत है। कृष्ण भी राधाजी की चरण-सेवा को अपने जीवन का प्रधान लक्ष्य मानते हैं। श्रीहरिवंशजी ने इस विषय में अपना मन्तव्य बड़े ही विशद शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

राधा-दास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्दसङ्गाशया
सोऽयं पूर्णसुधारुचेः परिचयं राकां विना काङ्क्षति ।
किं च श्यामरतिप्रवाहलहरी बीजं न ये तां विदु-
स्ते प्राप्यापि महामृताम्बुधिमहो बिन्दुं परं प्राप्नुयुः ॥

—राधासुधानिधि, श्लोक ७९

आशय है कि जो लोग राधाजी के चरणों का सेवन छोड़कर गोविन्द के संगलाभ की चेष्टा करते हैं, वे तो मानों पूर्णिमा तिथि के विना ही पूर्ण चन्द्रमा का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं। वे मूर्ख यह नहीं जानते कि श्यामसुन्दर के रतिप्रवाह की लहरियों का वीज यही श्रीराधाजी हैं। आश्चर्य है कि ऐसा न जानने से ही वे अमृत का महान् समुद्र पाकर भी उसमें से केवल एक बूंद मात्र ही ग्रहण कर पाते हैं। तात्पर्य यह है कि कृष्ण की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है राधाचरण की सेवा। फलतः, कृष्ण की उपासना राधा के विना सम्भव नहीं। इसलिए, कृष्ण की अपेक्षा राधा का गौरव इस सम्प्रदाय में वहुत ही अधिक है।

सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि हितहरिवंशजी को राधाजी ने स्वप्न में मन्त्र-दीक्षा दी थी, जिसके कारण वे ही आचार्यस्थानीया मानी जाती हैं। राधासुधानिधि के 'रसकुल्या' टीकाकार श्रीहरिलाल व्यासजी ने इस तत्त्व का प्रकटन इस श्लोक में किया है—

राधैवेष्टं सम्प्रदायैककर्त्राऽऽ
चार्यो राधा मन्त्रदः सद्गुरुश्च ।
मन्त्रो राधा यस्य सर्वात्मनैवं
वन्दे राधा - पादपद्मप्रधानम् ॥

श्री राधिकाजी इस सम्प्रदाय में इष्ट हैं, सम्प्रदाय की आदिकर्त्री है, आचार्या हैं, मन्त्रदात्री गुरु हैं तथा वे ही मन्त्र हैं। राधा का यही रूप राधावल्लभ-सम्प्रदाय में सर्वथा अभीष्ट है। 'राधावल्लभीय' नामकरण का भी रहस्य इसी घटना के ऊपर आश्रित है। हिताचार्य महाप्रभु की सम्मति में श्रीराधा और श्रीकृष्ण एकहितरस के दो रूप हैं। उनमें पारस्परिक कोई भेद या पार्थक्य नहीं है। श्रीवृन्दावन के नित्य निभृत निकुंज-विहार में उन्मत्त रहनेवाले वे दोनों एक ही प्रेमरस-समुद्र में जल-तरंग के समान एक हैं। अर्थात्, जिस प्रकार जल से तरंग का पृथक्- करण सम्भव नहीं है, वैसे दोनों ही का, राधा से कृष्ण का और साँवरे से गोरे का पृथक्करण एकदम असंभव है।

दोनों मिलकर एक ही तत्त्व (हित-तत्त्व) के प्रतीक हैं। वे दोनों अभिन्न हैं तथा अनन्य हैं। इस गम्भीर तथ्य की विशद व्याख्या यह पद्य कर रहा है—

जोई जोई प्यारी करैं सोई मोहिं भावै,
भावै मोहि जोई, सोई सोई करैं प्यारे।
मोको तो भावतो ठौर प्यारे के नैनन में
प्यारौ भयौ चाहे मेरे नैननि के तारे।
मेरे तो तन-मन-प्रान हूँ में प्रीतम प्रिय
अपने कोटिक प्रान प्रीतम मोसों हारे।
जै 'श्रीहित हरिवंश' हंस हंसिनी साँवर गौर
कहौ कौन करैं जल तरंगनि न्यारे॥

इस सुन्दर पद्य में राधाकृष्ण अपने मनोगत भावों की अभिव्यञ्जना पृथक् रूप से कर रहे हैं। एक प्रकार से यहाँ दोनों के बीच वार्त्तालाप है—

कृष्ण—प्यारी (राधा) जो कुछ करती है, मेरे मन में वही चीज अच्छी लगती है।

राधा—मेरे मन को जो कुछ भी अच्छा लगता है, प्यारे (श्रीकृष्ण) वही करते हैं। मुझे तो भाता है प्यारे के नैनों में ठौर पाना। चाहती हूँ कि घनश्याम के नैनों में ही आसन जमाकर बैठी रहूँ।

कृष्ण—मैं तो राधाजी के नैनों का तारा बनना चाहता हूँ।

राधा—प्रियतम तो रहते हैं मेरे तन में, मेरे मन में तथा मेरे प्राण में। वह प्रियतम अपने करोड़ों प्राणों को मुझपर न्योछावर करता है।

हरिवंशजीका कथन है, राधाजी की भावना कृष्ण के प्रति तथा कृष्ण की भावना राधाजी के प्रति बिलकुल एकरस तथा एक समान है। श्यामल और गौर की यह जोड़ी हंस तथा हंसिनी के समान है। श्याम न गौर से अलग किया जा सकता है, न गौर श्याम से। भला, कोई जल को तरंगों से अथवा तरंगों को जल से अलग कर सकता है? नहीं, कभी नहीं। दोनों ही एक ही हित-तत्त्व के सम्मिलित रूप हैं। प्रेमाधिक्य की दशा में भला वे दोनों कभी पृथक् रह सकते हैं? वे दोनों परस्पर में कभी प्रिया-प्रियतम बने रहते हैं और कभी प्रियतम-प्रिया बनते रहते हैं। उनकी यह विहारलीला सदा चला करती है। ध्रुवदासजी ने इस अनुपम अभिन्नता का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया है—

प्रेम रासि दोउ रसिक बर, एक बैस रस एक।
निमिष न छूटत अँग अँग यहै दुहुँन के टेक॥
अद्भुत रुचि सखि प्रेम की सहज परस्पर होय।
जैसे एक हि रंग सौं भरयो सीसी दोय॥
स्याम रंग स्यामा रँगी स्यामा के रँग स्याम।
एक प्रान तन मन सहज कहिबो कौं दोउ नाम॥
कबहुँ लाड़िली होत पिय, लाल प्रिया ह्वै जात।
नहिं जानत यह प्रेमरस निसदिन कहाँ बिहात॥—ध्रुवदास : रंगविहार

ध्रुवदास ने दोनों की अभिन्नता के लिए ऊपर एक बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है--जैसे 'एक ही रंग सौं भरिए सीसी दोय',अर्थात् दो सीसियों में एक ही रंग भरा होने पर दोनों एक ही रूप की, एक ही रंग की प्रतीत होती हैं, उनमें किसी प्रकार का अन्तर या वैभिन्य नहीं रहता। राधाकृष्ण की भी अभिन्नता इसी प्रकार की है। इसी तथ्य का विशद विवरण श्रीलाड़लीदासजी ने इस दोहे में किया है—

गौर स्याम सीसीन में भरचौ नेह रस सार।
पिवत पिवावत परसपर कोउ न मानत हार॥

—सुधर्मबोधिनीजी

नित्य विहार के लिए वृन्दावन धाम ही एकमात्र स्थान है। यह रस न तो गोलोक में ही प्राप्त हो सकता है, न वैकुण्ठ में; प्रत्युत केवल वृन्दावन-धाम में ही इस अनुपम रस का आस्वादन किया जा सकता है। तथ्य यह है कि वैष्णव भक्त कृष्ण की माथुर लीला तथा द्वारका-लीला को उतना महत्त्व नहीं देते, जितना वृन्दावन-लीला को। कारण यह है कि वैष्णवों की यह दृढ़ मान्यता है कि श्रीकृष्ण वृन्दावन को छोड़कर एक क्षण के लिए भी कहीं बाहर नहीं जाते। पद्मपुराण का यह कथन प्रमाण-रूप में उद्धृत किया जाता है —

वृन्दावनपरित्यागो गोविन्दस्य न विद्यते।
अन्यत्र यद्वपुस्तत्तु कृत्रिमं तन्न संशयः॥

—पातालखण्ड, ७७।६०

वृन्दावन का छोड़ना गोविन्द के लिए कभी नहीं है। मथुरा तथा द्वारका में उनका जो शरीर दृष्टिगोचर होता है, वह कृत्रिम है, बनावटी है। इसमें तनिक भी संशय नहीं।

शक्तिरूपा राधा

राधा के स्वरूप का विवेचन हितहरिवंशजी ने बड़े विस्तार से अपने दोनों ग्रन्थों—राधा-सुधानिधि तथा चौरासीपद में किया है। उनकी दृष्टि में राधा का स्वरूप प्रतिपादित है इस सैद्धान्तिक श्लोक में—

प्रेम्णः सन्मधुरोज्ज्वलस्य हृदयं शृङ्गारलीलाकला-
वैचित्री-परमावधिः भगवतः पूज्यैव कापीशता।
ईशानी च शची महासुखतनुः शक्तिः स्वतन्त्रा परा
श्रीवृन्दावननाथ-पट्टमहिषी राधैव सेव्या मम॥

—रा० सु० नि, श्लोक ७८

राधा मधुर तथा उज्ज्वल प्रेम की प्राणस्वरूपा हैं, प्रेम का हृदय हैं। उज्ज्वल तथा पवित्र प्रेम के हृदय की ही, अन्तरंग रहस्य की ही, संज्ञा राधा है। राधा शृंगार-लीला की विचित्रता की परम अवधि है। राधा भगवान् श्रीकृष्ण की पूज्या तथा आराधनीया हैं तथा वह उनके ऊपर अनिर्वचनीय शासनकर्त्री हैं। वह ईशान तथा इन्द्र-रूप श्रीकृष्ण की स्वामिनी तथा शची हैं। महान्-से-महान् आनन्द की मूर्त्ति हैं। राधा सबसे श्रेष्ठ (परा) तथा स्वतन्त्र (किसी के द्वारा भी अनियन्त्रित) शक्ति हैं। वह वृन्दावन के नाथ श्रीलालजी की पटरानी हैं। इस पद्य का 'शक्तिः स्वतन्त्रा परा' शब्द राधा के स्वरूप का विशद द्योतक है। वह शक्तिरूपा है, परन्तु

ऐसी शक्ति नहीं,जो शक्तिमान् आश्रय पर अपना जीवन तथा अस्तित्व धारण करती हो; प्रत्युत वह राधा परा तथा स्वतन्त्रा शक्ति हैं—वह सबसे श्रेष्ठ तथा किसी के द्वारा नियन्त्रित नहीं हैं। वह वृन्दावन-नाथ श्रीरासेश्वर की पटरानी होती हुई भी श्रीकृष्ण के द्वारा आराध्या तथा सेव्या है।

इतना स्पष्ट प्रतिपादन होने पर भी कतिपय आलोचक राधा को शक्तिरूपा मानने से हिचकते हैं।[1] वे 'शक्ति' शब्द से तान्त्रिक मत में प्रतिष्ठित शक्ति की कल्पना को ही मानते हैं, जहाँ शक्ति मातृस्थानीया मानी गई है। परन्तु, शक्ति को केवल मातृरूपा ही मानना क्या शक्ति-तत्त्व के असीम विस्तार की कल्पना से पराङ्मुख होना नहीं है ? तथ्य यह है कि शाक्ततन्त्र में शक्ति शिव की गृहिणी के रूप में मान्य हैं। शिव ठहरे जगत्पिता। फलतः, शक्ति को जगन्माता मानना ही पड़ता है। शिव के वक्षःस्थल पर विराजमाना गौरी जगन्माता के रूप में यदि प्रतिष्ठा पाती हैं, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? परन्तु, राधा को हितहरिवंश जी 'वृन्दावननाथ-पट्टमहिषी' के रूप में स्वीकार करते हैं और वृन्दावननाथ के साथ वैष्णव-समाज में पिता की भावना का सम्पर्क तो कथमपि नहीं माना जाता। फलतः, राधा की मातृस्थानीया की स्वीकृति यदि समाज में अंगीकृत नहीं है, तो यह आश्चर्य का विषय नहीं है। परन्तु, क्या इसका तात्पर्य यही है कि वे शक्तिरूपा नहीं हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक की नायिका के रूप में प्रतिष्ठित रासेश्वरी राधा ही क्या एक रूप में भक्तों के हृदयों में आवर्जन करती हैं ? नहीं, कभी नहीं। फलतः, हितहरिवंशजी का पूर्वोक्त कथन राधा को शक्ति-रूप में प्रतिष्ठा दिलाने के लिए पर्याप्त माना जा सकता है।

किशोरी राधा

राधा किशोरी क्यों कही जाती है ? किशोरी शब्द का प्रचलन राधा के लिए इतना व्यापक है कि चण्डीदास ने अपनी पदावली में 'राधा' शब्द के स्थान पर 'किशोरी' शब्द का ही व्यवहार और प्रयोग किया है। इसी शब्द के आधार पर बंगाल में 'किशोरी भजा' नामका एक वैष्णव सम्प्रदाय ही प्रचलित हो गया है। भगवान् श्रीकृष्ण की चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं और ये चारों ही एक साथ होती हैं और चारों ही नित्य होती हैं—बाल्य, पौगण्ड, कैशोर तथा यौवन। पद्मपुराण के एक पद्य के आधार पर इन अवस्थाओं का सीमा निर्धारण किया जा सकता है—

बाल्यं तु पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि।
अष्टपञ्चककैशोरं सीमा पञ्चदशावधि॥
यौवनोद्भिन्न-कैशोरं नवयौवनमुच्यते॥
(पातालखण्ड, अ० ७७, श्लोक ५३

बाल्य होता है पञ्चम वर्ष तक, पौगण्ड दशम वर्ष तक। कैशोर तेरहवें साल से आरम्भ होता है और उसकी सीमा पन्द्रहवें साल तक रहती है। उसके अनन्तर यौवन का आरम्भ होता है, जो आरम्भ में कैशोर से संयुक्त होने से नवयौवन की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। साधक

१. श्री विजयेन्द्र स्नातकः राधावल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २१३—२१४ (दिल्ली, सं० २०१४)।

लोग भगवान् को किशोर रूप में भजते हैं। अनादि होने से भगवान् प्रत्नतम हैं, किन्तु दर्शन में नित्य-नूतन चिर-नवीन रहते हैं। ऋग्वेद में इसीलिए विष्णु को 'नवीयस्' बतलाया गया है—

यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे
समुज्जानये विष्णवे दिदाशति ॥ —ऋ० १।१५६।२

भगवान् सर्वदा किशोर वय में रहते हैं। इसमें भागवत का स्पष्ट प्रमाण है—

सन्तं वयसि कैशोरं भृत्यानुग्रहकातरम् ।
—भाग० ३।२८।१७

जहाँ भगवान् को 'तरुण'[1] कहा गया है वहाँ भी अभिप्राय 'कैशोरवय' से ही समझना चाहिए। यौवन में तो पूर्णता की सिद्धि है। उसमें वह नवनवोन्मेषशालिता कहाँ है, जो हमें कैशोर में दृष्टिगोचर होती है। भगवान् के समान उनके धाम के निवासी विष्णुपार्षद भी कैशोरवय से युक्त रहते हैं—

सर्वे च नूत्नवयसः सर्वे चारु चतुर्भुजाः —भाग० ६।१।३५

यामुनाचार्य भी भगवान् को 'नित्य यौवन' में प्रतिष्ठित मानते हैं (अचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्य यौवनम्—स्तोत्ररत्न) उनका अभिप्राय कैशोरवय से ही है। रूपगोस्वामी ने स्पष्टतः कहा है कि भगवान् भक्तों को प्रायः किशोर अवस्था में ही दर्शन देते हैं—

प्रायः किशोर एवायं सर्वत्रक्तेषु भासते ।

वैष्णव भक्तों के ये कथन पद्मपुराण के आधार को विशेष रूप से लक्षित करते हैं। इसका कथन है—वयः परं न कैशोरात्—किशोर अवस्था से बढ़कर कोई वय नहीं। इसलिए, भगवान् का ध्यान इसी वय में करना उचित होता है—

ध्येयं कैशोरकं ध्येयम् ।

पद्मपुराण ने इस ध्यानमूर्त्ति का वर्णन अनेक अवसरों पर किया है। एक अवसर पर वह कहता है—

वन्दे मदनगोपालं कैशोराकारमद्भुतम् ।
यमाहुर्यौवनोद्भिन्नश्रीमन्मदनमोहनम् ॥५६॥
अखण्डातुलपीयूषरसानन्दमहार्णवम् ।
जयति श्रीपतेर्गूढं वयः कैशोररूपिणः ॥५७॥
—पातालखण्ड, अध्याय ७७

इस रूप की सहचरी होने के कारण तथा श्याम से नितान्त अभिन्नता होने के हेतु यदि श्रीराधा का 'किशोरी' शब्द पर्यायवाची ही बन गया है, तो यह आश्चर्य करने का विषय नहीं। इसीलिए, चण्डीदास ने 'किशोरीचरणे परान सँपेछि' कहकर राधा के चरणों में अपनी अनुरक्ति प्रदर्शित की है।

---

१. तरुणं रमणीयाङ्गमरुणोष्ठेक्षणाधरम् ।
प्रणताश्रयणं नृणां शरण्यं करुणार्णवम् ॥
—भाग० ४।८।४६

'किशोरी' रूप में राधा का स्वीकरण प्रायः प्रत्येक वैष्णव समाज को अभीष्ट है, परन्तु चण्डीदास के पदों में तथा राधावल्लभ-मत के साम्प्रदायिक ग्रन्थों में राधा का किशोरी रूप में विशेपतया ग्रहण उपलब्ध होता है। चण्डीदास के कतिपय पदों का अवलोकन करें, जिनमें श्रीकृष्ण किशोरीजी को ही अपने जीवन का सर्वस्व, अपने प्रेम की मंगलमयी प्रतिमा तथा अपने भजन-पूजन का चरम प्रतिष्ठान मानते हैं। एक पद में राधा को श्रीकृष्ण अपनी गति वतला रहे हैं—

राइ, तुमि से आमार गति
तोमार कारणे रस तत्त्व लागि
गोकुले आमार स्थिति ॥
आबार एक बाणी शुन विनोदिनी
दया ना छाड़ियो मोरे ।
भजन साधन किछुइ ना जानि
सदाइ भावि हे तोरे ॥
भजन साधन करे जेइ जन
ताहारे सदय विधि ।
आमार भजन तोमार चरण
तुमि रसमय निधि ॥

इतना ही नहीं, वे व्रजमण्डल में प्रकाश का मुख्य कारण राधा के नाम का जप तथा राधा के रूप का ध्यान बतलाते हैं। राधा के रंगवाला पीताम्बर कृष्ण का परिधान है। लगातार सैकड़ों युगों तक यदि राधा के गुणों का गान किया जाय, तो भी वह शेप नहीं होता—ऐसी ही अनन्तगुण आगरी व्रजनागरी राधा है ।

जपते तोमार नाम वंशीधारी अनुपाम
तोमार वरणे परिवास ।
तुया प्रेम साधि गोरी आइनु गोकुलपुरी
बरजमंडले परकास ।
धनि, तोमार महिमा जाने के ।
अविराम युगशत गुण गाइ अविरत
गाइया करिते नाई शेष ।

'किशोरी' विपयक पदों के ओर भी यहाँ दृष्टि डालना उपयुक्त होगा। श्रीकृष्ण 'किशोरी'-विपयक अपने अनुराग का बड़ा ही उत्कृष्ट तथा सांगोपांग विवेचन कर रहे हैं—

उठिते किशोरी बसिते किशोरी
किशोरी गलार हार ।
किशोरी भजन किशोरी पूजन
किशोरी चरण सार ॥
शयने स्वपने गमने किशोरी
भोजने किशोरी आगे ।

करे करे बाँशि फिरे दिवा निशि
किशोरीर अनुरागे ॥
किशोरी चरणे पराण सौंपेछि
भावेते हृदय भरा ।
देख हे किशोरी, अनुगत जने
करो ना चरण छाड़ा ॥
किशोरी-दास आमि पीतवास
इहाते सन्देह यार
कोटि युगे यदि, आमारे भजये
विफल भजन तार ।
कहिते कहिते रसिक नागर
तितल नयन जले
चण्डिदास कहे नवीन किशोरी
बँधूर करिल कोले ॥[1]

इन पदों की समीक्षा बतलाती है कि चण्डीदास के हृदय में श्रीकृष्ण की अपेक्षा राधा में विशेष अनुरक्ति थी, कृष्ण की अपेक्षा राधा का पद विशेष मान्य था और इस विषय में वे हितहरिवंश के स्तर के भक्त कवि प्रतीत होते हैं।

'किशोरी' का प्राधान्य स्वीकार करने के कारण चण्डीदास तथा हितहरिवंश को एक ही स्तर का साधक मानना यथार्थतः उचित नहीं होगा। हितहरिवंश की साधना में 'निकुञ्जलीला' ही वास्तव में राधा-कृष्ण के केलि के लिए उपयुक्त लीला का स्थान ग्रहण करती है। इस निकुंज-लीला से परिचय पाने के अनन्तर ही उनकी साधना-पद्धति का ज्ञान सप्रमाण रूप से किया जा सकता है।

किशोर कृष्ण की किशोरी राधा के साथ दो लीलाएँ मुख्य होती हैं—(१) कुञ्जलीला तथा (२) निकुञ्जलीला। व्रजलीला की ही ये अवान्तर लीलाएँ हैं, जिनमें प्रथम लीला वहिरंग है तथा दूसरी लीला नितान्त अन्तरंग। वैष्णव भक्तों की साधना का अन्तरंग रूप 'रससाधना' है। इस साधना में विशुद्ध प्रेम का साम्राज्य विलसित होता है। त्यागी-विरागी महान् जन ही इस प्रेमपन्थ के पथिक हो सकते हैं; क्योंकि इस उपासना में दिव्य प्रेम-राज्य में प्रवेश करना पड़ता है और यह प्रवेश विना गोपीभाव को प्राप्त हुए सम्भव नहीं, गोपीभाव की प्राप्ति का संकेत है विपयासक्ति का पूर्णतया परिहार। विषयासक्ति-विहीन पुरुष ही गोपीभाव की साधना करने के अधिकारी होते हैं। इस साधना का प्रकार यह है—(क) अपने को श्रीराधिकाजी की अनुचरियों में एक तुच्छ अनुचरी मानना (जिनका पारिभाषिक नाम है—मंजरी), (ख़) श्रीराधाजी की सेविकाओं की सेवा में ही अपना परम कल्याण मानना; (ग) सदा यही भावना करते रहना कि मैं भगवान् की प्रियतमा श्रीराधिकाजी की दासियों की दासी बना रहूँ

१. चण्डिदासपदावली, निकुञ्जलीला पृ० १२६ (प्रकाशक: वसुमती साहित्य-मंदिर, कलकत्ता)।

और श्रीराधाकृष्ण के मिलन-साधन के लिए विशेष रूप से यत्न करूँ। इसे समझने के लिए मञ्जरी-तत्त्व का विवरण अपेक्षित है।

मञ्जरी तत्त्व

गोपी-भाव को प्राप्त कर आनन्दकन्द व्रजनन्दन श्रीकृष्ण की उपासना ही भक्त का परम लक्ष्य है। व्रजलीला में अष्ट सखियों की प्रधानता होती है जिनका लक्ष्य ही है, राधिकाजी की सेवा। इन सखियों की भी अनन्त दासियाँ होती हैं; क्योंकि एक-एक सखी का अपना यूथ होता है, जिसके कारण वे 'यूथेश्वरी' कहलाती हैं। सब सखियों की सेवा का प्रकार भिन्न-भिन्न होता है। सखियों की दासियाँ 'मञ्जरी' नाम से पुकारी जाती हैं। इन्हें 'मञ्जरी' नाम देने में आचार्यों का एक अन्तरंग स्वारस्य है। तुलसी, आम्र आदि छोटे वृक्षों में जो छोटे-छोटे फूल निकलते हैं, उसे साधारण भाषा में 'मञ्जरी' कहते हैं। सेवा की अभिलाषा के साथ साथ साधक के हृदय में नये-नये भावों के प्रस्फुटन की दशा व्यक्त करने के लिए ही 'मञ्जरी' शब्द का प्रयोग उसके लिए किया जाता है। अष्ट सखियों की सेविका रूप में आठ मञ्जरियाँ होती हैं, जिनका चैतन्यमतानुसार नाम है—(१) रूपमञ्जरी, (२) जीवमञ्जरी, (३) अनङ्गमञ्जरी, (४) रसमञ्जरी, (५) विलासमञ्जरी, (६) प्रेममञ्जरी, (७) रागमञ्जरी, (८) कस्तूरीमञ्जरी। इनकी स्थिति और सेवा के प्रकार में विशेष अन्तर नहीं दीखता। नामों में विभिन्नता की सम्भावना है।

मञ्जरी की विशिष्टता है—उसका अपना कोई भी स्वार्थ नहीं रहना। वह नायिका-भाव के सम्बन्ध में पूर्णतः निरपेक्ष रहती है। युगल सरकार राधाकृष्ण की सेवा में ही अपने जीवन को चरितार्थ मानती है। स्वतन्त्र नायिका-रूप में विहार करना वह न जानती है और न चाहती है। श्रीराधाजी को कृष्ण के साथ मिला देने में जो सुख उसे प्राप्त होता है, वही उसे अभीष्ट है—

सखीर स्वभाव एइ अकथ्य कथन
कृष्ण सह नित्य लीलाय नहि सखीर मन।
कृष्ण सह राधिकार लीला ये कराय
निज सुख होइते ताते कोटि सुख पाय॥

यही आदर्श है मंजरी भाव का। मंजरी इसीलिए शुद्ध सेवा की मूर्त्ति होती है। उसे भोग-विषयक लोभ तनिक भी नहीं होता और दूसरे का सौभाग्य देखकर उसके हृदय में जलन या दाह नहीं उपजता। वह अपने व्रत में इतनी दृढ होती है कि अन्यजन की कथा ही क्या ? स्वयं राधा या कृष्ण भी उसे प्रलोभन देकर च्युत करना चाहें, तो वह तनिक भी विचलित नहीं होती। शास्त्र में वर्णन आता है कि श्रीराधाजी ने एक वार अपनी एक सखी से मणिमंजरी को छिपे तौर से लाने के लिए कहा। मंजरी के आने पर राधा ने उसे कृष्ण के पास संगम के लिए भेजना चाहा, परन्तु लाख उद्योग करने पर भी वह सफल न हो सकी। उसने बताया कि मेरे जीवन का परमोल्लास यही है कि राधाकृष्ण के नित्य विहार के अवलोकन का मैं आनन्द प्राप्त करूँ, मुझे अपने मिलन की कोई स्पृहा ही नहीं। फलतः, मणिमंजरी के जीवन का यह सेवाव्रत मंजरी-भावसाधना का आदर्श है—

त्वया यदुपभुज्यते मुरजिदङ्गसङ्गे सुखं
तदेव बहु जानती स्वयमवाप्तितः शुद्धधीः।

मथा कृतविलोभनाप्यधिकचातुरीचर्यया
कदापि मणिमञ्जरी न कुरुतेऽभिसारस्पृहाम् ।।

फलतः, श्रीकृष्ण के भोग से परांङ्मुखी होकर राधिका के पाद-पद्म में निरन्तर प्रीति रखना ही मंजरी-भावउपासना का परम आदर्श है। और, यही उपासना साधक भक्तों के लिए कर्त्तव्य वतलाई गई है।

भक्तों की आदर्श मनोभावना इस प्रकार होनी चाहिए--"इन सव मंजरियों की अनुगता होकर मैं युगल सेवा की याचना करूँगी। उनके कुछ न बोलने पर भी मैं उनके हृदय का भाव सकेतों से समझकर सेवा में लग जाऊँगी। उनके संकेत किये विना सेवा में प्रवृत्त नहीं हूँगी; क्योंकि इससे राधाश्याम के विलास सुख में वाधा पड़ सकती है।"

ए सव अनुगा होये प्रेमसेवा लव
चेये इंगिते बूझिव सब काजे।
रूपे गुने डगमगि सदा हव
अनुरागी वसति करिब सखी माँझे ।।

यह गुरु का कार्य है कि अपने शिष्य की योग्यता, प्रवृत्ति तथा वृत्ति पर ध्यान देकर वह उसे विशिष्ट मंजरी के भाव की दीक्षा देता है। श्रीगुरुदेव युगल-सेवा के लिए उपयोगी उसकी सिद्ध देह के नाम, वेश, वास, वयस्, भाव और सेवा के सम्वन्ध में भावना का द्वार खोल देते हैं और उसके स्वाभाविक रसमय भजन के द्वारा सेवा में नियुक्त कर देते हैं। यह गुरु की ही आन्तरिक दृष्टि का परिणाम है--शिष्य को उसके अनुकूल भाव-साधना में नियुक्त करना। व्रज की रसमयी पद्धति का आश्रयण अनेक वैष्णव सम्प्रदायों में दृष्टिगोचर होता है। निम्वार्क में सखी-भाव की उपासना तो विशेष प्रचलित है। चैतन्य मत का यह सर्वस्व है। राधावल्लभी सम्प्रदाय में भी यही आदर्श है। चैतन्य-मत का आर्दश है--

सखीर अनुगा होइया व्रजे सिद्ध देह पाइआ
सेई भावे जुडाबे प्रानी

व्रज-साधना में सिद्ध देह का पाना परमावश्यक है और तव भक्त को सखी का अनुग होकर ही सेवा का अधिकार है। उसकी युगल मूर्त्ति की उपासना साक्षात् रूप से न होकर परम्परागत होती है। भक्तों की यही अभिलाषा होती है। श्रीहितहरिवंशजी ने अपनी कामना इस पद्य के द्वारा प्रकट की है--

सान्द्रानन्दोन्मदरसघनप्रेम - पीयूषमूर्त्तेः
श्रीराधाया अथ मधुपतेः सुप्तयोः कुञ्जतल्पे।
कुर्वाणाहं मृदु मृदु पदाम्भोजसंवाहनानि
शय्यान्ते किं किमपि पतिता प्राप्ततन्द्रा भवेयम् ।।

--राधासुधानिधि, श्लोक २१२

अर्थात्, निविड आनन्दरस के घनत्व से प्रकट प्रेमामृतमूर्त्ति श्रीराधिका और श्री मधुपति जव कुंजशय्या पर निद्रित हो जायँ, तव उनके अत्यन्त कोमल पद-कमलों का संवाहन करते-करते

मैं तन्द्रा प्राप्त होकर उस सेज के समीप ही क्या कभी लुढ़क पड़ूँगी ? मंजरी के हृदय की विशुद्ध सेवा-भावना की यही मञ्जुल प्रतीक है।[1]

साधक को मंजरी की सेवा में सफलता मिलने पर स्वयं श्रीराधिकाजी जी की सेवा का अधिकार मिलता है और श्रीराधिकाजी की सेवा ही युगल सरकार की कृपा प्राप्त करने का प्रधान उपाय है। युगल-उपासना, जो निकुंजलीला का विषय है, अत्यन्त कठिन तथा रहस्यमयी मानी जाती है। इस उपासना के प्रकार के विषय में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने शंकरजी से कहा है—जो व्यक्ति युगलस्वरूप की कृपा चाहने वाला मेरी शरण आता है, परन्तु मेरी प्रिया राधाजी के शरण में नहीं आता, वह मुझको युगलस्वरूप में कभी प्राप्त नहीं कर सकता। अतः, पूरे प्रयत्न से मेरी प्रिया राधिकाजी की शरण ग्रहण करनी चाहिए। मेरी प्रिया का आश्रय-ग्रहण करनेवाला व्यक्ति ही मुझे अपने वश में कर लेता है। यही उपासना का गोपनीय रहस्य है—

> यो मामेव प्रपन्नश्च मत्प्रियां न महेश्वर।
> न कदापि स चाप्नोति मामेवं ते मयोदितम्॥
> तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मत्प्रियां शरणं व्रजेत्।
> आश्रित्य मत्प्रियां रुद्र मां वशीकर्त्तुमर्हसि॥
> इदं रहस्यं परमं मया ते परिकीर्त्तितम्।
> त्वयाप्येतन्महादेव गोपनीयं प्रयत्नतः॥

भगवान् के इसी आदेश का पालन कर भक्त जन राधिका की उपासना को ही अपनी साधना का चरम लक्ष्य बनाते हैं। इतना ही नहीं, भगवान् श्रीकृष्ण का तो यहाँ तक कहना है कि जो नराधम हम दोनों में भेद-बुद्धि करता है, वह सदा कालसूत्र नामक नरक में निवास करता है—

> आवयोर्भेदबुद्धिं च यः करोति नराधमः।
> तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

एक दूसरे प्रसंग में श्रीकृष्ण राधिका से कहते हैं कि जो तुम हो, वही मैं हो। हम दोनों में किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं रहता। जिस प्रकार दुग्ध में अपृथग्भाव से धावल्य रहता है, अग्नि में दाहिका शक्ति रहती है; पृथ्वी में गन्ध रहता है; उसी प्रकार तुममें (राधा में) मैं सर्वदा निवास करता हूँ—

> यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नावयोर्ध्रुवम्।
> यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सती॥
> यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि सन्ततम्॥

इन कथनों के प्रामाण्य पर साधक राधा तथा कृष्ण में तनिक भी अन्तर या पार्थक्य नहीं मानता। दोनों ही नित्य विहार के साधनभूत महापुरुष हैं। लक्ष्य है तो श्रीकृष्ण का साक्षात्कार ही, परन्तु उसका साधन है श्रीराधाजी की दिव्य कृपा। बिना उनकी कृपा प्राप्त किये साधक अपनी साधना में आगे बढ़ नहीं सकता। इसलिए, साधक मञ्जरी वन-

१. द्रष्टव्य : आचार्य श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी का लेख, कल्याण, भक्ति-अंक, पृ० ३५२–५५।

कर रासेश्वरी की कृपा का भाजन बनने का सन्तत उद्योग करता है। कुंजलीला की सिद्धि होने पर ही निकुंजलीला में प्रवेश करने का अधिकार साधक पाता है। इन दोनों लीलाओं को समझना नितान्त आवश्यक है।

निकुञ्जलीला का रहस्य

आशय यह है कि निकुंज-लीला, देव-देवियों को कौन कहे, नारद तथा शुकमुनि में द्वारा भी अगम्य है; वह गोपियों के द्वारा भी अगम्य वस्तु है। न वहाँ महिषीगण की गति है, न गोपियों की। केवल प्रेमार्द्रा किशोरीजी का ही उस लीला में प्रवेश करने का अधिकार है। अथवा उस लीला की सर्वस्वरूपा ही हैं श्रीराधिकाजी, वह अलोकसुन्दरी, असामान्य माधुरीमण्डिता श्रीरासेश्वरी कीर्त्तिकुमारी वृषभानुललीजी जिनके एक-एक दृक्पात पर व्रजनन्दन अपने प्रिय प्राण निछावर करने के लिए उद्यत हैं, सदैव तत्पर हैं। श्रीकृष्ण चन्द्र की यही हार्दिक अभिलाषा बनी रहती है कि श्रीराधा की आराधना में कोई भी व्यापार उनके प्रयत्नों से साध्य हो। वे अपने सुन्दर मयूर पिच्छ को श्रीराधा के चरणों में विलोडित करने की अभिलाषा को लेकर ही निकुंज में प्रवेश करते हैं।[1] फलतः, इस निकुंजलीला की सम्राज्ञी श्रीरासेश्वरी राधाजी हैं। इस लीला की अधिष्ठात्री की रसमयी सेवाएँ करते हुए रस-सागर में निमग्न होना ही भक्त साधक की कमनीय कामना है। हितहरिवंशजी अपने-आपको मञ्जरीभाव के साथ तादात्म्य करते हुए अपनी मंजुल अभिलाषा का वर्णन करते हैं—

> कदा गायं गायं मधुर मधुरीत्या मधुभिद-
> श्चरित्राणि स्फारामृतरसविचित्राणि बहुशः।
> मृजन्ती तत्केलीभवनमभिरामं मलयज-
> च्छटाभिः सिञ्चन्ती रसह्रदनिमग्नास्मि भविता ॥
>
> —रा० सु०, २०१ प०

आशय —मैं कब मधुसूदन के घनीभूत अमृतरसपूर्ण, विचित्र एवं अनन्त चरित्रों का मधुर-मधुर रीति से गायन करती हुई ओर उनके अभिराम केलिभवन का सम्मार्जन तथा मलयज चन्दन के मकरन्द से सिञ्चन करती हुई रस-समुद्र में निमग्न होऊँगी ?

निकुंज-लीला में श्रीराधिकाजी के प्रेमवैचित्त्य की कल्पना करता हुआ यह भक्त कवि उनके प्रेमार्द्र हृदय की एक रुचिर झाँकी प्रस्तुत करने में कितना सफल है! वह कह रहा है—निकुंज-लीला में अनिर्वचनीय वृषभानुकुलमणि श्रीकिशोरीजी को सर्वोत्कृष्टता प्राप्त है। वह सदा आनन्द की मूर्त्ति, सदा प्रेमस्वरूपा तथा प्रमदमदन (कामदेव) के लिए भी श्रेष्ठ रस की प्रदात्री है। वह प्रेमवैचित्त्य के कारण किसी क्षण सीत्कार करने लगती है, तो दूसरे ही क्षण अत्यन्त कम्पित होने लगती हैं, फिर तीसरे क्षण 'हे श्याम, हे श्याम ऐसा प्रलाप करने लगती हैं,

---

१. रसघन मोहनमूर्त्तिं
विचित्र केलि महोत्सवोल्लसितम्।
राधाचरणविलोडित-
रुचिरशिखण्डं हरिं वन्दे ॥ —रा० सु०, पद्य २०० ।

और पुलकित होने लगती हैं। यह भावों का प्रतिपल परिवर्त्तन राधा के हृदय की दशा की मार्मिक अभिव्यंजना कर रहा है—

क्षणं सीत्कुर्वन्ती क्षणमथ महावेथुपमती
क्षणं श्याम श्यामेत्यमुमभिलपयन्ती पुलकिता।
महाप्रेमा कापि प्रमदमदनोद्दामरसदा
सदानन्दा मूर्त्तिर्जयति वृषभानोः कुलमणिः॥
—रा० सु०, पद्य २०३

ऐसी निकुंज-लीला के अवसर पर साधक अपने को राधिका की सखी के रूप में भावना करता है। उसके जीवन का उद्देश्य होता है राधा-कृष्ण के हृदय में आनन्दोल्लास का उन्मेप। इसके अतिरिक्त उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। वह चाहता है रसकेलिनिमग्ना राधा की चरण-सेवा। राधा के चरण-कमल का दास्य ही उसकी साधना का चरम लक्ष्य होता है। हित-हरिवंश अपने को इसी साधना में संलग्न तथा आसक्त रखते हैं। रसमय मार्ग के लिए रसमयी साधना के निमित्त चाहिए विशुद्ध हृदय, प्रेम से भरित निर्मल चित्त। इसके अभाव में यह साधना सफल नहीं हो सकती। इसी कठिनता के कारण नाभादास ने हितजी की साधना को वड़ा ही दुर्गम तथा विपम वतलाया है—

श्रीराधाचरण प्रधान हृदै अति सुदृढ उपासी
कुंज केलि दम्पती तहाँ को करत खबासी।
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्धता के अधिकारी
विधि निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी।
श्री व्यास-सुवन पथ अनुसरै सोई भलै पहिचानिहै
श्री हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सुकृत कोउ जानिहै॥
—भक्तमाल, छप्पय-संख्या ९०

हितहरिवंशजी की साधना राधाचरण-प्रधान थीं, जहाँ अन्य वैष्णवों की साधना कृष्णचरण-प्रधान रहती है। उनका जीवन ही राधामय था, राधा के स्निग्ध चरणारविन्दों में ही उनकी निर्मला भक्ति विराजमान थी। इस उद्देश्य का परिचय हम इस पद्य से पा सकते हैं, जिसमें हरिवंश जी अपने मन से राधा के उस विहार-विपिन में रमण करने की प्रार्थना करते हैं, जो श्रीराधाजी के करस्पर्श से युक्त पल्लव-वल्लरी से मण्डित है, जिसकी मधुरस्थली राधा के पदचिह्नों से चिह्नित हैं तथा जिसकी खगावली राधा के यशोगान से मुखरित तथा मतवाली है—

राधा करावचितपल्लववल्लरीके
राधापदाङ्कविलसन्मधुरस्थलीके।
राधायशोमुखरमत्तखगावलीके
राधाविहारविपिने रमतां मनो मे॥ —रा० सु०, पद्य १३

उपसंहार

ऊपर किये गये वर्णनों के उपसंहार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा ही परात्पर तत्त्व हैं। हितहरिवंशजी की आराध्या इष्टदेवी राधा श्रीकृष्ण

की भी आराध्या हैं और इस प्रकार अन्य वैष्णव मतों में वर्णित राधा से भिन्न तथा स्वतन्त्र हैं। राधा वृन्दावनवासिनी एक साधारण गोपी नहीं हैं, प्रत्युत वे प्रेम का एक अनुपम परिपूर्णतम सागर हैं। उनके अंग-प्रत्यंग से नित्यप्रति उज्ज्वल अमृतरस उच्छलित होता है। वह प्रेम का एक पूर्ण महार्णव हैं। वह लावण्य का भी अनुपम समुद्र हैं तथा तारुण्य के प्रथम प्रवेश से विलसित माधुर्य साम्राज्य की भूमि हैं तथा रस की एकमात्र अवधि हैं। उनके पद के नखों से अजस्र अमृत रस प्रवाहित होता है, जिनके शरीर से शोभा की छटा निरन्तर बढ़ती रहती है। यही दिव्य रूप का मूल स्रोत तथा दिव्य रस का अजस्र प्रवहमान सागर हैं श्रीराधाजी।

प्रत्यङ्गोच्छलदुज्ज्वलामृतरसप्रेमैकपूर्णाम्बुधि—
र्लावण्यैकसुधानिधिः पुरुकृपावात्सल्यसाराम्बुधिः।
तारुण्यप्रथमप्रवेशविलसन्माधुर्यसाम्राज्यभू—
र्गुप्तः कोऽपि महानिधिर्विजयते राधारसैकावधिः॥

—रा० सु०, श्लोक १३५

राधा की यही दिव्य अलौकिक कल्पना इस वैष्णव समाज में परिगृहीत है। साधना-साम्राज्य में राधा को प्रामुख्य देनेवाला यह रसिक समाज अपनी गम्भीर उपासना-पद्धति के लिए भक्तों में सदा प्रख्यात रहा है तथा आज भी आलोचकों की दृष्टि को आकृष्ट करनेवाला है। यह भी विशिष्टता है कि इस सम्प्रदाय के समस्त सिद्धान्त-ग्रन्थ, दो एक को छोड़कर, मुख्यतया हिन्दी में ही निबद्ध हैं।

श्रीचैतन्यमहाप्रभु की प्रतिमा

पंचम परिच्छेद

चैतन्य-मत में भगवत्-तत्त्व

आधार-ग्रन्थ

चैतन्य-मत में राधा-तत्त्व का विवेचन हम एक विशिष्ट दार्शनिक रूप में पाते हैं। यह विवेचन अन्य विवेचनों से नितान्त पार्थक्य रखता है। इस विवेचन की ऐतिहासिक उद्भूति विचारणीय है। श्रीचैतन्य महाप्रभु (१४७६ ई०–१५३३ ई०) के जीवन में दक्षिण-यात्रा का विशेष स्थान तथा महत्त्व माना जाता है; क्योंकि इस यात्रा में उनको दक्षिण भारत के वैष्णव तीर्थों के दर्शन का तथा वहाँ के वैष्णवों के साथ सम्पर्क में आने का विशेष सुयोग प्राप्त हुआ था। इस यात्राके अनन्तर उनके जीवन में एक विशेष उल्लास तथा स्फूर्त्ति दृष्टिगोचर होती है जो उस यात्रा का सद्यः प्रभाव मानी जा सकती है। इसी यात्रा में उन्हें उत्कल देश के प्रसिद्ध विद्वान् तथा राज-मन्त्री राय रामानन्द से साक्षात्कार हुआ था, जिसका विस्तृत विवरण कृष्णदास कविराज ने अपने 'चैतन्यचरितामृत' में दिया है। महाप्रभु ने रामानन्द से वैष्णव धर्म के मूल तथ्यों तथा सिद्धान्तों के विषय में प्रश्न किया, जिनका उत्तर रामानन्द ने विस्तार के साथ उन्हें दिया। इस वार्त्तालाप के प्रसंग में राधात-त्त्व का हम वही रूप तथा विवेचन पाते हैं, जिसका विंवरण हमें चैतन्यभत के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। दोनों वैष्णव भक्तोंका यह एक अद्भुत मिलन था। चैतन्य महाप्रभु ने भक्तिशास्त्र के रहस्यों के विषय में नाना प्रश्न किये, जिनका उत्तर रामानन्द राय ने कहीं संक्षेप से और कहीं विस्तार से दिया। वे पञ्चधा भक्ति के तत्त्वों का विवेचन अपनी सुगम

सुबोध शैली में करते गये और महाप्रभु के चित्त पर उनकी व्याख्या का गहरा प्रभाव पड़ता गया; यह हम निःसन्देह कह सकते हैं। महाप्रभु का प्रधानतम प्रश्न साधना-तत्त्व से सम्बद्ध था—वे जानना चाहते थे कि वह ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसके लिए साधना की जाती है। रामानन्द ने स्वधर्माचरण, कृष्ण में कर्मार्पण, स्वधर्म-त्याग तथा ज्ञानमिश्रा भक्ति को एक के वाद एक को मानव-जीवन का साध्य वतलाया, परन्तु महाप्रभु को इससे शान्ति नहीं मिली। वे प्रत्येक वार पूछते चले गये—एहो वाह्य, आगे कह आर (अर्थात् यह भी वाहरी है और इसके आगे कहो)। तव राय रामानन्द ने ज्ञानशून्य भक्ति, प्रेमभक्ति और दास्यभक्ति को जीव का साध्य वतलाया; परन्तु महाप्रभु को इससे भी सन्तोष नहीं हुआ। सख्य तथा वात्सल्य भक्ति के विवरण ने भी उनके हृदय को आप्यायित नहीं किया। महाप्रभु ने उन्हें उत्तम अवश्य माना, परन्तु इससे उनकी जिज्ञासा की पूर्त्ति न हो सकी (एहोत्तम, आगे कह आर)। तव, रामानन्द ने कान्ता-भक्ति को समस्त साध्यों का सार उद्घोषित कर उसका तत्त्व वड़े अनुराग से समझाया तथा कान्ता-प्रेम और कृष्णप्राप्ति के साधनों पर विस्तार से प्रकाश डाला। इसके आगे प्रश्न करने पर वह राधा-प्रेम को सर्वश्रेष्ठ वतला कर चुप हो गये—

> प्रभु कहे—एइ साध्यावधि सुनिश्चय
> कृपा करि कह यदि आगे किछु हय।
> राय कहे—इहार आगे पुछे हेत जने
> एतो दिन नाहि जानि आछये भुवने।
> इहार मध्ये राधार प्रेम साध्य शिरोमणि
> याँहार महिमा सर्वशास्त्रेते वाखानि ॥
> —चैतन्यचरितामृत, मध्यलीला, ८ : ९६–९८

आशय यह है कि प्रभु ने कहा कि यह यथार्थरूप से साध्य की अवधि है, परन्तु इसके आगे भी कोई वस्तु हो तो उसका भी वर्णन कृपा करके कहिए। राय ने कहा—इसके आगे पूछने वाला जन संसार में कोई है—ऐसा तो मैं इतने दिनों से जानता नहीं था। इसके वीच—कान्ता प्रेम की साधना में-राधा का प्रेम ही सकल साध्यों का शिरोमणि है, जिसकी महिमा का वर्णन शास्त्रों में किया गया है।

इस प्रसंग से राय परमानन्द की विमल भक्ति तथा विशद भक्तिशास्त्रीय ज्ञान का पूरा परिचय मिलता है। वे स्पष्ट ही राधातत्त्व के मार्मिक विद्वान् थे। उनका प्रभाव महाप्रभु की विचारधारा पर अवश्य पड़ा था; इस अनुमान के लिए भी साधनों की कमी नहीं है। 'चैतन्य चरितामृत' के अनुसार महाप्रभु ने स्पष्ट शब्दों में रामानन्द से राधाकृष्ण तत्त्व के विशद प्रतिपादन के लिए प्रार्थना की थी तथा संन्यासी समझ कर वंचित न करने का आग्रह किया था—

> प्रभु कहे—मायावादी आमि त संन्यासी
> भक्ति तत्त्व नाहि जानि मायावादे भासि।
> × × × ×
> संन्यासी बलिया मोरे ना कर बंचन
> राधाकृष्ण तत्त्व कहि पूर्ण कर मन ॥

इस प्रसंग की गहरी छानवीन करने से आलोचक का स्पष्ट मत है कि दक्षिण देश में, विशेषतः उत्कल के वैष्णव समाज में, राधातत्त्व की मीमांसा स्वतन्त्र रूप से हो चुकी थी, जो चैतन्य मत में परवर्त्ती काल में तद्विषयक मीमांसा से वहुशः साम्य रखती थी। महाप्रभु तथा रामानन्द दोनों ही भक्तजन स्वतन्त्र रूप से, विना एक दूसरे से परिचय पाये ही, राधातत्त्व के मर्म को जाननेवाले थे तथा दोनों के मिलन होने पर महाप्रभु ने राय रामानन्द में अपने समान ही कान्ताभाव के उपासक भक्त का अस्तित्व पाया था। दोनों ने इस वार्तालाप से एक दूसरे को मानों पहिचान लिया। तभी तो महाप्रभु ने राय रामानन्द को 'महाभागवतोत्तम' ही नहीं माना, प्रत्युत उनसे अपने को शरीरमात्र से ही भिन्न स्वीकार किया—**रामानन्द सह मोर देह भेद मात्र**। उधर रामानन्द ने भी चैतन्य के वास्तव स्वरूप को जानकर उन्हें सूत्रधार तथा अपने को नट बतलाया—

आमि नट तुमि सूत्रधार
ये मत नाचाओ ते मत चाहि नाचिबार।
—चै० च०, मध्यलीला

निष्कर्ष यह है कि यदि ऐतिहासिक दृष्टि से राय रामानन्द को राधातत्त्व का प्रथम ज्ञाता व्याख्याता माना जाय, तो कथमपि अनुचित नहीं होगा। उनके एक संस्कृत नाटक 'जगन्नाथ वल्लभ' का भी परिचय मिलता है, जिसका प्रणयन उन्होंने महाप्रभु से मिलने के पूर्व ही किया था।[1] राधाकृष्ण के प्रेम के विषय में निर्मित यह नाटक पाँच अंकों में विभक्त है तथा गीतगोविन्द की शैली पर विरचित इक्कीस गीत इसमें पाये जाते हैं। पूरा नाटक ही रागानुगा भक्ति तथा राधा की लीलावैचित्री का वर्णन करने में सर्वथा समर्थ हुआ है। उत्कल देश में कान्ताभाव की भक्तिधारा को चैतन्य महाप्रभु के नीलाचल आगमन से पूर्व ही प्रवाहित करने का श्रेय देने के लिए आलोचक को इन्हीं आधारों का आश्रय लेना पड़ता है। महाप्रभु के नीलाचल में अवस्थान करने के समय यह भावना उत्कल देश में परिबृंहित होती गई, बीज रूप से वर्त्तमान साधना-धारा विशिष्ट रूप से अनुकूल वातावरण में अधिक रूप से स्पष्टतः प्रवाहित होती गई; इतिहास की दृष्टि से इस तथ्य पर पहुँचना निराधार नहीं कहा जायेगा।

रूप गोस्वामी

श्रीमहाप्रभु के साक्षात् शिष्य गोस्वामियों ने राधातत्त्व का उपबृंहण अपने ग्रंथों में कर इस तत्त्व को विशेष दार्शनिक महत्त्व तथा आधार देने का सफल उद्योग किया। ऐसे गोस्वामियों में **रूपगोस्वामी** (१४९२ ई०–१५९१ ई०) का नाम विशेषरूपेण उल्लेख्य है। उन्हें श्रीमहाप्रभु के द्वारा उपदिष्ट होने का सुवर्ण-अवसर मिला था। उनके उपदेश से प्राप्त सिद्धान्त-वीजों को इन्होंने अपने प्रख्यात ग्रन्थों में पल्लवित किया। ऐसे मान्य ग्रंथ हैं—**भक्तिरसामृतसिन्धु** तथा **उज्ज्वलनीलमणि**। पहिले ग्रन्थ में भक्ति का सामान्य विवेचन तथा रसों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। मधुर रस का यहाँ बहुत संक्षिप्त

---

१. द्रष्टव्य: बिमानबिहारी मजूमदार-रचित 'श्रीचैतन्य चरितेर उपादान' कलकत्ता-विश्वविद्यालय, १९३९, पृ० ५२२।

वर्णन है। फलतः, इस रस का प्रामाणिक विस्तृत विवरण देने के लिए एक सम्पूर्ण ग्रन्थ की आवश्यकता प्रतीत हुई[1] और इसकी पूर्ति उज्ज्वलनीलमणि' में वड़े ही वैशद्य से की गई है। 'नीलमणि' शब्द तो भगवान् घनश्याम श्रीव्रजेशनन्दन का स्पष्टवाचक है। 'उज्ज्वल' शब्द को श्रीरूपगोस्वामी ने श्रृंगाररस के लिए प्रयुक्त किया है और इसके लिए वे भरतमुनि के ऋणी हैं, जिन्होंने श्रृंगाररस के वर्णन में इस शब्द का प्रथम प्रयोग किया—

> तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः।
> तथा यत् किञ्चित् लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तत् शृङ्गारेणोपमीयते।
> यस्तावत् उज्ज्लवेषः स शृङ्गारवान् इत्युच्यते॥
>
> —नाट्यशास्त्र, पृ० ७३ (काशी-सं०)

फलतः, 'उज्ज्वलनीलमणि' नाम की सार्थकता श्रीकृष्ण को शृंगारात्मक मधुर रस का एकमात्र आलम्बन मानकर उसके विस्तृत विशद प्रतिपादन में है। इसके नाना प्रकरणों में भक्ति रस के नायक तथा नायिका और स्थायिभावादिकों का वड़ा ही विशद, विस्तृत तथा पुंखानुपुंख विवरण पहिली वार प्रस्तुत किया गया। यही महनीय ग्रंथ है, जिसमें भक्ति को अलंकार की शास्त्रीय परिभाषा तथा विश्लेषण के द्वारा प्रथम वार समझाने का श्लाघनीय और सफल उद्योग किया गया है। वात यह है कि काश्मीरी रस-परम्परा में, जिसका विवेचन अभिनवगुप्त ने अपनी 'अभिनवभारती' में और 'ध्वन्यालोकलोचन' में किया है, भक्ति एक सामान्य 'भाव' से अधिक महत्त्व नहीं रखती। यह देवादिविषया रति मानी जाती थी, जिसका उपबृंहण रस के रूप में कथमपि साध्य नहीं होता।[2] गौडीय वैष्णव पण्डितों को भक्ति का यह निरादृत पद वड़ा ही असम्मानजनक प्रतीत हुआ और इसे इस रूप में ही नहीं, प्रत्युत रसशिरोमणि या रसराज के रूप में प्रतिष्ठित करने का उन्होंने बीड़ा उठाया। और, इसी स्तुत्य प्रयास की चरम परिणति है उज्ज्वलनीलमणि की रचना। एक प्रकार से यह समग्र ग्रन्थ ही राधा-माधव की कमनीय केलि का शास्त्रीय विवेचन है आरम्भ से लेकर अन्त तक, परन्तु इसमें 'हरिवल्लभा' प्रकरण के भीतर राधा का एक विस्तृत विवेचन है[3], जिससे हम गौडीय मत में राधातत्त्व को भली भाँति समझने में कृत-कार्य होते हैं।

जीव गोस्वामी

राधातत्त्व की विवेचना में जीवगोस्वामी का 'भागवत सन्दर्भ (या प्रचलित अभिधान षड्सन्दर्भ) भी वड़ा ही प्रौढ तथा अनुपम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रणयन का श्रेय तो

---

१. मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपोदितो रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः॥२॥
—उज्ज्वलनीलमणि ; नायकभेद।

२. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्चितः भावः प्रोक्तः॥
—काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास।

३. उज्ज्वलनीलमणि (काव्यमाला-सं०) पृ० ७३–९८।

सामान्यतः श्रीजीवगोस्वामी को दिया जाता है, जो रूपगोस्वामी के अनुज वल्लभ के पुत्र और इस प्रकार उनके भ्रातुष्पुत्र थे। परन्तु, जीवगोस्वामी ने ग्रन्थ के आरम्भ में जो कुछ कहा है, उससे पता चलता है कि इस ग्रन्थ के प्रथम प्रणयन का कार्य किया था दक्षिणदेशीय भट्ट ने, जो रूपगोस्वामी तथा सनातन के बान्धव बतलाये गये हैं और जिन्होंने मध्व आदि आचार्यों के विरचित ग्रन्थों के अध्ययन से सार ग्रहण कर इस ग्रन्थ की रचना की थी। परन्तु, यह ग्रन्थ क्रान्त (क्रम से स्थित), व्युत्क्रान्त (व्युत्क्रम-युक्त) तथा खण्डित (छिन्न-भिन्न) हो गया था। फलतः, जीवगोस्वामी ने इस पुरातन आलेख की पर्यालोचना कर उसे क्रमबद्ध कर नवीन रूप प्रदान किया है, और यही है प्रौढ भागवत सन्दर्भ नामक ग्रन्थ।

गोपालभट्ट

'तत्त्वसन्दर्भ' के ऊपर बलदेव विद्याभूषण की टीका से पता चलता है कि इन भट्टजी का नाम **गोपालभट्ट** था।[1] ये गौडीय षट् गोस्वामियों में अन्यतम थे, जिन्होंने चैतन्य-मत की प्रतिष्ठा के लिए वृन्दावन में निवास कर ग्रन्थों का प्रणयन किया था। ये श्रीरंगम्क्षेत्र के निवासी वेंकटभट्ट के पुत्र प्रबोधानन्द सरस्वती के भतीजे थे। इनका जन्म १५०३ ई० में माना जाता है। बहुत सम्भव है कि महाप्रभु से इनका साक्षात्कार दक्षिण-यात्रा के अवसर पर हुआ हो। कहते हैं कि चैतन्य ने इनके बैठने के लिए अपना आसन और डोरी भेजी थी और पत्र लिखकर रूपसनातन को आदेश दिया था कि वे इन्हें भाई समझें। सम्भवतः, इसी घटना का उल्लेख श्रीजीव-गोस्वामी ने 'कोऽपि तद्बान्धवो भट्टो' वाक्य में किया है। इनके उपास्यदेव श्रीराधारमणजी थे। नाभादासजी ने अपने 'भक्तमाल' में इनकी अलौकिक शक्ति का परिचय देते हुए लिखा है कि प्रथमतः इनके उपास्य शालग्राम के मूर्तिरूप से विराजते थे, परन्तु भट्टजी के दिव्य भक्ति-भावना से प्रसन्न होकर उस मूर्ति में हाथ पैर निकल आये, जिससे वे मुरली-धारी राधारमणजी बन गये। ये अपने प्रखर पाण्डित्य के लिए गौडीय गोस्वामियों में खूब प्रख्यात थे। श्रीसनातन गोस्वामी का वह प्रौढ़ हरिभक्तविलास, जो गौडीय वैष्णवों के लिए कर्मकाण्ड प्रस्तुत करता है, गोपालभट्ट के द्वारा उपबृंहित किया गया था। इन्होंने ही प्रथमतः भक्ति के तत्त्वों की शास्त्रीय विवेचना तथा विश्लेषण के लिए षड्सन्दर्भ का आद्य रूप निर्माण किया, जिसमें उपबृंहण तथा क्रमबद्धता लाने का कार्य श्रीजीवगोस्वामी ने किया।

जयतां मथुराभूमौ श्रीलरूपसनातनौ।
यौ विलेखयतस्तत्त्वं ज्ञापकौ पुस्तिकामिमाम् ॥ ३ ॥
कोऽपि तद्बान्धवो भट्टो दक्षिण-द्विजवंशजः।
विविच्य व्यलिखद् ग्रन्थं लिखिताद् वृद्ध वैष्णवैः ॥ ४ ॥
तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं क्रान्तव्युत्क्रान्तखण्डितम्।
पर्यालोच्याथ पर्यायं कृत्वा लिखति जीवकः ॥ ५ ॥

---

१. इनकी संक्षिप्त जीवनी के लिए द्रष्टव्य, बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय (प्र० नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१०) पृ० ५१२–५१३।

ये तीनों श्लोक 'तत्त्वसन्दर्भ' के आरम्भ में पाये जाते हैं। अन्य सन्दर्भों के आरम्भ में केवल दो ही श्लोक मिलते हैं, जिनमें अन्तिम श्लोक तो ऊपरवाला ही अन्तिम श्लोक है। प्रथम श्लोक इस प्रकार है—

तौ सन्तोषयता सन्तौ श्रीलरूपसनातनौ।
दक्षिणात्येन भट्टेन पुनरेतद् विविच्यते ॥

यह ग्रन्थरत्न वैष्णव पुराणों का विशेषतः श्रीमद्भागवत का आश्रय लेकर निर्मित किया गया है। इसके 'भागवत सन्दर्भ' नाम से ही प्रमाणित होता है कि इसका मुख्य आधार श्रीमद्भागवतपुराण ही है। इसमें छह सन्दर्भ या प्रकरण हैं (जिस कारण यह षड्सन्दर्भ नाम से विशेष विख्यात हैं)—तत्त्वसन्दर्भ, भगवत्-सन्दर्भ, परमात्मसन्दर्भ, श्रीकृष्णसन्दर्भ, भक्तिसंदर्भ तथा प्रीतिसन्दर्भ। इनमें अन्तिम तीन सन्दर्भों में राधा का तत्त्व बड़े ही विस्तार तथा प्रमाण के साथ विवृत है। श्रीजीवगोस्वामी के इस विवरण से स्पष्ट है कि वे अपने सिद्धान्तों में नूतनता नहीं स्वीकार करते, प्रत्युत भागवत तथा विष्णुपुराण की आधारभूमि पर यह दिव्य राधा-प्रासाद प्रतिष्ठित करते हैं। इस ग्रन्थ में प्राचीन श्लोक केवल उद्धृत ही नहीं किये गये हैं, प्रत्युत उनकी विस्तृत व्याख्या करके उनकी विस्पष्ट संगति दरसाई गई है; इस प्रकार यह ग्रन्थ पुराणों के ऊपर आश्रित होने पर भी एक नवीन दार्शनिक दृष्टिकोण को अग्रसर करता है। एक बात ध्यान देने की है। ग्रन्थकार ग्रन्थ की पुष्पिका में 'भागवत सन्दर्भ' को 'श्रीरूपसनातनानुशासनभारतीगर्भ' कहता है। इसी की टीका से पता चलता है कि वह रूपसनातन के उपदेश-वाक्यों से गर्भित है।[1] फलतः, ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्त किसी एक ग्रन्थकार की विमर्श-शक्ति का फल नहीं है, प्रत्युत यह पूरे गौडीय गोस्वामियों के द्वारा विवेचित परिनिष्ठित सिद्धान्तों का मञ्जुल पुञ्ज है।

कृष्णदास कविराज

'चैतन्यचरितामृत' गौडीय वैष्णवों के तथ्य तथा सिद्धान्त के लिए उतना ही उपादेय है, जितना चैतन्य महाप्रभु की जीवनी के लिए। 'व्रजबुली' में निर्मित यह बँगला ग्रन्थरत्न प्रामाणिकता तथा शास्त्रीय समीक्षा के विषय में नितान्त अनुपम है, एकदम बेजोड़ है। इसके रचयिता कृष्णदास कविराज अपने युग के वृन्दावनवासी एक महनीय भक्त तथा साधक थे। ये श्रीजीवगोस्वामी के समकालीन थे। जन्म तो इनका हुआ था १४९६ ई० में वंगाल के वर्दवान जिले के एक छोटे ग्राम में; परन्तु, माता और पिता की छत्रच्छाया से ये अपने वाल्यकाल में ही वंचित हो गये। पिता भगीरथ की मृत्यु इनके वाल्यकाल में ही हो गई और माता सुनन्दा देवी भी अपने पति की मृत्यु से कुछ ही सप्ताह में दिवंगत हो गई। फलतः, ये विरक्त होकर घर से उसी समय निकल पड़े और अपना सुदीर्घ जीवन वृन्दावन में ही विताया—एक साधक तथा नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में। ७९ वर्ष के वय में वृन्दावन की वैष्णव-मण्डली ने महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव का जीवनचरित लिखने के लिए इनसे सातिशय आग्रह किया। ऐसा सुयोग्य व्यक्ति भी कहाँ मिल सकता था, जिसने

१. यो श्रीरूप सनातनौ तयोरनुशासनभारत्य उपदेशवाक्यनि गर्भे मध्ये यस्य तस्मिन्।
—बलदेव विद्याभूषणः, तत्त्वसन्दर्भ-टिप्पणी।

उस महाप्रभु के चरित को समीप से देखा था; उनके साक्षात् शिष्यों से भेंट कर उनके दिव्य उपदेश तथा अलौकिक व्यक्तित्व का परिचय पाया था तथा वैष्णव-शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया था। उस आग्रह को स्वीकार कर तथा पूर्वरचित-'चैतन्य भागवत' के लेखक वृन्दावनदास से सम्मति माँगकर इन्होंने अपना अनुपम ग्रन्थ सात वर्षों के घोर परिश्रम के अनन्तर १५८२ ई० में समाप्त किया। इनकी मृत्यु की भी कहानी बड़ी विलक्षण है। सन् १५९८ ई० में श्रीजीवगोस्वामी ने अपने तीन प्रमुख शिष्यों—श्रीनिवास आचार्य, नरोत्तम तथा श्यामानन्द—को भागवत धर्म के प्रचारार्थ गोस्वामियों द्वारा लिखित ग्रन्थों के हस्तलेख के साथ बंगाल भेजा। इन हस्तलेखों में कृष्णदास कविराज के 'चैतन्य चरितामृत' की भी एक प्रति भेजी गई। परन्तु दुर्भाग्यवश रास्ते में ही वीर हम्वीर नामक विष्णुपुर के डाकू राजा ने इसे वहुमूल्य खजाना समझकर लुटवा लिया। इसकी खबर जब वृन्दावन में वृद्ध कविराज के कानों तक पहुँची, तब वे उस दुःखद दुर्घटना के आघात को सह नहीं सके और तुरन्त ही लगभग १०२ साल की आयु में वे मृत्यु के ग्रास बन गये। समसामयिक लेखक नित्यानन्ददास के 'प्रेमविलास' में इस घटना का उल्लेख इसी प्रकार किया गया है, जो सर्वथा मान्य तथा प्रामाणिक है। श्रीनिवास आचार्य के अश्रान्त परिश्रम से वह लुटी हुई ग्रन्थ-राशि तुरन्त उपलब्ध हुई और इस प्रकार 'चैतन्यचरितामृत' कराल काल के गाल से बचकर निकल आया और वैष्णव धर्म के प्रचार का परम लोकप्रिय ग्रन्थ बना।

चैतन्यचरितामृत

यह ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है—(१) आदिलीला (१७ सर्ग) में चैतन्य के अवतार की पूर्वपीठिका तथा भक्ति-मार्ग का मुख्यतः विवरण है। (२) मध्यलीला (२५ सर्ग) में चैतन्य के जन्म, लीला तथा यात्राओं का विशद वर्णन है। प्रसंगतः उनके उपदेशों का बड़ा ही विशद वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है। (३) अन्तलीला (२० सर्ग) चैतन्य के अन्तिम लीला का यहाँ वर्णन है, जिसमें रूप के साथ प्रयाग में भेंट, काशी में सनातन को उपदेश, वल्लभभट्ट के साथ शास्त्रार्थ आदि अनेक प्रख्यात घटनाओं का समुल्लेख उपलब्ध होता है साथ-ही-साथ उनके कीर्तनों की प्रक्रिया और तज्जन्य दिव्योन्माद का बड़ा ही मंजुल वर्णन इसे उपादेय बना रहा है। यह काव्य तथा शास्त्र, इतिहास तथा दर्शन दोनों दृष्टियों से उपादेय तथा ग्राह्य है। कृष्णदास कविराज ने बड़ी सरल भाषा में गूढ वैष्णव रहस्यों का उद्घाटन किया है, चैतन्यविषयक अनेक कथानकों तथा सुखद-प्रसंगों के वर्णन से ग्रन्थ को रोचक बनाया है तथा शास्त्रीय विवेचन को पुष्ट तथा परिमार्जित बनाने के लिए संस्कृत के प्रमाणों को बहुशः उद्धृत किया है। वे संस्कृत के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे जैसा उनके 'गोविन्दलीलामृत' 'कृष्णकर्णामृत व्याख्या' आदि ग्रन्थों की रचना से स्पष्टतः प्रमाणित होता है। फलतः, रूपगोस्वामी तथा जीवगोस्वामी के पूर्वोक्त ग्रन्थों में निर्णीत तत्त्व सुबोध व्रजबुली में अनेक घरेलू उदाहरणों से पुष्ट होकर इतनी सरसता से यहाँ प्रतिपादित किये गये हैं कि गूढ रहस्य भी हस्तामलकवत् प्रतीत होने लगते हैं।

इस ग्रन्थ में राधातत्त्व का विवेचन अनेक स्थलों पर किया गया है। इतना ही नहीं, इनकी दृष्टि में श्रीचैतन्य महाप्रभु ही राधा के अवतार थे। फलतः, गौरतत्त्व तथा राधातत्त्व दोनों तत्त्वों का परस्पर में एक दूसरे के विकास पर समधिक प्रभाव पड़ा है। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर चैतन्यमत में राधातत्त्व का एक संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

(२) तत्त्व विवेचन

चैतन्य-मत में राधा तत्त्व को यथार्थ रीति से समझने के लिए गौडीय वैष्णवों के द्वारा व्याख्यात शक्ति तत्त्व का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। शक्ति की न्यूनाधिक सत्ता के कारण मूल वस्तु तीन प्रकार की होती है—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यद् ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

—भागवत, १।२।११

अर्थात्, जो अद्वय ज्ञान है, उसे ही तत्त्ववेत्ता लोग तत्त्व नाम से पुकारते हैं। वही ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् शब्द के द्वारा अभिहित किया जाता है। स्कन्दपुराण के एकवचन[1] के द्वारा यह जाना जाता है कि उस मूल वस्तु को उपनिषन्निष्ठ लोग ब्रह्म कहते हैं, अष्टांगयोगी परमात्मा कहते हैं, ज्ञानयोगी ज्ञान कहते हैं और भागवतों के द्वारा वे भगवान् कहे जाते हैं। फलतः, निर्विशेष, निर्गुण चैतन्यराशि 'ब्रह्म' नाम से अभिहित होती है और वही सविशेष तथा सगुण चैतन्य राशि 'भगवान्' पद से कही जाती है। 'भगवान्' व्रजेश्वर श्रीकृष्ण का ही अपर पर्याय है। ब्रह्म रूप रस आदि गुणों से रहित होता है, भूमि आदि विशेषों से अस्पृष्ट रहता है, वह अमूर्त्तिक होता है। जिस प्रकार सूर्य की प्रभा होती है, उसी प्रकार वह सूर्यस्थानीय भगवान् की प्रभा के समान है—

ब्रह्म निर्धर्मकं वस्तु निर्विशेषममूर्तिकम् ।
इति सूर्योपमस्यास्य कथ्यते तत् प्रभोपमम् ॥

गीता के द्वारा भी इस तथ्य का समर्थन होता है। श्रीकृष्ण ने गीता में अपने स्वरूप की व्याख्या के प्रसंग में स्पष्ट ही अपने को 'ब्रह्म' की प्रतिष्ठा वतलाया है।[2] 'प्रतिष्ठा' का अर्थ का अर्थ है—प्रतिष्ठीयते अस्यामिति व्युत्पत्तेः परमाश्रयः– परम आश्रय। अर्थात्, ब्रह्म का आश्रय भगवान् हैं। फलतः, वह ब्रह्म की अपेक्षा कहीं अधिक विशद, व्यापक तथा महत्त्वशाली है। ब्रह्म के भीतर शक्ति का न्यूनतम विकास है। शक्ति के सर्वोत्तम विकास से सम्पन्न जो तत्त्व है, वही भागवत तत्त्व है। फलतः, जिसके भीतर शक्ति का पूर्णतम विकास सम्पन्न होता है, वह न्यूनतम विकासवाले पदार्थ से पूर्ण होता है, यह स्वाभाविक है। इसलिए, गौडीय मत में ब्रह्म अंश है और भगवान् अंशी है। उपनिषदों में जिस ब्रह्म का विशेष तथा विशद रूप से विवरण उपलब्ध होता है, वह भगवान् की अंगच्छटा है। भगवान् यदि सूर्य हैं, तो ब्रह्म उस सूर्य का किरण-मण्डल है—

ताहार अंगे शुद्ध किरणमण्डल
उपनिषद् कहे तारे ब्रह्म सुनिर्मल।

---

१. भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः ।
ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः ॥
—लघुभागवतामृत, १।९४ पर उद्धृत।

२. ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
—गीता, १४।२७

दोनों के पार्थक्य का सूचक एक सुन्दर विवरण 'भागवत सन्दर्भ' में दिया गया है। वह एक ही अखण्डानन्द स्वरूप तत्त्व है। उससे परमहंस लोग अपने अनेक साधनों के द्वारा 'तादात्म्यापन्न' तो हो जाते हैं, परन्तु उसकी स्वरूप शक्ति की विचित्रता को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होते। वह वस्तु सामान्य रूप से जैसे लक्षित होती है, वैसे ही स्फुरित होती है। उसमें शक्ति तथा शक्तिमान् के परस्पर विभेद का ग्रहण न होकर वह अभेद रूप से ही गृहीत होती है। वही ब्रह्म है—

तदेकमेव अखण्डानन्दस्वरूपं तत्त्वं थुत्कृत-पारमेष्ठ्यादिकानन्द-समुदायानां परमहंसानां साधनवशात् तादात्म्यापन्ने सत्यामपि तदीयस्वरूप-शक्ति-वैचित्र्यायां तद् ग्रहणासमर्थे चेतसि यथा सामान्यतो लक्षितं तथैव परिस्फुरद् वा तद्वदेव अविविक्त-शक्ति-शक्तिमत्ताभेदतया प्रतिपद्यमानं वा ब्रह्मेति शब्द्यते। (भगवत्-सन्दर्भ, पृ० ४९)

वही तत्त्व स्वरूपभूत शक्ति के द्वारा एक अनिर्वचनीय 'विशेष' भाव को धारण करता है, वह अन्य शक्तियों का (जीवशक्ति तथा मायाशक्ति का) आश्रय होता है तथा ब्रह्मानन्द को तिरस्कृत करनेवाले अनुभवानन्द के द्वारा भागवत परमहंस लोगों के द्वारा अनुभूत होता है, वह अन्तरिन्द्रिय तथा वहिरिन्द्रिय में स्फुरित होता है, तव वह शक्ति और शक्तिमान् के भेद-रूप से गृहीत किया जाता है। वह भगवान् कहलाता है—**अथ तदेकं तत्त्वं स्वरूपभूतयैव शक्त्या कमपि विशेषं धर्तुं परासामपि शक्तिनां मूलाश्रयरूपं तदनुभवानन्दसन्दोहैरन्तर्भावित तादृश ब्रह्मानन्दानां भागवत-परमहंसानां तथानुभवैकसाधनतमतदीयस्वरूपानन्दशक्तिविशेषात्मकं भक्ति भावितेषु अन्तर्बहिरपीन्द्रियेषु परिस्फुरद् वा तद्वदेव विविक्त-तादृश-शक्ति-शक्तिमत्ता भेदेन प्रतिपद्यमानं वा भगवानिति शब्द्यते। (भगवत सन्दर्भ, पृ० ५०)**

फलतः, 'अविविक्तशक्ति शक्तिमताभेद' से प्रतिपद्यमान होता है ब्रह्म तथा 'विविक्तशक्ति शक्तिमताभेद' से प्रतिपद्यमान होता है भगवान्। इसलिए दोनों में अन्तर है।

रूपगोस्वामी ने एक अन्तर और भी दिखलाया है। वहुगुणाश्रय पदार्थ का ग्रहण विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा नाना रूप से होता है। यह ग्रहण पदार्थ को आंशिक रूप से ही प्रकट करता है, सम्पूर्ण रूप से नहीं। दूध मीठा भी है और सफेद भी। दुग्ध के माधुर्य का ज्ञान हमें जिह्वा कराती है, परन्तु उसकी श्वेतता का ज्ञान नहीं करा सकती; इसी प्रकार चक्षु दुग्ध के श्वैत्य का ज्ञान कराती है, माधुर्य का नहीं। फलतः, इन विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा दूध के स्वरूप का पूरा परिचय नहीं मिलता। यह परिचय मिलता है चित्त के द्वारा। इसी प्रकार, अन्य उपासना वहिरिन्द्रिय-स्थानीया है और भक्ति चित्तस्थानीया। अन्य उपासना के द्वारा वस्तु के केवल एक ही रूप का बोध होता है, परन्तु भक्ति के द्वारा परमार्थ का पूर्ण लाभ होता है। निर्विशेष ब्रह्म का प्रकाश ज्ञानयोग के द्वारा गृहीत होता है और अनन्त तथा स्वरूपशक्ति-विशिष्ट भगवान् का प्रकाश भक्ति-योग के द्वारा गृहीत होता है।[1] फलतः स्वरूप शक्ति की विचित्रता के कारण ब्रह्म की अपेक्षा भगवान् का उत्कर्ष साधित होता है।

---

१. **इति प्रवरशास्त्रेषु तस्य ब्रह्मस्वरूपतः।
माधुर्यादि गुणाधिक्यात् कृष्णस्य श्रेष्ठतोच्यते ॥९५॥**

—लघुभागवतामृत पृ० १५९ (वेंकटेश्वर प्रेस का संस्करण, सं० १९५९)

भगवत्-तत्त्व का विवेचन

राधातत्त्व से परिचय होने से प्रथम भगवत्-तत्त्व का अनुसन्धान नितान्त आवश्यक है, इसलिए इस परिच्छेद में इसीका विवेचन किया जायगा। इस संसार के विषय-प्रपंच में पड़ा हुआ जीव अपने को चारों ओर से विचित्र पदार्थों से घिरा हुआ पाता है। वे सदा उसे बाहर की ओर ले जाते हैं—स्त्री का प्रेम, सन्तान की ममता, बन्धु-बान्धवों का स्नेह, जागतिक वस्तुओं का आकर्षण। जीव का प्रधान लक्ष्य है—सुख की प्राप्ति, आनन्द की उपलब्धि। उसकी प्रत्येक क्रिया के अन्तराल में यही सुख-भावना झाँकती रहती है। मनुष्य जाने या न जाने, यही भोग-तृष्णा उसे बेचैन किये रहती है, व्याकुल बनाये रहती है, चारों ओर घुमाया करती है। विषयों के फेर में जीव समझता है कि आनन्द की उपलब्धि उसे कहीं बाहरी वस्तुओं से ही मिल सकती है और इसीलिए वह बाह्य दृष्टि में ही अपना जीवन बिताता है। कस्तूरीमृग कस्तूरी की गन्ध से मस्त होकर उसकी खोज में जंगल का कोना-कोना छान डालता है, परन्तु वह हताश तथा निराश होकर लौट आता है। वह जानता नहीं है कि जिसकी खोज में वह बेचैन है, वह तो बसती है उसकी नाभि में। जीव की भी यही दशा है। वह बाहरी चीजों में ही सुख पाने की अभिलाषा से नाना कार्यों का सम्पादन करता है, परन्तु हताश होकर वह अपने को नितान्त अपूर्ण और भग्न-मनोरथ पाता है। वह जानता नहीं कि अखण्ड आनन्द का निधान आत्मा तो वह स्वयं है। उसे अपने को ही टटोलना चाहिए। अन्तर्दृष्टि से ही वास्तव कल्याण तथा अखण्ड सुख की प्राप्ति हो सकती है। फलतः, साधना-मार्ग पर अग्रसर होने के लिए साधक में अन्तर्दृष्टि का होना नितान्त आवश्यक है।

अन्तर्दृष्टि से अवलोकन करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि जगत् के प्रत्येक पदार्थ में ब्रह्म की सत्ता उसी प्रकार है, जिस प्रकार माला में सूत्र। ऊपर से देखने पर जान पड़ता है कि माला की एक ही लड़ी है, परन्तु वास्तव में उसमें अलग-अलग मणि हैं। वह वस्तु जिसके कारण इनमें एकीकरण होता है, वह है सूत्र—सब मणियों को पिरोनेवाला, एकता में बाँध रखनेवाला डोरा। यदि वह सूत्र न हो, तो सब मणियाँ अलग-अलग बिखरे हुए होते। संसार में इसी प्रकार सब प्राणी अलग-अलग हैं, सबका भाग्य अलग है; सबका कार्य अलग है, परन्तु उस भगवान् के कारण ही एकता बनी हुई है। मणियों में सूत्र की तरह वह सबके भीतर सूत्ररूप से रहनेवाला है। सूत्र की उपमा बड़ी प्राचीन है। 'सूत्रे मणिगणा इव' की गीतावाली उपमा तो प्रसिद्ध ही है, परन्तु उससे भी प्राचीन उपमा अथर्ववेद की है। वहाँ भगवान् 'सूत्रस्य सूत्रं' (सूत्र का सूत्र) कहे गये हैं (अथर्व, काण्ड ११, सूक्त ८)। हमें उसकी स्थिति का आपाततः पता नहीं चलता; क्योंकि ऊपर से तो कुछ दिखलाई नहीं पड़ता, पर भीतर-ही-भीतर वह सर्वत्र विद्यमान है। उसी की प्राप्ति के क्रमिक विकास का यहाँ एक चिन्तन है।

ब्रह्म की प्राप्ति

ब्रह्म की प्राप्ति के लिए साधक को बाह्य जगत् से हटकर अन्तर्जगत् की ओर बढ़ना होता है। अपना देहाध्यास छोड़ना पड़ता है। आरम्भ में साधक देह के प्रत्येक अवयव की परीक्षा कर इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि चैतन्य का आधार वह आत्मा न तो हाथ है, न पैर है, न सिर है और न अन्य अवयव। अनन्तर वह अन्तःकरण पर पहुँचता है और विचार कर देखने से प्रतीत

होता है कि अन्तःकरण की वृत्तियों को भी हम ब्रह्म नहीं मान सकते। तब अन्तरंग में प्रवेश कर वह अपने यथार्थ सच्चिदानन्द स्वरूप की उपलब्धि करता है। उस ज्ञान की प्राप्ति से पूर्व यह समस्त विश्व मायिक प्रतीत होता है माया का कार्य होने से। ब्रह्म ही 'एकमेवाद्वितीयं' पदार्थ है। वही त्रिकाल में अबाधित होने से सत्य है। माया का स्वरूप विलक्षण है। उसे अस्ति भी नहीं कह सकते, नास्ति भी नहीं कह सकते। ब्रह्म का ज्ञान होने पर माया का ज्ञान बाधित हो जाता है; यदि वह 'सत्' होती, तो कभी बाधित नहीं होती; परन्तु उसका बाध होता है ज्ञानी पुरुष के लिए। फलतः, वह सद्रूपा नहीं है। असद्-रूपा भी उसे हम नहीं कह सकते; क्योंकि ऐसी दशा में उसकी प्रतीति ही किस प्रकार होती? परन्तु उसकी प्रतीति होती है अवश्य; फलतः उसे असद्रूपा कहना भी अयथार्थ है। एक संस्कृत-वाक्य में हम कह सकते हैं—'सत् चेत् न बाध्येत' (यदि सत् होती, तो कभी बाधित नहीं होती) असत् चेत् न प्रतीयेत (यदि असत् होती, तो उसकी प्रतीति नहीं होती)। फलतः माया में 'बाध' तथा 'प्रतीति' जैसे विरुद्ध धर्मों के रहने के कारण उसे 'अनिर्वचनीया' कहना पड़ता है।

यह माया जीव के सच्चे सच्चिदानन्द स्वरूप के ऊपर एक गाढ आवरण डाले रहती है। ज्ञान के द्वारा उस आवरण का भंग होता है; तब सच्चिदानन्द ब्रह्म की उपलब्धि जीव को होती है। वेदान्त का गुरु अपने शिष्य को अध्यारोप और अपवाद-विधि से उसे ब्रह्मस्वरूप के ज्ञान कराने में समर्थ होता है। प्रपंच के भीतर से निष्प्रपंच को पाने का यही मार्ग है। आत्मा के ऊपर प्रथमतः शरीर का आरोप किया जाता है। तदनन्तर युक्ति-बल से आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय पंच कोशों के अतिरिक्त तथा त्रिविध स्थूल (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) शरीरों से पृथक् सिद्ध कर देने पर ब्रह्म का असली रूप स्वतः भासित होने लगता है। मूल-तत्त्व में अनन्त शक्तियों की सत्ता है, परन्तु इस दशा में वे समग्र शक्तियाँ अन्तर्लीन, सुप्त या अप्रबुद्ध दशा में रहती हैं। ब्रह्म-ज्ञान होने पर जीव उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है; क्योंकि जीव स्वयं सच्चिदानन्द रूप होने से ब्रह्म से कोई भिन्न पदार्थ नहीं होता। इस दशा में जीव तथा ब्रह्म की एकता स्थापित हो जाती है। इस स्थिति पर पहुँच कर वह देखता है कि जगत् असत्य है, मायिक है, मिथ्या है, परन्तु अलीक नहीं। जो विज्ञानवादी बौद्ध जगत् को स्वप्न के समान अलीक मानते हैं, उनका यह मत यथार्थ नहीं है।[1]

माया

माया के कारण ही इस ब्रह्म को विद्वान् लोग नहीं जान सकते। उसमें विरुद्ध नाना शक्तियों का निवास है। भागवत में ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है—पृथ्वी का वचन है कि आप (ब्रह्म) ही पञ्चभूत, इन्द्रिय, उनके अधिष्ठातृदेवता, बुद्धि और अहंकार-रूप अपनी शक्तियों के द्वारा क्रमशः जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार

---

१. इस मत की मीमांसा के लिए देखिए, बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ४४९–४५० (षष्ठ संस्करण, १९६०, काशी)

करते हैं। भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए समय-समय पर आपकी विरुद्ध शक्तियों का आविर्भाव-तिरोभाव हुआ करता है । आप साक्षात् परम पुरुष तथा जगत् के विधाता हैं—

सर्गादियोऽस्यानुरुणद्धि शक्तिभिः
द्रव्य क्रियाकारक चेतनात्मभिः ।
तस्मै समुनद्धविरुद्धशक्तये
नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे ॥

—भागवत, ४।१७।३३

ब्रह्म में विरुद्ध शक्तियों का सन्तत निवास रहता है। ये शक्तियाँ स्वाभाविक हैं तथा अचिन्त्य हैं। इस विषय में श्रुति तथा पुराण दोनों का समान प्रमाण उपस्थित किया जा सकता है। श्रुति का इस विषय में स्पष्ट कथन है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।

—श्वेताश्वतर उप० ।

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः ।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः ॥

—विष्णुपुराण का वचन

श्रीधरस्वामी की टीका के अनुसार शक्ति के अचिन्त्य ज्ञान के गोचर होने का तात्पर्य यह है कि वह ज्ञान-तर्क को सह नहीं सकती; उसके माने विना कार्य की उपपत्ति हो नहीं सकती। शक्तियाँ ऐसे ही ज्ञान की गोचर हुआ करती हैं। ब्रह्म की सर्ग, स्थिति तथा लय की कारणभूता शक्तियाँ, भावशक्तियाँ, अर्थात् स्वभावसिद्ध शक्तियाँ हैं, अग्नि की दाहक शक्ति के समान। यही कारण है कि गुणादि से हीन ब्रह्म में अचिन्त्य शक्तिमत्ता होने के कारण सर्गादि का कर्त्तृत्व सर्वथा संघटित होता है।[1] 'अचिन्त्य' शब्द का अर्थ है—'दुर्घटघटकत्वम्', अर्थात् दुर्घट होनेवाली वस्तुओं को घटित करने की योग्यता रखनेवाला। ब्रह्म की शक्तियों की यही विशिष्टता है, जिसके हेतु वह एक होते हुए भी चतुर्धा अवस्थिति धारण करता है। इस प्रसंग में जीवगोस्वामी ने 'भागवत सन्दर्भ' में 'सूर्यान्तर्मण्डलस्थ तेज' की उपमा प्रस्तुत की है। इस उपमा को सावधानी से समझने की आवश्यकता है। सूर्य के अन्तर्मण्डल में रहनेवाला तेज चार प्रकार से अवस्थिति धारण करता है (क) मण्डलस्थ तेज—वह तेज, जो आदित्य-मण्डल के भीतर निवास करता है; (ख) बहिर्गत तेज, जो आदित्य-मण्डल के बाहरी स्थानों में निवास करता है। (ग) रश्मिगत तेज, किरणों में रहनेवाला तेज तथा (घ) तत्प्रतिच्छवि तेज, अर्थात् वह तेज, जो किरणों के प्रतिच्छवि-रूप नाना वर्णों में रहता है। इसी प्रकार वह ब्रह्म भी अपनी स्वाभाविक अचिन्त्य शक्तियों के

---

१. अचिन्त्यज्ञानगोचराः। अचिन्त्यं तर्कासहं यज्ज्ञानं कार्यान्यथानुपपत्तिप्रमाणकं, तस्य गोचराः। यद्वा अचिन्त्या भिन्नाभिन्नादि विकल्पैश्चिन्तयितुमशक्याः केवलमर्थापत्तिज्ञान-गोचराः सन्ति। भावशक्तयः स्वभावसिद्धाः शक्तयः।

—पूर्वोक्त श्लोक की श्रीधरी टीका।

द्वारा चतुर्धा अवस्थान करता है—(क) स्वरूप-शक्ति नाम्नी अन्तरंग-शक्ति के द्वारा वह अपने पूर्ण स्वरूप में विकसित होता है। (ख) वैकुण्ठ आदि स्वरूप वैभव-रूप से ही वही अवस्थान करता है। (ग) चिदेकात्म शुद्ध जीव के रूप से उसकी अवस्थिति रश्मिगत तेज के समान कही जा सकती है। (घ) माया नामक बहिरंगा-शक्ति के द्वारा वही बहिरंग वैभव रूपी जड प्रधान रूप से अवस्थित रहता है। इसकी तुलना रश्मि के प्रतिच्छविगत तेज से की जा सकती है।[1]

निष्कर्ष यही है कि वह एक ही ब्रह्म अचिन्त्य शक्तियों के बल पर चतुर्धा अवस्थान करता है—स्वरूप से, वैभव से, जीवरूप से तथा प्रधान रूप से। ध्यान देने की बात है कि ब्रह्म की ये शक्तियाँ विद्यमान होते हुए भी अव्यक्त रहती हैं—अप्रकट रहती हैं, अन्तर्लीन रहती हैं—भीतर छिपी रहती हैं। फलतः, ब्रह्म के रूप में शक्तियों का स्फुटन अव्यक्त तथा अप्रकट ही रहता है। यही है ब्रह्मपदार्थ। इसकी प्राप्ति होती है ज्ञान के द्वारा ही। ज्ञान की दृष्टि से हम जगत् के समस्त पदार्थों का विश्लेषण करते-करते अन्त में जहाँ टिक जाते हैं, सब वस्तुओं को हटाते-हटाते जो अन्त में अवशिष्ट रहता है, उसे ही हम ब्रह्मरूपेण जानते हैं। अपरोक्षत्वेन उसका ज्ञान होना ही ब्रह्म की प्राप्ति है। इस साधना-मार्ग का नाम है त्याग-मार्ग, नेतिनेति-मार्ग; क्योंकि यहाँ सब वस्तुओं का त्याग कर ही ब्रह्मस्वरूप की प्रतिष्ठा निर्दिष्ट की गई है। इस मार्ग की त्रुटि यह है कि यह मार्ग एकांगी ठहरता है। पूर्ण साधना में 'त्याग' के अनन्तर 'ग्रहण' का विधान पाया जाता है। इसे एक लौकिक दृष्टान्त के सहारे समझना आवश्यक है।

कोई ग्रामीण व्यक्ति नागर जीवन के भोग-विलास, वैभव तथा चाकचिक्य से इतना प्रभावित होता है कि वह अपने ग्राम्य जीवन को ठुकराकर शहर में आकर रहने लगता है। कच्चे मकान के स्थान वह पक्के महल में रहने लगता है। मिट्टी के दिये की जगह वह बिजली की रोशनी का इस्तेमाल करता है। धूलि-भरी गलियों की जगह वह धूलि-विहीन सड़कों के ऊपर टहलना पसन्द करता है। उसने ग्राम का सर्वथा परित्याग कर दिया; परन्तु क्या वह उन्नति कहलायेगी? कभी नहीं। उसकी उन्नति तो तब होगी, जब नागरिक जीवन के भोग-विलास को तथा आधुनिक जीवन की सौख्य-सम्पदा को वह अक्षरशः अपने गाँव में लाने में समर्थ होता है। वह पहिले तो गाँव को हीन-दीन निकृष्ट समझकर उसे छोड़कर शहर में जाता है (त्याग), परन्तु पीछे उसकी सुन्दर वस्तुओं को ग्रहण कर फिर अपने गाँव में लौट आता है (ग्रहण)। इस बार का ग्राम्यजीवन विशेष स्फूर्त्तिमय, उल्लासमय प्रतीत होता है। वह पुराना न होकर सर्वथा नूतन ही होता है।

निष्कर्ष रूप में ज्ञानमार्ग की त्रुटि यह है कि यह एकांगी मार्ग हुआ। साधना का आरम्भ जिस स्थान से किया गया है, वहीं पर फिर लौट आने पर ही तो उसकी पूर्णता सिद्ध होती है। त्याग और ग्रहण, त्याग और भोग दोनों से संवलित मार्ग ही यथार्थ होता है; इसका उद्घोष 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस उपनिषद् मन्त्र के द्वारा हमारे ऋषि अत्यन्त प्राचीन काल से करते आते हैं। दूसरी बात यह भी है कि जगत् को मिथ्या मान लेना भी उचित नहीं प्रतीत होता।

---

१. तदेकं परमतत्त्वं स्वाभाविकाचिन्त्यशक्त्या सर्वदैव स्वरूप-तद्रूपवैभवजीव-प्रधान रूपेण चतुर्धाऽवतिष्ठते सूर्यान्तर्मण्डलस्थतेज इव मण्डलतद्बहिर्गतरश्मितत्प्रतिच्छविरूपेण।
—जीवगोस्वामी, भागवतसन्दर्भ, पृ० ६५

यह विश्व भी उसीका निर्माण, उसीका स्वरूप ठहरा। उसने ही तो इसे अपने भीतर से स्वतः उत्पन्न किया है। ऐसी दशा में इसे सर्वथा मिथ्या मान लेना भी उचित नहीं होता। फलतः, साधक ग्रहण-मार्ग की ओर अब अग्रसर होता है। ब्रह्म प्राप्ति होने पर उसमें 'चित् शक्ति' का उदय हो गया है। साधक के लिए सब कुछ चिन्मय हो जाता है। साधक लौटकर फिर अन्तः-करण में आता है, परन्तु अब वह अन्तःकरण पुराना अन्तःकरण नहीं रहता। अब तो यह चिन्मय हो जाता है। फलतः अब उस मूल तत्त्व का ग्रहण योगदृष्टि से किया जाता है। अब मूल तत्त्व का नाम होता है—परमात्मा।

परमात्मा का स्वरूप

परमात्मा तथा जीवात्मा में अंशी-अंश भाव की सत्ता रहती है। जीव होता है अंश और परमात्मा होता है अंशी, परन्तु जीवात्मा की चिच्छक्ति क्रमशः वृद्धिगत तथा पूर्ण होकर परमात्मा के साथ उसका ऐक्य सम्पादन करती है। धीरे-धीरे अंश बढ़ते-बढ़ते अंशी के समान आकार में हो जाता है। इसीका नाम है सायुज्य मुक्ति। ध्यान देने की बात है कि परमात्मा ब्रह्म से कई बातों में भिन्न होता है। पहली बात है शक्ति के प्रादुर्भाव की कथा। ब्रह्म में तो सर्वथा सर्व शक्तियों का अभाव रहता है, परन्तु परमात्मा में किंचित् शक्तियों का स्फुरण होता है। सृष्टि, स्थिति तथा लय की शक्तियाँ परमात्मा में ही होती हैं। माया की सत्ता अवश्यमेव रहती है, परन्तु वह विकृत या प्राकृत माया न होकर अप्राकृत होती है और इसीलिए वह शुद्ध माया या महामाया के नाम से पुकारी जाती है। जीवात्मा परमात्मा को विशुद्ध अन्तःकरण के योग से, अपनी योगदृष्टि से प्राप्त करने में समर्थ होता है। जीव का अन्तःकरण जितना ही योग के सहारे विशुद्ध, निर्मल तथा मलहीन हो जाता है, वह परमात्मा के साथ मिलन-साधन में उतना ही समर्थ और सक्षम होता है। इसे एक लौकिक दृष्टान्त से समझा जा सकता है। एक पोस्टकार्ड के कोने में एक मसी-बिन्दु पड़ा हुआ है, जो क्रमशः बढ़ता चला जाता है। यह वृद्धि इतनी होती है कि वह बिन्दु अन्त में पूरे कार्ड को व्याप्त कर लेता है। यही अन्तिम दशा है। यहाँ कार्ड परमात्मा-स्थानीय है और मसीबिन्दु जीवस्थानीय। अपने अन्तःकरण की विशुद्धि के कारण जीव परमात्मा के साथ एकाकार होने में अन्ततोगत्वा समर्थ हो जाता है। योग साधना का यही चरम लक्ष्य है—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।' परन्तु, विचारणीय प्रश्न है कि इस दशा में भी क्या दोनों जीव और परमात्मा एकरूप हो जाते हैं? या आकारगत साम्य होने पर भी दोनों का पार्थक्य उस समय भी बना ही रहता है? उत्तर स्पष्ट है। दोनों में एकरूपता है, एकता नहीं। दोनों एकाकार हो जाते हैं, परन्तु एक नहीं होते। रेखागणित की पद्धति से एक त्रिभुज के ऊपर दूसरे समान त्रिभुज को रखने पर दोनों में बाहर से एकरूपता तो अवश्यमेव दृष्टिगोचर होती है, परन्तु दोनों त्रिभुज क्या एक हो जाते हैं? नहीं, कभी नहीं। वस्तुतः, दोनों की पृथक्-सत्ता विद्यमान रहती है, केवल उस युक्तावस्था में दोनों का योग सम्पन्न हो जाता है। जीव और परमात्मा के परस्पर मिलन की भी ठीक यही दशा है।

भगवान् का स्वरूप

परमात्मा की प्राप्ति के अनन्तर भगवद्-राज्य का आविर्भाव एक स्वतः सिद्ध तथ्य है। अब विशुद्ध अन्तःकरण से नीचे उतर कर उसी देह में आना पड़ता है, जहाँ से साधना का

आरम्भ किया गया था। साधक का वह देह अब पुराना दूषित और तामस देह नहीं होता, प्रत्युत साधना के वैशिष्ट्य से वह नितान्त दीप्तिमान् और विशुद्ध सत्त्वमय देह हो जाता है। इस दशा में वह मूल वस्तु 'भगवान्' नाम से अभिहित की जाती है। इस शब्द की विशिष्ट व्याख्या यहाँ अपेक्षित है। पुराणों की निरुक्ति के अनुसार 'भगववान्' शब्द ही 'भगवान्' के रूप में प्रतिष्ठित होता है और 'भगववान्' के तीनों आदिम अक्षरों का अपना स्वारस्य तथा संकेत है। भ का अर्थ है (१) संभर्ता=भक्तों का पालक और (२) भर्त्ता=धारक या स्थापक। 'ग' का अर्थ है=नेता, अर्थात् अपनी भक्ति के फलस्वरूप प्रेम का प्रापक; गमयिता (=अपने लोक का प्रापक) तथा स्रष्टा, अर्थात् अपने भक्तों में तत्तद् गुणों का उत्पादक। 'भग' शब्द का अर्थ है समग्र ऐश्वर्य, समग्र वीर्य, समग्र यश, समग्र लक्ष्मी, समग्र ज्ञान और समग्र वैराग्य। 'व' अक्षर का अर्थ है वह अखिलात्मा, जिसमें समस्त भूत निवास करते हैं तथा जो अशेष प्राणियों में वास करता है। इसका संकेत 'व' वर्ण के द्वारा किया गया है। इस प्रकार 'भगव' से युक्त होने के कारण वह परमतत्त्व 'भगववान्', अर्थात् भगवान् कहा जाता है। तात्पर्य है कि जिसमें ज्ञान शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य तथा तेज समग्र रूप से विद्यमान रहते हैं और जो हेय गुणादिकों से रहित है, वह 'भगवान्' कहलाता है।

सम्भर्तेति तथा भर्त्ता भकारोऽर्थद्वयान्वितः ।
नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः
ज्ञान विज्ञानयोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥
वसन्ति यत्र भूतानि भूतान्यखिलात्मनि ।
स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः ॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥ —विष्णुपुराण ॥

इस प्रकार, उस परम तत्त्व के तीन नाम हैं—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्। इन तीनों का निर्देश भागवत के इस महत्त्वपूर्ण पद्य में किया गया है—

वदन्ति तत् तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

इन तीनों तत्त्वों का सलक्षण निर्देश भागवत के इस पद्य में एक साथ किया गया है—

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य
यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्बहिश्च ।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन
सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र ॥
—भाग० ११।३।३६

वह परमतत्त्व इस जगत् की स्थिति, उत्पत्ति तथा प्रलय का हेतु है; उसका कोई भी हेतु नहीं; वह स्वप्न, जागरण तथा सुषुप्ति में विद्यमान रहने पर भी बाहर भी रहता है (शुद्ध जीव-शक्ति के रूप में); उसके ही द्वारा जीवित होकर देह, इन्द्रिय, प्राण तथा हृदय अपने व्यापार में

प्रवृत्त होते हैं—वही नारायण का तत्त्व या निष्ठा है। इस पद्य के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह परमतत्त्व त्रिविध नामों से अभिहित किया जाता है और इन तीनों के गुण तथा लक्षण का निर्देश एक साथ यहाँ किया गया है—(क) स्वप्नादिकों में वर्त्तमान होकर भी बाहर शुद्ध जीव के रूप में विद्यमान रहना अविशिष्ट 'ब्रह्म' का लक्षण है। (ख) जीवों में प्रवेश कर जो देहादिकों को अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त कराता है, वह 'परमात्मा' है; क्योंकि 'सर्वजीव-नियन्तृत्व' परमात्मा का ही लक्षण है। (ग) जो स्वयं 'अहेतु' है, अर्थात् स्वरूपशक्ति के विलास से सर्वदा प्रद्योतित होता है तथा परमात्मा के द्वारा (जो स्वांशलक्षण पुरुष से अतिरिक्त नहीं हैं) सर्गादिकों का हेतु बना रहता है, वह 'भगवान्' ही है। इस प्रकार, इस प्रख्यात पद्य में परमतत्त्व के तीनों रूपों का सामान्यतः वर्णन संक्षिप्त शब्दों में किया गया है।

भगवान् में सब वस्तुओं का आनन्त्य विद्यमान रहता है। भगवान् में नित्य रहता है—आकार का आनन्त्य, प्रकाश का आनन्त्य, जन्मकर्म-रूपी लीला का आनन्त्य, अनन्त वैकुण्ठ तथा अनन्त प्रपंच में तत्तत् लीला-स्थानों की, तत्तत् लीला के परिकरों की व्यक्ति तथा प्रकाश का आनन्त्य।[1] फलतः, परमात्मा में किञ्चित् विकास पानेवाली शक्ति का अनन्तानन्त शक्तियों के रूप में विकास भगवान् में होता है। ये समस्त शक्तियाँ स्वाभाविकी होती हैं तथा अचिन्त्य होती हैं। ऊपर दिखलाया गया है कि ब्रह्म में भी इन शक्तियों का निवास रहता है, तथा भगवान् में भी। अन्तर होता है अभिव्यक्ति के तारतम्य के द्वारा। शक्ति की अशेष अनभिव्यक्ति ब्रह्म का लक्षण है तथा अनन्तानन्त शक्तियों की पूर्ण अभिव्यक्ति भगवान् का लक्षण है। इस प्रकार, शक्ति की व्यक्ति-अव्यक्ति ही इन तीनों पदार्थों का परिचायक लक्षण है, यद्यपि ये तीनों ही एक ही परतत्त्व के विभिन्न अवस्थाओं के विभिन्न अभिधान हैं।

एक होते हुए भी एक समय में ही (युगपत्) अनन्त रूपों में विद्यमान रहना भगवत्ता का मुख्य संकेत है (एकमपि मुख्यं भगवद्रूपं युगपदनन्तरूपात्मकं भवति)। शास्त्र का नियम है कि उपासनाभेदाद् दर्शनभेदः, अर्थात् उपासना के भेद से भगवद्रूप के दर्शन की भिन्नता होती है। इस विषय में दृष्टान्त है—वैदूर्यमणि का। यह मणि विभाग-भेद से कभी नीला दिखलाई पड़ता है, कभी पीला मालूम पड़ता है। ध्यान-भेद से भगवान् की भी यही दशा होती है—

मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिसंयुतः।
रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात् तथा विभुः॥

—नारदपांचरात्र

भगवान् के ध्यान-भेद से नाना रूपों का धारण करने का तथ्य श्रीमद्भागवत में बड़े वैशद्य के साथ प्रतिपादित किया गया है—

त्वं भक्तियोग - परिभावित - हृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद् यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥ —भाग० ३।९।११

१. श्रीभगवति सदैवाकारानन्त्यात् प्रकाशानन्त्यात् जन्मकर्मलक्षणलीलानन्त्यात् अनन्तप्रपञ्चानन्त-वैकुण्ठगततत्तल्लीलास्थानतत्तल्लीलापरिकराणां व्यक्तिप्रकाशयोरानन्त्याच्च।

भावार्थ---नाथ! आपका मार्ग केवल गुणश्रवण से ही जाना जाता है। आप निश्चय ही मनुष्यों के भक्तियोग के द्वारा परिशुद्ध हुए हृदय-कमल में निवास करते हैं। पुण्यश्लोक विभो! भक्तजन जिस जिस भावना से आपका चिन्तन करते हैं, उन साधु पुरुषों पर अनुग्रह करने के लिए आप वही -वही रूप धारण कर लेते हैं।

यत्तद् वपुर्भाति विभूषणायुधै-
रव्यक्तचिद् व्यक्तमधारयद् हरिः।
बभूव तेनैव स वामनो वटुः
संपश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा नटः॥

--भाग० ८।१८।१२

आशय---भगवान् स्वयं अव्यक्त एवं चित्स्वरूप हैं। उन्होंने जो परम कान्तिमय आभूषण एवं आयुधों से युक्त वह शरीर ग्रहण किया था, उसी शरीर से कश्यप और अदिति के देखते-देखते वामन ब्रह्मचारी का रूप धारण कर लिया---ठीक वैसे ही, जैसे नट अपना वेश बदल ले। क्यों न हो? भगवान् की लीला तो निःसन्देह अद्भुत ही है। इन पद्यों में बड़ी सुन्दरता के साथ 'भक्तानुग्रहकातर' भगवान् के अनेक रूप धारण करने की घटना का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

लीला-भेद

भगवान् श्रीकृष्ण की लीला दो प्रकार की होती है---प्रकट लीला तथा अप्रकट लीला। प्रापंचिक लोक में प्राकट्य धारण करनेवाली लीला 'प्रकट' के नाम से प्रख्यात है तथा उस लोक में प्राकट्य न धारण करनेवाली लीला 'अप्रकट' के नाम से अभिहित की जाती है। अप्रकट लीला में भगवान् नित्य वृन्दावन में उन्हीं परिकरों के साथ विराजमान रहते हैं, जिस प्रकार वे प्रकट लीला म। उस लीला में अपनी त्रिविध शक्तियों से समन्वित होकर श्रीकृष्ण रामादि परिकरों से संयुक्त होकर विराजते हैं। यह लीला प्रकट लीला से किंचित् विलक्षण होती है तथा प्रापञ्चिक लोक और उसकी वस्तुओं से अमिश्रित होती है। आदि, मध्य तथा अवसान के परिच्छेद से उसका प्रवाह विरहित रहता है तथा यह गोचारणादिक समस्त विनोदलक्षणा होती है। प्रकटलीला कालादिकों के द्वारा अपरिछेद्य होकर ही भगवदिच्छारूप स्वरूप-शक्ति के ही द्वारा अपना आरम्भ और अवसान धारण करती है। यह प्रापञ्चिक तथा अप्रापञ्चिक उभय लोकों की वस्तुओं से संवलित होती है और भगवान् की जन्मादि-लक्षणा होती है। इन दोनों लीलाओं में अप्रकट लीला के दो रूप होते हैं---(क) मन्त्रोपासनामयी; (ख) स्वारसिकी। इनमें प्रथम लीला में मन्त्र के जप तथा ध्यान के द्वारा भगवान् की स्थिति एक नियत स्थान में आविर्भूत होती है। इस लीला का वैशिष्ट्य है---स्थान की एकता। यह एक ही स्थान पर भगवान् की स्थिति को नियमित करती है। स्वारसिकी लीला में इस प्रकार का किञ्चिन्मात्र भी नियन्त्रण नहीं रहता। यह भगवान् की स्वेच्छा पर आश्रित रहती है, जहाँ भगवान् नाना स्थानों में अपनी इच्छा से विहार करते दृष्टिगोचर होते हैं (यथावसरविविधस्वेच्छामयी स्वारसिकी)। दोनों का अन्तर जीवगोस्वामी ने बड़ी सुन्दरता से प्रदर्शित किया है। स्वारसिकी में नाना लीलाओं का प्रवाह

सन्तत प्रवहमान होता है—पुण्यसलिला भागीरथी के समान। इसके विपरीत मन्त्रोपासनामयी एक ही लीला के रूप में प्रवाहित होती है, उस ह्रदश्रेणी के समान, जो उस गंगा से उद्भूत होती है—

नानालीलाप्रवाहरूपतया स्वारसिकी गङ्गेव।
एकैकलीलात्मया मन्त्रोपासनामयी तु लब्धतत्सम्भवः ह्रदश्रेणिरिव ज्ञेया।
—श्रीकृष्णसन्दर्भ, पृ० ४०६।

प्रकाश तत्त्व

गोपियों के साथ श्रीकृष्ण का लीला-विहार निरन्तर चलता रहता है। किसी भी लीला में उनसे वियोग उत्पन्न नहीं होता। प्रत्येक लीला में गोपीशिरोमणि राधा के साथ भगवान् श्रीकृष्ण का विहार सन्तत प्रवाहित होता रहता है। उन्होंने श्रीमुख से स्वयं इस तथ्य की अभिव्यक्ति की है—

भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित्।

इस गम्भीर भगवदुक्ति का अर्थ अन्तःप्रविष्ट होकर समझने की आवश्यकता है। इसका अर्थ है कि आपलोगों से मेरा वियोग कहीं भी सर्वात्मना नहीं होता। 'सर्वात्मना' रहस्यमय शब्द है। इसका अर्थ है, सर्वेणापि प्रकाशेन, अर्थात् सभी प्रकाशों से। यह प्रकाश शब्द वैष्णव-शास्त्र का एक सर्वथा गम्भीरार्थक अभिधान है, जिसकी शास्त्रीय परिभाषा इस श्लोक में दी गई है—

अनेकत्र प्रकटता रूपस्यैकस्य यैकदा।
सर्वथा तत् स्वरूपैव स प्रकाश इतीर्यते॥

एक ही रूप का सर्वथा उसी स्वरूप से जो एक ही समय अनेक स्थानों पर प्रकट होने का जो अलौकिक भाव है, वही 'प्रकाश' कहा जाता है। भगवान् की यह अलौकिक सत्ता है कि वे एक ही रूप से एक ही समय में अनेक स्थानों पर आविर्भूत होते हैं। भागवत का इस विषय में स्पष्ट कथन है—

इत्याचरन्तं सद्धर्मान् पावनान् गृहमेधिनाम्।
तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह॥
—भाग० १०।६९।४१

नारद जी ने द्वारका में अपनी महिषियों के विविध प्रासादों में कृष्ण भगवान् को एक ही समय वर्तमान रहते तथा नाना विभिन्न कार्यों का सम्पादन करते हुए देखा। इस श्लोक में 'तम्' तथा 'एकम्' शब्द बड़े महत्त्व के हैं। उसी भगवान् को देखा, उसके अंश को नहीं। यह तो 'तं' का स्वारस्य है। एक ही भगवान् को देखा, कायव्यूह के द्वारा नाना रूपों को नहीं देखा; यह 'एकं' का तात्पर्य है—

सर्वगेहेषु तमेव न तु तस्यांशान्।
एवं एकमेव सन्तम् न तु कायव्यूहेन बहुरूपम्॥
—जीवगोस्वामी

रास के समय भी श्रीकृष्ण ने अपनी जो विशिष्ट लीला प्रदर्शित की थी, वह भी उनका 'प्रकाश' ही था। प्रसिद्ध ही है कि रासलीला में जितनी गोपियाँ थीं, उतने ही कृष्ण प्रकट हो गये थे।

यह भगवान् का 'प्रकाश' ही था। यह कायव्यूह नहीं था, प्रत्युत यथार्थतः एक ही रूप था। अचिन्त्य-शक्ति-मण्डित भगवान् के लिए इस लीला में कुछ भी आश्चर्य नहीं। उनमें विरुद्ध धर्मों की सत्ता समकालेन विद्यमान रहती है। इसीलिए, मध्यमाकार में भी भगवान् श्रीकृष्ण में 'विभुत्व' तथा 'सर्वगतत्व' विद्यमान रहता ही है। इस लीला का प्राकट्य मृद्भक्षण के अवसर पर भागवत में स्पष्टतः वर्णित है। यशोदाजी से गोपियों ने गोपाल कृष्ण के मिट्टी खाने की शिकायत की थी। यशोदा ने गोपाल से अपना मुँह खोलकर दिखलाने के लिए आग्रह किया। कृष्ण के मुँह खोलने पर उसके भीतर समस्त ब्रह्माण्ड—पृथ्वी, वृन्दावन, गोपी-ग्वाल, यहाँतक कि यशोदा भी—अपने पूर्ण वैभव के साथ वर्त्तमान था। इसे देखकर नन्दरानी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

एतद् विचित्रं सह जीवकाल-
स्वभावकर्माशयलिङ्गभेदम्।
सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये
व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम्।

—भाग० १०।८।३९

आशय है कि जीव, काल, स्वभाव, कर्म, उनकी वासना और शरीर आदि के द्वारा विभिन्न रूपों में दीखनेवाला यह सारा विचित्र संसार, सम्पूर्ण व्रज और अपने-आपको भी यशोदाजी ने श्रीकृष्ण के नन्हें से खुले हुए मुँह में देखा और उसे देखकर उनके मन में शंका हो गई कि यह सब क्या है! इस ब्रह्माण्ड के प्रेरक भगवान् की अचिन्त्य शक्ति का इसे विलास समझकर ही उन्हें सन्तोष हुआ। इस प्रकार मध्यमाकार में विभुत्व का धारण भगवान् की अलौकिक लीला का भव्य विलास ही है।

अब भगवान् के पूर्वोक्त वचन पर ध्यान दीजिए। भगवान् का कथन है कि गोपियों के साथ मेरा कभी सर्वात्मना वियोग नहीं होता। 'सर्वात्मना' का अर्थ है—'सर्वेणापि प्रकाशेन'। आशय यह है कि प्रकट लीला में यदि गोपियों के साथ कृष्ण का वियोग दृष्टिगोचर होता है, तो वह अप्रकट लीला में सर्वदा संयोग ही घटित होता है—

एकेन प्रकटलीलायां विराजमानेन प्रकाशेन वियोगः।
अप्रकटलीलायां तु अन्येन संयोग एव॥

—श्रीकृष्णसन्दर्भ, पृ० ४०७

किसी-न-किसी लीला में गोपियों के साथ संयोग सर्वदा वर्त्तमान रहता ही है। प्रकट लीला में वियोग की तथा अप्रकट लीला में संयोग की एककालावच्छेदेन स्थिति भगवान् की अचिन्त्यशक्तियों का लीला-विलास है। भगवान् श्रीकृष्ण को नारदजी ने द्वारिका के विभिन्न प्रासादों में, महिषी लोगों के महलों में, नाना कार्यों को सम्पादित करते देखा था (भागवत १०।६९)। यह सब भगवान् का 'प्रकाश' ही था। इसे नारदजी ने 'योगमाया' शब्द के द्वारा निर्दिष्ट किया है—

विदाम योगमायास्ते दुर्दर्शा अपि मायिनाम्।
योगेश्वरात्मन् निर्भाता भवत्पादनिषेवया॥ —भाग० १०।६९।३८

इसी वैलक्षण्य को लक्षित करने के लिए नारदजी ने 'चित्र' शब्द का प्रयोग किया है—'चित्रं वतैतद् एकेन वपुषा युगपत् पृथक् ।' शरीर की एकत्वस्थिति रहने पर भी पृथक् प्रकाशन तथा पृथक्-पृथक् क्रियाधिष्ठानत्व क्या कभी मुनिजनों में सम्भव है ? कभी नहीं। इसीलिए, यहाँ 'चित्रम्' का प्रयोग सर्वथा सुसंगत तथा सुशोभन है।

प्रकाश की संज्ञाएँ

'प्रकाश' की द्योतना के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग स्थान-स्थान पर लक्षित होता है। कहीं 'आत्मा' शब्द के द्वारा और कहीं 'रूप' शब्द के द्वारा वही संकेतित किया गया है। 'कृत्वा तावन्तमात्मानम्', 'तावद् रूपधरोऽव्ययः', 'कृष्णेनेच्छाशरीरिणा'—आदि वाक्यों के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण का वही अलौकिक 'प्रकाश' सद्यः लक्षित किया गया है। लक्ष्मीपति नारायण तथा राधापति श्रीकृष्ण में इसी कारण शास्त्र में पार्थक्य दिखलाया गया है। नारायण प्रयोजनवशात् भिन्न-भिन्न आकार धारण कर प्रकाशित होते हैं; परन्तु श्रीकृष्ण भिन्न-भिन्न स्थानों पर एक ही काल में एक ही रूप में प्रकटित होते हैं (प्रकाश)। फलतः दोनों के आविर्भाव के विषय में यह सूक्ष्म पार्थक्य लक्षित होता है।

दोनों में एक पार्थक्य और भी लक्षित होता है। नारायण का अवतार भक्तों के रक्षण के लिए ही होता है, परन्तु पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण का आविर्भाव भक्तों के स्मरण तथा ध्यान के लिए ही सम्पन्न होता है—

योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूल-
मनामरूपो भगवाननन्तः।
नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभि-
र्भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु ॥

भगवान् की 'अनन्त' संज्ञा का कारण है—भगवान् की विभूतियों का आनन्त्य। गीता में श्रीकृष्ण का स्पष्ट वचन है—

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।

भागवत का इसीका समर्थक वचन है—

न ह्यन्तस्तद् विभूतीनां सोऽनन्त इति गीयते ।

—भाग० ४।३०।३१

अपनी व्यक्ति या प्राकट्य का कारण वतलाते हुए श्रीशुकदेवजी की स्पष्ट उक्ति है—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥

—भाग० १०।२९।१४

वास्तव में, भगवान् प्रकृतिसम्बन्धी वृद्धि-नाश, प्रमाण-प्रमेय और गुण-गुणी भाव से सर्वथा विरहित हैं। वे अचिन्त्य, अनन्त, अप्राकृत, परमकल्याण रूप गुणों के एकमात्र आश्रय हैं। उन्होंने यह जो अपने को और अपनी लीला को प्रकट किया है, उसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि जीव उसके सहारे अपना परमकल्याण सम्पादन करे। भगवान् के प्राकट्य का यही मुख्य कारण है। भक्तों के रक्षण के लिए उन्हें अवतार लेने की आवश्यकता ही क्या ? यह कार्य तो उनके लघु-

शक्ति-सम्पन्न पार्षदों के द्वारा भी सिद्ध हो सकता है और होता है। इसीलिए, भगवान् तथा उनके पार्षदों के कार्य में वस्तुतः भेद सिद्ध होता है।

इसी तथ्य की पुष्टि में भागवत का यह वचन यहाँ उद्धृत किया जा सकता है—

मर्त्यावतारः खलु मर्त्यशिक्षणं
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।

विभु व्यापक भगवान् के मर्त्यरूप धारण का प्रयोजन क्या है? सामान्य जनों की धारणा है कि वह केवल धर्मद्रोही राक्षसों के वध के लिए ही हुआ था, परन्तु तथ्य इतना ही नहीं है। उसका मुख्य प्रयोजन मर्त्यों को शिक्षा देना है। भगवान् के इन शोभन चरित का स्मरण, कीर्त्तन कर मानव इस दुस्तर संसारार्णव से अपना उद्धार कर सकता है, अन्यथा इसकी सिद्धि किस प्रकार हो सकती थी? भगवान् के अवतार को विना जाने क्या हम कभी उस दिव्य अलौकिक सौन्दर्य की कल्पना भी कर सकते हैं; जिसका निरीक्षण कर पशु-पक्षी तक आनन्द-विभोर हो उठे थे; जिनके दिव्य वंशी-निनाद का श्रवण कर जलमयी सरिताओं का प्रवाह भी स्तम्भित हो गया था और स्थावर पदार्थों में भी जंगम जीवों के समग्र हार्दिक भावों का उदय हो गया था। भला, यह स्थिति कभी अन्यथा सम्भव हो सकती थी? कभी नहीं। इसीलिए, अचिन्त्य-शक्ति-सम्पन्न भगवान् की दिव्य लीला के दर्शन के लिए साधक लालायित रहता है।

नित्य विहार

गोपियों के साथ भगवान् श्रीकृष्ण के नित्य निरन्तर सहयोग का एक विशेष कारण है। ये व्रजदेवियाँ हैं क्या? ये भगवान् श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति के ही प्रादुर्भाव-रूप हैं। भगवान् क्या अपनी स्वरूप-शक्ति से एक क्षण के लिए भी विरहित हो सकता है? नहीं, कभी तो नहीं। स्वरूप-शक्ति से सम्पन्न होने पर ही तो उनकी भगवत्ता है। फलतः शक्ति तथा शक्तिमान् के ऐक्य के कारण कृष्ण तथा गोपियों का कथमपि वियोग सिद्ध ही नहीं होता। इस विषय में **ब्रह्मसंहिता** का यह वचन प्रमाण रूप से उद्धृत किया जाता है—

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि-
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

यहाँ 'कला' का अर्थ है शक्ति तथा 'निजरूपतया' का अर्थ है स्वस्वरूपतया। ये गोपियाँ वस्तुतः ह्लादिनी के सारभूत प्रेमरस के द्वारा उद्भासित थीं तथा भगवान् की ही स्वरूप शक्तिरूपा थीं। यही कारण है कि भगवान् के साथ इन गोपियों का और उनकी मुख्या श्रीराधिका का वियोग कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार, तर्क तथा शास्त्र के वचनों द्वारा राधामाधव का संयोग नित्य-निरन्तर प्रवहमान दिव्यधारा के रूप में है। ऋक्-परिशिष्ट का यह वचन भी इस प्रसंग में उल्लेख-योग्य है—

राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका, विभ्राजन्ते जनेष्वा।

मनुष्यों में राधा के साथ माधव तथा माधव के साथ राधिका का युगल रूप सर्वदा विलसित तथा उल्लसित होता है।

(३) भगवान् की दिव्य गुणावली

भगवान् की दिव्य गुणावली का वर्णन यथार्थतः कौन कर सकता है ? वही, जिसको भगवान् के असीम अनुग्रह से उनके विमल निरञ्जन रूप की एक भव्य झाँकी प्राप्त हो गई हो। इस प्रत्यक्ष अनुभव के अभाव में शास्त्र ही हमारे एकमात्र सहायक हैं। शास्त्र भी तो महर्षियों के प्रातिभ चक्षु के द्वारा निर्ध्यात तथा अनुभूत तथ्यों के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं और उनका महत्त्व भी इसी बात में है कि वे ऋषियों की विविध अनुभूतियों के तात्त्विक परिचायक हैं। शास्त्र के वचनों का ही संवल लेकर लेखक इस महनीय प्रयास के लिए यहाँ तत्पर है।

दिव्यगुणौघनिकेतन सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् के गुणों की इयत्ता नहीं—अवधि नहीं। उनके गुणों की गणना न तो कोई कर सका है और न भविष्य में ही उसे करने की किसी में क्षमता हो सकती है। श्रीमद्भागवत का स्पष्ट कथन है कि लगातार अनेक कल्पों तक प्रयत्न करने से भूमि के कणों को कोई गिनने में भले ही समर्थ हो जाय, परन्तु उस अखिलशक्तिधाम के गुणों को गिन डालना एकदम असम्भव है। वात यह है कि भगवान् स्वयं अनन्त हैं और उनके गुण भी उसी प्रकार अनन्त हैं—

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ता-
ननुक्रमिष्यन् स तु बालवुद्धिः।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथञ्चित्
कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः॥

—श्रीमद्भाग० ११।४।२

भागवत के एक दूसरे स्थल (१०।१४।७) में भी इसी विशिष्टता का निर्देश अन्य उदाहरणों की सहायता से किया गया है।

भगवान् का वहिरंग कितना सुन्दर तथा मधुर है। उनके शरीर से निकलनेवाली प्रभा की तुलना एक साथ उगनेवाले करोड़ों सूर्यों की चमक के साथ दी जाती है—**कोटिसूर्यसमप्रभः।** गीता में भी इस विशिष्टता का उल्लेख है—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भा सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥

—गीता, ११।१२

इस पद्य का 'सहस्र' शव्द भी अनन्त संख्या का ही बोधक माना जाना चाहिए। आकाश में यदि हजारों सूर्य एक साथ उदय हो जायें, तो वह प्रकाश भी भगवान् के प्रकाश की समता किसी प्रकार नहीं पा सकेगा। हमारी भौतिक आँखें इस एक कलाधारी सूर्य को एकटक देखने में चौंधिया जाती हैं, तो उस दिव्य रूप का दर्शन क्यों कर सकती हैं ? इसीलिए, तो भगवान् ने अपने ऐश्वर्य को देखने के लिए अर्जुन को दिव्य नेत्र प्रदान किये थे—

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

—गीता, ११।८

भगवान् करोड़ों चन्द्रमा के समान शीतल हैं (**कोटिचन्द्रसुशीतलः**) तथा वे करोड़ों वायु के समान महान् बलशाली हैं (**वायुकोटिमहाबलः**)। भगवान् सौन्दर्य तथा माधुर्य के निकेतन हैं।

उस पुरुष की अलौकिक शोभा क्या कही जाय, जिसे लक्ष्मी अपने हाथ में कमल धारण कर स्वयं खोजती फिरती हैं। कौन लक्ष्मी ? वही लक्ष्मी, जिसे संसार पागल होकर ढूंढ़ता फिरता है। आशय यह है कि विश्व के प्राणियों के द्वारा खोजी जानेवाली लक्ष्मी भी जिसके पीछे पागल होकर भटकती फिरती है, उस व्यक्ति के रूप-सौन्दर्य की, आकर्षण की सीमा कहाँ ? उसके अलौकिक माधुर्य की इयत्ता कहाँ ? वह स्वयं सौन्दर्य-सुधा-सागर चन्द्रमा अपनी रूपसुधा को छिटकाता हुआ जब मस्ती में आकर झूमता निकलता है, तब भला, उसके अलभ्य सौन्दर्य की कहीं तुलना है ? भागवतकार अपनी मस्ती में बोल उठते हैं—

नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्
दुःखच्छिदं ते मृगयामि कञ्चन ।
यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया
श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया ॥

इसीलिए वे 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' की उपाधि से विभूषित किये जाते हैं। तुलसीदास के शब्दों में वे 'कोटि मनोज लजावनिहारे' हैं। एक कामदेव नहीं, करोड़ों कामदेव जिनकी सुन्दरता देखकर लज्जित हो जाते हैं, वे भगवान् कितने सुन्दर होंगे—इस विषय में तो भावुकों की भी बुद्धि कल्पना की दौड़ में आगे नहीं बढ़ती, दूसरों की तो बात ही क्या ! ऐसे श्याम के ऊपर गोपिकाओं का रीझना कुछ अचरज की बात नहीं है। महाकवि 'द्विजदेव' की सम्मति में श्रीकृष्ण का रूप ही ऐसा अद्‌भुत है कि भाग्यवती अहीरनी उस रूप के ऊपर अपना हीरा निछावर करती है—

वृन्दावन बीथिन में बंसीवट छाँह अरी
कौतुक अनोखी एक आज लखि आई में।
लाग्यौ हुतौ हाट एक मदन धनी कौ तहाँ
गोपिन कौ झुण्ड रह्यौ घूमि चहुँ घाई में ॥
'द्विजदेव' सौदा की न रीति कछु भाषी जाइ,
जैसे भई नैन उन्मत्त की दिखाई में।
लै लै कछु रूप मनमोहन सौं बीर वे
अहीरनि गँवारी देति हीरनि बटाई में ॥

भगवान् का अन्तरंग भी कितना कोमल है ! वे भक्त की व्याकुलता से स्वयं व्याकुल हो उठते हैं। भक्त कितना भी अपराध करता है, वह उसका कभी विचार ही नहीं करते। भक्तों का दोष भगवान् अपने नेत्रों से देख कर भी उधर ध्यान नहीं देते और तुरन्त ही उसे भूल जाते हैं। इसलिए शास्त्र में उनके इस विलक्षण गुण की ओर सर्वत्र संकेत मिलता है। हनुमान्‌जी की दृष्टि में भगवान् अपने भक्त की योग्यता की अपेक्षा ही नहीं रखते—**परस्य योग्यतापेक्षा रहितो नित्यमङ्गलम्।**

श्री गोस्वामीजी ने इसीलिए विनय-पत्रिका में लिखा है—

जन गुण अलप गनत सुमेरु करि,
अवगुण कोटि विलोकि बिसारत।

'अपने जन के मेरु के समान दीर्घ तथा विशाल दोषों को कभी ध्यान में नहीं लाते, परन्तु उसके रेणु के समान स्वल्प गुण को अपने हृदय में रखते हैं तथा उसका परम कल्याण करते हैं।' भगवान् भक्तों का मन रखते हैं तथा अपने शरणागत जन की लाज, मर्यादा, प्रतिष्ठा रखने में कुछ अनुचित भी होता है, तो भी उसका निर्वाह कर ही देते हैं। ऐसा निर्मल स्वभाव है भगवान् का—

रहति न प्रभु चित चूक किये की।
करत सुरति सय बार हिये की॥
× × ×
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।
दीनबन्धु अति मृदुल सुभाऊ॥

जब तक जीव भगवान् से पराङ्मुख है, तभी तक वे दूर हैं; परन्तु ज्यों ही वह उनके सम्मुख होता है, उनकी शरण में जाने को उद्यत होता है, त्यों ही भगवान् उसके सब पापों को दूर कर उसे आत्मसात् कर लेते हैं।

भगवान् प्राणियों के सर्वस्व हैं। जितने सम्बन्धों की कल्पना कोई भी जीव अपनी बुद्धि के बल पर कर सकता है, भगवान् में वे सब सम्बन्ध पूर्णरूप से विद्यमान हैं। सम्बन्धों की सत्ता पर न जाकर उनके विरुद्ध की ओर जाइए, तो जान पड़ेगा कि भगवान् हमारे क्या नहीं हैं! वे सब कुछ हैं। वे हमारे माता, पिता, सखा, सुहृद्—सभी कुछ ही हैं तथा साथ-ही-साथ नित्य होने से हमारे भौतिक सम्बन्धों के विपरीत वे हमारे लिए नित्य माता हैं, नित्य पिता हैं, नित्य सुहृद् आदि-आदि हैं। उनमें पक्षपात की गन्ध भी नहीं है। वे सबके प्रति समशील-स्वभाव के हैं। इस विषय में भागवत में उनकी समता कल्पवृक्ष के साथ दी गई है। भगवत्-कल्पतरु को किसीके साथ न राग है, न द्वेष; परन्तु जो व्यक्ति उसके निकट जाकर किसी मनोरथ की कामना करता है, भगवान् उस इच्छा को अवश्यमेव सफल बना देते हैं। भगवान् 'स्व' तथा 'पर'—अपना और पराया—का तनिक भी भेद नहीं रखते। यह हो भी कैसे सकता है, जब भगवान् सर्वात्मा तथा समद्रष्टा ठहरे। भगवान् की जैसी सेवा कोई प्राणी करता है, तदनुरूप ही फल वह पाता है। इसमें विपर्यय का—निर्दयता का कहीं भी अवकाश नहीं है। प्रह्लादजी ने अपनी इस विषय की अनुभूति को इन शब्दों में प्रकट किया है—

नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्या-
ज्जन्तोर्यथाऽऽत्मसुहृदो जगतस्तथापि।
संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम्॥

—श्रीमद्भाग० ७।९।२७

भागवत का यह स्पष्ट कथन है कि भगवान् सेवा के अनुरूप ही फल प्रदान करते हैं। उनमें किसी प्रकार का भेद-भाव मानने की बुद्धि नहीं है। इसी तथ्य का प्रतिपादन (१०।७२।६) युधिष्ठिर ने भी किया है, जिसका निष्कर्ष पूर्वोक्त शब्दों में ही दिया गया है—

सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र।

—श्रीमद्भाग० १०।७२।६

इस प्रकार भगवान् करुणावरुणालय हैं तथा सदा अपने भक्तों की —उपासकों की कामना की पूर्त्ति किया करते हैं।

भगवान् को भक्त लोग कभी-कभी निष्ठुर बताते हैं; क्योंकि वह उनकी उपेक्षा किया करता है—वह उनकी कामना की पूर्त्ति नहीं करता तथा अपनी समागम-सुधा से वंचित रखकर उन्हें विरहाग्नि में तपाता रहता है। गोपियों का दृष्टान्त इस विषय में पूर्णतया जागरूक है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने श्रीमुख से इस 'उपेक्षाभाव' का रहस्य समझाया है। रासपंचाध्यायी में गोपियों के प्रश्न का श्रीकृष्ण बड़ा ही उदार उत्तर देते हैं—

नाहं हि सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाऽधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयाऽन्यन्निभृतो न वेद ॥
—श्रीमद्भा० १०।३२।२०

'हे गोपिकाओ! यह ठीक है कि मैं अपने भजनेवाले जनों को भी कभी-कभी नहीं भजता। इसका क्या कारण है? इसका कारण मनोवैज्ञानिक है। मेरी ओर से उनके प्रेम की ज्यों ही प्रतिक्रिया आरम्भ होती है, उनका प्रेम खिसकने लगता है। इसलिए, मैं अपनी झलक एक बार दिखलाकर अन्तर्हित हो जाता हूँ,जिससे मेरे पाने की उनकी अभिलाषा तीव्रसे तीव्रतर बन जाय। जिस प्रकार किसी दरिद्र को कहीं से मिली हुई मणि यदि गायव हो जाती है, तो वह उसके पाने के लिए एकदम बेचैन हो उठता है।' अध्यात्म जगत् में भी ठीक यही बात है। इस प्रकार गोपियों की उपेक्षा करने में भगवान् का कोमल हृदय यही चाहता था कि भगवान् के प्रति उनका प्रेम और भी बढ़ता चला जाय। इस भावना के भीतर नैष्ठुर्य की कल्पना कथमपि सम्भव है? नहीं। भगवान् भक्तों के पराधीन रहते हैं। भागवत का कहना है—

सत्याशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-
माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्त्तेः।
अप्येवमर्य भगवान् परिपाति दीनान्
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥
—श्रीमद्भा० ४।६।१७

भगवान् का चरणारविन्द ही अलभ्य लाभ है। उसकी प्राप्ति के अनन्तर प्राप्तव्य कुछ रहता ही नहीं; तथापि भगवान् स्वयं ही अनुग्रह करने के लिए कातर रहते हैं और भक्तों के कल्याण-साधन के लिए उसी प्रकार उतावले बैठे रहते हैं, जैसे रँभानेवाली गाय अपने दुधमुँहे बच्चे की ओर। इस उपमा के भीतर कितनी व्यञ्जकता है! भगवान् के हृदय में भक्तों के लिए कितनी व्याकुलता भरी रहती है—इसका अनुमान इस उपमा के सहारे किया जा सकता है। इसीलिए भगवान् भक्तों के कल्याणार्थ उन सब रूपों को धारण करते हैं, जिनकी भक्त अपनी बुद्धि से कल्पना करता है—

यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तद् तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय। —श्रीमद्भा० ३।६।११

इस प्रकार भगवान् का अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों इतने सुन्दर तथा कोमल हैं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी अलौकिक गुणावली के कारण ही तो त्रिगुणातीत मुनिजन भी भगवान् के स्वरूप के ध्यान में मस्त होकर काल-यापन करते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥

इस प्रकार, भगवान् की शक्तियों तथा उनके गुणोंका कोई अन्त नहीं, कोई गणना नहीं; कोई लेखा-जोखा नहीं। भगवान् अनन्त सौन्दर्यरसामृतमूर्त्ति हैं। वे अपने अनुपम सौन्दर्य से विशुद्ध तथा चिन्मय अन्तःकरणवाले भक्तों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं अथवा उनके अनुपम अनन्त गुणों से, दया-दाक्षिण्य से, सौन्दर्य-माधुर्य से आकृष्ट होकर भक्त स्वतः अपना प्रेम-प्रवण चित्त उधर लगा देता है। भक्ति का प्रादुर्भाव इस दशा का वैशिष्ट्य है। भगवान् भक्ति के द्वारा ही, विशुद्ध परा अनुरक्ति के द्वारा ही वश्य होते हैं। यहीं भक्ति का आविर्भाव होता है विशुद्ध देह में, दिव्य देह में,अप्राकृत देह में, जिसे शास्त्रीय ग्रन्थों में 'भावदेह'की संज्ञा दी जाती है।

(४) भावदेह

अब साधक जिस देह को केन्द्र मानकर अपनी साधना में प्रवृत्त था, उस देह में फिर वह लौटकर आता है, परन्तु अब वह देह भौतिक देह न होकर दिव्य चिन्मय देह में परिवर्त्तित हो जाता है। उसकी सारी इन्द्रियाँ अब पुरानी इन्द्रियाँ न होकर चिन्मयी इन्द्रियाँ बन जाती हैं। इस समय रसामृतमूर्त्ति भगवान् का उदय होता है। भगवान् को बुलाने की आवश्यकता नहीं होती, प्रत्युत वह दिव्य देह के मन्दिर में स्वयं अनाहूत के समान विराजने लगते हैं। अब साधक को भावदेह की प्राप्ति होती है। 'भावदेह' का अभिप्राय है वह शरीर, जो उसकी भक्ति-भावना के अनुकूल होता है। यहाँ भक्ति का साम्राज्य आरम्भ होता है और भक्ति ही एकमात्र उपाय है भगवान् की प्राप्ति का। इष्टदेव दिव्यदेह धारण कर भक्त के सामने पधारते हैं। यदि वह दास्य भाव से भगवान् को भजता है, तो वह मूर्त्ति रामरूप में आविर्भूत होती है। यदि वह वात्सल्य की भावना से भावित है, तो इष्टदेव माता के रूप में आविर्भूत होता है भक्त के सामने। इष्टदेव के अनुकूल अपनी भावना के अनुसार देह ग्रहण करने का ही नाम 'भावदेह' का उदय है। यदि अस्सी वर्ष का कोई वृद्ध साधक वात्सल्य-भावना की भक्ति करता है, तो उसका भावदेह पाँच वर्ष की अवस्था प्राप्त कर मातृक्रोड में निविष्ट हो जाता है। वह अपने को माता की गोद में बैठे हुए बालक के समान अपने-आप पाता है। वह उनसे बातचीत करता है; उनके शरीर को छूता है; उनके साथ नाना प्रकार की खेल-क्रीडा करता है; परन्तु उसके पास बैठनेवाला भी व्यक्ति उसे देख नहीं सकता; इस व्यापार से परिचित नहीं होता। कारण क्या है? इसका कारण यह है कि दर्शक अपने भौतिक देह में अवस्थान करता है और भक्त भावदेह में स्थिर रहता है। इस प्रकार देह की भिन्नता के कारण समीपस्थ व्यक्ति भी भक्त की भौतिक खेल से भी अपरिचित ही रहता है।

भावदेह का परिचय

नाम तथा मन्त्र-साधना के बल पर साधक के वास्तव देह का उदय होता है। जब गुरु के द्वारा दी गई साधना के फल से साधक का भूत तथा चित्त शुद्ध अवस्था धारण करते हैं, तब अशुद्ध

शरीर विगलित हो जाता है और अपने-अपने भाव के अनुसार एक अभिनव शरीर का आविर्भाव होता है। यह स्वभाव का शरीर है, जिसकी पारिभाषिकी संज्ञा भावदेह है। यह देह, निर्मल, अजर तथा अमर होता है तथा क्षुधा -पिपासा,काम-क्रोध आदि प्राकृतिक धर्मों से वर्जित होता है। भाव का प्रथम आविर्भाव कर्म अथवा कृपा के द्वारा लक्षित होता है। साधन-भक्ति का अनुष्ठान करते-करते वह भक्ति भाव-भक्ति के रूप में परिणत हो जाता है। यह तो हुआ कर्म के द्वारा भाव का आविर्भाव। कहीं-कहीं साक्षात् रूप से कर्म की सत्ता दृष्टिगोचर न रहने पर भी भाव का उदय देखा जाता है। ऐसे स्थलों पर कृपा ही कारणभूत है, चाहे भगवान् की कृपा, गुरु की कृपा अथवा सन्त महापुरुष की कृपा। भाव ही महाभाव के रूप में कालान्तर में परिपक्व होकर परिणत हो जाता है। मायिक देह भाव-ग्रहण के लिए उपयोगी नहीं होता। इसलिए, इस देह में भाव का उदय नहीं होता। इसका उदय होता है उस भाव को धारण करनेवाले आधार में। और वही आधार शुद्ध देह या भावदेह के नाम से परिचित किया जाता है। भावदेह के कार्य करते समय प्राकृत देह जडवत्, स्थिर और निःसाररूप में पड़ा रहता है।

ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है कि भावदेह बाह्यदेह के अनुरूप नहीं होता। जो बाहर से वृद्ध दीख पड़ता है, और शरीर से जर्जर होता है, वह व्यक्ति भी भावदेह में ठीक इसके विपरीत हो सकता है—नितान्त उज्ज्वल, ज्योतिर्मय, सर्वांगसुन्दर तथा किशोर वयस्क। भावदेह का स्वरूप साधक के निश्चित भाव के द्वारा ही निर्णीत होता है। शान्त, सख्य, वात्सल्य अथवा माधुर्य भाव का भक्त अपने -अपने भाव के अनुरूप ही देह प्राप्त करता है। बाह्य देह में वय नियामक होता है और भावदेह में भाव। आकृति और प्रकृति वस्तुतः परस्पर अनुरूप होती है। जैसी प्रकृति वैसी आकृति। फलतः, जो भक्त प्रकृतितः शिशु है, स्वभाव से शिशु है, वह आकृतितः भी शिशु होगा ही। भावदेह के उपलब्ध होते ही तदनुरूप समग्र चेष्टाएँ आरम्भ हो जाती हैं। जैसे प्राकृत बालक को यह सिखाना नहीं पड़ता कि वह अपने दुःख में, या कमी की पूर्त्ति के लिए माँ को किस स्वर से पुकारे,वैसे ही भावदेह में अवस्थित भक्त स्वतः हृदय की प्रेरणा से ही आप-ही-आप माता को पुकारने लगता है, दुःख से मुक्ति के लिए करुण क्रन्दन करने लगता है। भाव के अनुरूप बाह्य आचरण का उदय स्वतः होता है, किसी बाहरी शिक्षण या उपदेश का फल नहीं होता। तात्पर्य यह है कि भौतिक देह को दिव्य तथा उज्ज्वल बनाने का एकमात्र उपाय है भाव की साधना। जबतक यह साधना नहीं होती, प्राकृत देह में भगवान् की पूजा-अर्चा कथमपि आरम्भ ही नहीं होती। हो भी कैसे ? भगवान् का है दिव्य चिन्मय विग्रह और उसके साथ एकसूत्र में बद्ध होने के लिए भक्त को वैसा ही विग्रह धारण करना न्याय्य है। इसीलिए, भक्त का विग्रह शुद्ध, अप्राकृत, दिव्य और चिन्मय होना चाहिए, और यह विग्रह भावदेह के आविर्भाव होने पर ही संभव है। इसलिए, भावदेह की अनिवार्यता पर भक्ति-शास्त्र में इतना आग्रह है। भावमयी तनु ही तो महाभाव की दशा में रसमयी तनु में परिणत हो जाती है जब भाव रसकोटि में परिपक्व होकर परिणत हो जाता है।

षष्ठ परिच्छेद

चैतन्यमत में राधा-तत्त्व

राधा का स्वरूप

रूपगोस्वामी ने श्रीराधा के प्रसंग में प्रेमा-तत्त्व की बड़ी ही मनोवैज्ञानिक व्याख्या अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत की है, जो आधुनिक मनोविज्ञान के पंडितों के लिए विशेष मनन करने योग्य है। उनका कथन है कि प्रेम विभिन्न क्रमों को पार करता हुआ अपने विशुद्ध रूप में आविर्भूत होता है। इसकी क्रमिक दशाओं के नाम नीचे दिये जाते हैं,जिनको पार करने के बाद यह शुद्ध तत्त्व उद्भूत होता है। इन भावनाओं की क्रमबद्ध श्रृंखला यह है—स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव तथा महाभाव। इन मानस-वृत्तियों के द्वारा प्रेम किस तरह परिनिष्ठित प्रेमा के रूप में प्रतिष्ठा पाता है, इस पर विचार करना आवश्यक है।

(१) स्नेह—जब प्रेम घनीभूत दशा में ऐसा प्रभावशाली बन जाता है कि हृदय पिघल उठता है, तब इसका नाम 'स्नेह' हो जाता है।[1]

(२) मान—यह प्रेम के परिवर्द्धन तथा विकास की अग्रिम दशा है। जब स्नेह विकास की ऊर्ध्वगामी दिशा में उपभोग के माधुर्य को बढ़ाने और पुष्ट करने के लिए औदासीन्य की भावना को अपनाता है, तब यह 'मान' कहलाता है। यह भाव क्रोध नहीं है, किन्तु बाहरी दृष्टि से क्रोध के समान प्रतीयमान होता है।[2]

(३) प्रणय—(प्रकर्षेण नयति सामीप्यम्)। जब प्रेमी प्रेमिका के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है, तब यह प्रणय कहलाता है। यह एक का दूसरे के साथ पूर्ण ऐक्य की दशा

---

१. चेतोद्रवातिशयात्मकः प्रेमैव स्नेहः।

२. प्रियत्वातिशयाभिमानेन कौटिल्याभासपूर्वकभाववैचित्रीं दधत् प्रणयो मानः।

का सूचक है, जब दोनों में आपाततः प्रतीयमान भेद अभेद के रूप में विकसित हो उठता है। यह प्रेम की वह दशा है, जब प्रेमी तथा प्रेमिका एक क्षण के लिए भी आपस में अलग नहीं रह सकते। यह दोनों को एक सूत्र में बाँधनेवाला प्रेम है। कालिदास ने इस शब्द का यही तात्पर्य व्यंजनया माना है (उत्तरमेघ, श्लोक ३४)। विश्रम्भ के अतिशय भाव को सूचित करनेवाला प्रेमा प्रणय कहलाता है।[1]

(४) राग—प्रेमपात्र के लिए नाना यातनाएँ सहने पर भी जब प्रेमी के हृदय में आनन्द ही आनन्द विद्यमान रहता है, वह किसी प्रकार का न तो खेद पाता है और न विषाद, तब वह स्नेह 'राग' की संज्ञा पाता है।[2]

(५) अनुराग—राग के पश्चात् होनेवाली यह मानस वृत्ति 'अनुराग' कहलाती है। (अनु—पश्चात्, रागः)। इस दशा में प्रेमी प्रेमपात्र के रूप में, व्यवहार में तथा आचरण में नवीन माधुर्य तथा आस्वाद पाता है।[3]

(६) भाव का विकास ही प्रेम है। भाव-साधना करते-करते स्वतः ही प्रेम का आविर्भाव होता है। जबतक प्रेम का उदय नहीं होता, तबतक भगवान् का अपरोक्ष दर्शन नहीं हो सकता। प्रेम के दो तत्त्व हैं—आश्रय तथा विषय। आश्रय तो है साधक या भक्त और विषय है स्वयं भगवान्। भाव के उदय के साथ-ही-साथ आश्रय-तत्त्व की अभिव्यक्ति तो होती है, परन्तु प्रेम के उदय के अभाव में विषय-तत्त्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। भाव और प्रेम में विशेष अन्तर नहीं है। दशा-विशेष का अन्तर अवश्यमेव है। अपक्व दशा में रहता है भाव और पक्व दशा में रहता है प्रेम। परन्तु, इस प्रेम की पूर्ण परिणति होने के लिए भक्त की भाव-साधना को क्रमशः विकसित होना चाहिए। इस विकास के क्रम का निर्देश आचार्यों ने किया है, विशेषतः श्रीरूपगोस्वामी ने अपने अनुपम ग्रन्थ 'उज्ज्वलनीलमणि' में तथा 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' में—

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्त-मासृण्य-कृदसौ भाव उच्यते ॥

भाव उस मानस दशा का नाम है, जिसकी आत्मा है शुद्ध सत्त्व (मायिक सत्त्व नहीं, जो तम और रज से कथमपि नितान्त रूप से विरहित नहीं होता)। यह प्रेम-रूपी सूर्य की किरणों के समान होता है। जिस प्रकार रश्मियाँ सूर्य को आकाश में लाती हैं तथा अभिव्यक्त करती हैं, उसी प्रकार भाव भी प्रेम का उदय कराता है। यह कृष्ण की प्राप्ति के लिए तीव्र अभिलाषा के द्वारा चित्त को कोमल बना देता है। इस विवरण में 'शुद्धसत्त्वविशेषात्मा' भाव का स्वरूप लक्षण है और 'चित्तमासृण्यकृत्' (चित्त को चिकना बनानेवाला) तटस्थ लक्षण है।

---

१. विश्रम्भातिशयात्मकः प्रेमा प्रणयः।
२. स्नेह एवाभिलाषातिशयात्मको रागः।
३. स एव रागो ऽनुक्षणं स्वविषयं नवनवत्वेनाभिभावयन् स्वयं च नवनवीभवन् अनुरागः।

(७) यही भाव घनीभूत, प्रवुद्ध तथा परिपक्व होने पर 'प्रेमा' कहलाता है। इसे ही 'महाभाव' की संज्ञा दी जाती है।

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयान्वितः।
भाव एव स सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

जब भाव या रति चित्त को अच्छी तरह से कोमल बना देती है, पहिली दशा की अपेक्षा जब चित्त अत्यधिक कोमल या चिकना या द्रवीभूत हो जाता है, तब श्रीकृष्ण की अतिशय ममता से सम्पन्न वही भाव अधिक गाढ़ा या घनीभूत (सान्द्र) होने पर 'प्रेमा' कहलाता है।

कृष्ण-प्रेम के उत्पन्न होने के साधन ये बतलाये गये हैं[1]—

१. श्रद्धा—आस्तिक ग्रन्थों तथा गुरु के वचनों में श्रद्धा रखना;
२. साधुसंग—साधु सन्तों के साथ समागम।
३. भजन-क्रिया—भगवान् के नाम, कथा का श्रवण तथा जप।
४. अनर्थ निवृत्ति—भक्ति के बाधक कारणों तथा विघ्नों का सर्वथा नाश।
५. निष्ठा—आदर तथा सत्कार के साथ भजन का अभ्यास।
६. रुचि—भगवान् के गुण के सुनने तथा नाम के जपने के लिए अभिरुचि।
७. आसक्ति—गाढ़ अनुराग
८. भाव—शुद्ध सत्त्व का रूप धारण करनेवाला मानस भाव।
९. प्रेमा—भगवान् में घनीभूत प्रेम।

इन साधनों में पूर्व-पूर्व साधन उत्तरोत्तर साधनों का कारण होता है, अर्थात् प्रथम द्वितीय को उत्पन्न करता है और अन्ततोगत्वा प्रेमा का उदय होता है।

निष्कर्ष—'प्रेमा' के उदय का भी एक मनोवैज्ञानिक क्रम है। कार्य-कारण की एक शृंखला है, जिसके भीतर से जाने पर ही भक्त के हृदय में यथार्थ प्रेमा की उत्पत्ति होती है। प्रथमतः उत्पन्न होती है—श्रद्धा (दृढ विश्वास)। तब होता है साधु का समागम। तब भजन की क्रिया (श्रीकृष्ण के नामों का जप) आरम्भ होती है, जिससे भक्तों के अनर्थ का निवारण हो जाता है। अनन्तर उदित होती है निष्ठा, अर्थात् अत्यन्त उत्साह के साथ भजन का सन्तत सेवन और अनुष्ठान। तब होती है रुचि, अर्थात् भजन करने तथा लीला-श्रवण में प्रेम, जिससे उत्पन्न होती है आसक्ति, अर्थात् दृढ गम्भीर स्नेह। इसके बाद अन्त में प्रेमा का उदय होता है। प्रेमा की समता सूर्य से दी जाती है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर निशा का अवसान हो जाता है और सर्वत्र किरणों का विस्तार होता है, प्रेमा की भी यही दशा होती है। इस महाभाव के चित्त में उदय होते ही साधक का चित्त आह्लाद से प्रफुल्लित हो उठता है। प्रेमा के 'महाभाव' कहने का आशय यह है कि सांसारिक रति तो भावरूपा ही होती है, किन्तु श्रीकृष्णविषया रति ही महान् भाव (या स्थायी भाव) बनने की अधिकारिणी है।

जिस साधक के हृदय में भाव का अंकुर उत्पन्न होता है, उसके कुछ बाह्य चिह्न (अर्थात् अनुभाव) दृष्टिगोचर होते हैं, जिससे उसके हृदय की स्थिति का बाह्य परिचय प्राप्त होता है।

---

१. 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में इनका लक्षण तथा दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है।

ये चिह्न[1] निम्नलिखित हैं—(१)क्षान्तिः (चित्त की शान्त दशा); (२) अव्यर्थकालत्वम् (श्रीकृष्ण को छोड़कर किसी भी अन्य विषय में समय न विताना); (३) विरक्तिः (सांसारिक विषयों के प्रति वैराग्य); (४) मानशून्यता (अभिमान से विरहित होना); (५) आशाबन्धः (श्रीकृष्ण की कृपा पाने की दृढ़ आशा); (६) समुत्कण्ठा (तीव्र अभिलाषा); (७) नामगाने सदा रुचिः (भगवान् के कीर्त्तन में सदा अभिरुचि रखना); (८) आसक्तिः तद्गुणाख्याने (श्रीकृष्ण के गुणों के कीर्त्तन में आसक्ति); (९) प्रीतिः तद्वसतिस्थले (श्रीकृष्ण के निवासवाले स्थानों में प्रेम रखना) इसी प्रकार के अन्य चिह्न साधक में दृष्टिगोचर होते हैं, जब उसके हृदय में भाव का अंकुर प्रादुर्भूत होता है।

महाभाव के भीतर भी अनेक अवान्तर स्तर हैं, जिनमें दो मुख्य हैं। एक भाव है—हे कृष्ण! ममैव त्वम्, अर्थात् मेरे ही तुम हो। मुझे छोड़कर तुम्हारी चाह किसी के लिए नहीं है। दूसरा भाव है—हे कृष्ण! तवैवाहम्, अर्थात् तेरा ही मैं हूँ। तुझे छोड़कर मेरा कोई भी नहीं है। इन भावों में प्रथम भाव ललिता भाव है और दूसरे भाव का नाम राधाभाव है। महाभाव की चरम दशा की ही संज्ञा 'राधा' है। श्रीकृष्ण के सौख्य के निमित्त अपना सर्वस्व-समर्पण करनेवाली विशुद्ध प्रेम-मूर्त्ति ही है 'राधा'।

भगवान् की शक्तियाँ

राधिका भगवान् श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति है। इसे समझने के लिए भगवान् की शक्तियों के रूप तथा प्रकार का विवरण आवश्यक है।

भगवान् अचिन्त्य अनन्त शक्तियों से सम्पन्न हैं, परन्तु इनमें तीन ही शक्तियाँ मुख्य मानी गई हैं—

अन्तरंगा शक्ति (चित् शक्ति अथवा स्वरूप-शक्ति)

तटस्था शक्ति–(जीव-शक्ति)

बहिरंगा शक्ति (माया-शक्ति)

ऊपर कहा गया है कि ये तीनों शक्तियाँ अव्यक्तावस्था में ब्रह्म में ही लीन रहती हैं और अन्तर्लीन-विमर्श होने के हेतु वह परमतत्त्व 'ब्रह्म' के नाम से अभिहित है। इन शक्तियों का पूर्णतम विकास तथा अभिव्यक्ति जिस मूलतत्त्व में होती है, वह 'भगवान्' नाम से अभिहित होता है। अव्यक्त तथा व्यक्त दोनों ही दशाएँ उसमें एकसाथ रहती हैं। एक ही स्वरूप में केवलत्व और भगवत्त्व दोनों परस्पर-विरोधी धर्मों का वह एक साथ ही आश्रय रहता है। यह सब कुछ है भगवान् की अचिन्त्य शक्ति का विलास, अचित्य ऐश्वर्य का विलास। भागवत के शब्दों में भगवान् में परस्पर विरुद्ध धर्मों का कितना सामञ्जस्य है। "भगवान् अनीह होकर भी कर्मासक्त हैं; अजन्मा होने पर भी जन्म लेते हैं; कालात्मक होने पर भी वह दुर्ग का आश्रयण और

---

१. क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद् वसति स्थले
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाङ्कुरे जने॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु।

शत्रु से पलायन करते हैं; आत्मरति होने पर भी असंख्य प्रमदाओं के संग विहार करते हैं—इन विरुद्ध धर्मों के आश्रय होने के कारणही भगवान् के वास्तव रूप को जानने में विद्वानों की भी बुद्धि थक जाती है।"—

कर्माण्यहनस्य भवोऽभवस्य ते
दुर्गाश्रयोऽथारिभयात् पलायनम्।
कालात्मनो यत् प्रमदायुताश्रयः
स्वात्मन्-रतेः खिद्यति धीर्विदामिह॥
—भागवत ३।४।१६॥

भगवान् लीला-पुरुषोत्तम हैं। उनकी लीला दुरवबोध है। उसकी इयत्ता और प्रसार का ज्ञान इदमित्थं रूपेण किसी भी विवेचक को नहीं हो सकता। 'भगवान् आश्रय-शून्य हैं, शरीर-रहित हैं; स्वयं अगुण हैं, तथापि अपने स्वरूप के द्वारा ही इस सगुण विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा संहार करते हैं। इतना होने पर भी उनमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता'—

दुरवबोध एवायं तव विहारयोगः। यद् अशरणोऽशरीरः इदमनवेक्षितात्मसमवाय आत्मना एव अविक्रियमानेन सगुणमगुणः सृजसि पासि हरसि। —भाग० ६।६।३४।
यह स्तुति भगवान् की अचिन्त्य शक्तियों की ही परिचायिका है। भगवान् की तुलना सूर्य-मण्डल से की जा सकती है। सूर्यमण्डल तेजोमण्डल के रूप में एक ही रहता है, परन्तु अपनी बाहरी किरणों तथा उनके प्रतिफलन के रूप में विभिन्न भावों में वर्त्तमान रहता है; उसी प्रकार एक ही परमतत्त्व अपनी स्वभाव-सिद्ध अनन्त अचिन्त्य शक्तियों की महिमा से सर्वदा स्वरूप, जीव तथा माया रूप से विचित्र नाना भावों में विराजमान रहता है।

भगवान् तथा माया के बीच में वर्त्तमान होने से जीव-शक्ति **तटस्था शक्ति** कहलाती है। जीव वस्तुतः सत्त्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों से नितान्त पृथक् रहता है, परन्तु माया के द्वारा मोहित होकर वह अपने को त्रिगुणात्मक मान लेता है और उससे उत्पन्न होनेवाले अनर्थ को प्राप्त प्राप्त करता है।[1] इस जीव को जगत् से बाँधनेवाली शक्ति **माया-शक्ति** कही जाती है। जीव माया के द्वारा नियम्य होता है; उसके द्वारा मोहित होता है; परन्तु भगवान् माया का नियामक होता है। वह भगवान् की वहिरंगा शक्ति है, जिसके स्वरूप का विवेचन करते हुए भागवत का कथन है[2] कि माया वही है, जिसके द्वारा विद्यमान वस्तु के विना भी आत्मा में (अधिष्ठान में) किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश में एक चन्द्रमा होने पर भी दृष्टिदोष से दो चन्द्रमाओं की प्रतीति) तथा जिसके द्वारा विद्यमान रहनेवाली भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती (जैसे विद्यमान होनेवाला भी राहु नक्षत्र-मण्डल में दृष्टिगोचर नहीं होता)। माया के द्वारा अविद्यमान भी संसार सत् की भाँति प्रतीत होता है तथा उसीके द्वारा जगत् के समग्र व्यापार चलते रहते हैं।

---

१. यया संमोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते॥ —भाग० १।७।५।

२. ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥ —भाग० २।९।३३।

अब भगवान् की स्वरूप:शक्ति पर विचार कीजिए। भगवान् सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। फलतः, भगवान् की यह स्वरूप-शक्ति एकात्मिका होने पर भी त्रिविधा होती है—(१) सन्धिनी, (२) संवित् तथा (३) ह्लादिनी। सन्धिनी शक्ति भगवान् के 'सत्' रूप का आश्रयण कर वर्त्तमान रहती है। इसके बल पर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं, दूसरों को सत्ता प्रदान करते हैं। सब देशों में, सब कालों में और सब द्रव्यों में व्याप्त करने का कारण है सन्धिनी शक्ति।[1] भगवान् स्वयं चिदात्मा हैं। वे जिस शक्ति के बल पर स्वयं अपने आपको जानते हैं तथा दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं, उसका नाम है संवित्-शक्ति।[2] इस शक्ति में पूर्व शक्ति भी विद्यमान रहती है और यह संवित् भी जिस शक्ति के अन्तर्गत होकर वास करती है, वही है ह्लादिनी शक्ति।[3] यह वह शक्ति है, जिससे भगवान् स्वयं आनन्द का अनुभव करते हैं तथा दूसरों को आनन्द प्रदान करते हैं। इस विषय में भक्ति-ग्रन्थों में वैदूर्यमणि का दृष्टान्त दिया गया है। एक ही वैदूर्यमणि भिन्न-भिन्न समयों में नील-पीत आदि त्रिविध रूपों को धारण करता है, उसी प्रकार एकविधा पराशक्ति त्रिविध रूपों में विभक्त होकर तीन रूपों को धारण करती है। इस प्रकार, ह्लादिनी शक्ति समस्त शक्तियों के पूर्णतम विकास-रूप में लक्षित होती है। विष्णुपुराण में भगवान् के स्वरूप-चिन्तन के प्रसंग में एक विशिष्ट श्लोक आता है, जो इस स्वरूप-शक्ति के त्रिविध रूप को संकेतित करता है—

ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥

—विष्णुपुराण १।१२।६८

भगवान् श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं; यह पहिले कहा गया है। फलतः उनकी स्वरूप-शक्ति त्रिधा विभक्त होती है। सबकी संस्थिति होनेवाले भगवान् में ह्लादिनी, सन्धिनी और संवित् ने एक रूप धारण किया है। ह्लादकरी, तापकरी और मिश्रा शक्तियाँ भगवान् में नहीं रहतीं। इनमें ह्लादकरी शक्ति का अर्थ है सत्त्वगुणात्मिका शक्ति (मनःप्रसादोत्था सात्त्विकी)। तापकरी का अर्थ है विषयों के वियोग होने से सन्ताप उत्पन्न करनेवाली, अर्थात् तामसी वृत्ति (विषयवियोगादिषु तापकरी)। 'मिश्रा' का अर्थ है दोनों के मिश्रण से उत्पन्न विषय-जन्य शक्ति, अर्थात् राजसी शक्ति। तीनों गुणों के सम्पर्क से उत्पन्न होनेवाली ये तीनों शक्तियाँ गुणवर्जित भगवान् में कैसे रह सकती हैं? जब कि वह स्वयं निर्गुण—गुणों से विरहित—है। उसके स्वरूप के तीनों अंशों को लेकर तीन शक्तियाँ उसमें विद्यमान रहती हैं, जिनका विवरण ऊपर दिया गया है। इन तीनों शक्तियों में क्रमशः गुणोत्कर्ष विद्यमान रहता है—सन्धिनी,

१. सदात्मापि यया सत्तां धत्ते ददाति च सा सर्वदेशकाल-द्रव्यव्याप्तिहेतुः सन्धिनी शक्तिः।

२. संविदात्मापि च यया संवेत्ति संवेदयति च सा संवित्।

३. ह्लादात्मापि च यया ह्लादते ह्लादयति च सा ह्लादिनी शक्तिः। तत्तत् प्राधान्येन स्फूर्तेः तत्तद्रूपं तस्या एकस्या वैदूर्यवदवसीयते।—ये उद्धरण बलदेव विद्याभूषण के 'सिद्धान्तरत्न' से लिये गये हैं। देखिए सरस्वती भवन सीरीज (काशी) द्वारा प्रकाशित, सं० पृ० ३९–४०।

संवित् तथा ह्लादिनी इस क्रम से। सन्धिनी की अपेक्षा गुणोत्कर्ष में संवित् श्रेष्ठ है; क्योंकि सत्ता के एक परम उत्कर्ष के द्वारा ही संवित् को पाया जाता है और इस संवित् से उत्कृष्ट है ह्लादिनी, जिसमें अन्य दोनों की सत्ता विद्यमान रहती हैं। **ह्लादिनी शक्ति ही भगवान् की समग्र शक्तियों की परिपूर्णता की द्योतिका है। भगवान् की शक्तियों का पूर्णतम विकास इसी ह्लादिनी में दृष्टिगोचर होता है और इसीलिए, यह शक्तियों में, स्वरूप-शक्ति में भी, मुख्यतया मानी गई है।**

इन शक्तियों के विषय में जीवगोस्वामी का विवरण भी इसी प्रकार का है। उपनिषद् का यह सुप्रसिद्ध कथन है 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'—हे सौम्य, इस सृष्टि के आरम्भ में 'सत्' ही था। इस प्रकार 'सत्' रूप से व्यपदिश्यमान वह परमतत्त्व जिस शक्ति के द्वारा सत्ता स्वयं धारण करता है तथा दूसरों को सत्ता धारण कराता है, वह सब देश, काल, द्रव्य आदि में व्याप्त होनेवाली शक्ति 'सन्धिनी' कहलाती है। संविद् (ज्ञान)-रूप वह भगवान् जिस शक्ति के द्वारा अपने-आप जानता है तथा दूसरों को ज्ञान प्रदान करता है, वही है 'संवित्' शक्ति। इस प्रकार, ह्लाद-रूप होनेवाला वह भगवान् संवित् के उत्कर्ष-रूपी जिस शक्ति के द्वारा उस ह्लाद को स्वयं जानता है तथा दूसरों को वह ह्लादित करता है, वही है ह्लादिनी शक्ति—

'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यत्र सद्रूपत्वेन व्यपदिश्यमानो यया सत्तां दधाति धारयति च सा सर्वदेशकालद्रव्यादिव्याप्तिकरी सन्धिनी। संविद्रूपोऽपि यया संवेत्ति संवेदयति च सा संवित्। तथा ह्लादरूपोऽपि यया संविदुत्कर्षरूपया तं ह्लादं संवेत्ति संवेदयति च सा ह्लादिनी।

—भगवत्सन्दर्भ, पृ० १९१॥

भगवान् तथा जीव का पार्थक्य भी इन्हीं शक्तियों के भावाभाव के कारण सम्पन्न होता है। ह्लादिनी तथा संवित् से युक्त होने पर वह सच्चिदानन्द ईश्वर है, परन्तु अपनी अविद्या के द्वारा आवृत होनेवाला जीव सब दुःखों का निलय है—

ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः।
स्वविद्यासंवृतो जीवः संक्लेशनिकराकरः॥

—भगवत्सन्दर्भ में उद्धृत श्लोक

रति के भेद

श्रीकृष्ण के प्रति हृदय में उल्लास के मात्राधिक्य को व्यंजित करनेवाली 'प्रीति' ही रति के नाम से प्रख्यात होती है। रति के प्रकार के समीक्षण के अवसर पर विचारणीय है आश्रय तथा विषय की विशिष्टता। आश्रय है भक्त और विषय है भगवान्। दोनों के बीच रति की एक दशा वह होगी, जब भक्त भगवान् के सान्निध्य में आकर अपनी इच्छा की ही पूर्ति चाहता है; वह चाहता है अपने हृदय में उल्लास तथा आनन्द, अर्थात् उसकी रति स्वार्थ की कामना से ही प्रेरित होती है। वह अपना सुख चाहता है, अपना स्वार्थ चाहता है। इस स्वार्थमयी रति का शास्त्रीय नाम है—**साधारणी रति** और कुब्जा इसका दृष्टान्त प्रस्तुत करती है। दूसरे प्रकार की रति वह है कि जिसमें भक्त न अपनी इच्छा की पूर्त्ति चाहता है, और न भगवान् की इच्छा का, प्रत्युत उसका हृदय कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर भगवान् के प्रेम में आसक्त होता है। वह उस साध्वी पतिव्रता के समान होता है, जो न अपनी कामना की पूर्त्ति चाहती है, न पति के सेवा-व्यापार में

पति की ही इच्छा को चरितार्थ करना चाहती है। वह कर्त्तव्य-बुद्धि से या धर्म-बुद्धि से ही अपने पति की सेवा में लगी रहती है। इस प्रकार की रति का शास्त्रीय नाम है—**सामञ्जसा** रति और इसके दृष्टान्त हैं—रुक्मिणी, सत्यभामा आदि महिषीगण। तीसरे प्रकार की रति में भक्त अपने को पूर्णरूपेण भगवान् को समर्पित कर देता है; उसकी अपनी कोई भी इच्छा नहीं रहती। वह भगवान् की इच्छा की पूर्त्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। उसका प्रत्येक कार्य भगवत्प्रसाद के लिए ही होता है। उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य होता है—भगवान् को प्रसन्न करना, भगवान् के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करना, भगवान् के चित्त में आनन्द का संचार करना। रति का यह श्रेष्ठ प्रकार है—निःस्वार्थ भावना से सम्पादित रति। इसका शास्त्रीय अभिधान है **समर्था** रति और इसका प्रकृष्ट उदाहरण है—व्रजगोपिकाएँ। इन तीनों प्रकार की रति के लिए 'उज्ज्वलनीलमणि' में तीन दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं। साधारणी रति मणि के तुल्य है तथा अत्यन्त सुलभ नहीं है। समञ्जसा रति चिन्तामणि के समान है और वह चारों ओर से सुदुर्लभ है। समर्था रति कौस्तुभमणि के तुल्य होती है, जो एक ही होती है और किसी दूसरे के द्वारा प्राप्य नहीं होती। ये तीनों मणि क्रमशः मूल्य में तथा महत्त्व में अधिक होते हैं। सामान्य मणि से बढ़कर होता है चिन्तामणि और चिन्तामणि से भी बढ़कर होता है कौस्तुभमणि, जो भगवान् के वक्षःस्थल पर ही विराजता है। इन दृष्टान्तों से समर्था रति की प्रकृष्ट गरिमा तथा महत्त्व का परिचय पाठकों को लग सकता है। श्रीरूपगोस्वामी के शब्दों में—

मणिवत् चिन्तामणिवत् कौस्तुभमणिवत् त्रिधाभिमता।
नाति सुलभेयमभितः सुदुर्लभा स्यादनन्यलभ्या च॥

—उज्ज्वलनीलमणि : स्थायिभावप्रकरण, श्लोक ३८

आदिम दोनों रतियों में संभोगेच्छा तथा रति की पृथक् सत्ता सर्वदा विद्यमान रहती हैं, परन्तु समर्था रति में इन दोनों का सर्वथा तादात्म्य हो जाता है। प्रेम ही प्रेम रहता है। प्रियतम के साथ संभोग की इच्छा की सत्ता लवमात्र भी कहीं नहीं रहती, इसीलिए इसकी उत्कृष्टता मानी गई है। इसमें सब उद्योग तथा उद्यम श्रीकृष्ण को सुख पहुँचाने के लिए ही किये जाते हैं।[1] इसका शास्त्रीय अभिधान है—**समर्था** रति और इसका प्रकृष्ट उदाहरण है—व्रजगोपिकाएँ।

व्रजगोपिकाओं की प्रीति उदात्ततम रूप में दृष्टिगोचर होती है। गोपी-भाव के परिचायक दो ही श्रेष्ठ चिह्न हैं—(१) श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में अपने समग्र आचार-व्यवहार का, धर्म-कर्म का पूर्ण समर्पण तथा (२) उनके विरह में परम व्याकुलता। महर्षि नारद की सम्मति में गोपी-भाव का आदर्श यही है—**तदर्पिताखिलाचारिता तद्-विरहे परमव्याकुलता च।** भक्तिशास्त्र में व्रजगोपियाँ प्रेम की धवल ध्वजा मानी

१. **सर्वाद्भुतविलासोर्मिचमत्कारकरश्रियः ।**
सम्भोगेच्छाविशेषोऽस्या रतेर्जातु न भिद्यते ॥४९॥
इत्यस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः ॥५०॥

—उज्ज्वलनीलमणि, स्थायिभाव।

गई हैं; क्योंकि उन्होंने गेह की दुर्जर शृंखला को तोड़कर भगवान् के चरणारविन्द में अपने चित्त को लगाया था। भागवत में श्रीकृष्ण का स्वयं कथन है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥

—भाग० १०।३२।२२

भगवान् का कहना है—मेरी प्यारी गोपियो ! तुमने मेरे लिए घर-गृहस्थी की उन बेड़ियों को तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े योगी-यति भी नहीं तोड़ पाते । मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल है, सर्वथा निर्दोष । यदि मैं अमर जीवन से अनन्त काल तक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्याग का बदला चुकाना चाहूँ, तो भी नहीं चुका सकता । मैं जन्म-जन्म के लिए तुम्हारा ऋणी हूँ । तुम चाहो, तो अपने सौम्य स्वभाव से, प्रेम से मुझे उऋण कर सकती हो; परन्तु मैं तो तुम्हारा ऋणी सदा ही रहूँगा ।

भगवान् के भक्तों में उद्धवजी का दर्जा बहुत ही ऊँचा है । वे ज्ञानी भक्त के आदर्श हैं । उन्होंने अपने ज्ञान तथा योग की विविध शिक्षाओं से गोपियों को बड़े आग्रह एवं प्रेम से दूर हटाने का लाख प्रयास किया; परन्तु वे अपने काम में असफल ही रहे । अन्त में इन गोपियों के विमल विशुद्ध प्रेम से चमत्कृत होकर उद्धवजी को कहना पड़ा—

आसामहो चरणरेणजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
याः सुत्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजे मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥

—भागवत १०।४७।६१

उद्धवजी के इस प्रख्यात हृदयोद्गार का आशय यह है कि उनके लिए सबसे बड़ी बात यही होगी कि वे वृन्दावन में कोई झाड़ी, लता अथवा ओषधि ही बन जायँ, जिससे उन्हें व्रजांगनाओं की चरण-धूलि के सेवन करने का अवसर प्राप्त हो जाय । इन गोपियों की महिमा किन शब्दों में वर्णित की जाय ? जिन्होंने दुस्त्यज (जिनका छोड़ना नितान्त कठिन है) स्वजनों को और लोकवेद की आर्य-मर्यादा को छोड़कर भगवान् के चरणारविन्द को प्राप्त किया, उनके साथ तन्मयता को, उनके परम प्रेम को प्राप्त किया । औरों की बात तो क्या कही जाय; भगवान् की वह दिव्यवाणी, जो वेद तथा उपनिषद् के नाम से पुकारी जाती है, वह उनकी ही निःश्वासभूता श्रुतियाँ भगवान् के प्रेममय रूप को ढूँढ़ती ही रहती हैं, परन्तु प्राप्त नहीं कर पातीं ।

वैष्णव कवियों ने गोपियों के प्रेम की विशुद्धि का वर्णन बड़े ही आग्रह के साथ किया है । गोपियों के प्रेम के विषय में सूरदास का यह कथन कितना सुन्दर है—

गोपी पद रज महिमा विधि भृगु सो कही ।
× × × ×
जो कोई भरता भाव हृदय धरि हरिपद ध्यावै ।

नारि पुरुष कोउ होइ श्रुति ऋचा गति सो पावैं ॥
तिनके पद रज जो कोई वृन्दावन भू माँहि ।
परसे , सोऊ गोपिका गति पावैं संसय नाँहि ॥
—सूरसागर, पृ० ३६४ (वें० सं०)

गोपियों को श्रीवल्लभाचार्यजी श्रुतियों का ही रूप मानते हैं—

श्रुत्यन्तररूपाणां गोपिकानाम् ।

वल्लभाचार्य का यह कथन पद्मपुराण के एक वचन पर आधृत है, जिसमें गोपिकाओं को ऋचाएँ कहा गया है—

गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋचो वै गोपकन्यकाः ॥
—पातालखण्ड, अ० ७३, श्लोक ३१

मेरी दृष्टि में गोपी-जनों को ऋचा-रूपिणी बतलानेवाला यही वचन प्राचीनतम माना जाना चाहिए। इसी आशय को प्रकट किया है सूरदास ने—

वेद रिचा होइ गोपिका, हरिसौं कियो बिहार ।
व्रज सुन्दरि नहि नारि, रिचा स्रुति को सब आहीं ।
मैं ब्रह्मा अरु सिब पुनि लछमी तिन सम कोऊ नाहीं ॥

गोपियों की पवित्रता का निर्देश इससे अधिक क्या हो सकता है। वे वेद की साक्षात् ऋचा-रूपिणी हैं। वेद तो परमात्मा का निःश्वास ठहरा। उसी वेद की ऋचा होना पावित्र्य की पराकाष्ठा है। गोपियों की धन्यता का गीत गाते हमारे कविजन नहीं अघाते। भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों के भक्तों ने भी अपनी मातृभाषा में अपने हृदय के मनोरम उद्‌गार प्रकट किये हैं।

इन गोपियों में भी सर्वश्रेष्ठ है श्रीराधा, जो प्रेम की प्रतिमा, माधुर्य का सार, आनन्द का उत्स बनकर आनन्दकन्द के हृदय को पिघलाती है तथा उसे भी आनन्द-विभोर बना देती है—परमानन्ददासजी ने राधा की महिमा में यह सुन्दर पद कहा है—

राधे तू बड़भागिनी, कौन तपस्या कीन ।
तीन लोक के नाथ हरि, सो तेरे आधीन ॥
तनक सुहागो डारि के जड़ कंचन पिघलाय ।
सदा सुहागिन राधिका, क्यों न कृष्ण ललचाय ॥

इस पद के अन्त में 'सुहागो' और 'सुहागिन' की कैसी सुन्दर तुलना की गई है। यह तो सच्ची बात है कि थोड़ा भी सुहागा डालने पर जड़ सुवर्ण भी पिघल जाता है। राधा तो सदा सुहागिन ठहरी। उनके रूप को देखकर श्रीकृष्ण के हृदय में लालच क्यों न उत्पन्न हो जाय? चेतन कृष्ण यदि सुहागिन राधा को देख कर पिघल जाते हैं, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? कृष्ण को आह्लादित करनेवाली राधिका ह्लादिनी शक्ति जो ठहरी!!!

काम तथा प्रीति

काम से प्रीति का उत्कर्ष नितान्त युक्त है। दोनों में किसी अंश तक समता होने पर भी अन्ततोगत्वा पार्थक्य उपस्थित होता है। 'काम' का सामान्य रूप है किसी विशिष्ट वस्तु

के लिए स्पृहा, चाह, अभिलाषा। 'प्रीति' का सामान्य रूप है विषय के आनुकूल्य से युक्त होने-वाला तदनुगत विषय की स्पृहा से संवलित ज्ञानविशेष। दोनों की चेष्टा प्रायः समान ही होती है। वाहरी अभिव्यक्ति दोनों ही भावों की प्रायः एक समान ही रहती है, परन्तु अन्तर में दोनों में महान् भेद होता है। काम-सामान्य की चेष्टा अपनी अनुकूलता के उद्देश्य से होती है। 'प्रीति' का व्यवहार दो प्रकार से होता है——गौणवृत्ति से तथा मुख्यवृत्ति से। विषय के आनुकूल्य के साथ-साथ स्वसुख कार्यरूप से विद्यमान यदि है, तो यह गौणवृत्ति प्रीति का लक्षण है। शुद्ध प्रीति की चेष्टा सर्वदा प्रिय के आनुकूल्य के उद्देश्य से सम्पन्न की जाती है और आत्मसुख भी तदनु-गत ही होता है, अर्थात् प्रिय की अनुकूलता के सम्पादन में ही अपना सुख-सौख्य निर्भर करता है। यह मुख्यवृत्ति प्रीति शब्द का तात्पर्य होता है। जीवगोस्वामी ने इस पार्थक्य का विश्लेषण बड़ी सुन्दर रीति से किया है।[1]

इसी ह्लादिनी शक्ति की संज्ञा 'राधा' है। राधा के तत्त्व का कृष्णदास कविराज ने अपने 'चैतन्यचरितामृत' में बड़े ही स्पष्ट शब्दों में विवेचन किया है——

ह्लादिनी कराय कृष्णेर आनन्दास्वादन
ह्लादिनी द्वारा करे भक्तेर पोषण।
ह्लादिनी सार प्रेम प्रेम सार भाव
भावेर परमकाष्ठा नाम महाभाव।
महाभाव रूपा श्रीराधा ठाकुरानी
सर्वगुण खानि कृष्णकान्ता शिरोमणि।

अर्थात्, ह्लादिनी शक्ति ही कृष्ण को आनन्द का आस्वादन कराती है। इस शक्ति के विना कृष्ण को आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती। ह्लादिनी के द्वारा ही वे भक्तों का पोषण करते हैं। ह्लादिनी शक्ति का सार है प्रेम। प्रेम का सार है भाव। भाव की पराकाष्ठा—चरम उत्कर्ष को कहते हैं महाभाव। और, श्रीराधा ठकुरानी इसी महाभाव की प्रत्यक्ष मूर्त्ति हैं। वे समस्त गुणों की खानि हैं तथा श्रीकृष्ण की प्रियाओं में सर्वश्रेष्ठ हैं। राधा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कविराज का कथन है कि राधा गोविन्द को आनन्द देनेवाली तथा उनके चित्त को मोह लेनेवाली है। इसीलिए, वह गोविन्द के लिए सर्वस्व है। राधा विशुद्ध प्रेम की कल्प लतिका है——उस प्रेम की, जो अपने प्रियतम के चरणों में अपने-आपको निछावर कर देता है। फलतः, राधा कृष्णमयी है——उनके भीतर तथा वाहर सव जगह कृष्ण-ही-कृष्ण विराजते हैं। राधा की अद्वैतभावना इतनी प्रौढ है कि जहाँ-जहाँ उनकी दृष्टि पड़ती है, वहाँ-वहाँ कृष्ण ही स्फुरित होते हैं। कृष्ण का स्वरूप प्रेमरसमय है और उस कृष्ण की शक्ति होने से राधा उसके साथ सर्वदा एकरूप रहती हैं। 'राधा' की व्युत्पत्ति ही इसके सच्चे रूप को प्रकट करने में अलम् है। राधा का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है——आराधना करनेवाली। यह आराधना क्या है? कृष्ण की इच्छा की पूर्त्ति

---

१ द्वयोः समानप्रायचेष्टत्वेऽपि कामसामान्यस्य चेष्टा स्वीयानुकूल्यतात्पर्या। तत्र कुत्रचित् विषयानुकूल्यं च स्वसुखकार्यभूतमेवेति तत्र गौणवृत्तिरेव प्रीतिशब्दः। शुद्धप्रीतिमात्रस्य चेष्टा तु प्रियानुकूल्यतात्पर्यैव। तत्र तदनुगतमेव चात्मसुखमिति मुख्यवृत्तिरेव प्रीति-शब्दः॥ ——प्रीतिसन्दर्भ, पृ० ७३७।

ही आराधना है। इस व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि 'राधा' की सार्थकता है श्रीकृष्ण की इच्छापूर्त्ति करने में। राधा का जीवन ही कृष्णमय है, उसका उद्देश्य ही है कृष्ण की इच्छापूर्त्ति। फलतः, राधा कृष्णमयी है तथा उनके आनन्द को उत्पन्न करनेवाली दिव्य सुन्दरी—

गोविन्दानन्दिनी राधा गोविन्दमोहिनी
गोविन्द सर्वस्व सर्वकान्ताशिरोमणि।
कृष्णमयी, कृष्ण जाँर भीतरे बाहिरे
जहाँ जहाँ नेत्र पड़े तहाँ कृष्ण स्फुरे।
किं वा प्रेम रसमय कृष्णेर स्वरूप
ताँर शक्ति ताँर सह हय एकरूप।
कृष्ण वांछा पूर्त्ति रूप करे आराधने
अतएव राधिका नाम पुराणे बाखाने।

राधा तथा कृष्ण के परस्पर सम्बन्ध की मीमांसा करते हुए कृष्णदास कविराज का कथन है कि कृष्ण तो संसार को मोहनेवाले हैं। वे तो 'साक्षान्मन्मथमन्मथ' के नाम से विख्यात हैं। अर्थात्, संसार के चित्त को मोहनेवाले कामदेव के लिए भी मोहन हैं श्रीकृष्ण और इनको भी मोहनेवाला यदि कोई व्यक्ति है—तो वह है, यही राधा। इसी कारण, राधा विश्व में सबसे श्रेष्ठ वस्तु ठहरी—कृष्ण की मोहिनी होने के कारण। राधा है पूर्ण शक्ति और कृष्ण हैं पूर्ण शक्तिमान्। दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं। क्या कस्तूरी और उसके गन्ध में तथा अग्नि और उसकी ज्वाला में किसी प्रकार का भेद है? नहीं, कोई नहीं। राधा और कृष्ण का सम्बन्ध भी वैसा ही अविच्छेद्य है। वे हैं तो दोनों एक ही स्वरूप, परन्तु लीला-रस के आस्वादन के लिए दो रूप धारण करते हैं। तथ्य है—'एकाकी नैव रमते।' केवल अकेली ही वस्तु रमण नहीं कर सकती। रमण के लिए दो की अपेक्षा रहती है, इसीके निमित्त एक ही भगवान् ने अपना दो रूप धारण कर लिया—श्रीकृष्ण तथा श्रीराधा—

जगत-मोहन कृष्ण ताँहार मोहिनी
अतएव समस्तेर परा ठाकुराणी।
राधा पूर्ण शक्ति कृष्ण पूर्ण शक्तिमान्
दुइ वस्तु भेद नाहि शास्त्र परमान।
मृगमद ताँर गन्ध यैछे अविच्छेद
अग्नि ज्वालाते यैछे कभु नहे भेद।
राधा कृष्ण यैछे सदा एकई स्वरूप
लीलारस आस्वादिते धरे दुई रूप।

महाभावस्वरूपिणी राधा पूर्ण शक्ति हैं तथा श्रीकृष्ण पूर्ण शक्तिमान् हैं। दोनों एक ही भिन्न तत्त्व हैं। लीला-रस के आस्वादन के लिए ही वह अभिन्न तत्त्व दो रूपों में दृष्टिगोचर होता है। चैतन्य-मत में राधा का यही पर्यवसित रूप है।

राधा का परकीया-भाव

चैतन्य-मत में राधा परकीया के रूप में ही स्वीकृत की गई हैं, परन्तु यह स्वीकृति कव प्राप्त हुई ? किस आचार्य के द्वारा प्राप्त हुई ? इस विषय में हमें विद्वानों में मतैक्य नहीं दिखलाई पड़ता। जीवगोस्वामी ने अपने षट्सन्दर्भ में इस मत की मीमांसा की है। उससे तो यही प्रतीत होता है कि तबतक राधा का परकीयावाद सर्वथा प्रतिष्ठित नहीं हो गया था। वे तो उन्हें परम स्वकीया मानने के पक्ष में थे। श्रीकृष्ण के प्रति उनके हृदय में स्वाभाविक आसक्ति थी। विशुद्ध प्रेम की इस प्रतिभा को स्वकीया न मानना तथ्यों के साथ बलात्कार करना है। यदि कहीं पर परकीया-भाव का संकेत उपलब्ध होता है, तो इसका अभिप्राय लीलावाद से है। अर्थात्, अप्रकट लीला में राधा श्रीव्रजनन्दन की परम स्वकीया हैं।[१] वही वन-वृन्दावन की प्रकट लीला में विलास की विचित्रता के लिए, विहार में नूतनता दरसाने के लिए तथा अनेक अभिप्राय से परकीया के रूप में वर्णित की गई हैं। जीवगोस्वामी का यह मत उभय पक्ष—स्वकीयावादी तथा परकीयावादी के विरुद्ध मतों का एक सुन्दर संतुलन उपस्थित करता है। परन्तु, पीछे के युग में राधा ठेठ परकीया के रूप में ही प्रतिष्ठा पाती हैं; यह हम निर्विवाद कह सकते हैं। परन्तु, जीवगोस्वामी ने अपना मत इससे विरुद्ध ही प्रतिपादित किया है। उनके मतानुसार गोपाललीला में स्वकीया ही परम सत्य है। परकीया मायिक मात्र है, जिसे कृष्ण की योगमाया प्रकट वृन्दावन-लीला में इस परकीया-भाव का विस्तार करती है। वृन्दावन-लीला में इस मायिक परकीयावाद को भी जीवगोस्वामी गोपियों के लिए एक गौरव की वस्तु मानते हैं, इसमें किसी प्रकार की लघुता की भावना नहीं है। लौकिक नायक तथा अलौकिक नायक का भेद तात्त्विक है। परकीया का लाघव तथा हेयत्व लौकिक नायक के प्रति होने पर ही सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं। अलौकिक नायक के प्रति परकीया-भाव की स्थापना भूषण की वस्तु है, दूषण की नहीं।[२] सामाजिक आदर्श से हीन होने के कारण लोक में परकीया अवश्यमेव गर्हित मानी जाती है, परन्तु श्रीकृष्ण के प्रति यह भाव कथमपि गर्हित तथा निन्दनीय नहीं माना जा सकता। एक बात और भी ध्यातव्य है। गोपियों के पति का सद्भाव व्यावहारिक दृष्टि से है, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं; क्योंकि तथ्य-दृष्टि से वे श्रीकृष्ण की स्वरूप-शक्तियाँ थीं। अतएव, शक्तिमान् कृष्ण ही उनके वास्तव पति थे। इसलिए, श्रीकृष्ण की पतिरूपेण प्राप्ति को भागवतकार बड़ी श्लाघा तथा आदर की भावना से देखते हैं और गोपियों की महनीय स्तुति करने से विरत नहीं होते।[३]

राधा को विशुद्ध परकीया, और केवल परकीया ही माननेवाले आचार्यों में चैतन्यचरितामृत के लेखक कृष्णदास कविराज का नाम सर्वोपरि लिया जाता है। कृष्णदास तो जीव-

---

१. अथ वस्तुतः परमस्वीया अपि प्रकटलीलायां परकीयमाणाः व्रजदेव्यः। या एव असमोर्ध्वं स्तुताः। —प्रीतिसन्दर्भ, पृ० ८४१।

२. यत्तु कश्चित् परकीयासु लघुत्वं व्यक्ति, तत् खलु प्राकृतनायकमवलम्बमानासु युक्तं, तत्रैव जुगुप्सितत्वात्। अत्रतु गोपीनां तत्पतीनां चेत्यादिना तत् प्रत्याख्यानात्।
—प्रीतिसन्दर्भ, पृ० ८४२।

३. 'एताः परं तनुभृतः' आदि पद्य में।

गोस्वामी के समकालीन ही व्यक्ति थे। पिछले युग के ग्रन्थकारों में डॉ० शशिभूषणदास गुप्त ने पण्डित विश्वनाथ का तथा यदुनन्दनदास के नामों का उल्लेख किया है, जिनमें प्रथम विद्वान् ने दार्शनिक दृष्टि से प्रकट तथा अप्रकट उभय लीलाओं में राधा के परकीया-भाव को सिद्ध करने का उद्योग किया है तथा दूसरे ने 'जीवगोस्वामी का भी परकीयावाद ही मुख्य तात्पर्य था' ऐसा दिखलाने का प्रयत्न किया है। जो कुछ भी हो, पीछे यह वाद इतना प्रतिष्ठित हो गया कि अवान्तरकालीन किसी भी लेखक को इस तथ्य से पराङ्मुख होने का अवसर ही नहीं आया और कालगति से चैतन्य-मत में राधा का यही परकीया-भाव सर्वतोभावेन मान्य तथा प्रामाणिक बन गया।

यहाँ हम इस परकीया-भाव की स्वीकृति के कारणों की खोज में प्रवृत्त होते हैं। रूपगोस्वामी की व्याख्या के अनुसार परकीया वह स्त्री है, जो इस लोक और परलोक दोनों की अनुपेक्षा करने-वाले प्रेम से अपनी आत्मा को उस पुरुष के प्रति अर्पित करती है, जिससे उसका विधिवत् विवाह नहीं हुआ रहता—

> रागेणैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानुपेक्षिणा ।
> धर्मेणास्वीकृता यास्तु परकीया भवन्ति ताः ॥
>
> —उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५२

इस श्लोक की व्याख्या में जीवगोस्वामी ने 'राग' तथा 'धर्म' शब्दों को परस्पर विरोधी-सा दिखलाया है। उनका कथन है कि परकीया अपने अन्तरंग राग के द्वारा अपने-आपको श्रीकृष्ण के लिए अर्पित करती है, बहिरंग विवाह प्रक्रियात्मक धर्म के द्वारा नहीं और श्रीकृष्ण भी उसे विवाहात्मक धर्म से स्वीकार न कर राग के द्वारा ही स्वीकृत करते हैं। फलतः, यह लक्षण गोपियों के लिए ही किया गया प्रतीत होता है।

अब देखिए राधा को परकीया माने जाने का प्रथम कारण। प्रेम की, रति की, पराकाष्ठा स्वकीया रति की अपेक्षा परकीया रति में ही होती है। स्वकीया में रहता है विधि-विधान का नियंत्रण, जो उसके प्रेम के ऊपर एक गहरा आवरण डालकर उसे पूर्णतया विकसित होने से सर्वतः रोकता है। इसके विपरीत परकीया की रति विधि-अनुष्ठान के नियन्त्रण से जकड़ी हुई नहीं रहती। फलतः, उसमें रहता है स्वातन्त्र्य, जो रति को पूर्ण विकास तक पहुँचाने में समर्थ होता है। इसलिए, साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों में परकीया में रति का चरम उत्कर्ष माना जाता है। जीवगोस्वामी ने इस विषय में भरतमुनि के मत का उपन्यास किया है। चैतन्यचरितामृत में कृष्णदास कविराज ने कान्ता-प्रेम के उत्कृष्टतम रूप परकीया रति को स्थिर किया है। उनका कथन है—

> परकीया भावे अति रसेर उल्लास
> व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि बास ।
> व्रजवधू गणेर एइ भाव निरवधि
> तार मध्ये श्रीराधार भावेर अवधि ॥ —आदि लीला, चतुर्थ परिच्छेद

परकीया में रस का उल्लास क्यों कर होता है? इसका उत्तर हमारे साहित्यशास्त्रियों ने दिया है। साहित्य की दृष्टि से इस रति-उत्कर्ष के तीन कारण बतलाये जा सकते हैं—वारणत्व,

प्रच्छन्नकामुकत्व तथा दुर्लभत्व। मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जिसे जिससे वारण किया जाता है, उसके प्रति उसकी अभिलाषा अति उत्कट रूप कर धारण लेती करती है। परकीया सामाजिक आदर्श नहीं है, समाज उसका सर्वदा वारण करता है। फलतः, उसकी ओर नायक की अभिलाषा उत्कट तथा तीव्रतर होती ही है; यही स्वाभाविक भावना है। उसके प्रति कामुक का व्यापार प्रच्छन्न रूप से ही होता है और प्रेम की अभिवृद्धि में यह भी एक कारण होता है। प्रेमी तथा प्रेमपात्री की दुर्लभता भी प्रीति के उत्कर्ष का मौलिक कारण होती है। सौलभ्य प्रीति के अपकर्ष का कारण होता है तथा दौर्लभ्य उस प्रीति की वृद्धि का निदान। परकीया में प्रीतिवर्धन के ये तीनों हेतु वर्त्तमान रहते हैं। इसीलिए, परकीया के प्रति नायक का आकर्षण सर्वापेक्षया अधिक होता है। जीवगोस्वामी ने साहित्य-शास्त्र के तीन आचार्यों की सम्मति इस विषय में पूर्वोक्त तथ्य की सिद्धि के लिए दी है[1]—

यथाह भरतः—

बहु वार्यते यतः खलु यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वं च।
या च मिथो दुर्लभता सा परमा मन्मथस्य रतिः॥

रुद्रः—

वामता दुर्लभत्वं च स्त्रीणां या च निवारणा।
तदेव पञ्चबाणस्य मन्ये परममायुधम्॥

विष्णुगुप्तः—

यत्र निषेधविशेषः सुदुर्लभत्वं च यन्मृगाक्षीणाम्।
तत्रैव नागराणां निर्भरमासज्यते हृदयम्॥

परन्तु, गोपियों में कृष्ण के प्रति आकर्षण परकीयात्व के कारण न होकर नैसर्गिक है। वे श्रीकृष्ण की स्वरूपा शक्ति थीं। फलतः, उनके लिए गोपियों का हृदय स्वतः ही आकृष्ट होता है, तथा वे श्रीकृष्ण को अपने अलौकिक प्रेम के द्वारा आनन्दित करने में स्वयमेव समर्थ होती हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी राधा का परकीयात्व चैतन्यपूर्व साहित्य में प्रतिष्ठित हो चुका था। चैतन्य के उपजीव्य कवियों में जयदेव तथा विद्यापति मुख्य थे और इन दोनों में राधा का स्वरूप परकीया ही है। जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में जिस राधा की माधव के साथ नाना केलियों का प्रदर्शन किया है, वह राधा परकीया के रूप में ही वहाँ चित्रित हैं। यदि वे स्वकीया रहतीं, तो दूती का भेजना, दूती को अभिसार के लिए सलाह देना, निकुंज में दूती के द्वारा मिलन आदि घटनाओं का भी कोई भी स्वारस्य नहीं रहता। कृष्ण की विरह-भावना के चमत्कार का यही रहस्य है कि राधा परकीया हैं, अन्यथा वह भावना इतनी दूर तक नहीं जाती। विद्यापति की राधा भी इसी भाँति परकीया ही है। पिछले परिच्छेद में राधा के साहित्यिक रूप का विवेचन करते समय हमने दिखलाया है कि राधा असती के रूप में काव्यों में चित्रित की गई हैं और राधा-विषयक श्लोक 'असती व्रज्या' के प्रकरण में रखे गये हैं। सूक्ति-संग्रहों में, चण्डीदास के पदों में भी श्रीराधा इसी रूप में अपनी प्रतिष्ठा पाती हैं। हमने स्थलविशेष पर दिखलाने का प्रयत्न किया है कि राधा का आविर्भाव साहित्य में प्रथमतः हुआ और तदनन्तर वे धर्म के क्षेत्र में लाई गईं।

१. जीवगोस्वामी : प्रीतिसन्दर्भ, पृ० ८४१।

फलतः, हम निःसंकोच कह सकते हैं कि साहित्यिक राधा परकीया थी और इसी रूप में वे चैतन्य के सामने प्रस्तुत की गई थीं। ऐसी दशा में यदि इस सम्प्रदाय में वे परकीया-रूप में स्वीकृत की गईं, तो इसमें आश्चर्य की कोई वात नहीं दीखती।

साधना की दृष्टि से भी परकीया-भाव चैतन्य-मत में प्रतिष्ठा पाने में समर्थ हुआ। जिस समय यह सिद्धान्त बंगाल में प्रचारित होने लगा, उस समय साधना की एक विचित्र धारा वहाँ प्रवाहित हो रही थी। यह है नरनारी के युगलरूप की साधना। यह तन्त्र का मान्य सिद्धान्त था, जो हिन्दू-तन्त्र में, बौद्धतन्त्र में तथा बौद्ध सहजयान में समभावेन गृहीत हुआ। इसी भावना का परिवृंहण हमें वैष्णव सहजिया-मत में भी उपलब्ध होता है। इन-लोगों में आरोप-साधना की पद्धति मान्य हुई, जिसके अनुसार नारी-आरोप के लिए परकीया का ही ग्रहण न्याय्य तथा उचित माना जाता था। सहजिया-साधना में परकीया की पद्धति विशेष रूप से मान्य है। इसी का प्रभाव पड़ने के कारण चैतन्य-मत के अन्दर भी परकीया-तत्त्व अवान्तर काल में प्रामाणिक तथ्य का रूप लेने में सर्वथा समर्थ हुआ, ऐसा मानना स्वाभाविक प्रतीत होता है।[1]

इन्हीं कतिपय कारणों से विधियुक्त होने पर भी चैतन्य-मत में राधा का परकीयावाद सुप्रतिष्ठित तथा लोकप्रिय वन गया।

---

१. डॉ० शशिभूषणदास गुप्त : राधा का क्रम-विकास, पृ० २३६।

सप्तम परिच्छेद

सहजिया वैष्णव-सम्प्रदाय में राधा-तत्त्व

बंगाल में वैष्णव-सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करता है महाप्रभु चैतन्य के द्वारा प्रतिष्ठापित वैष्णव धर्म, जो अपने प्रतिष्ठापक के नाम पर 'चैतन्य-सम्प्रदाय' और अपनी उद्गम-भूनि के नाम पर 'गौडीय वैष्णव धर्म' के नाम से सर्वत्र प्रख्यात है। परन्तु सम्भव है, बहुत-से पण्डितों को यह ज्ञात न होगा कि इस सम्प्रदाय के अतिरिक्त भी एक वैष्णव-सम्प्रदाय बंगाल में प्राचीन काल से अपनी स्थिति बनाये हुए है, जो शास्त्रीय प्रचलित परम्परा में कथमपि अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता। इसका अभिधान है—सहजिया वैष्णव-सम्प्रदाय। चैतन्य-मत में राधातत्त्व के विश्लेषण के अनन्तर विषय की पूर्त्ति के लिए इस सम्प्रदाय की राधाविषयक मान्यता की मीमांसा नितान्त आवश्यक है।

'सहजिया वैष्णव-सम्प्रदाय' बंगाल की 'खाँटी माँटी' में उत्पन्न होनेवाला और पनपनेवाला सम्प्रदाय है। इसमें गौड की लोक-संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग भी समाविष्ट कर लिये हैं। यह एक विशुद्ध तान्त्रिक वैष्णव धर्म है, जिसपर ब्राह्मण-तन्त्र तथा बौद्धतन्त्र (जिसे 'सहजिया' 'सहजयान' के नाम से पुकारते हैं) का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा था; इस विषय में अनुसन्धान-कर्त्ताओं के दो मत नहीं हैं। ऐतिहासिकों का कहना है कि जब ब्राह्मण-धर्म के विपुल प्रसार के कारण 'सहजयान' या बौद्ध तान्त्रिक धर्म अपना विशिष्ट अस्तित्व मिटाने लगा, तब इसके अनेक तथ्य तथा सिद्धान्तों ने नवीन रूप धारण कर वैष्णव-सम्प्रदाय में प्रवेश किया। फलतः, सहजिया वैष्णव-सम्प्रदाय में अनेक ऐसे प्रचलित रहस्य हैं, जिनका सम्बन्ध साक्षात् नहीं, तो परम्परया ही सही, सहजयान के साथ मानना कथमपि अनुपयुक्त नहीं माना जायेगा। इस सम्प्रदाय के तान्त्रिक रूप का परिचय हमें इनकी साधना-पद्धति से भी भली भाँति लग जाता है।

बौद्ध सहजिया धर्म के विषय में हमने अन्यत्र विशेष विचार किया है। यहाँ इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि 'सहजावस्था' का ही नाम 'महासुख' या 'सुखराज' है, जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान अथवा ग्राहक, ग्राह्य तथा ग्रहण इस लोकप्रसिद्ध त्रिपुटी का सर्वथा अभाव हो जाता है। इस दशा में मन तथा प्राण का संचार नहीं होता; क्योंकि वहाँ सूर्य तथा चन्द्र के प्रवेश करने का अधिकार नहीं है।[1] सूर्य तथा चन्द्र। इडा पिंगलामय आवर्त्तनशील कालचक्र का ही नामान्तर है। सहजावस्था में इन दोनों काल-नियामकों के प्रवेशाधिकार के निषेध करने का तात्पर्य यह है कि वह पद या अवस्था काल-जन्य आवर्त्तन के भीतर नहीं है, उसके वाहर होने से वह नित्य है। इस दशा में आनन्द का उत्स प्रवाहित होता है और इसीलिए इसे 'सुखराज' या 'महासुख' के नाम से पुकारते हैं।[2] इसी दशा का नाम है—'सहज'; और इस दशा की प्राप्ति ही सहजयानियों के लिए परम लक्ष्य है। ध्यान देने की वात है कि इस 'महासुख' कमल में जाने के लिए जीवन में सामरस्य पाने की आवश्यकता है और यह तभी सम्भव है, जव साधक मध्य मार्ग का अवलम्बन करता है और द्वन्द्व के मिलन कराने में समर्थ होता है। दो को विना एक किये सृष्टि और संहार से अतीत निरंजन-पद की प्राप्ति असम्भव है। इसलिए, मिलन ही अद्वय शून्यावस्था और परमानन्द-लाभ का एकमात्र उपाय है। ध्यान देने की वात है कि सहजमार्ग रागमार्ग है, वैराग्य-मार्ग नहीं, जिससे वन्धन सिद्ध होता है। मुक्ति भी उसी साधना से सिद्ध होती है। राग से वन्धन का होना तो सर्वत्र अनुभूत तथ्य है। अतः मुक्ति का साधन भी वही राग होता है—

रागेन वध्यते लोको रागेनैव विमुच्यते।

—हेव्रजतन्त्र की उक्ति॥

इसी तथ्य के समान ही 'अनंगवज्र' का यह कथन है कि चित्त ही वास्तव में दोनों ही हैं—संसार और निर्वाण। जव चित्त वहुल संकल्परूपी अन्धकार से अभिभूत होता है, तव वह विजली के समान चंचल होता है और राग-द्वेष आदि दुर्वार मलों से लिप्त होता है। संसारी चित्त का यही स्वरूप है।[3] निर्वाण-रूप चित्त का रूप इससे सर्वथा विरुद्ध होता है। जब वह प्रकाशमान होकर कल्पना से विमुक्त होता है, रागादि मलों के लेप से विरहित होता है, ग्राह्य (विषय) और ग्राहक (विषयी) की दशा को अतीत कर जाता है, तव वही चित्त 'निर्वाण' कहलाता है।[4]

इन विचारों का प्रभाव वैष्णव सहजिया लोगों के ऊपर विशेष रूप से पड़ा। इसी प्रकार, साधना के क्षेत्र में 'महामुद्रा' के ग्रहण का सिद्धान्त इन्हें भी मान्य था। फलतः, सहजिया वैष्णव मत में परकीया-भाव एक निर्भ्रान्त तथ्य के रूप में अंगीकृत किया गया है।

---

१. जँह मन पवन न संचरइ रवि ससि नाइ प्रवेश।
तँहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥ —सरहपाद की उक्ति।

२. जयति सुखराज एकः कारणरहितः सदोदितो जगताम्।
यस्य च निगदनसमये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः॥ —एकोद्देशटीका, पृ० ६३।

३. अनल्पसङ्कल्पतमोऽभिभूतं प्रभञ्जनोन्मत्ततडिच्चलं च।
रागादिदुर्वारमलावलिप्तं, चित्तं विसंसारमुवाच वज्री॥४।२२

४. प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं, प्रहीणरागादिमलप्रलेपम्
ग्राह्यं न च ग्राहकमग्रसत्त्वं तदेव निर्वाणपदं जगाद॥४।२४॥ —प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि।

सहजिया वैष्णव वैधी भक्ति के अनुयायी नहीं हैं। जो भक्ति विधि-विधानों के ऊपर आश्रित रहती है, बाह्य आचारों के पालन तथा अनुष्ठान करने से ही जिसका उद्गम होता है, वह भक्ति उनके समादर तथा श्रद्धा की पात्री नहीं होती। वे तो रागानुगा प्रेमा भक्ति के ही उपासक हैं। 'प्रेम' को ही वे मानव-जीवन का सार्वभौम धर्म मानते हैं। 'सहज' का अर्थ है सह (साथ-साथ), ज (उत्पन्न होनेवाला धर्म), अर्थात् वह धर्म तथा गुण, जो मनुष्य के जन्म के साथ ही उसके संग में उत्पन्न होता है। मनुष्य परमात्मा का ही रूप है और प्रेम ही आत्मा का सहज रूप है। फलतः, साधक के हाथ में 'प्रेम' ही वह महामहिमशाली शक्ति है, जो उसके व्यक्तित्व का विस्तार कर विश्व के प्राणिमात्र से उसका सामञ्जस्य स्थापित कर देती है। इतना ही नहीं, वही शक्ति भगवान् के साथ भी उस साधक की पूर्ण एकता स्थापित कर देती है। फलतः, साधक के आध्यात्मिक जीवन में प्रेम ही सार है, महनीय मन्त्र है तथा उसे उन्नति-पथ पर चढ़ानेवाला साधन है। यही 'प्रेम' सहज तत्त्व है और इसे गौरव प्रदान करने के कारण ही यह मत 'सहजिया' नाम से अभिहित किया जाता है। 'रूपानुग भजनदर्पण' के अनुसार 'सहज' का अर्थ इस प्रकार है—

'सहज भजन' एई शब्देर अर्थ एई ये जीव अनुचैतन्य स्वरूप आत्मा। प्रेम आत्मार सहज धर्म। ये धर्म वस्तुर सहित एकत्रे उत्पन्न हय ताहार 'सहज'।

मनुष्य की महत्ता

सहजिया-मत में 'मनुष्य' का समधिक महत्त्व है। इसका कारण यह है कि मनुष्य के भीतर ही वह दिव्य ज्योति सदा अपनी लीला दिखाती रहती है, जिसे हम कृष्ण के नाम से पुकारते हैं। मनुष्य यदि अपने सच्चे 'स्वरूप' को भली भाँति समझ जाय, तो उसके हृदय में प्रेमाभक्ति के उदय में विलम्ब नहीं हो सकता। परन्तु, साधारण मानव में नहीं, प्रत्युत 'सहज मानव' में ही यह योग्यता होती है। तो 'सहज मानव' है क्या? उसमें न तो रजोगुण की प्रधानता रहती है और न तमःगुण का आधिक्य, प्रत्युत उसमें सत्त्वगुण की ही पूर्ण प्रतिष्ठा रहती है। सात्त्विक मानव की पहिचान यह है कि वह अपने में और इतर प्राणियों में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखता, न वह किसी से राग रखता है और न किसी से द्वेष। शुद्ध सत्त्व में प्रतिष्ठित मानव ही सहजिया-मत में आदर्श मानव माना जाता है—वह एक ऐसा[1] आदर्श है, जिसका अनुकरण कल्याण के प्रत्येक इच्छुक साधक को करना चाहिए। चण्डीदास ने, जो इस पन्थ के एक महनीय साधक थे, 'सहज

---

१. मानुष मानुष सबाइ कहये, मानुष केमन जन
मानुष रतन मानुष जीवन, मानुष पराण धन।
भरमे भुलये अनेक जन, मरम नाहिक जाने
मानुषेर प्रेम नाहि जीव लोके, मानुष से प्रेम जाने।
मानुष यारा जीवन्ते मरा, सेई से मानुष सार
मानुष लक्षण महाभावगण, मानुष भावेर पार।
मानुष नाम बिरल धाम, बिरल ताहार रीति
'चंडीदास' कहे सकलि बिरल, के जाने ताहार रीति॥
—चण्डीदास

मानुष' के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए लिखा है—मनुष्य की चर्चा तो सब करते हैं, परन्तु उसके सच्चे शुद्ध रूप से परिचय रखनेवाला व्यक्ति कहाँ ? मनुष्य इस सृष्टि का प्राण है, जीवन-धन है। मानुष के बाहरी रूप को देखनेवाले जन भ्रम में ही पड़े रहते हैं; क्योंकि वे उसके भीतरी 'स्वरूप' को जानते नहीं। मनुष्य प्रेम से ही गढ़ा जाता है—उस प्रेम से, जो इस लोक का न होकर दिव्य लोक की एक विभूति होता है। बिना इस प्रेम को जाने कोई भी सच्चा मनुष्य हो नहीं सकता। मनुष्य प्रेम का अक्षुण्ण बहनेवाला निर्झर है। वह स्वयं महाभाव-रूप है। यही मानुष सहजिया वैष्णव-मत का आदर्श है।

रूप तथा स्वरूप

मनुष्य के भीतर दो वस्तु विद्यमान रहती हैं—रूप तथा स्वरूप। प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो वास्तविक सत्त्व है, वह कृष्ण ही है। यही उसका 'स्वरूप' होता है। उसका बहिर्मुख जीवन तथा उसके शारीरिक स्थूल कार्य-कलाप उसके 'रूप' के अन्तर्गत हैं। 'स्वरूप' आध्यात्मिक दिव्य तत्त्व है तथा 'रूप' भौतिक निम्नतर तत्त्व। इसी प्रकार, प्रत्येक स्त्री वास्तव में राधा ही है, जो उसका भीतरी 'स्वरूप' है और बाहरी कार्य-कलाप का निर्वाह करनेवाला तत्त्व उसका बाहरी 'रूप' है। यह बात प्रत्येक मनुष्य के लिए समभावेन मान्य है। रूप के अन्दर ही वह स्वरूप रहता है। अतएव, प्रत्येक पुरुष के रूप में कृष्ण का और प्रत्येक नारी के रूप में राधा का ही विलास सर्वत्र अपनी लीला का विस्तार करता है। सहजिया वैष्णवों की यह मान्य भावना है। रूप में स्थिति बन्धन का कारण होती है और स्वरूप में स्थिति मोक्ष का कारण। फलतः, साधना का क्रम यही है रूप से स्वरूप में अवस्थान, रूप से लौटकर स्वरूप में अवस्थिति धारण करना। जीव का वास्तविक तत्त्व तो 'स्वरूपलीला' है, जहाँ से हटकर सांसारिक प्राणी होने में वह उस मूल लीला से बहिष्कृत होकर 'रूपलीला' में निवास करता है। फलतः, रूप से स्वरूप में लौटना ही साधना का विशुद्ध क्रम है। कालिदास के मेघदूत का आन्तरिक रहस्य भी यही है। जीवस्थानीय यक्ष का अलका-निवास उसकी स्वरूप लीला का प्रतीक है तथा शापवश रामगिरि का निवास उसकी रूपलीला का प्रतिनिधि है। यक्ष का अलका को लौट जाने का प्रतीकात्मक अर्थ है जीव का स्वरूप में स्थित हो जाना, रूप से स्वरूप में लौट जाना। समस्त आन्तरिक प्रेम-साधन-मार्गों में यह तत्त्व बहुशः उपलब्ध होता है।

सहजिया-मत में राधाकृष्ण प्रकृति-पुरुष-तत्त्व के द्योतक हैं। ऊपर कहा गया है 'सहज' महाभावस्वरूप होता है। उसकी दो धाराएँ प्रवाह होती हैं—एक में है आस्वादक तत्त्व, और दूसरे में हैं आस्वाद्य तत्त्व। ये ही दोनों धाराएँ नित्य वृन्दावन में राधा कृष्ण के रूप में प्रतिष्ठित होती हैं। आस्वादक तत्त्व है श्रीकृष्ण और अस्वाद्य तत्त्व है श्रीराधा। आस्वादक तबतक अपनी पूर्णता नहीं मानता, जबतक वह आस्वाद्य के साथ तन्मय होकर एकरूप नहीं हो जाता। एकरूप हो जाने पर ही वह मूलतत्त्व अपने पूर्णतम रूप में प्रतिष्ठित होता है। विज्ञान की भाषा में हम कह सकते हैं कि जबतक धनात्मक विद्युत् ऋणात्मक विद्युत् के साथ समन्वित नहीं होती, तबतक 'प्रकाश' का उद्गम नहीं होता। उपनिषदों में यही तत्त्व प्रतिष्ठित है। उपनिषद् का कथन है कि वह मूलतत्त्व आरम्भ में एकाकी था, अकेला था; उसमें रमण की इच्छा उत्पन्न हुई, तब उसने अपने को दो तत्त्वों में विभाजित कर दिया—एक तत्त्व हुआ पुरुष और दूसरा

तत्त्व हुआ नारी।[1] स्त्री और पुमान्, पुरुष तथा नारी इसी द्विधाकरण के अभिव्यक्त रूप में हैं। सहजिया-मत ने इसी औपनिषद सिद्धान्त को अपनी नई परिभाषा में ढालकर प्रस्तुत किया है। इसका तात्पर्य यह है कि उस 'सहज' की जिस प्रकार राधा-कृष्ण के रूप में दो धाराएँ प्रवाहित होती हैं, नर-नारी के प्रेम में भी वही बात है। अन्तर है केवल विशुद्धि का। सांसारिक प्रपंच की ओर बढ़नेवाला, अभिलाषा करनेवाला निम्नगामी प्रेम, जिसे हम नर-नारी के प्राकृत जीवन में नित्य देखते हैं, मलिन हो जाता है। उसे विशुद्ध बनाकर ऊर्ध्वगामी बनाना ही साधक का महनीय कार्य होता है। मनोविज्ञान की परिभाषा में इसी का नाम है—उदात्तीकरण, उन्नयन (सब्लिमेशन)। फलतः,नर-नारी के जीवन में सहज प्रेम की जो दो धाराएँ प्रवाहित होती हैं, उन्हें निर्मलतम करके एक बना देने पर, अर्थात् नीचे से उठाकर ऊपर ले जाने पर, विषय से उठाकर अध्यात्म की ओर ले जाने पर ही विशुद्ध प्रेम-रस का आस्वादन किया जाता है,जिसे वृन्दावन-रस कह सकते हैं। चण्डीदास के शब्दों में—

प्रेम सरोवरे दुइटि धारा
आस्वादन करे रसिक जारा
दुई धारा जखन एकत्रे थाके
तखन रसिक युगल देखे

निष्कर्ष यह है कि 'रस' तो मूलतः 'एक' ही है। उसके नर-प्रेम तथा नारी-प्रेम के रूप में दो धाराओं में विभक्त होने पर प्रेम मलिन होने से आनन्दहीन ही रहता है; परन्तु उन धाराओं को पुनः साधना के द्वारा एक कर देने पर, विभक्त वस्तु को अविभक्त बना देने पर उसमें पूर्णता आती है। वही बन जाता है राधाकृष्ण के युगल प्रेम का पिण्डित रूप। यही सामञ्जस्य है! यही स्वारस्य है!! यही साधना की चरम परिणति है!!!

आरोप-साधना

ऊपर चित्त को उदात्त बनाने के तथ्य का संकेत है। यह जिस साधना से सम्पन्न किया जा सकता है, उसका नाम है आरोप-साधना। प्रत्येक पुरुष को कृष्ण के रूप में और प्रत्येक स्त्री को राधा के रूप में भावना करना या अनुभव करना आरोप-साधना कहा जा सकता है। रूप की स्वरूप में परिणति का तत्त्व ऊपर संकेतित है। फलतः, रूप के ऊपर स्वरूप के आरोप करने की आवश्यकता होती है इस सहज साधना में। इसी की सहायता से साधक को अपने पार्थिव प्रेम को अपार्थिव प्रेम के रूप में परिणत कर देने की योग्यता प्राप्त होती है। जबतक मनुष्य अपने रूप की ही अभिव्यक्ति में लगा रहता है, तबतक वह बन्धन में जकड़ा रहता है। उसे चाहिए कि वह अपने अन्दर रहनेवाले पशुत्व का बलि कर दे तथा स्वरूप की भावना को नितान्त दृढ बनाता जाय, तभी वह अपने लक्ष्य पर पहुँचने का अधिकारी होता है। इस प्रकार, अपनी भावना को दृढ तथा दृढतर करते-करते जब साधक को अपने स्वरूप, अर्थात् राधा का दृढ अनुभव होने लगे, तब उसका पार्थिव प्रेम अपार्थिव दिव्य प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। उसे राधाकृष्ण के

---

१. स वै नैव रेमे। तस्माद् एकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेव आत्मानं द्वेधा अपातयत्। ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यः। —बृहदा० १।४।३

दिव्य प्रेम की अनुभूति स्वतः होने लगती है। यह सहज अनुभूति है, जो इस मार्ग का चरम लक्ष्य है। निष्कर्ष यह है कि राधाकृष्ण की उपलब्धि सरल व्यापार नहीं है। वह एक दिन में नहीं हो जाती। जबतक यह सम्भव न हो जाय, तबतक आरोप की साधना करनी चाहिए। इसीलिए, चण्डीदास ने उपदेश दिया है कि सहज का साधक जप-तप छोड़कर मन को एकाग्र कर 'आरोप' की ही साधना करे—

छाड़ि जपतप साधह आरोप
एकता करिया मने।
—चण्डीदास

सहजिया लोगों की दृष्टि में मनुष्य ही इस सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ प्राणी है; क्योंकि परमतत्त्व की उपलब्धि उसी के भीतर से होती है। चण्डीदास की यह विख्यात उक्ति सहजिया वैष्णवों की मूल धारणा को अभिव्यक्त कर रही है—

सबार उपरे मानुष सत्य
ताहार उपरे नाई।

फलतः, सौन्दर्य-मूर्त्ति प्रेम-प्रतिमा नारी के अन्दर से ही राधा-तत्त्व की उपलब्धि साधक को हो सकती है—सहजिया लोगों की यह मूल धारणा है। इसी धारणा के अनुसार सहजिया चण्डीदास के लिए 'रामी' राधा की प्रतिमा के रूप में उनके नेत्रों के सामने परिस्फुरित होती है, जिसे वे इन पूततम शब्दों में संबोधित करने में तनिक भी संकोच नहीं करते—

तुमि हओ मातृपितृ
त्रिसन्ध्या याजन तोमारि भजन
तुमि वेदमाता गायत्री
तुमि वाग्-वादिनी हरेर घरणी
तुमि से गलार हारा
तुमि स्वर्ग मर्त्य पाताल पर्वत
तुमि से नयनेर तारा
तुमि से तन्त्र तुमि से मन्त्र
तुमि से उपासना रस॥

फलतः, रजकिनी रामी ही राधा-तत्त्व की मूर्त्त प्रतिमा है। उसीके अन्दर से राधा-तत्त्व आस्वाद्य है, अन्यथा नहीं। बंगाल में 'किशोरी भजन' को सर्वश्रेष्ठ माननेवाले सम्प्रदाय में यही राधा-तत्त्व प्रस्फुटित होता है।

राधाकृष्ण

सहजिया वैष्णवों के राधाकृष्ण ही आराध्य देवता हैं। कृष्ण हैं रस और राधा है रति, कृष्ण ही हैं काम और राधा हैं मादन। कुसुमसायक काम अपने कोमल बाणों के द्वारा जिस प्रकार प्राणियों में प्रेम का संचार करता है, कृष्ण भी उसी प्रकार प्राणियों को सदा अपनी ओर आकृष्ट करते रहते हैं। अपनी वंशी के द्वारा वह प्रेम-सौन्दर्यघन श्रीकृष्ण जीवों को आनन्द से विभोर कर अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, अतएव वे हैं 'काम'। राधा कृष्ण के सदा आनन्द-विलास

की प्रदात्री हैं। वह कृष्ण के लिए सर्वदा व्याकुल रहती हैं—एक क्षण का भी विरह उसके लिए करोड़ो वर्षों के विरह के समान प्रतीत होता है। विशुद्ध प्रेम की भावना सिद्ध करने पर ही साधक उस भाव-जगत् में प्रवेश कर लेता है जहाँ वह अपने इष्टदेव (या स्वरूप) के साथ तादात्म्य का अनुभव करता हुआ पूर्ण आनन्द में प्रतिष्ठित हो जाता है; क्योंकि सहजिया रागमार्ग है, वैराग्य मार्ग नहीं; यह रसमार्ग है, काममार्ग नहीं। यहाँ काम के दवाने की आवश्यकता नहीं होती, प्रत्युत उसके शोधन की। विशोधित काम ही मानव को दिव्यरूप प्रदान करने में सर्वदा समर्थ होता है। यह एक निःसन्दिग्ध तत्त्व है।

परकीया-तत्त्व

सहजिया लोगों में परकीया-भाव की उपासना साधना का एक अविभाज्य अंग है। वे परकीया-रति को आनन्दकन्द श्रीव्रजनन्दन के प्रेम को प्राप्त करने का मुख्य साधन मानते हैं। इसका कारण मनोवैज्ञानिक है। नितान्त गर्हणीय तथा त्याज्य होने के हेतु, परकीया का समाज-पक्ष तो नितान्त उपेक्षणीय है, परन्तु आत्मसाधना की दृष्टि से वह एकान्त स्पृहणीय तथा उपादेय आदर्श है। ऊपर हमने रूपगोस्वामी का मत उद्धृत किया है, जिसके अनुसार परकीया की निन्दा लौकिक नायक को लक्ष्य में रखकर ही की गई है; परन्तु रसास्वादन के निमित्त अवतीर्ण लीला धारण करनेवाले अलौकिक नायक कृष्ण के विषय में वह निन्द्य न होकर ग्राह्य है।[1] मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मानव को अध्यात्म-मार्ग में अग्रसर करने के लिए कामवासना के परिशोधन की एकान्त आवश्यकता होती है। 'काम' स्वतः पुरुषार्थचतुष्टय में अन्यतम पुरुषार्थ है, जिसकी उपयोगिता का परिचय मानव-समाज के निर्वाह के लिए सब किसी को है, परन्तु स्वार्थ की भावना से युक्त होने पर वही काम कालसर्प के समान सर्वदा डँसा करता है। कामवृत्ति के विषदंश को दूर करने के लिए अध्यात्म-मार्ग में दो उपाय माने गये हैं। निवृत्ति-मार्ग के आचार्यों ने कामवृत्ति के दमन की शिक्षा दी है, परन्तु इस विषय में मानव की दुर्बलता से, मनुष्य की प्रकृत मानस-स्थिति से, परिचित सहजिया लोगों ने दूसरे उपाय को श्रेयस्कर माना है। वह उपाय है काम के परिशोधन का, दमन का नहीं। और, यह परिशोधन परकीया के संग में ही विशेष रूप से सिद्ध हो सकता है। इस मार्ग के एक मान्य ग्रन्थ का कथन[2] है—"साधक का प्रथम कर्त्तव्य स्त्रियों के संग में रति की साधना है, जिसके द्वारा उसके विकार स्वतः दूर हो जाते हैं। नियम से उसकी उच्छृंखल वासनाएँ

---

१. लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके।
न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणि॥
—उज्ज्वलनीलमणि १।१६

२. प्रथम साधन रति संभोग शृंगार।
साधिवे संभोग रति पालिवे विकार॥
जीव रति दूरे जावे करिले साधन।
तार पर प्रेम रति करि निवेदन॥
—अमृत रत्नावली, पृ० ६–७।

श्रीमनीन्द्र मोहन बोस के महत्त्वशाली ग्रन्थ —दी पोस्ट-चैतन्य सहजिया-कल्ट-में उद्धृत (कलकत्ता से प्रकाशित)

विघटित हो जाती हैं और स्वार्थमयी वृत्ति के स्थान पर विशुद्ध प्रेम-रति का उदय होता है।" इसी प्रेम-साधना की पूर्णता के लिए ही सहजिया मत में परकीया की उपादेयता अंगीकृत की गई है।

सहजिया-शास्त्र का उपदेश है कि साधक को स्वयं स्त्रीभाव से ही भगवान् की आराधना करनी चाहिए। माधुर्य-भाव का साधन साधना-साम्राज्य में मुक्ति-प्राप्ति का एकमात्र उपाय माना गया है। पुरुष को विना प्रकृति हुए प्रेम के तत्त्व की यथार्थ उपलब्धि नहीं होती और इस प्रकृति-भाव को पाने के लिए साधक के लिए परकीया की संगति नितान्त उपयुक्त ठहरती है। स्त्री-संगति के अभाव में स्त्रीभावापत्ति की पूर्णता कहाँ से उत्पन्न हो सकती है ? एक वात और ध्यान देने योग्य है इस विषय में। चित्तवृत्ति के परिशोधन के निमित्त संयोग-पक्ष की अपेक्षा वियोग-पक्ष विशेष प्रवल तथा समर्थ होता है। वियोग से वासनाओं का कालुष्य जल जाता है और प्रेम 'निकषित हेम' के समान प्रद्योतित हो जाता है। संयोग से तृप्त मानव हृदय में सन्तोष की भावना प्रेम के उत्कर्ष का अभाव ही संचारित करती है, परन्तु विरह से दग्ध-विदग्ध हृदय में प्रेम की भावना सन्तत जागरूक रहती है। वियोग में ही विरही को प्रेमाद्वैत का अनुभव होता है, जब वह अपने प्रियतमा को आगे-पीछे यहाँ-वहाँ सर्वत्र समभावेन देखता है। इसीलिए सहजिया-ग्रन्थ 'विवर्त्त-विलास' में रास में श्रीकृष्ण के अन्तर्धान को गोपियों की प्रेमवृद्धि के निमित्त उपादेय वतलाया गया है। निष्कर्ष यह है कि रति की उदात्तता, प्रेम की पूर्णता, विरह की सम्पन्नता तथा काम की विशुद्धता के निमित्त सहजिया लोगों ने अपनी विशिष्ट तान्त्रिक साधना में 'परकीया' का ग्रहण उचित माना है। तन्त्र की यह साधना-धारा प्राचीन काल से ही इस देश में थी। वौद्ध सहजिया लोगों का 'महामुद्रा' के ग्रहण का यही रहस्य है। 'परकीया' भी दो प्रकार की मानी गई है—सहजिया-मत में वाह्य परकीया तथा मर्म परकीया, जिसका विवेचन मैंने अन्यत्र किया है।[1]

निष्कर्ष यह है कि सहजिया वैष्णवों की दृष्टि में सहज साधना परकीया के संग में ही स्वाभाविक रूप से सिद्ध हो सकती है। इसका प्रचार इन लोगों ने वड़े आग्रह के साथ किया। फल यह हुआ कि विधियुक्त शास्त्रीय चैतन्य-मत के ऊपर भी इसका विशेष प्रभाव पड़ा और जो परकीयावाद चैतन्य-मत में एक प्रकार के संकोच के साथ अवतक परिगृहीत किया गया था, वह खुल्लमखुल्ला माना जाने लगा और एक प्रतिष्ठित सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में गृहीत हो गया। सहजिया लोगों का इस तथ्य पर इतना आग्रह है कि ये प्राचीन गोस्वामी लोगों को भी सहजिया-मतावलम्बी मानते हैं। इन लोगों की मान्यता है कि चैतन्य-सम्प्रदाय के मान्य गोस्वामी-गण भी परकीया के संग में ही अपनी साधना के लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ हुए थे। इस विषय में इन्होंने उन परकीयाओं के नामों का भी निर्देश किया है, जिनके द्वारा ये महनीय साधक अपने लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ हुए थे। सहजिया लोगों की प्रौढ मान्यता ने राधा-तत्त्व को परकीया-तत्त्व के रूप में लोकप्रिय वनाने में विशेष योग दिया, जिससे परवर्त्ती काल में यह सर्वत्र प्रतिष्ठित और प्रचलित हो गया।

——— ———

१. भागवत सम्प्रदाय, पृ० ४९१–४९३।

अष्टम परिच्छेद

राधा-तत्त्व का रसशास्त्रीय विस्तार

चैतन्य-मत के मर्मज्ञ गोस्वामियों ने अपने मतानुसार राधा-तत्त्व की मीमांसा दार्शनिक दृष्टि से अपने अनेक प्रौढ तथा प्राञ्जल ग्रन्थों में की। इस विषय में श्रीरूपगोस्वामी का तथा श्रीजीवगोस्वामी का उद्योग सर्वातिशायी है। तथ्य तो यह है कि इन्हीं दोनों आचार्यों के ग्रंथों में राधा का दार्शनिक रूप समधिकभावेन उद्दीप्त होता है। इतना ही नहीं। श्रीरूपगोस्वामी ने कान्ताभाव की रसात्मक व्याख्या तथा विस्तृत मीमांसा के हेतु दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-रत्नों का प्रणयन किया, यह बात ऊपर कही जा चुकी है। 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' में भक्तिरस के अन्य अंग रसों का विस्तार से वर्णन है, परन्तु माधुर्य रस का तो यहाँ केवल संकेत-मात्र है। फलतः, श्रीरूपगोस्वामीपाद नें इस रस का विस्तृत तथा व्यापक विश्लेषण अपने 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत किया।[1] यह अपने विषय का एक अभूतपूर्व, नितान्त मौलिक तथा हृदयावर्जक ग्रन्थ है जिसमें कान्ता-भक्ति की व्याख्या के प्रसंग में राधा-तत्त्व का भी प्रतिपादन किया गया है। भक्ति के रसत्व का विश्लेषण शास्त्रदृष्ट्या सम्पन्न करना ही इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की सिद्धि में ग्रन्थकार वस्तुतः सफलमनोरथ हुआ है; यह प्रत्येक

---

१. मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः॥
—उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ४, श्लोक २ (काव्यमाला सं० ९५, निर्णयसागर, बम्बई, १९३२)

आलोचक को स्पष्ट ही भासने लगता है। राधा की सर्वातिशायी उत्कृष्टता अनेक दृष्टियों से सिद्ध की गई है। इस ग्रन्थ के आधार पर इस विषय का संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

कृष्णप्रिया की दृष्टि से राधा ही सर्वश्रेष्ठ है। इसका प्रतिपादन श्रीरूपगोस्वामी ने 'उज्ज्वलनीलमणि' के 'हरिवल्लभा'[१] नामक प्रकरण में बड़े विस्तार के साथ किया है। 'हरिवल्लभा'[१] का सामान्य लक्षण है—सुरम्याङ्गत्व, सर्वसल्लक्षणत्व आदि इन सामान्य गुणों से युक्त होकर श्रीकृष्ण के व्यापक विपुल प्रेम का तथा सुमाधुर्य सम्पत्ति का अग्रिम आश्रय होनेवाली स्त्रियाँ इस नाम से पुकारी जाती हैं, अर्थात् उनमें श्रीकृष्ण के सर्वातिशायी प्रेम का तथा मधुरिमा का सर्वोच्च निवास होता है। ये दो प्रकार की होती हैं—स्वकीया तथा परकीया। स्वकीया वे हैं, जिनका विधिवत् पाणिग्रहण हो चुका है, जो पति के आदेश के पालन करने में तत्पर हैं तथा पातिव्रत्य आदि धर्मों से कभी विच्युत नहीं होतीं। रूपगोस्वामी के अनुसार द्वारका-लीला में श्रीकृष्ण की स्वकीयाएं षोडश सहस्र आठ संख्या में हैं, जिनके साथ उनका विवाह विधिवत् सम्पन्न हुआ था। इनमें भी आठ रानियाँ मुख्य होने के कारण 'पट्टमहिषी' की संज्ञा से विभूषित की जाती हैं, जिनके नाम हैं—रुक्मिणी, सत्यभामा (या सत्या), जाम्ववती, कालिन्दी (या अर्कनन्दिनी), शैब्या, भद्रा, कौसल्या तथा माद्री। इनमें भी रुक्मिणी तथा सत्यभामा का प्रामुख्य माना जाता है। दोनों समकक्ष महिषी हैं, जिनमें रुक्मिणी का विवाह सर्वप्रथम हुआ था, सत्यभामा का पीछे। परन्तु, दोनों का महत्त्व दो गुणों के कारण माना जाता है। ऐश्वर्य की दृष्टि से भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी श्रेष्ठ हैं तथा सौभाग्य की दृष्टि से सत्यभामा का स्थान अग्रगण्य है। ध्यान देने की वात है कि सत्यभामा के आदेश का पालन करने के लिए ही श्रीकृष्ण ने इन्द्र का मान मर्दन कर पारिजात का हरण किया था।

श्रीरूपगोस्वामी की दृष्टि में वस्तुतः गोपकन्याएं कृष्ण की 'स्वकीया' ही मानी जाती हैं; क्योंकि उन्होंने कृष्ण को ही अपने पतिरूप में वरण किया था तथा इसी भाव से उन्हें आत्मसमर्पण किया था; परन्तु वाह्यदृष्टि से वे उनकी 'परकीया' कहलाती हैं। कारण यह है कि विवाह-रूपी वाहरी धर्म या सम्वन्ध के द्वारा वे कृष्ण के साथ बँधी नहीं थीं; वे तो बँधी थीं राग के द्वारा, जो दोनों हृदयों को एक सूत्र में वाँधनेवाला अन्तरंग तत्त्व है। इसी हेतु 'स्वकीया' होने पर भी वे 'परकीया' रूप से ही प्रख्यात हैं। इनके अतिरिक्त श्रीकृष्ण की एक 'सामान्या' स्त्री भी थी। इस प्रसंग में 'कुब्जा' का नाम उल्लिखित किया जाता है। परकीया के भी दो भेद माने जाते हैं—'कन्यका' तथा 'परोढा'। व्रजकन्याओं में ये दोनों प्रकार विद्यमान माने गये हैं। वे अपने पिता-माता तथा सगे-सम्वन्धियों की आँखें वचाकर गुप्त

१. हरेः साधारणगुणैरुपेतास्तस्य वल्लभाः।
पृथुप्रेम्णां सुमाधुर्य सम्पदां चाग्रिमाश्रया॥
—उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ४८॥

रूप से व्रजनन्दन से, प्रेम करती थीं और उनका यह भाव श्रीकृष्ण के हृदय में आनन्द के विलास का उत्पादक होता था। श्रीरूपगोस्वामी ने शास्त्रीय वचनों[1] को उद्धृत कर अपने तथ्य की पुष्टि की है। 'हमने राधा के परकीयावाद के विषय में चर्चा करते हुए लक्ष्य किया है कि समाज की निषेधाज्ञा तथा नायिका का सुदुर्लभत्व तीव्र काम के उत्पादन में प्रमुख कारण माने गये हैं।[2] यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है, जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता।

श्रीरूपगोस्वामीपाद की तो मान्यता है कि योगमाया के प्रभाव से ही गोपों के घर में उनकी पत्नियों की आकारवाली स्त्रियों का सद्भाव वर्त्तमान था; वस्तुतः गोपिकाओं का नहीं।[3] इसीलिए गोपिकाओं का पतियों के साथ कभी संगम हुआ ही नहीं। वे तो अपने एकमात्र आराध्यदेव श्रीकृष्ण के संग में ही रमण करने में आसक्ता थीं। जब वे अभिसार आदि व्यापारों में अपने पतियों को छोड़कर घर से बाहर जाती थीं, तब अवश्य उनके स्थान पर उन्हीं की आकारवाली नारियों का उदय योगमाया के बल पर सम्पन्न हो जाता था। फलतः, गोपों को कृष्ण के साथ असूया करने का कभी अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ। भागवत के आधार पर ही यह मीमांसा खड़ी की गई है; यह बात ग्रन्थकार स्वयं स्वीकार करते हैं। भागवत इस प्रसंग में कहता है—

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥

—भागवत १० म स्कन्ध

---

१. वामता दुर्लभत्वं च स्त्रीणां या च निवारणा।
तदेव पञ्चबाणस्य मन्ये परममायुधम्॥
यह वचन भागवतसन्दर्भ में भी इसी प्रसंग में जीवगोस्वामी द्वारा उद्धृत किया गया है।

२. यत्र निषेधविशेषः सुदुर्लभत्वं च यन्मृगाक्षीणाम्।
तत्रैव नागराणां निर्भरमासज्यते हृदयम्॥ —विष्णुगुप्तसंहिता

३. माया-कलित-तादृक् स्त्रीशीलनेनानसूयुभिः
न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः॥
—उज्ज्वल नीलमणि, पृ० ५८

इस श्लोक की व्याख्या में विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने स्पष्ट कहा है कि यहाँ माया का अर्थ योगमाया है, बहिरंग माया नहीं; क्योंकि भगवान् के धाम में तथा सिद्ध परिवारों में उसका अधिकार नहीं रहता। यदि ऐसा होता, तो गोपों के हृदय में श्रीकृष्ण से भी वैमुख्य हो जाता, जो वस्तुतः नहीं था—

मायया योगमाययैव, न तु बहिरंगया मायया। भगवतो धाम्नि सिद्धपरिवारेषु च तस्या अधिकाराभावात्। तन्मोहितानां भगवद्वैमुख्यस्यावश्यभावात् तेषां गोपानां तु भगवद्वैमुख्यमात्रादर्शनात्।

गोपियों के प्रकार

(क) साधनपरा गोपियों में तीन प्रकार लक्षित होते हैं—

१. साधनपरा, २. **देवी**, तथा ३. **नित्यप्रिया**। इनमें अवान्तर भेद भी वर्त्तमान रहता है। (क) **साधनपरा** वे गोपिकाएँ हैं, जो श्रीव्रजनन्दन की उपलब्धि की साधना में ही सर्वदा संलग्न रहतीं हैं। इनके दो भेद हैं—यौथिकी तथा अयौथिकी। जो एक समूह में मिलकर कृष्ण की साधना में आसक्त हैं वे यौथिकी (यूथ-सम्बद्ध) तथा जो स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् साधना-संलग्न हैं, वे 'अयौथिकी' कहलाती हैं। पुराणों के आधार पर यौथिकी के दो अवान्तर भेद स्वीकृत हैं—**मुनि** तथा **उपनिषद्**। पद्मपुराणों के आधार पर गोस्वामीजी का कहना है कि गोपाल के उपासक बहुत-से मुनिजन ऐसे थे, जिन्होंने अपनी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त नहीं किया। तथा श्रीरामचन्द्र के विमल सौन्दर्य के दर्शन करने से उनकी वह सुप्त वासना जाग्रत् हो गई तथा अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए इन्होंने कृष्णावतार के समय में व्रज में गोपियों का रूप धारण किया। भगवान् ने इनकी लालसा को, रास के उत्सव में इन्हें सम्मिलित कर तथा उनके सामने अपनी सात्त्विकी लीला का विलास प्रस्तुत कर, पूर्ण किया तथा उनकी आन्तरिक इच्छा को सफल बनाया। संघशः साधना करने के कारण यौथिकी गोपी का एकरूप प्रकट हुआ इन गोपी रूपधारी मुनियों में और दूसरा प्रकट हुआ उपनिषदों में। वृहद्वामनपुराण[1] का कथन है कि उपनिषदों ने भगवान् से गोपियों के समान प्रीतिदान देने की प्रार्थना की थी; तब श्रीकृष्ण ने उन्हें गोपी का जन्म पाने का आदेश दिया था, जिसके कारण कृष्णावतार के समय बहुत-सी उपनिषदें भी गोपियों के रूप में विराजती थीं। भागवत की श्रुतिगीता में इस विषय का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

> **स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो**
> **वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रि सरोज सुधाः।**
>
> —(भागवत १०।८७।२३)

आशय—हे भगवन्, वे स्त्रियाँ, जो अज्ञानवश आपको परिच्छिन्न मानती हैं और आपकी शेषनाग के समान मोटी, लम्बी तथा सुकुमार भुजाओं के प्रति कामभाव से आसक्त रह कर, जिस परम पद को पाती हैं, वही पद हम श्रुतियों को भी प्राप्त होता है, यद्यपि हम आपको सर्वदा एकरस अनुभव करती हैं और आपके चरणकमल का मकरन्द-रसपान करती रहती हैं; क्योंकि आप समदर्शी हैं। (यहाँ श्रुतियों को स्त्रियों के समकक्ष माना गया है)।

कोई भी भक्त जब गोपीभाव से बद्धराग होकर साधन में निरत होता है और उत्कण्ठा के कारण गोपियों का अनुगमन करता हुआ गोपीभाव तथा गोपीदेह पाने में समर्थ होता है वही **'अयौथिकी'** नाम से प्रसिद्ध होता है।

---

१. मूल श्लोक जीवगोस्वामी की टीका में उद्धृत है। देखिए उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ६६–६७

इनमें दो अवान्तर प्रकार हैं—**प्राचीना तथा नवीना**। प्राचीना तो साधना के पश्चात् नित्यप्रियाओं के संग में सालोक्य प्राप्त करती हैं। नवीना मर्त्य और अमर्त्य रूप से अनेक योनियों में भ्रमण करती हुई व्रज में गोपी रूप में जन्म लेती हैं।

(ख) **'देवी' गोपिकाएँ** : गोपियों का दूसरा प्रधान भेद है—**देवी**। पुराणों में कहा गया है कि जब भगवान् श्रीकृष्ण अंश-रूप से देवयोनि में अवतार धारण करते हैं, तब उनके साथ-ही साथ नित्यप्रियाओं का भी जन्म होता है। और ये ही 'देवी' के नाम से प्रसिद्ध होती हैं।

(ग) तीसरा भेद है—**नित्यप्रिया**। भगवान् श्रीकृष्ण के नित्यविहार में सदा-सर्वदा उनका प्रेम पानेवाली तथा संग में रहकर उनकी प्रीति का संवर्धन करनेवाली गोपियाँ 'नित्यप्रिया' नाम से पुकारी जाती हैं। प्रेमाभक्ति तथा भजन के प्रभाव से जीव भगवान् के स्वरूपभूत उत्तम धाम में प्रवेश पाकर उनका लीला-परिकर बनकर उनके आनन्द का वर्धन किया करता है। यह उत्तम अधिकारी माना जाता है। वही व्रजलीला में भी प्रवेश कर गोपी का रूप धारण कर वृन्दावन में चलनेवाली लीलाओं का भी स्वतः आस्वादन करता है। इसीलिए, शास्त्र के अनुसार गोपियों में दो प्रकार की सखियाँ होती हैं। एक तो वे जो भगवान् के संग नित्य वृन्दावन में सदा सर्वदा विहार किया करती हैं तथा अपने लीला-विलास से भगवान् की अखण्ड निर्मल प्रीति पाने में समर्थ होती हैं। ये ही 'नित्यप्रिया' हैं। दूसरे प्रकार की गोपी वे हैं जो जीवों के साधनालब्ध दिव्यप्रेमविग्रहा हैं। साधना के द्वारा जीव यही रूप पा सकता है तथा भगवान् के संग विहार का आनन्द ले सकता है। द्वितीय प्रकार साध्य रूप है, प्रथम प्रकार सिद्धरूप।

नित्यप्रिया के भीतर अनेक सखियों का उल्लेख शास्त्रों में है। और, उनकी भी लक्षाधिक दासियाँ सेवा में निरन्तर आसक्त रहती हैं। मुख्य सखियों के नाम हैं—राधा, चन्द्रावली, विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैब्या, भद्रिका, तारा, विचित्रा, गोपाली, धनिष्ठा, पालिका आदि-आदि। ये करोड़ों यूथों की मुखिया हैं। इनमें भी सौभाग्य की दृष्टि मे उपर निर्दिष्ट राधा आदिक आठ सखियाँ मुख्य मानी जाती हैं। इनमें भी राधा और चन्द्रावली श्रेष्ठ हैं। इन दोनों में भी राधा ही श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे ही ह्लादिनी महाशक्तिरूपा तथा सर्वशक्तिवरीयसी हैं। पिछले परिच्छेद में हमने दोनों के भावों का पार्थक्य दिखलाया है। चन्द्रावली का भाव है—हे कृष्ण ! त्वं ममैव (हे कृष्ण ! तुम मेरे हो, अर्थात् अपनी प्रीति के लिए कृष्ण का समर्पण)। राधा-भाव है—हे कृष्ण तवैवाहम् (मैं तुम्हारी ही हूँ, अर्थात् कृष्ण की प्रीति के लिए आत्मसमर्पण)। इस प्रकार हरि-प्रियाओं की दृष्टि से राधा का सर्वश्रेष्ठत्व सिद्ध होता है।

गुणों की दृष्टि से भी राधा की श्रेष्ठता समस्त गोपियों में अक्षुण्ण हैं। गोपियों में गुणों की कमी नहीं है, परन्तु राधा में ऐसे सर्वातिशायी गुण विद्यमान हैं, जिनकी समता अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होती। राधा का सौन्दर्य अत्यन्त कमनीय है (सुष्ठुकान्तस्वरूपा); उसने सोलह प्रकार का शृंगार धारण किया है (धृतषोडशशृङ्गारा); तथा बारह प्रकार के

आभूषणों से अपने को सुसज्जित कर रखा है (द्वादशाभरणायिता)। वह हैं मधुरा, नववयस्का, चलापांगी, उज्ज्वलस्मिता, चारुसौभाग्यरेखाढ्या (सुन्दर सौभाग्य की रेखाओं से चिह्नित); गन्धोन्मादितमाधवा (अपनी देहगन्ध से माधव को उन्मत्त बनानेवाली), संगीत प्रसराभिज्ञा, रम्यवाक्, नर्मपण्डिता, विनीता, करुणापूर्णा, विदग्धा, पाटवान्विता, लज्जाशीला, सुमर्यादा, धैर्यशालिनी, गाम्भीर्यशालिनी, सुविलासा, महाभावपरमोत्कर्षतर्पिणी (महाभाव के परम उत्कर्ष में स्पृहावती), गोकुलप्रेमवसति, गुर्वर्पितगुरुस्नेहा, सखीप्रणयाधीना, कृष्णप्रियावलीमुख्या, सन्तताश्रवकेशवा (श्रीकृष्ण को अपने वश में रखनेवाली)। इन गुणों की इयत्ता नहीं है; ऊपर जिन गुणों का वर्णन किया गया है, वे तो उपलक्षण-मात्र हैं। तथ्य तो यह है कि जिस प्रकार व्रजेश्वर अनन्त गुणों से मण्डित हैं, उसी प्रकार वृषभानुनन्दिनी राधा भी अनन्त गुणों से अलंकृत हैं। केवल कतिपय प्रधान गुणों का ही ऊपर निर्देश किया गया है। इस प्रकार, गुणों की दृष्टि से राधा व्रजगोपियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। राधा के यूथ में माधव को अपने भाव-विलासों से आकृष्ट करनेवाली तथा सब सद्गुणों से मण्डित संख्यातीत गोपियाँ वर्त्तमान हैं। इसीलिए, राधा यूथेश्वरियों में भी प्रामुख्य धारण करती हैं। उनकी सखियाँ पाँच प्रकार की वतलाई जाती हैं, जिनका निर्देश इस प्रकार है—सखी (कुसुमिका, विन्ध्या, धनिष्ठा आदि); नित्यसखी (कस्तूरी, मणिमंजरी आदि); प्राणसखी (शशिमुखी, वासन्ती, लासिका आदि); प्रियसखी (कमला, मधुरी, मंजुकेशी, कन्दर्पसुन्दरी, माधवी, मालती आदि); परमश्रेष्ठ-सखी (ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, तुंगविद्या, इन्दुलेखा, रंगदेवी तथा सुदेवी); ये आठो सखियाँ सब गणों में अग्रिम होती हैं।

सखी का लीला में महत्व :

इन सखियों का वृन्दावन-लीला के विस्तार में महत्त्वपूर्ण योगदान है। इनके अभाव में राधाकृष्ण की लीला का निरन्तर प्रवाह अवाध गति से चल नहीं सकता। ये ही तो उस लीला के विस्तार में मुख्य साधनभूता हैं। यदि कृष्ण व्रजेश्वरी से मान कर बैठते हैं अथवा राधारानी व्रजनन्दन से क्रुद्ध होकर कहीं मानवती वनकर बैठती हैं, तो उन दोनों के मान का भंजन तथा परस्पर मेलापन इन्हीं सखियों का काम होता है। राधा या कृष्ण को अभिसार करने की सलाह देना अथवा उन्हें अभिसार में ले जाना सखी अपना कार्य समझती है। इन सखियों का मुख्य ध्येय श्रीकृष्ण के संग में प्रेमकेलि की भावना नहीं है, प्रत्युत राधाकृष्ण के परस्पर आनन्द-केलि का सम्पादन उनके जीवन का सार है। फलतः, ये इसी उद्योग में तत्पर रहती हैं कि किस प्रकार राधाजी का श्रीकृष्ण के संग में आनन्दमय मिलन सम्पन्न हो जाय। इनकी समग्र चेष्टाओं का तथा समस्त व्यापारों का यही चूडान्त प्रयोजन होता है। साधक के लिए यही गोपीभाव भक्तिशास्त्र में आदर्श माना गया है। श्रीकृष्णदास कविराज ने सखी की उपयोगिता का वर्णन इस प्रकार किया है—

> सखी बिनु एइ लीलार पुष्टि नाहि हय
> सखी लीला विस्तारिया सखी आस्वादय।

सखी बिनु एइ लीलाय अन्येर नाहि गति
सखी-भावे येइ तारे करे अनुगति।
राधाकृष्ण कुंजसेवा साध्य सेइ पाय
सेइ साध्य पाइते आर नाहिक उपाय।
सखीर स्वभाव एक अकथ्य कथन
कृष्ण सह निज लीला नाहि सखीर मन।
कृष्णसह राधिकार लीला ये कराय
निज केलि हैते ताहे कोटि सुख पाय।
राधार स्वरूप कृष्ण-प्रेम-कल्पलता
सखी गण हय तार पल्लव पुष्प पाता।
कृष्ण लीलामृते यदि लताके सिञ्चय
निज सेक हइते पल्लवाद्येर कोटि सुख हय।

—चरितामृत : मध्यलीला, अष्टम प्र०।

इस वर्णन की अन्तिम पंक्तियों में जो तथ्य प्रदर्शित किया गया है, वह सखी के स्वरूप का पर्याप्त द्योतक है। राधा है कृष्ण प्रेम की कल्पलता और सखियाँ हैं उस लता के पल्लव, पुष्प तथा पत्र। फलतः, पल्लव को सींचने से क्या पल्लव कभी पुष्ट तथा तृप्त होता है? नहीं, कभी नहीं। लता का सींचना ही फूल तथा पतों को बढ़ने का कारण होता है। इसी प्रकार सखियाँ अपना उद्देश्य रखती हैं—राधा के प्रेम का वर्धन, राधा की ललित केलि का विस्तार। फलतः, सखियाँ राधा की काय-व्यूह-स्वरूपा हैं। इनका अस्तित्व ही राधामय है। राधा से पृथक् इनकी सता नहीं है।

रति-तारतम्य से राधा की श्रेष्ठता

'रति' के तारतम्य की परीक्षा करने पर भी राधा सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होती हैं। कृष्णरति तीन प्रकार की होती है—**साधारणी, समञ्जसा** तथा **समर्था**। इन तीनों प्रकारों में प्रीति का क्रमिक विकास लक्षित होता है। रूपगोस्वामी ने उज्ज्वल-नीलमणि में इन तीनों के स्वरूप का विवेचन करते हुए सुन्दर तुलना की अवतारणा की है। उनका कथन है कि साधारणी रति मणि के समान होती है, जो अत्यन्त सुलभ नहीं होती। कृष्ण में साधारणी रति का होना भी धन्यता की वात है जो अति सुलभ नहीं होती। समञ्जसा रति चिन्तामणि के समान चारों दिशाओं में सुदुर्लभ है। समर्था रति तो उस कौस्तुम मणि के समान है जो अनन्यलभ्य है अर्थात् अन्यत्र कहीं प्राप्त हीं नहीं हो सकती :—

मणिवत् चिन्तामणिवत् कौस्तुभमणिवत् त्रिधाऽभिमता।
नातिसुलभेयमभितः सुदुर्लभा स्यादनन्यलभ्या च॥

—पृ० ४०७, श्लोक ३८

रति के उत्कर्षापकर्ष का मुख्य हेतु आत्मसंभोग का त्याग तथा आत्मसंभोग की कामना। जिस रति में अपने संभोग की भावना प्रधान रहती है, वह 'निकृष्ट' होती है। जिस

रति में कृष्ण की प्रसन्नता का उत्पादन ही मुख्य प्रयोजन होता है, वह रति उत्कृष्ट होती है। प्रेमी व्रजनन्दन के प्रति कितना आत्मसंभोग का त्याग कर सकता है, यही जानने का विषय है। इस दृष्टि से समर्था रति सर्वश्रेष्ठ होती है।

साधारणी रति में अपने सुख की कामना ही प्रधान रहती है; जैसे कुब्जा की रति। इसका उदय ही कृष्ण के साथ संभोग करने की इच्छा से होता है। कृष्ण के प्राय: साक्षात् दर्शन से यह उत्पन्न होती है; परन्तु यह 'अतिसान्द्र' घनीभूत नहीं होती। इसमें गाम्भीर्य की कमी रहती है; क्योंकि कृष्ण के साथ संभोग के समाप्त होने से यह स्वयं समाप्त हो जाती है या कम हो जाती है। इसमें निरन्तर आनन्द का प्रवाह नहीं परिचालित होता। दूसरी बात यह है कि यह संभोगेच्छा में परिणत होती है। आत्मेन्द्रिय की तृप्ति ही इसका उद्देश्य है। 'सुखैकतात्पर्य' न होने के कारण यह अत्यन्त निकृष्ट होती है।

'समञ्जसा रति' का लक्षण इस प्रकार दिया गया है :—

पत्नी - भावाभिमानात्मा गुणादिश्रवणादिजा ।
क्वचित् भेदितसम्भोगतृष्णा सान्द्रा समञ्जसा ॥
—उ० नी० म०, पृ० ४०९ ॥

जिस रति में पत्नी होने का अभिमान विद्यमान रहता है, जो गुण आदि के श्रवण से उत्पन्न होती है, तथा जिसमें संभोग की तृष्णा प्रेम से पृथग्रूप से वर्तमान रहती है, वह घनीभूता प्रीति 'समञ्जसा' नाम से प्रख्यात होती है। इसके उदाहरण माने जाते हैं महिषीगण—रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रानियाँ, जिनके साथ श्रीकृष्ण का विधिवत् विधान सम्पन्न हुआ था। इस श्लोक में 'पत्नी' शब्द ध्यान देने योग्य है। यज्ञ-संयोग में पति से 'पत्नी' शब्द बनता है व्याकरण के ('पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' सूत्र) नियम से। फलतः, गन्धर्व विवाहवाली गोपकन्याओं की पृथक्ता इस पद से सिद्ध होती है।

समर्था रति ही सर्वश्रेष्ठ होती है; क्योंकि इसमें संभोगेच्छा का सर्वथा अभाव रहता है। श्रीकृष्ण की प्रीति के सम्पादन के निमित्त आत्मसमर्पण करना ही इस रति का वैशिष्ट्य है। इसलिए यह रति पूर्वरति से भी श्रेष्ठ होती है। इसका लेश भी सब वस्तुओं के विस्मरण का हेतु होता है। और, यह सान्द्रतमा होती है, अर्थात् इसके भीतर कोई भी दूसरा भाव प्रवेश नहीं कर सकता। यह समर्थारति केवल गोपियों में ही विद्यमान रहती है और इसीलिए गोपीश्रेष्ठा राधा सब गोपियों में यदि श्रेष्ठ मानी जाय, तो आश्चर्य क्या है!!!

समर्थारति में ही महाभाव का उद्गम होता है। इस उद्गम में एक मनोवैज्ञानिक क्रम-विकास दृष्टिगोचर होता है। यही रति दृढ होने पर प्रेमा नाम से अभिहित होती है और इसी प्रेमा से उत्पन्न है स्नेह, स्नेह से मान, मान से प्रणय, प्रणय से राग, राग से अनुराग, अनुराग से भाव या महाभाव। इस विकास को समझने के लिए ऊख से उत्पन्न होनेवाली मिश्री का दृष्टान्त दिया जाता है। ऊख के बीज से प्रथमतः उत्पन्न होता है इक्षुदण्ड, उससे उत्पन्न है रस, इसी रस से गुड़, खाँड़,

चीनी, मिसरी (सिता) तथा ओला (सितोपला) क्रमशः उत्पन्न होते जाते हैं तथा अपने मिठास में वैशिष्ट्य प्राप्त करते जाते हैं। ऊख से मिश्री उत्पन्न होने का कारण पाकभेद है। इसी प्रकार, अवस्था के भेद से प्रेमा ही नाना रूपों को धारण करता हुआ अन्त में महाभाव में परिणत हो जाता है।[1]

दृढ कृष्ण रति ही 'प्रेमा' नाम से अभिहित की जाती है। इसके स्वरूप-निर्देश में रूपगोस्वामी का कथन[2] है—जब ध्वंस के कारण विद्यमान रहने पर भी युवक तथा युवती में सर्वथा ध्वंस-विरहित-भाव बन्धन उत्पन्न होता है, तब उसे प्रेमा कहते हैं। इसके तीन प्रकार बतलाये गये हैं। प्रेमा की उन्नत दशा वह होती है, जब विरह की असहिष्णुता विद्यमान रहती है। मध्यम प्रेमा में विरह बड़े कष्ट से सहने योग्य होता है। मंद प्रेमा की दशा में आवश्यक कर्त्तव्य में भी—श्रीकृष्ण-सम्बन्धी कार्यों में भी—विस्मृति उत्पन्न होती है।

प्रेमा ही अधिक विकसित तथा प्रौढ रूप पाने पर 'स्नेह' की संज्ञा प्राप्त करता है। यह प्रेम परमकाष्ठा को प्राप्त कर 'चिद्दीपदीपन' होकर जब हृदय को पिघला देता है, तब वह स्नेह कहलाता है।[3] 'चिद्दीपदीपन' शब्द में चित् का अर्थ है प्रेमविषय की उपलब्धि। तद्रूप दीप को यह उद्दीप्त करता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रेम-दशा में

---

१. (क) बीजमिक्षुः स च रसः स गुडः खण्ड एव सः।
स शर्करा सिता सा च सा यथा स्यात् सितोपला॥

उज्ज्वलनीलमणि के इस प्रख्यात श्लोक (पृ० ४१७, श्लोक ५४) की कृष्णदास कविराज ने सुन्दर व्याख्या इस प्रकार की है—

प्रेम क्रमे बाडि हय स्नेह, मान, प्रणय।
राग अनुराग भाव महाभाव हय॥
यैछे बीज इक्षुरस गुड खण्ड सार।
सर्करा सिता मिछरि शुद्ध मिछरि आर॥
इहा तैछे क्रमे निर्मल क्रमे बाढ़े स्वाद।
रति प्रेमादि तैछे बाढ़ये आस्वाद॥

—चैतन्यचरितामृत (मध्य; २३ य)।

(ख) अत्र चेक्षोः पाकभेदेनैव गुडादयो भवन्ति यथा तथैव प्रेम्णोऽवस्थाभेदेनैव स्नेहरागादयो भवन्ति। न तु गुड एव खण्डः स्यात् खण्ड एव शर्करा स्यादित्येवं वाच्यमसम्भवादिति केचिदाहुः। —विश्वनाथ चक्रवर्त्ती की टीका

२. सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद् भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्त्तितः॥५७॥

—उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ४१८।

३. आरुह्य परमां काष्ठां प्रेमा चिद्दीपदीपनः।
हृदयं द्रावयन्नेष स्नेह इत्यभिधीयते॥

—तत्रैव, पृ० ४२५।

प्रेम विषय की उपलब्धि विद्यमान रहती है, परन्तु स्नेह-दशा में उस उपलब्धि में अत्याधिक्य सम्पन्न हो जाता है। दीप में उष्णता तथा प्रकाश के आधिक्य होने पर ही घृत में पिघलने की क्रिया उत्पन्न होती है। यहाँ भी यही क्रिया उदय लेती है। 'प्रोद्यन् स्नेहः क्रमादयम्' (श्लोक ५३, पृ० ४१६) की व्याख्या में विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने सूर्य का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार उदय लेनेवाला सूर्य अपने ताप से मक्खन को पिघला देता है, वैसे यहाँ भी चित्त प्रेम की गरमी से पिघल उठता है। यह भी कनिष्ठ, मध्यम तथा श्रेष्ठ रूप से तीन प्रकारों को प्राप्त करता है। इसके दो सुस्पष्ट भेद होते हैं—घृत-स्नेह तथा मधु-स्नेह। जो स्नेह स्वयं स्वाभाविक रीति से नहीं, प्रत्युत भावान्तर से सम्मिलित होने पर ही, स्वाद के अतिशय को प्राप्त करता है तथा परस्पर आदर के प्रदर्शन पर जो घनता या सान्द्रता का उपलब्धि करता है, वह कहलांता है घृत-स्नेह (घृतवद् घृतम्)।[१] घी में चीनी या मिसरी मिलाने पर भी वह माधुर्य से युक्त होता है इसी साम्य से यह स्नेह इस नाम से पुकारा जाता है। मधु-स्नेह इससे विलक्षण तथा विशिष्ट होता है। जब प्रिय में मदीयत्व ('यह मेरा है' इस भाव) के अतिशय की भावना उत्पन्न होती है, तब यह मधु-स्नेह[२] होता है। इस स्नेह का मधु के साथ अनेक तथ्यों में साम्य है। इसमें माधुर्य्य स्वयं प्रकट होता है, भावान्तर के सम्पर्क की आवश्यकता नहीं होती। इसमें नाना रसों (कौटिल्य, नर्म आदि) का समाहार होता है; जैसे मधु में नाना पुष्पों के रसों का समाहार विद्यमान रहता है। आनन्द से मत्तता तथा गर्व का उदय इसमें होता है, जैसे मधु में नशा (मत्तता) तथा गरमी उत्पन्न करने की शक्ति स्वभाव से ही रहती है। इन्हीं कारणों से शास्त्र में इसे मधुस्नेह कहा गया है।

प्रेमा का अन्यतर विकास मान में दृष्टिगोचर होता है। जब उत्कर्ष को प्राप्त कर स्नेह या चित्तद्रव नवीन माधुर्य को अनुभव गोचर करता हुआ अपने को आच्छादित करने के लिए वामता (अदाक्षिण्य) को धारण करता है, तब वह **मान** के नाम अभिहित होता है।[३] मान की वामता प्रेम के वर्धन के लिए की जाती है तथा इसके सम्पादन से प्रेम में नवीन मधुरिमा का उद्गम होता है। बाहर से देखने पर 'मान' में नायिका की रुखाई ही दीखती है, परन्तु वह भीतर से नायक के प्रति नितान्त

१. भावान्तरान्वितो गच्छन् स्वादोद्रेकं नतुस्वयम्
गाढादरमयस्तेन स्नेहः स्यात् घृतवद् घृतम्॥
—उ० नी० म०

२. मदीयत्वातिशयभाक् प्रिये स्नेहो भवेन्मधु।
स्वयं प्रकटमाधुर्यो नानारससमाहृतिः।
मत्ततोष्मधरः स्नेहो मधुसाम्यान्मधूच्यते॥

३. स्नेहस्तूत्कृष्टतावाप्त्या माधुर्यं मानयन् नवम्।
यो धारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्त्यते॥८७॥
—उ० नी० म०, पृ० ४३२।

स्निग्धहृदया होती है। वह 'मान' प्रेमा के उत्कर्ष की एक विशिष्ट दशा का द्योतक होता है। हृदय के द्रवीभूत होने से राधा के नेत्रों में आँसू छलकने लगते हैं; परन्तु वह गायों के खुरों से उत्पन्न होनेवाली धूलि के अकस्मात् पड़ जाने का वहाना कर उन्हें फूंक मारने से विरत करती है। मानवती राधा का यह मान उसके स्वभाव-स्निग्ध हृदय की चिक्कणता का सद्योद्योतक है। उदात्त तथा ललित भेदों से यह दो प्रकार का होता है। **'उदात्त मान'** घृत-स्नेह के विकास का सूचक है तथा **'ललित मान'** मधु-स्नेह के उत्कर्ष का परिचायक है। द्विविध स्नेह के द्विविध विकास के कारण 'मान' में भी दो प्रकारों की स्थिति मानी गई है।

यह मान जव विस्रम्भ को धारण करता है, तव **'प्रणय'** की संज्ञा पाता है। प्रणय का लक्षण ही है **विस्रम्भ**। 'विस्रम्भ' का अर्थ है विश्वास, संभ्रम-राहित्य। यह विश्वास उस समय उत्पन्न होता है, जव कान्ता का प्राण, मन, वुद्धि, देहादि अपने प्रियतम के प्राण, मन, बुद्धि तथा देहादि से ऐक्य प्राप्त कर लेते हैं। वास्तव में ऐक्य भले ही न हो, परन्तु ऐक्य की भावना तो अवश्य ही विद्यमान रहनी चाहिए। फलतः, प्रियतम का रोष या क्रोध प्रियतमा के हृदय में वैरस्य का उदय नहीं करता, प्रत्युत उसके स्नेह का ही पोषक होता है। 'प्रणय' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी इसी भाव का स्पष्ट द्योतक है (प्रकर्षेण नयति कान्ता-कान्तयोर्हृदये ऐक्यम् यः स प्रणयः)। इसके भी **मैत्र्य** तथा **सख्य** दो भेद माने जाते हैं।

इसी प्रणय के उत्कर्ष होने पर अधिक दुःख भी चित्त में सुख-रूप से अभिव्यक्त होता है, तव **राग की दशा** होती है।[1] इस राग का वहुत ही उत्कृष्ट दृष्टान्त श्रीरूप-गोस्वामी ने दिया है। राधा व्रजनन्दन के दर्शन के लिए नितान्त उत्सुक हैं। समय है दोपहर की चिलचिलाती धूप। उनके दर्शन के लिए वह पर्वत की एक चोटी से दूसरी चोटी पर चढ़ती चली जाती हैं। श्रीकृष्ण की झाँकी तो उन्हें मिलती है अवश्य, परन्तु जिस पर्वत पर वह खड़ी हैं, वह सूर्यकान्त मणि का वना हुआ है, जो सूर्य की गरमी पड़ने पर अग्नि-वमन कर रहा है। ऐसे सन्तप्त स्थान पर खड़ी हुई राधा को अनुभव हो रहा है कि मानों वह नवीन कमलों से ढकी हुई सेज पर अपना पाँव रख कर खड़ी हुई हैं। विषम सन्तापजन्य पीड़ा कोमल कमल के स्पर्श के समान सुखदायक प्रतीत होती है और यही भावना है प्राण 'राग' का।[2]

राग के परिपक्व होने पर 'अनुराग' की दशा उत्पन्न होती है। जो सदा अनुभव में आये हुए अतएव नितान्त परिचित, प्रियतम का वारम्वार नवीन रूप में अनुभव कराये और स्वयं भी नित्य नूतन होता रहे, उस राग को 'अनुराग' कहते हैं। रमणीयता के समान अनुराग में भी 'क्षणे-क्षणे नवीनता' का सद्भाव नितान्त आवश्यक होता है। रमणीयता परक लक्षण के समान ही हम कह सकते हैं—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं त्वनुरागितायाः।

---

१. दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते॥

२. इस दृष्टान्त के लिए देखिए उज्ज्वलनीलमणि के पृ० ४४३ पर दिया गया उदाहरण।

सन्निपात की दशा में पिपासा के समान अनुराग में तृष्णा की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अतः, प्रियतम के अनुभव होने पर भी प्रतिक्षण यही प्रतीति होती रहती है कि अभी प्रियतम से परिचय नहीं हुआ। 'क्षणे क्षणे नवीनत्व' अनुराग का प्राण है। एक दृष्टान्त से इस तथ्य को समझिए। राधा तथा ललिता के बीच श्रीकृष्ण की चर्चा होने पर वार्त्तालाप इस प्रकार होता है—

कोऽयं कृष्ण इति व्युदस्यति धृतिं यस्तन्वि कर्णं विशन्
रागान्धे किमिदं सदैव भवती तस्योरसि क्रीडति।
हास्यं मा कुरु मोहिते त्वमधुना न्यस्तास्य हस्ते मया
सत्यं सत्यमसौ दृगङ्गनमगाद् अद्यैव विद्युन्निभः॥

राधा—हे ललिते! जिनका नाम कृष्ण है, वे कौन हैं? वे इस नाम के द्वारा हमारे कान में प्रवेश करते ही हमारे सारे धैर्य को हर लेते हैं। मुझे ठीक-ठीक बताओ कि वे कौन हैं?

ललिता—ऐ राग से अन्धी होनेवाली! उसके वक्षःस्थल पर सदा क्रीडा करती हो, तो भी उसके विषय में यह ऊटपटांग क्या पूछ रही हो?

राधा—ललिते! यह असम्भव बात कह कर मेरी दिल्लगी मत उड़ाओ।

ललिता—ऐ पगली कहीं की; अभी तो मैंने तुम्हें उसी श्यामसुन्दर के हाथ में सौंपा था, क्या उसे इतनी जल्दी भूल गई?

राधा—हाँ, ठीक कहती हो। अभी याद आई। आज ही वे जीवन-भर में मेरे नेत्रों के आँगन में उतरे और बिजुली के समान क्षण-भर में वे एकदम अदृश्य हो गये।

यहाँ श्रीव्रजनन्दन राधा के द्वारा सन्तत अनुभूत हैं; निरन्तर परिचित हैं, तथापि राधा उन्हें नित्य नूतन मानती हैं। यही है अनुराग की दशा।

इस दशा में अनेक भावों का उदय होता है, जिनमें कतिपय भाव ये हैं—नायक तथा नायिका का परस्पर वशीभाव, प्रेमवैचित्ती, बिना प्राणवाली जाति में भी जन्म लेने की उत्कट भावना, विरह में प्रियतम की स्फूर्त्ति आदि। इन भावों में प्रेमवैचित्ती को विशेष रूप से जानने की आवश्यकता है; क्योंकि यह वैष्णव आचार्यों द्वारा मानस-विश्लेषण का एक अत्यन्त सुन्दर दृष्टान्त है। प्रियतम के सन्निकट होने पर भी प्रेमोत्कर्ष के स्वभाव से विरह की अनुभूति द्वारा जो व्याकुलता उत्पन्न होती है उसे **प्रेमवैचित्ती** कहते हैं—

प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्ष स्वभावतः।
या विश्लेषधियाऽऽर्तिस्तत् प्रेमवैचित्यमुच्यते॥

इस भाव के हेतु की भी सूक्ष्म मीमांसा आचार्यों ने की है। उनका कथन है कि विद्युत्, दीपक आदि आलोक निश्चय रूप से घट, पट आदि पदार्थों के प्रकाशक होते हैं, परन्तु यदि किसी समय किसी एक केन्द्र में वे पूर्णरूप से पुंजीभूत हो जायँ (जिसे अँगरेजी में फोकस होना कह सकते हैं), तो द्रष्टा की दर्शन-शक्ति मूर्च्छित हो जाती है, वह समीपस्थ पदार्थ को भी देख नहीं पाता। ठीक यही दशा होती है इस भाव में भी। जब कभी पूर्ण अनुरागरस के आस्वादन में बुद्धिवृत्ति डूब जाती है, तब श्रीकृष्ण के समीप में

स्थित होने पर भी उनका भान नहीं होता। तीव्र विरह उत्पन्न हो जाता है और राधा के चित्त में तीव्र वेदना का उदय होता है। 'प्रेमवैचित्त्य' इसी मिलन-विरह के संयोग का अभिव्यंजक भाव है।

रसिकशिरोमणि श्रीकृष्ण विषयक अनुराग के वश में रमणीशिरोमणि राधा अत्यन्त विह्वल हो उठती हैं। प्रियतम उन्हें अंक में धारण कर शोभा प्राप्त कर रहे हैं, तथापि राधा पुकार उठती है—हे श्रेष्ठ! हे प्रियतम! हे मोहन! कहाँ हो, दर्शन दो। उनके यह विचित्र 'प्रेमवैचित्त्य' को देखकर सारी सखियाँ व्याकुल हो जातीं हैं—

अङ्कालिङ्गनशालिनि प्रियतमे हा प्रेष्ठ हा मोहने
व्याक्रोशन्त्यतिकातराऽतिमधुरं श्यामानुरागोन्मदा।
व्यामोहादति विह्वलं निजजनं कुर्वन्त्यकस्मादहो
काचित् कुञ्जविहारिणी विजयते श्यामामणिर्मोहिनी॥

अनुराग की दशा में विरह में प्रियतम की स्फूर्त्ति होने लगती है, अर्थात् प्रतीत होता है कि मेरा वह प्रियतम प्रत्येक दिशा में, प्रत्येक स्थल पर विद्यमान है। जिधर दृष्टि जाती है, उधर ही वही दीख पड़ता है, जिससे नायिका की व्याकुलता चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाती है। मथुरा जानेवाले किसी पथिक से गोपियों ने जो सन्देश श्यामसुन्दर के लिए भेजा था, उसमें इस स्फूर्त्ति-भावना का विशद संकेत है—

ब्रूयास्त्वं मथुराध्वनीन मथुरानाथं तमित्युच्चकैः
सन्देशं व्रजसुन्दरी कमपि ते काचिन्मया प्राहिणोत्।
तत्र क्ष्मा-पतिपत्तने यदि गतः स्वच्छन्द! गच्छाधुना
किं क्लिष्टामपि विस्फुरन् दिशि दिशि क्लिश्नासि हा मे सखीम्॥

इस पद्य का तात्पर्य है कि—हे मथुरा जानेवाले पथिक, तुम उस प्रसिद्ध मथुरानाथ के पास जाकर उच्च स्वर से कहना कि किसी व्रजसुन्दरी ने आपके लिए एक सन्देश भेजा है (जो इस प्रकार है)—'हे स्वतन्त्र, तुम वहाँ राजधानी में चले गये हो, तो चले जाओ। तुम्हें कौन रोक सकता है? परन्तु इस समय विरह की मारी परम सुकुमारी मेरी प्यारी सखी को चारों दिशाओं में अपने रूप की स्फूर्त्ति करा कर अत्यन्त क्लेश में क्यों डाल रहे हो?' विरह में प्रियतम की स्फूर्ति से दुःख बढ़ता है, घटता नहीं। प्रियतम की स्फुरित मूर्त्ति को आलिंगन करने के लिए राधा आगे बढ़ती हैं, परन्तु क्षण भर में स्फूर्त्ति के भंग हो जाने पर वह दुःख के सागर में डूब जाती है, जो पहले की अपेक्षा कहीं अधिक असह्य है।

प्रेम की परम्परा में प्रीति के चरम उत्कर्षवाले भाव को महाभाव कहते हैं। जो स्वयंवेद्य दशा को पाकर, अर्थात् जिसके ऊपर किसी दशा की कल्पना नहीं की जा सकती, उस उत्कर्ष की चरम सीमा को प्राप्त कर अपने प्रभाव से समस्त आश्रित भक्तों को आतृप्त कर देता है (अर्थात्, उन्हें परमानन्द में निमग्न कर देता है,) सात्त्विक भाव से प्रकाशित होनेवाला यही अनुराग महाभाव के नाम से प्रख्यात होता है—

स्वेनैव संवेद्यदशामवाप्य
यः स्वाश्रयानावृणुते प्रभावात्।

दिव्यप्रकाशो ह्यनुराग एव
प्रोक्तो महाभावतया रसज्ञैः ॥
—राधासप्तशती, ६।१४०

यह स्वयं परमानन्द रूप होता है; वह मन को आत्मरूप बना देता है; इन्द्रियों की वृत्तियाँ अप्राकृत हो जाती हैं। यह महाभाव केवल व्रजगोपियों में ही दृष्टिगोचर होता है; महिषीगण में आत्मसंभोग की भावना के अस्तित्व होने से यह कथमपि उदित नहीं होता। द्वारका की इन महिषियों में संभोग की इच्छा सर्वदा विद्यमान रहती है। फलतः, उनका मन प्रेमात्मक भी नहीं हो पाता, महाभावात्मक होने की तो बात ही दूर ठहरी। अतएव, उनके हाव-भाव, कटाक्षों से श्रीकृष्ण की एक भी इन्द्रिय वशीभूत नहीं होती, चित्त के वशीकार की तो चर्चा करना ही व्यर्थ है। भागवत का इस विषय में स्पष्ट प्रमाण है—

पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणै—
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः ॥

इसके दो भेद किये जाते हैं—रूढ तथा अधिरूढ। जिस महाभाव से समस्त सात्त्विक भाव (स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय) उद्दीप्त होते हैं, उसे रूढ महाभाव कहा जाता है। इस रूढ दशा के अवसर पर इसके सूचक भाव प्रकट होते हैं—निमेषमात्र के लिए भी विरह को न सह सकना, परिजनों के हृदय में क्षोभ उत्पन्न कर देना, सुख की अवस्था में एक कल्प के बराबर काल को एक क्षण के बराबर समझना, प्रियतम के सुख में भी मिथ्या कष्ट की आशंका से खिन्न हो जाना, मूर्च्छा के अभाव में भी सबको भूल जाना, एकक्षण भी कल्प के बराबर प्रतीत होना आदि बातें यथासम्भव संयोग-वियोग में प्रकट होती हैं। दो एक दृष्टान्तों से इस रूढ महाभाव की अभिव्यंजना यहाँ की जा रही है।

(क) कल्प का क्षण तथा क्षण का कल्प होना

श्रीकृष्ण उद्धव से गोपीजनों के विलक्षण प्रेम के विषय में कथन कर रहे हैं कि मैं गोपीजनों का एकमात्र प्रियतमजन था—मुझसे बढ़कर कोई भी प्रिय उनका नहीं था। फलतः, मेरे वृन्दावन-निवास के समय उन्होंने बहुत-सी रात्रियों को आधे क्षण के समान बिता दी थीं, परन्तु आज मेरे विरह में वे ही रात्रियाँ उनके लिए एक कल्प के समान हो गई हैं। संभोग में दीर्घ कल्प स्वल्प क्षण के समान प्रतीत होता है, तो वियोग में स्वल्प क्षण भी लम्बे कल्प के सदृश जान पड़ता है—

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण
क्षणार्धवत्, ताः पुनरङ्ग तासां हीना मया कल्पसमा बभूवुः ॥

(ख) बिना मूर्च्छा के सर्व विस्मरण

उद्धव के प्रति साधु-संग की महिमा का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण का वचन—

ता नाविदन् मय्यनुषंगबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥

गोपियों ने अपनी बुद्धियों को निरन्तर आसक्ति से मुझमें बाँध दिया था। फलतः, वे सब कुछ भूल गईं—अपने शरीर को, आत्मा को, इस लोक को और परलोक को। जैसे समाधि में ब्रह्म का अनुभव करनेवाले मुनिजन सब भूल जाते हैं, वैसे वे भी मेरे अनुभव में सब कुछ भूल गईं। जैसे, नदियाँ समुद्र के जल में मिलकर अपने नाम-रूप को नहीं जानतीं, वैसे ये गोपियाँ भी मेरे रस-सिन्धु में मग्न होने पर अपने देह-गेह की सुध भूल गईं। इस पद्य में गोपियों में मोह या मूर्च्छा के अभाव होनेपर भी जगत् के सब पदार्थों के भूल जाने का वर्णन है। ऐसे ही भाव रूढ महाभाव में उदय लेते हैं।

अधिरूढ महाभाव : लक्षण तथा भेद

अधिरूढ महाभाव इससे भी आगे की दशा है, जहाँ पूर्ववर्णित समस्त अनुभाव पहले की अपेक्षा कुछ विशिष्टता लेकर दृष्टिगोचर होते हैं। इन दोनों का अन्तर विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने इस प्रकार किया है—

"जहाँ श्रीव्रजनन्दन के सुख में पीडा की आशंका से क्षण-भर के लिए भी असहिष्णुता आदि उत्पन्न होते हैं, वह है **रूढ महाभाव**। करोड़ों ब्रह्माण्डों में होनेवाले समस्त सुख भी जिस सुख का लेशमात्र भी तुलना में नहीं हो सकते तथा समस्त सर्प-विच्छुओं के दंशन का दुःख भी जिस दुःख का लेशमात्र नहीं होता, श्रीकृष्ण के मिलन का सुख तथा उनके विरह का दुःख इस प्रकार जिस दशा में होते हैं, वह दशा **अधिरूढ** नाम से प्रख्यात होती है—

कृष्णस्य सुखे पीडाशङ्कया निमिषस्यापि असहिष्णुतादिकं यत्र स रूढो महाभावः। कोटि-ब्रह्माण्डगतं समस्त सुखं यस्य सुखस्य लेशोऽपि न भवति, समस्तवृश्चिकसर्पादिदंशन-कृत दुःखमपि यस्य दुःखस्य लेशोऽपि न भवति, सोऽधिरूढो महाभावः।

—उज्ज्वलनीलमणि-टीका

इस अधिरूढ महाभाव के दो भेद होते हैं—**मोदन** तथा **मादन**। मोदन ही वियोग दशा में 'मोहन' नाम से व्यवहृत होता है। इस मोहन भाव में कान्तालिंगित होने पर श्रीकृष्ण की मूर्च्छा, स्वयं असहनीय कष्ट स्वीकार करके भी कृष्ण के सुख की कामना, ब्रह्माण्ड को क्षुब्ध करने की शक्ति, पशु-पक्षी आदि प्राणियों का भी रोदन, अपनी मृत्यु स्वीकार कर अपनी देह के भूतों द्वारा श्रीकृष्णं के संग की लालसा, दिव्य उन्माद आदि अनेक अनुभवों का वर्णन आचार्यों ने किया है। इन दोनों प्रभेदों का पार्थक्य दिखलाते हुए श्रीजीवगोस्वामी का कथन[1] है—मोदन हर्ष का वाचक होता है। अतएव, मोदन भाव का पर्यवसान हर्ष की अनुभूति में होता है। मादन 'दिव्यमधुविशेषवत् मत्तताकर' होता है। दिव्य मद्य जिस प्रकार की मत्तता उत्पन्न करता है, उसी प्रकार की मत्तता इस भाव में उदित होती है। श्रीकृष्ण के मिलन में जितने प्रकार के विचित्र आनन्द उत्पन्न होते हैं, वे सब एक साथ मादन महाभाव में उदय लेते हैं।

इस मादन महाभाव का उदय केवल राधा में ही होता है। वहीं ह्लादिनी

---

१. **द्रष्टव्यः उज्ज्वलनीलमणि, लोचनरोचनी टीका।**

शक्ति की साररूपा हैं। वह स्वयं असह्य दुःख स्वीकार करती हुई भी श्रीकृष्ण के सुख की कामना करती हैं। इस भावना का प्रतीक वह सन्देश हैं, जिसे राधा ने उद्धवजी के द्वारा श्रीव्रजनन्दन के पास भेजा था—

स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद् गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात् कदापि।
अप्राप्तेऽस्मिन् यदपि नगरादार्त्तिरुग्रा भवेन्नः
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तत्र वासं करोतु॥

प्राणप्यारे श्यामसुन्दर के मथुरा से व्रज में आने पर हम सबको यद्यपि महान् सुख प्राप्त होगा, तथापि यदि यहाँ आने से उनकी थोड़ी भी हानि होती हो, तो यहाँ कभी न आवें। उनके यहाँ न आने पर यद्यपि हमको उग्र पीडा का सामना करना पड़ेगा, तो भी यदि वहाँ रहने से उनके हृदय में सुख की अनुभूति होती हो, तो वे सदा वहीं निवास करें, वृन्दावन आने का कभी विचार न करें।

मृत्यु स्वीकार कर अपने शरीर के पंचभूतों द्वारा श्रीकृष्ण के ही संग की कामना के दृष्टान्त में यह श्लोक प्रस्तुत किया जा सकता है—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद् वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥

राधा अपनी प्रिय सखी ललिता से अपनी मनोकामना प्रकट कर रही है—श्रीकृष्ण के न आने पर मेरा देहपात तो अवश्यम्भावी है। तब विधाता से एक विशिष्ट प्रार्थना कर रही हूँ। उसकी पूर्ति उनके सामर्थ्य के बाहर नहीं है। मृत्यु होने पर शरीर के सब आरम्भक तत्त्व—पृथ्वी, जल आदि अपने-अपने अंश में मिल जाते हैं, परन्तु मैं विधाता को प्रणाम कर यह वर माँग रही हूँ, जिसे वे कृपावश स्वीकार करें। मेरे शरीर का जलीय अंश मेरे प्यारे की वावली में जा मिले, जिससे वह उनके नहाने के उपयोग में आ जाय। शरीर का तेज प्रियतम के दर्पण में ही जा मिले जिससे वे मेरी ज्योति में ही अपना मुँह देखें। आकाश उनके घर के आँगन के आकाश में मिल जाय। भूमि का अंश उनके रास्ते की भूमि में मिल जाय, जिससे प्यारे मेरे ऊपर ही अपना श्रीचरण रखें। मेरे शरीर का वायु उनके व्यजन में जा मिले और उनकी सेवा में प्रयुक्त होता रहे। यहाँ श्रीकृष्ण की सेवा में अपने शरीर के समस्त तत्त्वों के उपयोग की चर्चा राधा ने की है।

यह भी मोहन महाभाव का अन्यतम दृष्टान्त है।

मादन भाव के उदय होने पर जो ईर्ष्या के योग्य नहीं है, उनके प्रति भी कभी प्रबल ईर्ष्या उत्पन्न होती है। स्वयं नित्य संभोग प्राप्त होने पर भी जिनमें भोग के अनुकरण का लवमात्र भी दृष्टिगोचर होता है, उनकी स्तुति-वन्दना आदि की क्रिया होती है। ये ही यहाँ अनुभाव होते हैं।

रूप तथा जीवगोस्वामी के द्वारा दिये गये पूर्वोक्त वर्णन का अनुसरण कर कृष्णदास कविराज ने राधाजी के स्वरूप का चित्रण बड़े ही रोचक शब्दों में इस प्रकार किया है—

प्रेमेर स्वरूप देह प्रेम-विभावित
कृष्णेर प्रेयसी श्रेष्ठ जगते विदित।
सेई महाभाव हय चिन्तामणिसार
कृष्ण वांछा पूर्ण करे एइ कार्य जार।
महाभाव चिन्तामणि राधार स्वरूप
ललितादि सखी ताँर कायव्यूहरूप।
राधा प्रति कृष्णस्नेह सुगन्धि उद्वर्तन
ताहे सुगन्ध देह उज्ज्वल वरण।
कारुण्यामृतधाराय स्नान प्रथम
तारुण्यामृतधाराय स्नान मध्यम।
लावण्यामृतधाराय तदुपरि स्नान
निज लज्जा श्याम पट्टशाटी परिधान।
कृष्ण अनुराग द्वितीय अरुण वसन
प्रणय-मान-कंचुलिकाय वक्षः आच्छादन।
सौन्दर्य कुंकुम सखी-प्रणय-चन्दन
स्मित-कान्ति-कर्पूर तिने अंग विलेपन।
कृष्णेर उज्ज्वल रस मृगमद भर
सेइ मृगमदे विचित्रित कलेवर।
प्रच्छन्न-मान वाक्य धम्मिल्लविन्यास
धीराधीरात्मक-गुण अंगे पटवास।
राग ताम्बूल रागे अधर उज्ज्वल
प्रेम कौटिल्य नेत्र-युगले कज्जल।
सूदीप्त सात्त्विकभाव हर्षादि संचारी
एइ सब भाव-भूषण सर्व अंगे भरि।
किलकिंचितादि भाव विंशति भूषित
गुणश्रेणी पुष्पमाला सर्वांगे पूरित।
सौभाग्य तिलक चारु ललाटे उज्ज्वल
प्रेम-वैचित्य-रत्न हृदये तरल।
मध्यवयः स्थिता सखी स्कन्धे करन्यास
कृष्णलीला मनोवृत्ति सखी आशापाश।
निजांग सौरभालये गर्व पर्यंक
ताते बसि आछे सदा चिन्ते कृष्णसंग।

कृष्ण-नाम गुण-यश अवतंस काने
कृष्ण-नाम-गुण-यश प्रवाह वचने।
कृष्ण के कराय श्यामरस मधुपान
निरन्तर पूर्ण करे कृष्णेर सर्वकाम।
कृष्णेर विशुद्ध प्रेम रत्नेर आकर
अनुपम गुणगण पूर्ण कलेवर।

राधा-तत्त्व के रसशास्त्रीय विस्तार का यह संक्षिप्त विवरण दिया गया है। राधा को आदर्श नायिका के रूप में चित्रित करने का प्रथम उद्योग जयदेव ने गीत-गोविन्द में किया, यह तथ्य स्वीकार करना कथमपि अनुपयुक्त नहीं होगा। उन्होंने राधा को साहित्यशास्त्र में प्रख्यात अष्टविध नायिका के रूप में प्रस्तुत किया तथा राधा को उन विभिन्न रूपों में चित्रित किया। इसी संकेत को लेकर रूपगोस्वामी ने 'उज्ज्वल-नीलमणि' में राधाकृष्ण के नायिका-नायक का चित्रण इतने विस्तार के साथ पुंखा-नुपुंख-रूप में किया। श्रीरूप ने इसके लिए 'अलंकार-शास्त्र' के मान्य तत्त्वों के साथ 'कामशास्त्र' के द्वारा वर्णित नायिका-भेद को भी अपनाया। वैष्णव गोस्वामियों ने वारंवार स्मरण दिलाया है कि राधाकृष्ण की क्रीडा अप्राकृत कामलीला है, जिसमें प्राकृत काम का गन्ध भी नहीं है, परन्तु प्राकृत काम से समता रखने के कारण ही उसे काम की संज्ञा दी जाती है। गौडीय गोस्वामियों को भक्ति को रस-रूप में चित्रित करने का श्रेय देना उपयुक्त ही है। उसी भक्तिरस के अन्तर्गत अलंकारशास्त्र के समस्त प्रख्यात तत्त्वों का निरूपण कर उन्होंने जिस विद्वत्ता तथा सहृदयता का परिचय दिया, वह सर्वथा श्लाघ्य है। रूपगोस्वामी का राधाकृष्ण का आलंकारिक विश्लेषण बड़ा ही मार्मिक है। उन्होंने अनेक नवीन भावों की, प्रेमवैचित्ती की कल्पना प्रस्तुत की, जिसका प्रचुर प्रभाव परवर्त्ती वैष्णव कवियों के ऊपर जाने या अनजाने अवश्य पड़ा। ध्यान देने की वात है कि श्रीरूपगोस्वामी एक साथ ही कवि तथा आचार्य दोनों थे। आचार्य रूप में उन्होंने राधाकृष्ण की प्रेम-लीला का विश्लेषण किया तथा कवि रूप में उन्होंने उसका समुचित उदा-हरण प्रस्तुत किया। इस प्रकार, गोस्वामीचरण का ऋण वैष्णव साहित्य की सर्जना के ऊपर नितान्त महत्त्वशाली है।

नवम परिच्छेद

गौडीय राधा-तत्त्व और प्राचीन शक्तिवाद

शक्तिवाद का सिद्धान्त भारतीय धर्म में नितान्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसके उद्‌गम के विषय में अनुसन्धानशील विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। कतिपय विद्वान् शक्ति-सिद्धान्त को आर्येतर प्रभाव का परिणत फल मानते हैं, परन्तु अधिकांश पण्डितों को ऐसे सिद्धान्त में विश्वास तथा आस्था नहीं है। शक्ति का तत्त्व वैदिक है। ऋग्वेद के प्रख्यात आम्भृणी द्वारा दृष्ट वाक्‌सूक्त (१०।१२५) शक्तितत्त्व का आद्य स्फुरण माना जाता है। शक्ति ही ब्रह्मरूपिणी है। वाक् (अर्थात् शक्ति) का कथन है कि मैं रुद्रों और वसुओं के रूप में संचार करती हूँ। मैं आदित्यों तथा विश्वेदेवों के रूप में फिरा करती हूँ। मैं मित्र और वरुण दोनों का, इन्द्र एवं अग्नि का और दोनों अश्विनीकुमारों का भरण-पोषण करती हूँ।[1] मैं सम्पूर्ण जगत् की ईश्वरी, उपासकों को धन देनेवाली, ब्रह्मरूप और भजन करने-योग्य देवों में प्रथमा (मुख्य) हूँ। मैं आत्मस्वरूप पर आकाशादि निर्माण करती हूँ। मेरा स्थान आत्मस्वरूप को धारण करनेवाली बुद्धिवृत्ति में है।[2] इस सूक्त में वर्णित

---

१. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि, अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणावुभौ बिभर्मि, अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ ॥१॥

२. अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ॥३॥
अहं सुवे पितरमस्यमूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ॥७॥
—ऋक्० १०।१२५।

वाक् शक्ति के प्रतीक रूप में यथार्थतः गृहीत की गई है। रात्रिसूक्त (ऋग् १०।१०।१२७ मन्त्र से ८ ऋचाएँ) में वर्णित 'रात्रि' भी शक्तिरूप में मानी जाती है। रात्रि देवी दो प्रकार की हैं—जीवरात्रि तथा ईश्वररात्रि। जीवरात्रि वही है, जिसमें प्रतिदिन जगत् के साधारण जीवों का व्यवहार लुप्त होता है। ईश्वर-रात्रि वह है, जिसमें ईश्वर के जगद्रूप व्यवहार का लोप होता है। इसीको कालरात्रि या प्रलयरात्रि कहते हैं। उस समय केवल ब्रह्म और उनकी मायाशक्ति, जिसे अव्यक्त प्रकृति कहते हैं, शेष रहती हैं। इसकी अधिष्ठात्री देवी 'भुवनेश्वरी' हैं।[1] रात्रिसूक्त के द्वारा उन्हीं का स्तवन किया जाता है। यह सूक्त शक्ति के चिद्रूप का प्रतिपादक है; क्योंकि यहाँ वर्णित है कि ये देवी अमर हैं और सम्पूर्ण विश्व को, नीचे फैलनेवाली लतादिकों को तथा ऊपर बढ़ने वाले वृक्षों को भी व्याप्त करके स्थित हैं; इतना ही नहीं, ये ज्ञानमयी ज्योति से जीवों के अज्ञान-अन्धकार का नाश कर देती हैं। उस रात्रिमयी चिच्छक्ति से प्रार्थना की गई है कि वह कृपाकर वासनामयी वृकी को तथा पापमय वृक को अपने साधकों से दूर भगा दे तथा काम आदि तस्कर-समुदाय को दूर हटा दे तथा वह अपने भक्तों के लिए सुखपूर्वक तरने योग्य हो जाओ—मोक्षदायिनी एवं कल्याणकारिणी बन जाय।[2]

इस रात्रिदेवी के विषय में वेद का स्पष्ट कथन है कि अमर्त्या मरणरहिता नित्या देवी देवनशीला चित्-शक्ति भुवनेश्वरी रात्रिदेवी विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को, सर्व प्रपंच को, प्रपंचगत नीच तरु-गुल्मादि तथा उच्च वृक्षादि सारे पदार्थों को स्व-स्वरूप प्रदान द्वारा आपूरण करती है; विश्व-प्रपंच को अपने अधिष्ठान में अपने से अभिन्न रूप से विद्यमान रहते हुए कल्पना करती है। जिस प्रकार रात्रि का अन्धकार सारे पदार्थों को आवृत कर रखता है, उसी प्रकार प्रलय-काल में भूतभौतिक सारा जगत् सर्वभूतनिवेशिनी रात्रिदेवी द्वारा आच्छादित हो जाता है। उसकी सर्वाधार गोद में उनसे अभिन्न रूप से विद्यमान रहता है। वेदोक्त कर्म द्वारा जिनकी चित्त-शुद्धि हुई है, भुवनेश्वरी रात्रिदेवी उनके तमः का—मूल अज्ञान का—स्व-स्वरूप चैतन्य द्वारा नाश किया करती है।[3] इस प्रकार वेद में रात्रि की कल्पना चित्-शक्ति के रूप में की गई है।

वेदों में बीज-रूप से संकेतित शक्तितत्त्व का उपबृंहण कालान्तर में नाना तन्त्रों किया गया। ये तन्त्र उपास्य देवता के प्राधान्य के कारण मुख्यतया तीन प्रकार के हैं। उपास्य को शक्तिरूप में माननेवाले शास्त्र या तन्त्र 'शाक्ततन्त्र' के नाम से अभिहित किये जाते हैं। उपास्य शक्तिमान् रूप से भी चिन्तित किया जाता है। ऐसी दशा में विष्णु को प्राधान्य देनेवाले तन्त्र या वैष्णवागम 'पञ्चरात्र' के नाम से अभिहित होते हैं तथा शिव के प्राधान्य पर आस्थावान् तन्त्र शैवतन्त्र या शैवागम के नाम से पुकारे जाते हैं। वैष्णवागम के अन्तर्गत

१. ब्रह्म मायात्मिका रात्रिः परमेशलयात्मिका
तदधिष्ठातृदेवी तु भुवनेश्वरी प्रकीर्त्तिता ॥ —देवीपुराण

२. यावया वृक्यं वृकं यवय स्तेनमूर्म्ये
अथा नः सुतरा भव ॥

३. ओर्वप्रा अमर्त्या निवतो देव्युद्वतः
ज्योतिषा बाधते तमः ॥

वैखानस-आगम भी पर्याप्त प्राचीन या कहीं तो प्राचीनतर स्वीकृत किया जाता है, परन्तु पंचरात्र के सर्वातिशायी प्रभाव के आगे प्राचीन होने पर भी वैखानस-आगम आज विस्मृत-प्राय हो गया है। पाञ्चरात्र की लगभग दो सौ संहिताओं का निर्देश डॉ० आदेर ने अपने अँगरेजी ग्रन्थ में किया है।[1] जिनमें अहिर्बुध्न्यसंहिता, जयाख्य संहिता, बृहत् ब्रह्म-संहिता, विष्णुसंहिता लक्ष्मीतन्त्र, पाद्मतन्त्र आदि मुख्य मानी जाती हैं।

शैवतन्त्र के प्राचीन ग्रन्थ आज वहुत-से उपलब्ध हैं; जिनके आधार पर कालान्तर में निर्मित दार्शनिक धाराएँ तीन भागों में विभक्त की गई हैं—तमिल देश का शैव-सिद्धान्त. जो द्वैत का प्रतिपादक है; पश्चिम भारत में वृंहित होनेवाला पाशुपत आगम तथा कश्मीर में उत्पन्न त्रिक या प्रत्यभिज्ञा दर्शन। त्रिकदर्शन के आविर्भाव का काल नवम -दशम शती है। पाशुपत आगम इससे प्राचीन है। शैवसिद्धान्त इन दोनों की अपेक्षा प्राचीनता में अधिक ही माना जाता है। पाञ्चरात्र संहिताओं के उदय का काल चतुर्थ शती के आस-पास माना जाता है। इन तीनों प्रकार के तन्त्रों में शक्तिवाद का प्रतिपादन हमें उप-लब्ध होता है और यह विकास समानान्तर रूप में ही माना जाना चाहिए। शक्ति के स्वरूप का विवरण प्रायः वहुत विभिन्न नहीं है। समानान्तर विकास होने से हम यह मानने को तैयार नहीं है कि पाञ्चरात्र संहिताओं में प्रतिपादित शक्ति-तत्त्व शैवदर्शन या शाक्तदर्शन के द्वारा प्रभावित या अनुप्राणित है। ऐसी दशा में वैष्णवधर्म को शक्ति-तत्त्व के परिबृंहण के निमित्त शैवधर्म का ऋणी तथा अधमर्ण मानना कथमपि तर्कसिद्ध नहीं कहा जा सकता। शक्तिवाद का स्वरूप तीनों तन्त्रों में वहुत कुछ आकारतः समान ही उप-लब्ध होता है। यहाँ इस तथ्य का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है, जिससे गौडीय मत में निर्दिष्ट राधा-तत्त्व की पृष्ठभूमि समझने में पाठकों को सुलभता प्राप्त हो।

पाञ्चरात्रमत : शक्ति-तत्त्व

श्रुतियों का स्पष्ट कथन है कि इस विश्व के आदि में एक ही परम पुरुष विद्यमान था। वह सद्रूप से भी था तथा असद्रूप से भी। सद्रूप का तात्पर्य है कि उसमें सत्ता, चैतन्य, आनन्द सभी प्रकार के गुणों की सम्भावनाएँ विद्यमान थीं। असद्रूप का आशय है कि उस समय कार्य का कोई रूप या सृष्टि-प्रपंच विद्यमान न था। ब्रह्म अन्तर्लीन विमर्श होकर वर्तमान था उसकी इच्छा हुई 'वहुस्यां प्रजायेय।' यहीं से शक्ति का स्फुरण होता है। ब्रह्म में विश्व की सिसृक्षा (सर्जन करने की इच्छा) रूपी जो संकल्प उदय लेता है, वही शक्ति के इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक रूप का जागरण है। शक्तियाँ अचिन्त्य होती हैं तथा पदार्थ से उनकी पृथक् स्थिति कथमपि चिन्तनीय नहीं होती। शक्तिमान् से अलग शक्ति के अवस्थान की कल्पना नितरां असम्भव है। स्वरूप में शक्ति का देखना कथमपि संभव नहीं है, कार्यों में ही उस शक्ति को देखा जा सकता है।[2] ब्रह्म की यह सर्वभावाभावानुगा शक्ति चन्द्रमा

१. द्रष्टव्यः डॉ० श्रादेर ऐन इण्ट्रोडक्शन टू द पांचरात्र संहिता (प्रकाशक, अड्यार लाइब्रेरी, अडयार, मद्रास)

२. शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या अपृथक् स्थिताः।
स्वरूपे नैव दृश्यन्ते दृश्यन्ते कार्यतस्तु ताः॥ —अहिर्बुध्न्यसंहिता, ३।२।

तथा उसकी ज्योत्स्ना के समान, सूर्य तथा उसकी रश्मियों के सदृश, अग्नि तथा उसके दाह के तरह, समुद्र तथा उसकी तरंगमाला के समान अभिन्न है।[१]

शक्ति के दो भेद स्वीकृत किये जाते हैं **पराशक्ति या समवायिनी शक्ति** तथा **मायाशक्ति या प्राकृतशक्ति**। इन दोनों के द्वारा उत्पन्न सृष्टि भी दो प्रकार की होती है—**शुद्ध सृष्टि और शुद्धेतर सृष्टि**। जिस प्रकार निस्तरंग प्रशान्त महासागर में प्रथम बुद्बुद उत्पन्न होने से उसमें क्षोभ उत्पन्न होता है और अशांति पैदा होती है, उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म में स्वातन्त्र्य शक्ति के उन्मेष से षड्गुणों का प्रथम आविर्भाव होता है। लक्ष्मी के इस प्राथमिक उदय का नाम है—गुणोन्मेष या शुद्धसृष्टि। प्रद्युम्न से आरम्भ कर स्थूल भूतों तक की सृष्टि शुद्धेतर सृष्टि कहलाती है। प्रथम सृष्टि में योगमाया (या पराशक्ति) की हेतुता स्वीकृत है, तो द्वितीय सृष्टि में माया (या प्राकृत शक्ति) की। पाञ्च-रात्र इस प्रकार दोनों शक्तियों को स्वीकार करता है। प्राकृत शक्ति के विषय में पाञ्चरात्र का मत सांख्यदर्शन के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है। सांख्यमत में प्रकृति जडात्मिका है और स्वतः जगत् के परिणाम करने में प्रवृत्त होती है, परन्तु पाञ्चरात्र-मत में प्रकृति चिद्रूप आत्मतत्त्व द्वारा छुरित होने पर ही चैतन्यमयी प्रतीत होती है और सृष्टिकार्य में संलग्न होती है। चुम्बक की सन्निधि में लोह के संचलन के समान, पुरुष के सन्निधान में ही प्रकृति में संचलन दृष्टिगोचर होता है, स्वतः नहीं। इस प्रकार, इस वैष्णव तन्त्र में सांख्य से पृथक्ता स्पष्ट है।[२] यह सिद्धान्त गीता को भी मान्य है।[३] फलतः, हम कह सकते हैं कि इस विषय में गीता पाञ्चरात्र-मत का आश्रयण करती है, सांख्यमत का नहीं।

श्री रामानुजमत : लक्ष्मीतत्व

श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय में शक्तिरूपा लक्ष्मी के स्वरूप का विवेचन बड़े विस्तार से किया गया है। लक्ष्मी मातृरूपा है। फलतः, नारायण की जीव के प्रति कृपा का उद्रेक कराने में लक्ष्मी ही साधनाभूता है। लक्ष्मी के इस स्नेह-प्रीति-जनित कृपावैभव को 'पुरुषकार' वैभव कहा गया है और नारायण के इस प्रकार के वैभव को 'उपाय' वैभव कहते हैं।[४] लक्ष्मीपति-

१. सूर्यस्य रश्मयो यद्वत् ऊर्मयश्चाम्बुधेरिव।
सर्वैश्वर्यप्रभावेण कमला श्रीपतेस्तथा॥
—जयाख्यसंहिता, ६।७८।

२. चिद्रूपमात्मतत्त्वं यदभिन्नं भाति ब्रह्मणि स्थितम्।
तेनैतच्छुरितं भाति अचित्चिन्मयवद् द्विज॥
यथायस्कान्तमणिना लोहस्याधिष्ठितं तु वै।
दृश्यते वलमानं तु तद्वदेव मयोदितम्॥
—जयाख्यसंहिता, पृ० २७।

३. मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते॥ —गीता ९।१०।

४. लोकाचार्य के 'श्रीवचनभूषण' तथा वरवरमुनि कृत उसकी व्याख्या में इस तत्व का विस्तार से विवेचन उपन्यस्त है। विशेष के लिए इन ग्रन्थों की समीक्षा अत्यन्त आवश्यक है।

भगवान् अपनी प्राप्ति में स्वयं उपायरूप हैं और उनकी प्राप्ति में योग करानेवाली, घटक का कार्य करनेवाली लक्ष्मी जी 'पुरुषकार' रूपा हैं। वही जीवों के अपराध के क्षमापन के लिए नारायण से सन्तत प्रार्थना किया करती हैं। लक्ष्मी मातृरूपा होने से उनका हृदय समधिक आर्द्र तथा कोमल होता है और सन्तान-रूपी जीव के सन्ताप को देखकर वे स्वतः दयार्द्र हो उठती हैं। भट्टार्यस्वामी ने निम्नलिखित पद्य में अपराध-क्षमापन के निमित्त साधक की मनःस्थिति का विशद विवेचन किया है। वह कहता है—माता, यदि आपके प्रियतम नारायण अपराधी जीव के ऊपर कभी क्रुद्ध हों, तो आप उसकी ओर से जरूर पैरवी करती हैं कि भगवान् आप क्रुद्ध क्यों होते हैं ? इस विशाल संसार में क्या कोई भी व्यक्ति निर्दोष हो सकता है ? नहीं, कभी नहीं। तब इस बालक को अपराधी समझकर कोप क्यों ? इस प्रकार, भगवान् को समझा-बुझाकर आप उन्हें जीवों के प्रति दयार्द्र बनाती हैं। उचित ही है ऐसा शोभन व्यवहार आप जैसी विश्व-जननी का। लक्ष्मी के 'पुरुषकारत्व' की यह बड़ी शोभन व्याख्या है—

पितेव त्वत्-प्रेयान् जननि ! परिपूर्णागसि जने
हितस्रोतोवृत्या भवति च कदाचित् कलुषधीः।
किमेतत् निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितै
रुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः॥

—भट्टार्यस्वामी : गुणरत्नकोष

जीव से ईश्वर तथा लक्ष्मी का सम्बन्ध समान होने पर क्या कारण है कि जीव ईश्वर का आश्रयण करने के पहले लक्ष्मी का आश्रयण करता है ? इसकी मीमांसा में लोकाचार्य का कथन है कि ईश्वर निग्रहानुग्रह दोनों के ही कर्त्ता हैं; परन्तु लक्ष्मी अनुग्रहैकस्वभावा ही हैं; इसलिए लक्ष्मी-कृपा ईश्वरकृपा से श्रेष्ठ होती है। तथ्य यह है कि भगवान् के शरण में जाना साधक की एक क्रिया है और उस क्रिया की समाप्ति होने पर ही वह भगवान् की कृपा पाने का अधिकारी होता है। परन्तु, लक्ष्मी के लिए इस क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। वह किसी क्रिया की अपेक्षा नहीं करती। मृदुलचित्ता लक्ष्मी अपराधी जीवों को हरिशरणागति का अधिकारी न देखकर भी उनके कल्याणार्थ भगवान् से पैरवी करती ह अपनी ओर से स्वतः (पुरुषकार)। वह तो सामान्य प्रणाम से ही प्रसन्न होकर जीवों का मनोरथ पूर्ण कर देती हैं; इस तथ्य का प्रतिपादन महर्षि वाल्मीकि ने भी अपनी रामायण में सुन्दरकाण्ड में किया है—

प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा।
अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात्॥

गोस्वामी तुलसीदास ने भी जानकीजी के इस कार्य की ओर अपनी 'विनयपत्रिका' में स्पष्ट निर्देश किया है—

कबहुंक अंब अवसर पाइ
मोरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन-कथा चलाइ।
दीन सब अँगहीन छीन-मलीन अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ॥

बूझि हैं 'सो है कौन ?' कहिबीं नाम दसा जनाइ।
सुनत रामकृपाल के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ॥
जानकी जगजननि ! जन की किए बचन सहाइ।
तरै 'तुलसीदास' भव तव नाथ-गुन-गन गाइ ॥
(विनयपत्रिका, पद ४१)

गुणरत्नकोष से ऊपर उद्धृत पद्य तथा विनयपत्रिका का यह पद-दोनों का एक ही तात्पर्य है श्रीजानकीजी का पुरुषकारत्व। 'सीता' नाम की व्युत्पत्ति भी इसी तात्पर्य को दृढ करती है। 'सीता' उसे ही कहते हैं, जो अपनी चेष्टा से भगवान् को वश में करती है— सिनोति वशं करोति स्वचेष्टया भगवन्तं सा सीता। अर्थात् अपनी चेष्टा से भगवान् को वश में करने वाली होने के हेतु ही जनकनन्दिनी जानकी 'सीता' नाम से पुकारी जाती हैं। भगवान् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होते हैं। इन्हीं गुणों के कारण वे जीवों के अपराधों को झटिति जान लेते हैं और उसे दण्ड देने के निमित्त तुरन्त उद्यत हो जाते हैं; परन्तु सीताजी अपने स्वाभाविक कारुण्यभाव से जीवों की ओर से इतना पुरुषकार करती हैं कि भगवान् के दोनों गुण-सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता-निरुद्यम हो जाते हैं। और भगवान् का सहज गुण, कृपालुता, प्रकट हो जाता है। भगवान् सोचते हैं कि समग्र प्राणियों की रक्षा करने में मैं ही समर्थ हूँ। इस प्रकार अपने सामर्थ्य के अनुसन्धान को भगवान् की 'कृपा' कहते हैं—

रक्षणे सर्वभूतानामहेमव परो विभुः।
इति सामर्थ्यसन्धाना कृपा सा पारमेश्वरी ॥

कृपा का निवास हृदय है; सर्वज्ञता का निवास मस्तिष्क है तथा सर्वशक्तिमत्ता का निवासस्थल बाहु है। समीपवर्त्तिनी होने से कृपादेवी हृदयस्थ भगवान् के ऊपर शीघ्रता से प्रभाव डालती है। अन्य दोनों शक्तियों के दूरवर्त्तिनी होने से उनका उतना प्रभाव नहीं होता।

इस प्रकार, ईश्वर तथा जीव का मध्यस्थ्य लक्ष्मीदेवी करती हैं। लोकाचार्य का कहना है कि संश्लेष-दशा में लक्ष्मी ईश्वर को वशीभूत करती हैं और विश्लेष-दशा में जीव को वशीभूत करती हैं। स्नेह और प्रेम के उपदेश द्वारा ही वे दोनों को वश में करती हैं। उपदेश के द्वारा काम न चलने पर वे चेतन जीव को कृपा द्वारा और ईश्वर को सौन्दर्य द्वारा वशीभूत करती हैं। नारद पाञ्चरात्र का यह कथन इसी शैली में किया गया है—

अहं मत्प्राप्त्युपायो वै साक्षात् लक्ष्मीपतिः स्वयम्।
लक्ष्मीः पुरुषकारेण वल्लभा प्राप्तियोगिनी ॥

काश्मीर शवदर्शन : शक्तितत्त्व

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार मूलभूत परमतत्त्व 'परमशिव' के नाम से अभिहित किया जाता है। परमेश्वर ज्ञानक्रियामय होने के कारण 'प्रकाशविमर्शमय' माना गया है—

परमेश्वरो हि ज्ञानक्रिया स्वरूपतया प्रकाश-विमर्शमयः।[1]

---

१. परिमल, अनन्तशयन संस्करण, सू० ३२।

यहाँ प्रकाश से तात्पर्य समस्त प्रकाशों की भित्ति या आधार से है दर्पण की भाँति। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिविम्वित समस्त प्रतिविम्वों का आधार दर्पण है, उसी प्रकार परमेश्वर का प्रकाश भी उसके समस्त आभासों का आश्रय है। दर्पण का यह दृष्टान्त विल्कुल ठीक नहीं है। दर्पण को प्रतिविम्वों का आधार वनने के लिए वाहरी प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु परमशिव के प्रकाश को किसी वाहरी उपकरण की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वयं प्रकाशित है और इसीलिए उसे 'स्वात्ममात्रविश्रान्त' कहते हैं। यह अनन्यमुखप्रेक्षी होता है, अर्थात् अपने लिए किसीके ऊपर आश्रित नहीं रहता। दर्पण में बाह्य-स्थित ग्राम, नगर आदि पदार्थों का प्रकाशनमात्र होता है; वह उन विम्वों का निर्माता नहीं होता। परन्तु स्वात्मप्रकाश स्वात्मभित्ति पर अभेदरूप से प्रकट करता हुआ विश्वरूप से अवभासित होता है। विश्व का यही निर्भासन परमशिव का निर्माणकार्य है।

शैवदर्शन शिव को विमर्शमय भी मानता है, जिससे वह वेदान्त के जड़ ब्रह्म तथा सांख्य के निष्क्रिय पुरुष से सर्वथा भिन्न सिद्ध होता है। आत्मतत्त्व को यदि विमर्शमय नहीं माना जायगा, तो वह स्फटिक के समान जड़ ही सिद्ध होगा। महेश्वरानन्द का स्पष्ट कथन है—विमर्शाख्यः इति यः कश्चित् स्वभावतया स्वीकर्त्तव्यः; अन्यथा दर्पणादि प्रकाशवत् अस्य जाड्यकक्ष्यानुप्रवेश प्रसंगः (परिमल कारिका ३२)। फलतः विमर्श एक विशिष्ट शक्ति है, परन्तु कैसी शक्ति है ? विमर्शो हि परमपि आत्मी करोति, आत्मानं च परीकरोति, उभ यमपि एकीकरोति, एकीकृतमपि द्वयं न्यग्भावयति।[१] अर्थात् परमशिव में रहने वाला विमर्श वह शक्ति है जो पर को भी आत्मरूप कर देती है, आत्मा को भी पररूप देती है, आत्मा तथा पर को एक कर देती है तथा एकीकृत इन दोनों को अलग-अलग कर देती है। इसकी सत्ता से ही परमशिव में क्रियातत्त्व का उदय होता है, जिससे वह ज्ञान तथा क्रिया दोनों का समुच्चय सिद्ध होता है। इसी विमर्श के द्वारा परमशिव अन्तःस्थित पदार्थों का अवभासन करता है, तथा विमर्श से ही वह समस्त अवभासित पदार्थों को अपने में पुनः विलीन कर लेता है। महेश्वरानन्द ने भी इस विमर्शशक्ति को विश्व को उल्लसित करनेवाली वतलाया है—

सर्वस्य भुवनविभ्रम-मन्त्रोल्लासस्य तन्तुवल्लीव
विमर्श-संरम्भमयी उज्जृम्भते शंभोर्महाशक्तिः[२]॥

'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' में इसको 'महासत्ता' नाम से कहा गया है और यह परमेश्वर का हृदय मानी गई है—

सा स्फुरता महासत्ता देशकालाविशेषिणी
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेशितुः॥[३]

यह विमर्श परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति का ही अपरनाम है। जिस प्रकार योगी अपनी अलौकिक शक्ति के द्वारा ही वाहरी उपकरणों के अभाव में नाना प्रकार का निर्माण

१. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी १,२५२
२. महार्थमञ्जरी गाथा २६ (अनन्तशयन संस्करण)
३. ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका १।५।१५

करता है, परमेश्वर भी उसी प्रकार इस विमर्श के द्वारा अन्तःस्थित भावपदार्थों को बाहर अभिव्यक्त किया करता है। "वह चिदात्मा देव ही अन्तःस्थित भाव-वस्तुओं को अपनी इच्छा से बाहर प्रकट करता है बिना किसी उपादान या कारण सामग्री की सहायता से-योगी के समान।" लोक में योगी अपनी विलक्षण शक्ति के बल पर बिना किसी कारण के ही नाना पदार्थों की अभिव्यक्ति हमारे सामने किया करता है। परमेश्वर के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। उत्पलाचार्य का कथन है—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद् बहिः
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशते।[1]

परमशिव 'स्वतन्त्र' होता है और स्वतन्त्र का अर्थ है कर्ता होना "स्वतन्त्रः कर्ता।" परमेश्वर की स्वतन्त्रता का अर्थ यही है कि वह किसी भी रूप में प्रकट होने के लिए अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। उसकी स्वतन्त्रता का संकेत करते हुए शैवाचार्य वसुगुप्त का यह कथन कितना युक्तियुक्त है—

निरुपादान संभारमभित्तावेव तन्वयते
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने॥

श्लोक के तात्पर्य को समझने के लिए चित्रकर्म का दृष्टान्त भलीभाँति ध्यान में रखना चाहिए। चित्रकर्म के लिए तीन वस्तुओं की आवश्यकता होती है—कर्ता (चित्रकार), भित्ति (आधार जिस पर चित्र बनाया जाता है) तथा उपादान सामग्री, (जो चित्र के बनाने में काम आती है)। इन तीनों की उपस्थिति के अभाव में लोक में कोई भी चित्र तैयार नहीं हो सकता, परन्तु कलाओं के नाथ भगवान् परमशिव की लीला विचित्र है जो संसाररूपी इस विशाल चित्र को बिना किसी आधार के और बिना किसी उपकरण के ही निर्माण करते हैं। इस कार्य में उनकी स्वातन्त्र्यशक्ति ही जागरूक रहती है। अपनी इच्छा से अपने ही आधार पर परमेश्वर विश्व का उन्मीलन करते हैं। यहाँ कर्ता भी वे ही परमेश्वर हैं, भित्ति भी वहीं हैं तथा उपादान भी वही हैं। फलतः यह सब विश्व परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति का ही विलास है—

स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।
—क्षेमराज : प्रत्यभिज्ञाहृदय, सूत्र २

इस 'स्वातन्त्र्य' को ही आनन्दशक्ति कहते हैं। आनन्द का आविर्भाव वहीं होता है जहाँ किसी प्रकार का प्रतिबन्ध या रुकावट नहीं होती। इस प्रकार विमर्श, स्वातन्त्र्य तथा आनन्द एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न पर्याय हैं। परमेश्वर इस प्रकार प्रकाश-विमर्शमय होता है। जब उसके हृदय में विश्व की सिसृक्षा होती है, तब उसके दो रूप हो जाते हैं—शिवरूप तथा शक्तिरूप। इसमें शिव प्रकाश है तथा शक्ति विमर्शमय। 'विमर्श' का अर्थ है पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति। इसे एक दृष्टान्त के सहारे समझा जा सकता है। मधु में मिठास है, परन्तु वह स्वयं अपने मिठास का स्वाद नहीं ले सकता। मद्य में मादकता है, परन्तु उसे उसका ज्ञान नहीं। शिव चिद्रूप है, परन्तु अचेतन है। उसे अपने चैतन्य के ज्ञान के निमित्त विमर्श की नितान्त आवश्यकता है। शिव में चेतनता का ज्ञान शक्ति के कारण ही

१. तत्रैव १।५।७

होता है। बिना शक्ति के शिव शव है (मृतक है; शक्तिहीन है) इस विषय में शंकराचार्य का यह कथन विशेष प्रख्यात है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि[1]॥

आशय है कि शिव यदि शक्ति से युक्त होते हैं, तभी वह विश्व-उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। यदि ऐसा नहीं हो, तो वह स्पन्दन करने में भी समर्थ नहीं होते। तांत्रिक रहस्य है कि 'इ' शक्ति का बीज है। इसे युक्त होने पर ही शिव में शिवत्व है—कल्याण करने की क्षमता है। 'इ' के अभाव में शिव 'शव' हो जाता है। फलतः शिव में, परमेश्वर में सामर्थ्य का निधान है स्वयं शक्ति।

सा जयति शक्तिराधा निजसुखमय-नित्य-निरुपमाकारा।
भावि चराचर बीजं शिवरूप-विमर्श-निर्मलादर्शः॥

इस श्लोक में 'निजसुखमय' शब्द का अर्थ है शिवसुखमय अर्थात् शिव की सुखरूपिणी। यह शक्ति सृष्टि का कारणभूत है अर्थात् भविष्य में उत्पन्न होनेवाले चर और अचर दोनों की बीजरूपिणी है। वह शिवरूप विमर्श के लिए निर्मल आदर्श है। 'शिवरूप-विमर्श' का अर्थ है 'मैं ऐसा हूँ' ऐसा जो शिव का ज्ञान होता है उसका विमर्श या स्फुरण। यह विमर्श की कारणरुपा ही शक्ति है। तात्पर्य यह है कि शक्ति ही शिवरूप का निर्मल आदर्श (दर्पण) है। इस शक्ति के द्वारा ही शिव अपने रूप को जानने में समर्थ होते हैं।

"पुण्यानन्द ने 'कामकला विलास' में आद्याशक्ति को 'शिवरूप-विमर्श-निर्मलादर्शः' कह कर उसके स्वरूप का सुन्दर परिचय दिया है। जिस प्रकार कोई राजा निर्मल दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर अपने सुन्दर मुख का ज्ञान प्राप्त करता है, उसी प्रकार शिव भी स्वाधीनभूता स्वात्मशक्ति को देखकर अपने परिपूर्ण 'अहन्ता' और प्रकाशमय रूप को जानता है। अतः प्रकाश विमर्शात्मक होता है अथच विमर्श प्रकाशात्मक होता है। एक की सत्ता दूसरे पर आश्रित होती है। अतः शिव न तो शक्ति से विरहित रह सकते हैं और न शक्ति शिव से। शिव-शक्ति के सामंजस्य के विषय में आगम का स्पष्ट कथन है—

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः
नानयोरन्तरं किञ्चित् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥

"आगम में शिव तथा शक्ति की अभेद कल्पना सर्वथा मान्य है। इन दोनों का अभेद उसी भाँति बनता है जिस भाँति चन्द्रिका तथा चन्द्र का नित्य योग। चन्द्रमा न तो अपनी चाँदनी को छोड़कर एक क्षण टिक सकता है, और न चाँदनी चन्द्रमा के बिना रह सकती है। दोनों अद्वैत रूप में सदा एक संग रहते हैं। शिव तथा शक्ति का भी यही नियम है। काश्मीर के प्रख्यात शैवाचार्य 'सोमानन्द' को यह मत पूर्णतया

---

१. सौन्दर्य लहरी श्लोक प्रथम। इसके विशिष्ट अर्थ के लिए द्रष्टव्य-लक्ष्मीधर की टीका (मद्रास सं० १९५९)

मान्य है। शक्ति से सम्पन्न शिव ही अपनी इच्छा से पदार्थ का निर्माण करता है। शक्ति तथा शिव में भेद की कल्पना कथमपि नहीं की जा सकती––

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी
शिवः शक्तस्तथा भावान् इच्छया कर्तुमीहते
शक्ति-शक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ॥
––सोमानन्द : शिवदृष्टि ३।२।३"

परमशिव में प्रमातृत्व, ज्ञातृत्व तथा भोक्तृत्व जो कुछ विद्यमान है वह सब कुछ शक्ति का अवलम्बन कर ही सम्पन्न होता है। इसलिए शक्ति केवल ज्ञानरूपिणी अथवा क्रिया-रूपिणी ही नहीं होती, प्रत्युत आनन्दरूपिणी भी है :––

आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतो विश्वंविसृज्यते। ––तन्त्रालोक ३।६७

परमशिव की पराशक्ति ही आनन्दमयी है, मायाशक्ति या प्राकृतशक्ति आनन्दमयी नहीं होती। पराशक्ति सूक्ष्मव्यापिनी, निर्मला, कल्याणकारिणी परानन्द तथा अमृतात्मिका होने के साथ-साथ शक्तिचक्र की जननी है।[1] यह आनन्दमयी शक्ति ही महामाया है जो माया के ऊपर विद्यमान रहती है[2]

इस आनन्दरूपिणी पराशक्ति को शिव की स्वरूपशक्ति कह सकते हैं। इसके साथ परमशिव अविनाभाव से सम्बद्ध होकर अवस्थान करते हैं। इसीलिए इसे 'समवायिनी शक्ति' कहा गया है। परमशिव जब विश्व की सृष्टि के लिए उद्यत होते हैं तब यही शक्ति क्रियाशील होती है। इस समवायिनीशक्ति से ही शिव का साक्षात् सम्बन्ध है; इसीलिए वे इसी शक्ति के ऊपर अनुग्रह करते हैं। मायाशक्ति या प्राकृतशक्ति परमेश्वर की समवा-यिनीशक्ति से उत्पन्न होती है। इसलिए उसे शक्तियों की शक्ति और गुणों का गुण कहा जाता है। माया शक्ति का परमेश्वर से साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता।

त्रिक दर्शन के अनुसार शक्ति का यह सामान्यरूप निर्दिष्ट किया गया है पाञ्चरात्रसंहिता के अनुसार उसका स्वरूप इससे नितान्त भिन्न नहीं है। पाञ्चरात्र विष्णु की स्वरूपभूता शक्ति (या समवायिनी शक्ति) पराशक्ति के नाम से तथा उनकी गुणात्मिका मायारूपिणी शक्ति 'प्राकृतशक्ति' के अभिधान से प्रसिद्ध है। त्रिकदर्शन में समवायिनीशक्ति और परिग्रहाशक्ति का भेद स्वीकार किया गया है, वैसा ही भेद पुराणों ने भी विष्णुशक्ति के वर्णन के अवसर पर प्रस्तुत किया है।

पुरुषोत्तम भगवान् की शक्ति दो रूपों में कीर्तित की गई है––गुणातीता शक्ति तथा गुणाश्रया शक्ति। इनमें से प्रथम शक्ति मन-वाणी से परे और अगोचर है, केवल ज्ञानियों के द्वारा ही वह परिच्छेद्या है, वह परमेश्वरकी स्वरूपभूता पराशक्ति है। गुणाश्रया शक्ति अपराशक्ति है। पराशक्ति से युक्त ब्रह्म ही अमूर्त अक्षर-ब्रह्म है; अपरा गुणाश्रया शक्ति से सम्पन्न वही

---

१. या सा शक्तिः परा सूक्ष्मा व्यापिनी निर्मला शिवा
शक्तिचक्रस्य जननी परानन्दामृतात्मिका ॥ ––शिवसूत्र वार्तिक

२. मायोपरि महामाया त्रिकोणानन्दरूपिणी ॥
––कुब्जिकातन्त्र का वचन, परात्रिंशिका में उद्धृत।

ब्रह्म ब्रह्माण्डरूप में विलसित होकर क्षरब्रह्म की संज्ञा पाता है। विष्णुपुराण में विष्णुशक्ति के तीन प्रकार बतलाये गये हैं—(१) परा, (२) क्षेत्रज्ञरूपा अपरा शक्ति तथा (३) कर्मसंज्ञा अविद्या शक्ति [1]। क्षेत्रज्ञाख्या शक्ति ही जीवरूपा शक्ति है—जो अविद्याशक्ति के कारण जगत् में अखिल संतापों को भोगती है। विष्णु का जो 'विशुद्ध सत्' रूप है वही उनकी पराशक्ति है। वही मूलशक्ति के नाम से भी अभिहित होती है, क्योंकि सर्वशक्तियों का उद्गम उसीसे होता है। उसीके भीतर सारी शक्तियों की मूलशक्ति निहित होती है। इसी विष्णुशक्ति को ह्लादिनी, सन्धिनी तथा संवित्रूप से तीन प्रकार माना गया है। [2]

प्राचीन शक्तिवाद का यह एक संक्षिप्त विवरण ऊपर प्रस्तुत किया गया है। गौडीय मत में प्रतिपादित राधातत्त्व की इससे तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह राधा वाद प्राचीन शक्तिवाद की परम्परा में ही विकसित होनेवाला एक दार्शनिक वैष्णवतत्त्व है, इस परम्परा से बहिर्भूत होकर परिबृंहण पानेवाला कोई तत्त्व नहीं है। इस निष्कर्ष को अब यहाँ संक्षेप में समझाने का उद्योग किया जा रहा है।

राधातत्त्व के विश्लेषण करने पर कई तथ्य स्पष्ट होते हैं—(१) भगवान् की अचिन्त्य अनन्त शक्तियों में तीन शक्तियाँ प्रधान होती हैं—(क) स्वरूपशक्ति, (ख) जीवशक्ति तथा (ग) मायाशक्ति। इनमें अन्तिम दो प्राकृत हैं तथा प्रथम शक्ति अप्राकृत है।

(२) त्रिविध-रूपा स्वरूप-शक्ति की सारभूता शक्ति है ह्लादिनी शक्ति। इस शक्ति का सार है प्रेम, प्रेम का सार है भाव, भाव का सार महाभाव और राधा स्वयं महाभावरूपिणी है।

(३) ह्लादिनी शक्ति-विग्रहा श्री राधा के साथ ही भगवान् नित्यवृन्दावन में नित्यलीला किया करते हैं।

(४) राधा भगवान् तथा भक्तों के बीच मध्यस्थता करती हैं। वे ईश्वर कोटि तथा जीव कोटि दोनों कोटियों में रस रूप तथा भक्ति रूप से अपने कार्य का विस्तार करती हैं। वे एक ओर तो व्रजनन्दन श्रीकृष्ण के आनन्द की विस्तारिणी हैं, तो दूसरी ओर भक्तों के ऊपर भगवान् की करुणा को प्रवाहित करने में भी कारण बनती हैं।

(५) राधा को पाकर ही श्रीकृष्ण अपने यथार्थ स्वरूप की अनुभूति करते हैं। श्रीकृष्ण को आत्मस्वरूप की उपलब्धि के लिए राधा ही कारणभूत हैं।

इन तथ्यों की प्राचीन शक्तिवाद से तुलना करने पर किसी भी आलोचना को अपरोक्ष न होगा कि प्राचीन तंत्रों में व्याख्यात शक्तिवाद के विकीर्ण तथ्य ही एकत्र कर नवीन रूप में राधावाद में प्रस्तुत किये गये हैं।

(१) तन्त्रों में शक्ति को द्विविध रूप में उल्लिखित पाते हैं। पञ्चरात्र में शक्ति के दो प्रकार वर्णित हैं—पराशक्ति तथा मायाशक्ति। त्रिकदर्शन में भी शक्ति के

---

१. विष्णु शक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा
अविद्या-कर्म-संज्ञाख्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥ वि० पु० ६।७।६१

२. ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्व संस्थितौ। वि० पु० १।१२।६९

इसी प्रकार दो भेद हैं—समवायिनी शक्ति तथा परिग्रहा शक्ति। इनमें से पराशक्ति अथवा समवायिनी शक्ति से भगवान् का साक्षात् सम्बन्ध होता है, सृष्टिव्यापार में उसका किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रहता। यही परा या समवायिनी शक्ति गौडीय वैष्णवों की 'स्वरूप शक्ति' है। गौडीय वैष्णवों की त्रिविध शक्ति की कल्पना विष्णु-पुराण के द्वारा व्याख्यात शक्तिवाद के आधार पर है जहाँ स्वरूपशक्ति तथा जड़-माया शक्ति के बीच जीवभूता क्षेत्रज्ञाख्या शक्ति का निर्देश है। यही जीवशक्ति ही गौडीय मत में तटस्थाशक्ति के रूप में गृहीत की गई है।

(२) शक्ति का अपर नाम है स्वातन्त्र्य शक्ति। 'स्वातन्त्र्य' ही आनन्द का बोधक है। इच्छा का विघात न होना ही तो 'स्वातन्त्र्य' का रूप है और जहाँ इच्छा के विघात का अभाव रहता है वहीं आनन्द का उद्रेक होता है। इसलिए तीनों तन्त्रों में शक्ति आनन्दरूपा मानी गई है। काश्मीर शैवदर्शन में पञ्चतनु शिव की एक विशिष्ट शक्ति ही मानी जाती है—आनन्द शक्ति। अन्य तन्त्रों में एक पृथक् शक्ति के रूप में आनन्द शक्ति की स्वीकृति भले ही न हो, परन्तु शक्ति के स्वरूप में आनन्दमयत्व की सत्ता प्रायः सर्वत्र स्वीकृत की गई है। राधा भगवान् श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति का विलास है। अतएव राधा का आह्लादिनी रूप में अंगीकार करना सर्वथा न्याय्य तथा उचित है।

(३) गौडीय मत की पूर्ण प्रतिष्ठा लीलावाद के ऊपर की गई है। अन्य वैष्णवमतों में भी लीलावाद की चर्चा है। 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' सूत्र (ब्रह्मसूत्र २।१।३३) के भाष्य में इन वैष्णव आचार्यों के मत उपन्यस्त किये गये हैं। इन वैष्णव मतों में तथा गौडीयमत में एक अन्तर लक्षित होता है। यह विश्वरचना ही आप्तकाम भगवान् की लीला है। विश्व की रचना, पालन तथा संहार—यह सब कुल भगवान् की लीला है, परन्तु गौडीयमत में भगवान् की स्वरूपशक्ति के साथ क्रीडा भी लीला के ही अन्तर्गत है। वे अपनी स्वरूप शक्ति के साथ नित्यलीला में व्यापृत रहते हैं। शक्ति तथा शक्तिमान् के साथ नित्य सम्बन्ध होने से यह लीला भी नित्य निरन्तर चलती रहती है। भगवान् के साथ सम्बद्ध सब वस्तुएं नित्य होती हैं। लीला की नित्यता के साथ वृन्दावनधाम की भी नित्यता है। उनकी लीला नित्य है; उनके परिकर नित्य हैं; उनका धाम नित्य है। फलतः स्वरूप शक्तिभूता राधारानी के साथ भगवान् श्रीकृष्ण की नित्यलीला नित्य वृन्दावन में नित्यकाल तक होती है; इसमें तनिक भी व्यवच्छेद नहीं होता।

(४) शक्तिमान् पितारूप से तथा शक्ति मातारूप से परिगृहीत होती है। इस परिग्रहण के भीतर से शक्ति का एक विचित्र रूप स्फुरित होता है माध्यस्थ्य का। शक्ति के इस स्वरूप को समझाने के लिए वैष्णव आचार्यों ने आदर्श गृहिणी का दृष्टान्त उपस्थित किया है। आदर्श गृहिणी पति और पुत्र दोनों के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करती है। वह पुत्र को पिता के प्रति भक्तिभावना उत्पन्न कर उन्मुख करती है। साथ-ही-साथ पतिप्राणा, पति की प्रियतमा होकर भी वह पुत्र के प्रति करुणा का स्रोत जाग्रत करने के लिए सन्तत उद्योगशील रहती है। एक प्रख्यात वैष्णव आचार्य भट्टार्यस्वामी का बड़ा सुन्दर कथन है लक्ष्मीजी के प्रति। जग-न्नियन्ता महाविष्णु विश्व के साम्राज्यकार्य में इतने निमग्न रहते हैं कि मुझ जैसे दीन प्रजा की

प्रार्थना उन्हें स्पर्श नहीं करती; प्रार्थना सुन कर भी अपनी व्यस्तता के कारण वे अन्य-मनस्क और उदास प्रतीत होते हैं। तब पुत्रवत्सला लक्ष्मी जी आप मेरी सुध उन्हें दिलाया करना। और मेरी दीनता, हीनता तथा विवशता की बात उनके कानों में डाल कर मेरे प्रति उनकी दया के स्रोतं को उद्रिक्त करना। गोस्वामी तुलसीदास का एतद् विषयक मत ऊपर उद्धृत किया है (दृष्टव्य भागवत सम्प्रदाय का अन्तिम अध्याय)।

(५) सचमुच राधा के द्वार पर ही श्रीकृष्ण को अपने स्वरूप की यथार्थ उपलब्धि होती है। शक्ति ही शक्तिमान् की आत्मोपलब्धि का मुख्य साधन है। शक्ति के द्वारा ही शक्तिमान् आत्मोपलब्धि करता है—यह सिद्धान्त तन्त्रों में विश्रुत है। शिव में शिवत्व का अस्तित्व शक्ति के कारण ही है। शक्ति के अभाव में शिव शव हो जाता है—एकदम निर्वीर्य, निःशक्त तथा चैतन्यहीन; इस तथ्य का उल्लेख तन्त्रों में तथा शंकराचार्य की सौन्दर्यलहरी में (श्लोक १) बहुशः किया गया है। कामकलाविलास ने शक्ति को 'निज रूप निर्मलादर्शः' कह कर इसी तथ्य का परिस्फुटन किया है। आदर्श से—दर्पण से ही द्रष्टा को अपने रूप का ज्ञान होता है; इस साधन के अभाव में वह अपने रूप को कथमपि जान ही नहीं सकता। मधु में मिठास है; परन्तु मधु को जिस प्रकार इसका पता नहीं चलता, उसी प्रकार राधा के बिना व्रजनन्दन को अपने अलौकिक सौन्दर्य का, अनुपम माधुर्य का, अलोक-सामान्य प्रेम का किंचिन्मात्र भी परिचय नहीं मिलता। राधा को पाकर ही कृष्ण कृतार्थ तथा सम्पूर्ण होते हैं। निर्मल आदर्श में ही द्रष्टा का मुख विशुद्ध रूप से प्रतिफलित होता है, ठीक उसी प्रकार विशुद्ध प्रेम की प्रतिमा राधा के सान्निध्य में ही श्रीकृष्ण को अपना यथार्थतः ज्ञान होता है। इस प्रकार गौडीय राधातत्त्व का यह तथ्य भी शक्तितत्त्व के मान्य सिद्धान्त पर ही आश्रित है। शक्ति शिव की समस्त-कामों को, समग्र इच्छाओं को, पूर्ण करती है। इसलिए शक्तितन्त्रों में वह 'कामेश्वरी, की संज्ञा पाती है। गौडीय मत में भी राधा-कृष्ण कामेश्वरी-कामेश्वर के रूप में उल्लसित होते हैं।

त्रिपुरामत तथा चैतन्यमत

शास्त्र का सिद्धान्त है कि सौन्दर्यमयी मूल वस्तु न पुरुष है और न प्रकृति है, परन्तु दोनों का अभेदात्मक सामरस्य है। जगत् में जितना सौन्दर्य है, वह उस पूर्ण सौन्दर्य के कणमात्र विकास के कारण है। वह उसी की विभूतिमात्र है; उसीकी छायामात्र है। वह एक पूर्ण सौन्दर्य ही मानों अकेला न रह सकने के कारण काल के ऊपर महाकाल के ऊर्ध्व देश में प्रस्फुटित हो पड़ा है। वही जगत् में खण्डसौन्दर्यमय होकर विकसित होता है। अथवा वह मानों अपने ही में अपने स्वरूप के प्रतिविम्ब को अपने आप ही देखता है। यह प्रतिविम्ब ही विश्व है। यह सिद्धान्त तन्त्रों के भीतर विद्यमान है। नटनानन्द चिद्वल्ली या कामवल्ली की टीका में कहते हैं कि जिस प्रकार कोई अति सुन्दर राजा अपने सामने के दर्पण में अपने ही प्रतिविम्ब को देख कर उस प्रतिविम्ब को 'मैं' समझता है, परमेश्वर भी उसी प्रकार अपने ही अधीन आत्मशक्ति को देख 'मैं पूर्ण हूँ' इस प्रकार आत्मस्वरूप को जानते हैं। यही पूर्णाहन्ता है। इसी प्रकार परम शिव के संग से पराशक्ति का स्वान्तःस्थ

प्रपञ्च उनसे विनिर्गत होता है। इसी का नाम विश्व है। सचमुच भगवान् अपने रूप को देख कर आप ही मुग्ध हैं—सौन्दर्य का स्वभाव ही यही है। श्री चैतन्य-चरितामृत में है :—

रूप हेरि आपनार कृष्णेर लागे चमत्कार
आलिंगिते मने उठे काम ॥

अपने रूप को देख कर कृष्ण को चमत्कार उत्पन्न होता है और उसे आलिंगन करने के लिए उनके मन में कांम उत्पन्न होता है। यह चमत्कार ही पूर्णाहन्ता-चमत्कार हैं; काम या प्रेम इसी का प्रकाश है। यह शिव-शक्ति मिलन का प्रयोजक और कार्यस्वरूप है—आदिरस या शृंगार रस है। विश्व-सृष्टि के मूल में ही यह रसतत्त्व प्रतिष्ठित है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में जो शिव और शक्ति है, त्रिपुरा-सिद्धान्त में वही कामेश्वर और कामेश्वरी है और गौडीय वैष्णवदर्शन में वही कृष्ण और राधा है। शिव-शक्ति, कामेश्वर-कामेश्वरी, कृष्ण-राधा एक और अभिन्न हैं; यह सुप्रसिद्ध ही है।

अनवाप्त-काम पुरुष का व्यापार ही किञ्चित् प्रयोजन की दृष्टि से होता है, परन्तु अवाप्त-काम व्यक्ति का समस्त क्रियाकलाप विना किसी प्रयोजन के स्वतः प्रचालित होता है—केवल लीला के लिए। भगवान् का समस्त सृष्टि-लय आदि व्यापार भी लीला के ही लिए होता है। यह वेदान्त का तत्त्व है जिसका परिवृंहण शंकराचार्य ने 'लोकवस्तु लीलाकैवल्यम्' (ब्रह्मसूत्र २।१।३३) सूत्र के भाष्य में विस्तार से किया है। इस सूत्र में लीला की चर्चा जगद्-विम्ब की रचना के विषय में है। आगम मत में भी यह विश्व भगवान् की लीला है। गौडीयमत का यह सिद्धान्त कि भगवान् श्रीकृष्ण नित्य षोडश-वर्षीय हैं तथा नित्य किशोर हैं त्रिपुरा तन्त्र के मत से पूर्णतः साम्य रखता है। त्रिपुरा मत में जगत् की मूलवस्तु, चरमवस्तु पूर्ण सौन्दर्य के निकेतन होने से हेतु 'सुन्दरी' अथवा 'त्रिपुर सुन्दरी' हैं। आचार्य शंकर ने अपने 'सौन्दर्यलहरी' नामक स्तोत्र में इसी 'त्रिपुरा' के सौन्दर्य तथा आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन किया है। आचार्य का कथन है:—

पूर्ण सौन्दर्य अनन्त है; उसकी तुलना नहीं हो सकती। कवि उस सौन्दर्य का वर्णन कभी नहीं कर सकता।[1] अप्सराओं का सौन्दर्य उसके लेशमात्र के भी बराबर नहीं है[2]। देवाङ्गनायें ही उस रूप के दर्शन के लिए उत्सुक हैं; ऐसी बात नहीं है। समस्त जगत् उसीके लिए व्याकुल है। इसी सौन्दर्य के कणमात्र को प्राप्त कर विष्णु ने मोहिनी रूप से

१. त्वदीयं सौन्दर्यं तुहिनगिरिकन्ये तुलयितुं
कवीन्द्राः कल्पन्ते कथमपि विरिञ्चि प्रभृतयः।
यदालोकौत्सुक्यादमरललना यान्ति मनसा
तपोभिर्दुष्प्रापामपि गिरिशसायुज्यपदवीम् ॥

२. स्मरोऽपि त्वां नत्वा रतिलेह्येन वपुषा
मुनीमन्तः प्रभवति हि मोहाय जगताम् ॥
—सौन्दर्यलहरी

साक्षात् शंकर को भी मोहित कर दिया था। इसीकी कृपा से कामदेव मुनिजनों के मानस को मोहित करता है। ऐसा है यह सुन्दर रूप भगवती त्रिपुरा-सुन्दरी का।

त्रिपुरासुन्दरी के उपासक इसकी उपासना चन्द्ररूप से किया करते हैं। इस चन्द्र की सोलह कलाएँ हैं और सभी कलायें नित्य हैं। इसीलिए इसे 'नित्यषोडशिका' की संज्ञा से पुकारते हैं। इसमें पहिली पन्द्रह कलाओं का तो उदय अस्त होता है, ह्रास-वृद्धि होती है, परन्तु षोडशी इस विपर्यय से ऊपर रहती है। इसलिए वह नित्या कहलाती है। वही 'अमृता' नामकी चन्द्रकला है। भवभूति ने 'उत्तररामचरित' की नान्दी में इसी 'अमृतामात्मनःकलाम्' की स्तुति की है—

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे
विन्देम देवतां वाचम् अमृताम् आत्मनः कलाम् ॥
—उत्तररामचरित १।१

इस नान्दी से स्पष्ट है कि परमात्मा की यह 'अमृता' कला 'वाग्देवता' से अभिन्नरूपा है। वैयाकरण लोग इसे ही 'पश्यन्ती वाक्', दार्शनिक 'आत्मा' तथा मन्त्र शास्त्री 'मन्त्र' या देवता कहते हैं। यही चन्द्रकला पूर्णा अतएव नित्या है। हम जिस राकेश को पूर्णचन्द्र कहते हैं, वह वस्तुतः पूर्णचन्द्र नहीं होता, क्योंकि उसका ह्रास तथा उदय होता है। जो वास्तविक पूर्ण है, उसमें न्यूनाधिक भाव नहीं होता। वह सदा एकरस रहता है; न वह कभी घटता है और न कभी बढ़ता है। इस प्रकार की पूर्णता षोडशी कला में है। इसलिए वह नित्योदिता, अमृतस्वरूपा तथा अखण्डा है। यही महात्रिपुरसुन्दरी ललिता है जो सौन्दर्य और आनन्द का परमधाम है। यह नित्य ज्योत्स्नामय, सहस्र-दल कमलस्थ, नित्यकलायुक्त तथा श्रीचक्रात्मक चन्द्रबिम्ब है। इसीलिए 'सुभगोदय' का कथन है—

षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी।

यह त्रिपुरातत्त्व गौडीय मत में श्रीकृष्ण की रूपकल्पना में भी उल्लसित है। श्रीकृष्ण नित्यकिशोर, अतएव षोडशवर्षीय हैं—

नित्यं किशोर एवासौ भगवानन्तकान्तकः।

यह किशोर वय होता है षोडश वर्ष तक—आषोडशाच्च कैशोरम्[1] (किशोरावस्था की सीमा षोडश वर्ष तक है)।

यह साम्य इतना ही नहीं और आगे भी है। जिस प्रकार सुन्दरी या ललिता कभी पुरुष धारण करती हैं, तो कभी स्त्रीरूप; उसी प्रकार श्रीकृष्ण का दोनों रूपों का धारण करना प्रसिद्ध ही है—

कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
वंशीनादसमारम्भादकरोद् विवशं जगत् ॥

'तन्त्रराज' के इस वचन से स्पष्ट प्रतीत है कि ललिता ही श्रीकृष्ण के रूप में पुरुष-रूप धारण करती हैं; स्त्रीरूप तो उनका प्रसिद्ध ही है। साधनाजगत् का एक रहस्य

१. भक्तिरसामृतसिन्धु—दक्षिण, प्रथमलहरी, श्लोक १५८।

भी इस तथ्य को पुष्ट करता है। साधारण नियम यही है कि स्त्री-देवता के वाम कर में और पुंदेवता के दक्षिण कर में जप-फल समर्पण किया जाता है। परन्तु ललिता के दक्षिण कर में ही जप-फल देने की व्यवस्था है। फलतः ललिता का पुंदेवत्व स्पष्टतः पुष्ट होता है। श्रीकृष्ण के भी दोनों विग्रह होते हैं। पुँरूप तो उनका प्रसिद्ध ही है। मोहिनी रूप धारण कर उन्होंने अपना स्त्रीदेवत्व भी अभिव्यक्त कर दिया था।

इस प्रकार गौडीय मत में तथा त्रिपुरा मत में अनेकशः साम्य दृष्टिगोचर होता है।[1]

---

१. विशेषतः द्रष्टव्य 'कल्याण' के 'शिवांक' (संवत् १९९०, १९३३ सन; पृष्ठ ९४–९५) में महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज का एतद्विषयक विस्तृत लेख।

प्रथम परिच्छेद

संस्कृत साहित्य और वैष्णव धर्म

साहित्य पर वैष्णवधर्म का प्रभाव

वैष्णव धर्म ने जिस प्रकार भारत की ललित कलाओं को समृद्ध तथा रसस्निग्ध किया, उसी प्रकार उसने भारतवर्ष के साहित्य को भी रसपेशल, स्निग्ध तथा समृद्ध बनाया। इसका मूल्यांकन करते हुए प्रकृत लेखक की मान्यता है—

"वैष्णवधर्म का प्रभाव भारतीय साहित्य पर बड़ा ही गहरा तथा तलस्पर्शी है। भगवान् विष्णु के अवतारभूत राम और कृष्ण में भगवत्त्व के द्विविध पक्ष का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र में ऐश्वर्य भाव का प्राधान्य विद्यमान है, तो लीलापुरुषोत्तम कृष्णचन्द्र में माधुर्यभाव का। राम हैं मर्यादापुरुष, तो कृष्ण हैं लीलापुरुष। राम-भक्त कवि रामचन्द्र के 'लोकसंग्रही' रूप के चित्रण करते समय जीवन के नाना पक्षों के प्रदर्शन में कृतकार्य होता है। कृष्णभक्त कवि का वर्ण्य विषय है—कृष्ण की माधुर्यगर्भित ललित लीलायें। फलतः उसकी दृष्टि श्रीकृष्ण के 'लोकरंजक' रूप के ऊपर ही विशेषतः टिकी रहती है। यहाँ क्षेत्र सीमित होने पर भी वह भावसमुद्र के अन्तरंग में प्रवेश करता है और कमनीय भाव-रूपी चमकते हीरों तथा मोतियों के ढूंढ निकालने में सफल होता है। इसलिए मानव की कोमल रागात्मिका वृत्तियों की अभिव्यञ्जना में कृष्ण-कवि सर्वथा समर्थ और कृतकार्य होता है।

"वैष्णवधर्म के उत्कृष्ट प्रभाव से भारतीय साहित्य सौन्दर्य तथा माधुर्य का उत्स है, जीवन की कोमल तथा ललित भावनाओं का अक्षय स्रोत है; जीवनसरिता को सरस मार्ग पर प्रवाहित करने वाला मानसरोवर है। हमारे साहित्य में प्रगीत मुक्तकों (लिरिक-काव्य) के प्राचुर्य का रहस्य इसी व्यापक प्रभाव के भीतर छिपा हुआ है। वात्सल्य तथा शृंगार की नाना अभिव्यक्तियों के चारु चित्रण से भारतीय साहित्य जितना सरस तथा रसस्निग्ध है, उतना ही वह भक्त-हृदय की नम्रता, सहानुभूति तथा आत्मसमर्पण की भावना से भी कोमल तथा हृदयावर्जक है।

"यह साहित्यिक प्रभाव संस्कृत भाषा तथा साहित्य की अभिवृद्धि में जितना लक्षित होता है, उतना ही वह प्रान्तीय भाषाओं की समृद्धि में भी दृष्टिगोचर होता है। इन भाषाओं का सुन्दरतम साहित्य वही है जो भागवत भावनाओं से स्पन्दित, उत्साहित और स्फुरित होता है। इन भाषाओं में वैष्णवसाहित्य ही सबसे अधिक उत्कृष्ट, सरस तथा हृदयावर्जक है। भारत का मध्ययुग भक्तिभावना के उपबृंहण तथा परिवर्द्धन का युग है। फलतः समग्र भारतवर्ष में १५ वीं से लेकर १७ वीं शती में लिखित साहित्य वैष्णवभक्ति से समृद्ध है। अध्यात्म-दृष्टि से वह भक्तिभाव से पूरित ही नहीं है, प्रत्युत वह काव्यदृष्टि से भी नितान्त सुमधुर है। वैष्णव साहित्य भारतीय साहित्य का सबसे उज्ज्वल तथा उत्कृष्ट साहित्य है, इसे मानने में किसी भी विज्ञ आलोचक को मतद्वैविध्य नहीं होना चाहिए। ललित गीतिका, मनोरम गायन तथा सरस पदावली-साहित्य के उदय का यही काल है[1]।"

पदावलीसाहित्य राधाकृष्ण की मनोरम लीलाओं, प्रेममयी केलियों तथा क्षण-प्रतिक्षण उदित होनेवाले सम्पन्न भावों के चित्रण में सर्वथा कृतकार्य है; यह तो मध्ययुगी साहित्य का प्रत्येक अनुशीलनकर्ता भलीभाँति जानता है, परन्तु यह तथ्य उसकी दृष्टि से सम्भवतः दूर है कि यह साहित्य संस्कृत के कवियों की प्रकृत रसमयी कविता की मंजुल छाप अपने ऊपर धारण करता हुआ विचरणशील है। कोमल पदों के विन्यास में, मनोरम भावों की समृद्धि में, मानव की अन्तः स्पर्शी रागात्मिका वृत्ति के मनोरम भावों की समृद्धि में, तथा मानव की अन्तःस्पर्शी रागात्मिका वृत्ति के उदयन में मध्ययुगी वैष्णव-कवियों की काव्यकला पूर्ववर्ती संस्कृत के कवियों के द्वारा प्रदर्शित पन्थ पर ही अग्रसर हुई है; यह मानने में सुधी समालोचक को संकोच करने की कोई भी गुंजाइश नहीं है। वैष्णव कवियों ने जो अपना महत्त्वपूर्ण योग संस्कृत काव्य की अभिवृद्धि में दिया है, उससे साधारण पाठक भलीभाँति परिचय नहीं रखता, यह कहने में लेखक को तनिक भी संकोच नहीं होता। इसका कारण यह है कि संस्कृत की बहुत-सी वैष्णव कविता कालकवलित हो गई हैं। और जो कुछ अवशिष्ट है वह सूक्तिसंग्रहों में यत्र-तत्र बिखरा हुई है। इन सूक्ति-संग्रहों का अध्ययन इस विषय के मार्मिक अनुसन्धान के लिए नितान्त आवश्यक है। ऐसे तीन सूक्तिसंग्रह यहाँ उल्लेखयोग्य हैं—कवीन्द्र-वचन-समुच्चय, सदुक्तिकर्णामृत

---

१. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—भागवतसम्प्रदाय (प्रकाशक नागरीप्रचारिणीसभा, काशी, सं० २०१०) पृ० ३१-३२

तथा पद्यावली। इन तीनों में प्राचीनतम है—कवीन्द्रवचन समुच्चय[1] जिसके संग्रहकर्ता के नाम का तो पता नहीं चलता, परन्तु उसमें निर्दिष्ट कवियों की कालसमीक्षा उसका समय दशम शती के आसपास सिद्ध करती है। 'सदुक्तिकर्णामृत'[2] बारहवीं शती के आरम्भ की रचना है, जिसका संकलन राजा लक्ष्मणसेन के धर्माध्यक्ष बटुदास के पुत्र श्रीधरदास ने ११२७ शाके (१२०५ ई०) में किया था। इस ग्रन्थ में प्राचीन प्रख्यात कवियों के अतिरिक्त पूर्वीय अंचल के अज्ञात-अप्रसिद्ध अथवा अल्प-प्रसिद्ध कवियों की कमनीय कवितायें विषयक्रम से निबद्ध की गई हैं। इसमें लगभग अढ़ाई हजार श्लोक संगृहीत हैं। कवियों की संख्या पौने पाँच सौ से ऊपर है (४८५) जिनमें से अधिकांश कवि अन्यत्र अज्ञात हैं अथवा अल्प-प्रसिद्ध हैं। यह सूक्ति-संग्रह मध्ययुगीय संस्कृत वैष्णव कविताओं का बृहत् भाण्डागार माना जा सकता है। पद्यावली[3] हमारे सुपरिचित वैष्णव सन्तकवि श्रीरूपगोस्वामी की कृति है। इस ग्रन्थ में राधाकृष्ण की ललित लीलाओं के विषय में रचित पद्यों का सुन्दर संकलन है। उस युग (१६ वीं-१७ वीं शती) के पूर्वी अंचल के बंगाल, तिरहुत तथा उत्कल के अनेक वैष्णवकवियों की कवितायें यहाँ संग्रहीत हैं, जिनके विषय में हमारी जानकारी बहुत ही कम है अथवा बिल्कुल ही नहीं है। यह महत्त्वपूर्ण संग्रह केवल ३८६ पद्यों का है, जिसमें लगभग १२५ कवियों की रचनाएँ संगृहीत की गई हैं। वैष्णवकवियों के अतिरिक्त भवभूति, अमरुक आदि प्राचीन प्रख्यात कवियों के भी पद्य यहाँ उद्धृत किये गये हैं, परन्तु उनका सन्दर्भ राधाकृष्ण की लीला से ही बतलाकर गोस्वामीपाद ने अपनी वैष्णवभावना का पूरा परिचय दिया है। ये तीनों संग्रह ग्रन्थ हमारे विषय के अध्ययन की दृष्टि से नितान्त महत्त्वशाली हैं। संस्कृत में वैष्णवकाव्य के विकास को भलीभाँति समझने के लिए इनके अनुपम गौरव की बात भुलाई नहीं जा सकती। इन्हीं कवियों के काव्यालोक में जयदेवसमकालीन वैष्णव-काव्य के व्यापक तथा समृद्ध, मांसल तथा परिपुष्ट विकास के समझने का प्रयत्न यहाँ किया जा रहा है।

(क) वैष्णव काव्य का उद्गम तथा विकास

बारहवीं शताब्दी वैष्णवकाव्य का अत्यन्त समृद्धकाल माना जाता है। इस युग के सर्वप्रधान वैष्णवकवि हैं जयदेव, जो सैकड़ों वर्षों से अपनी अमरकाव्य 'गीतगोविन्द' के द्वारा श्रोताओं के कर्णकुहरों में पीयूषवर्षा करते आये हैं। उनके समसामयिक कवि उमापतिधर की राधाकृष्ण-विषयक पद्यों का निर्देश 'सदुक्तिकर्णामृत' में किया गया है। उनका एक पद्य हरिक्रीडा के विषय में है—

> भ्रूवल्ली-चलनैः कयापि नयनोन्मेषैः कयापि स्मित-
> ज्योत्स्ना-विच्छुरितैः कयापि निभृतं सम्भावितस्याध्वनि।

---

१. एशिएटिक सोसाइटी आफ बंगाल के द्वारा कलकत्ते से प्रकाशित।

२. इसका एक विशुद्ध संस्करण मोतीलाल बनारसी दास ने महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा के सम्पादकत्व में प्रकाशित किया है।

३. ढाका विश्वविद्यालय से १९३४ में (क) डा० सुशील कुमार दे के सम्पादकत्व में प्रकाशित।

गर्वोद्भद-कृतावहेल - विनय - श्रीभाजि राधानने
साताङ्कानुनयं जयन्ति पतिताः कंसद्विषो दृष्टयः ॥

आशय है कि कृष्ण जब रास्ते में चले जाते थे, तब गोपियों ने अनेक प्रकार से उनका स्वागत किया, किसी गोपी ने भौंह मटका कर, किसी ने नेत्र चला कर, किसी ने अपने मञ्जुल मुसकान की चाँदनी छिटका कर, और किसी ने चुपचाप गुप्त रूप से उनका स्वागत किया। राधा, प्रतीत होता है, दूर से ही कृष्ण को देखकर गर्व के उदय से उत्पन्न अवहेलन के द्वारा विनय की शोभा धारण कर रहीं थीं। उनके मुखमण्डल पर श्रीकृष्ण ने आतंक और अनुनय के साथ अपनी दृष्टि डाली। ये दृष्टियाँ जयशाली हों। इस कवि के एक दूसरे पद्य में व्रजनन्दन श्रीकृष्ण के एक शृंगारी चेष्टा का मनोरम वर्णन किया है—

व्यालाः सन्ति तमालवल्लिषु वृतं वृन्दावनं वानरैः
उन्नक्रं यमुनाम्बु घोरवदनव्याघ्रा गिरेः सन्धयः।
इत्थं गोपकुमारकेषु वदतः कृष्णस्य तृष्णोत्तर-
स्मेराभीरवधू-निषेधि नयनस्याकुञ्चनं पातु वः ॥

—सदुक्तिकर्णामृत, हरिक्रीडा ४

वड़ा ही शोभन समारोह जुटा हुआ है। व्रजनन्दन अनेक गोपकुमारों के साथ खेल कूद मँचा रहे हैं कि इतने में राधा वहाँ आ पहुँचती हैं। कृष्ण उनसे एकान्त में मिलना चाहते हैं, परन्तु संगी साथियों की इस विकट भीड़ में गुप्त मिलन हो तो कैसे? इसके लिए कृष्ण एक युक्ति निकालते हैं। वे ग्वालवालों से कह रहे हैं कि तमाल की लताएँ सापों से भरी पड़ी हैं। वृन्दावन को बन्दरों ने घेर रक्खा है। यमुना के जल में मगर घूम रहे हैं। और पहाड़ों कीं संधियों में भयानक वाघों का उपद्रव है। इस प्रकार ग्वाल-वालों के लिए ये वनावटी वातें वतलाते हुए कृष्ण अपनी आँखों को सिकोड़ कर तृष्णा से चंचल मुसकुराती राधा को मना कर रहे हैं। यह पद्य अपने सुभग अंकन के निमित्त सचमुच किसी चतुर चित्रकार की तूलिका की प्रतीक्षा कर रहा है।

जयदेव के समकालीन **शरणनामक** कवि का भी एक पद यहाँ मिलता है जिसमें लिखा है कि द्वारिका के पति दामोदर यमुना के तट पर शैल के पास कदम्व कुसुमों से सुगन्धित कन्दरा में पहिले अभिसार में मिली हुई मधुर मूर्त्ति राधिका की वातें स्मरण कर तप्त हो रहे हैं।

राजा लक्ष्मणसेन तथा उनके पुत्र **केशवसेन** के भी पद्य इस संग्रह में उद्धृत किये गये हैं जिससे प्रतीत होता है कि कि ये पिता-पुत्र वैष्णव कवियों के केवल आश्रयदाता ही न थे, प्रत्युत स्वयं राधाकृष्ण की कविता लिखने में प्रतिभा-सम्पन्न काव्यकला के मर्मज्ञ थे। लक्ष्मणसेन का श्लोक इस प्रकार है—

कृष्ण त्वद्वनमालया सहकृतं केनापि कुंजान्तरे
गोपीकुन्तलवर्हदाम तदिदं प्राप्तं मया गृह्यताम्।
इत्थं दुग्धमुखेन गोपशिशुना ख्याते त्रपानम्रयो
राधामाधवयोर्जयन्ति वलितस्मेरालसा दृष्टयः ॥

'हे कृष्ण एक दूसरे कुंज से कोई व्यक्ति आकर तुम्हारी वनमाला के साथ गोपी के केश में मयूरपुच्छ को एक साथ रखा गया है। मैंने इसे पाया है तुम इसे ले लो । एक दुधमुँहे गोपशिशु के कहने पर राधा-माधव की लज्जा से नम्र होनेवाली तथा आलसभरी, मुसक्कुराहट से भरी हुई दृष्टियों की जय हो।

राजा लक्ष्मणसेन के पुत्र केशवसेन का एक पद्य यहाँ उद्धृत है जो 'गीतगोविन्द' के प्रथम श्लोक से विशेष मेल खाता है। वर्णन का ढंग एक ही है। केवल थोड़ी-सी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

आहूताद्य मयोत्सवे निशि गृहं शून्यं विमुच्यागता
क्षीवः प्रैष्यजनः कथं कुलवधूरेकाकिनी यास्यति।
वत्स त्वं तदिमां नयालयमिति श्रुत्वा यशोदागिरो
राधामाधवयोर्जयन्ति मधुरस्मेरलसा दृष्टयः ॥

'यशोदा कृष्णचन्द्र से कह रही है कि आज रात को मैंने उत्सव में राधा को बुलाया है। यह घर को सूना छोड़ कर यहाँ आई है। इसके नौकर-चाकर मतवाले हैं। यह कुलवधू अकेली कैसे जायगी ? सो बेटा, तुम्हीं इसको इसके घर ले जाओ । यशोदा की यह बातें सुनकर राधामाधव की मधुर, आलसी तथा मुसकुराती हुई दृष्टियों की जय हो।'

गोपक नामक किसी कवि का कृष्ण के अभिसार का यह वर्णन कितना रोचक तथा चमत्कार-पूर्ण है। गहरी रात होने पर कृष्ण ने कोयल आदि पक्षियों की बोली बोल कर राधा को इशारे से ही बुलाया। राधा ने संकेत समझ लिया और दरवाजा खोलकर बाहर निकल आयी । राधा की चंचल चूड़ियाँ तथा करधनी दरवाजे खोलने के व्यापार में रुन-झुन शब्द करने लगी । कृष्ण को इससे राधा के बाहर आने की सूचना तो मिल गयी। उधर आहट पाकर कोई वृद्धा पुकारने लगी कि यह कौन है—कौन है ? जिससे कृष्ण का हृदय संगम में अचानक उपद्रव जानकर व्यथित होने लगा। ऐसी हालत में ही कृष्ण की वह रात राधा के घर के प्रांगण के कोने में केलिवृक्ष के नीचे ही बीती। काव्य की दृष्टि से नितान्त मनोरम इस पद्य को पढ़िए।

संकेतीकृतकोकिलादिनिनदं कंसद्विषः कुर्वतो
द्वारोन्मोचन-लोलशंखवलयश्रेणिस्वनं शृण्वतः ।
केयं केयमिति ? प्रगल्भजरतीनादेन दूनात्मनो
राधाप्रांगणकोणकेलिविटपक्रोडे गता शर्वरी ॥

प्रश्नोत्तर के बहाने राधाकृष्ण के बीच श्लेषमय वार्त्तालाप का प्रसंग हमारे कविजनों को बहुत ही प्रिय है। ऐसे श्लिष्ट हास्य के उदाहरण कवीन्द्रवचनसमुच्चय में एक पद्य में तथा सदुक्तिकरणामृत के अनेक पद्यों में मिलते हैं। अन्तिम ग्रन्थ से एक श्लोक दिया जाता है।

कस्त्वं भो निशि केशवः शिरसिजैः किं नाम गर्वायसे
भद्रं शौरिरहं गुणैः पितृगतैः पुत्रस्य किं स्यादिह।

चक्री चन्द्रमुखी प्रयच्छसि न मे कुण्डीं घटीं दोहिनी-
मित्थं गोपवधूहृतोत्तरतया दुःस्थो हरिः पातु वः ॥[1]

प्रश्न—रात के समय आनेवाले तुम कौन हो ?

उत्तर—मैं केशव हूँ (श्लिष्टार्थ सुन्दर केशोंवाला व्यक्ति)

प्रश्न—तो तुम अपने बालों से क्या गर्व कर रहे हो ?

उत्तर—मैं शौरि (शूर का पुत्र) हूँ।

प्रश्न—तो इससे क्या ? पिता के गुणों से पुत्र को लाभ क्या ?

उत्तर—चन्द्रमुखी ! मैं चक्री (चक्रधारणकर्त्ता तथा कुम्हार) हूँ।

प्रश्न—तो मुझे कुण्डा, घड़ा तथा दूहने का मटका क्यों नहीं देते ?

इस प्रकार राधा के द्वारा निरुत्तर किये गये, अतएव बड़ी कठिनाई में पड़नेवाले कृष्ण आप लोगों की रक्षा करें।

'सदुक्तिकर्णामृत' में गोपीसन्देश के नाम से निर्दिष्ट कतिपय पद्यों के साहित्यिक चमत्कार की मीमांसा की जाय, तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि परवर्ती पदकारों के 'विरह' वर्णन में वे ही चमत्कारी भाव विद्यमान हैं। इस विषय में एक ही पद्य उद्धृत करना पर्याप्त होगा। कोई राही द्वारिका जा रहा है। उसे गोपियाँ बुलाकर अपना प्रेम-सन्देश श्रीकृष्ण से कहने के लिए आग्रह करती हैं। वे कहती हैं—हे पान्थ, यदि द्वारिका जा रहे हो, तो देवकीनन्दन से मेरी ये बातें जरूर सुनाना। कामदेव के मोहन मन्त्र से विवश होनेवाली गोपियों को तो आपने छोड़ ही दिया। केतकी की गर्भ-धूलि के समूह से विरहित इन दिशाओं को देख कर क्या आपके चित्त में यमुना के किनारे की भूमि तथा वहाँ उगनेवाले पेड़ों की याद तनिक भी नहीं आती, उनकी चिन्ता आपके मन में नहीं होती ? श्लोक सुन्दर तथा भावपूर्ण है—

पान्थ द्वारवतीं प्रयासि यदि हे तद्देवकीनन्दनो
वक्तव्यः स्मरमोहमन्त्रविवशा गोप्योऽपि नामोज्झिताः।
एताः केतकगर्भधूलिपटलैरालोक्य शून्या दिशः
कालिन्दी-तट-भूमयोऽपि तरवो नायान्ति चिन्तास्पदम् ॥

इसी भावना से मिलती-जुलती एक कविता यहाँ उद्धृत की जाती है जो 'सदुक्तिकर्णामृत' में वीर सरस्वती के नाम से तथा पद्यावली में गोवर्धनाचार्य के नाम से निर्दिष्ट की गई है। कविता निःसन्देह चमत्कारजनक है—

मथुरा पथिक ! मुरारेरुद्गेयं द्वारि वल्लवीवचनम्
पुनरपि यमुना-सलिले कालिय-गरलानलो ज्वलति ॥ ६२।५

गोपियों का यह कथन है—हे मथुरा के जानेवाले पान्थ, मुरारिके द्वार पर जाकर गोपियों का यह वचन गाकर सुना देना—'यमुना के जल में कालिय नाग के विष की आग आज फिर भी जलने लगी है।' यहाँ तात्पर्य विरह की आग से है। आपने ही

---

१. सदुक्तिकर्णामृत में 'प्रश्नोत्तर' के विभाग यह पद्य दिया गया है। 'पद्यावली' में भी यह उद्धृत है।

यमुना के भीतर जलने वाले उस विषानल को शांत किया था, आज उसी प्रकार का असह्य विरहानल प्रज्वलित हो रहा है। तब उसे बुझाने के लिए क्या आप वृन्दावन में पधारने की कृपा न करेंगे ?

कृष्ण-काव्य का उद्गम

इन सूक्तिग्रन्थों में उद्धृत वैष्णवकविता की समीक्षा करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बारहवीं शती में ही नहीं, प्रत्युत उससे दो-तीन शताब्दी पूर्व भी राधा-कृष्ण की लीला का आश्रय लेकर नाना कवियों ने रसपेशल कवितायें लिखी थीं जिनका प्रभाव परवर्ती वैष्णवकवियों पर, विशेषतः पदकारों के ऊपर, प्रचुर मात्रा में पड़ा। फलतः बारहवीं शती के आरम्भ में मधुर कोमलकान्तपदावली के स्रष्टा तथा राधा-माधव की कमनीय केलि के निर्माता जयदेव का गीतगोविन्द काव्यकला की दृष्टि से अथवा लीलाविस्तार की दृष्टि से कोई आकस्मिक घटना नहीं है, प्रत्युत वैष्णव कविता के विकास की दृष्टि से नितान्त स्वाभाविक तथा देशकालानुकूल कृति है। जयदेव के समसामयिक कवियों की प्रौढ़ वैष्णव कविता की रसस्निग्धता का थोड़ा परिचय ऊपर दिया गया है। जयदेव के अनन्तर भी यह प्रवाह स्तम्भित नहीं हुआ, प्रत्युत देश-काल की अनुकूलता के कारण वह द्विगुणित वेग से प्रवाहित होता गया; इसका पर्याप्त संकेत हमें उपलब्ध होता है श्रीरूपगोस्वामी के सरस सूक्तिसंग्रह 'पद्यावली' में। इस संग्रह के वैष्टिट्य का प्रदर्शन ऊपर किया गया है। इसमें लगभग १३८ कवियों की कवितायें उद्धृत की गई हैं, जिनका वर्ण्य विषय ही है राधामाधव की कमनीय केलिलीला। भवभूति तथा अमरुक जैसे प्राचीन कवियों की शृंगारप्रधान कवितायें भी राधाकृष्ण के सन्दर्भ में हीं बलात् सन्निविष्ट कर उद्धृत की गई हैं; इससे आलोचक गोस्वामीजी पर साम्प्रदायिक होने का दोष भले ही लगावें, परन्तु इस तथ्य का तो स्पष्ट संकेत उपलब्ध होता है कि जयदेव (१२ शती) तथा विद्यापति-चण्डीदास (१५ शती) के बीच की शताब्दियों में भी राधाकृष्ण-विषयक कविताओं की रचना हमारे संस्कृत के कवियों का बड़ा ही प्रिय विषय रही है। 'पद्यावली' के कवि केवल बंगाल के ही कवि नहीं हैं, प्रत्युत तिरहुत (बिहार) उत्कल (उड़ीसा) आदि भारत के पूर्वी अंचल में उत्पन्न होने वाले कवि हैं। फलतः हम निःसंकोच कह सकते हैं कि श्री चैतन्य महाप्रभु (जन्म सं० १५४२—१४८५ ई०) के आविर्भाव से पहिले भी इस अंचल में वैष्णवता की लहर प्रवाहित होती रही; जिसके प्रति जनमानस का आकर्षण कम नहीं था और जिसे शब्दमय विग्रह प्रदान करने के लिए अनेक प्रतिभाशाली सरस्वती के वरद-पुत्र कवियों ने श्लाघनीय प्रयास किया।

इतना ही नहीं, ऐतिहासिक दृष्टि से इस परम्परा का उत्थान द्वादश शती से भी प्राचीन है। अष्टम शती से लेकर द्वादश शती के बीच वैष्णव शृंगारिक कविता लिखने की परम्परा संस्कृत साहित्य में वर्त्तमान थी। उस युग में कवि लोग लक्ष्मीनारायण तथा हर-गौरी के शृंगार को आधार मानकर कविता प्रणयन करते थे और ये कवितायें रसपेशलता की दृष्टि से राधाकृष्ण की काव्यों की अपेक्षा कम माधुर्यमयी नहीं होती थीं। परन्तु बारहवीं

शती में वैष्णव कविता का वर्ण्यविषय ही हो गया राधाकृष्ण की ललितलीला का निदर्शन। इसके लिए दो कारण प्रमुख माने जा सकते हैं—एक है वहिरंग और दूसरा है अन्तरंग। वहिरंग कारण में हम देश-काल की अनुकूलता, लोगों की रुझान तथा शासकों की प्रवृत्ति की गणना कर सकते हैं। सेन राजा लोग वैष्णव थे; वैष्णव धर्म उनका निजी धर्म था। फलतः यह आश्चर्य की वात न होगी यदि राजा की अभिरुचि तत्कालीन साहित्य में प्रतिविम्वित हो। अन्तरंग कारण है राधाकृष्ण की लीला में माधुर्य-रस का संचार। रास का वह मञ्जुल दृश्य, वंशी का वह मधुरनिनाद, यमुनापुलिन का वह मनोरम प्राकृतिक वातावरण, सर्वस्व को तिलाञ्जलि देनेवाली गोपियों की वह मधुरकामना, गो तथा गोपी का यह स्निग्ध सहयोग—ये सव राधाकृष्ण के प्रति कवियों के मुख्य आकर्षण थे। संस्कृत साहित्य का सर्वातिशायी माधुर्यपूर्ण पुराण **श्रीमद्भागवत** इन कवियों को स्फूर्ति तथा प्रेरणा देने के लिए सतत जागरूक था। वह विशाल रसस्रोतस्विनी को प्रवाहित करने में सर्वदा सचेष्ट था। फलतः वैष्णव कविता का विषय अव लक्ष्मी-नारायण की लीला न होकर राधाकृष्ण की ही केलि मुख्य-रूपेण हो गया। भागवत हृदय की कली को विकसित करनेवाली प्रेम गीतिकाओं का मञ्जुल भण्डार है। उसमें वर्णित भाव-सम्पत्ति से आनन्दोल्लसित होकर इस युग के भक्तकवियों ने अपनी लेखनी भगवान् के दिव्य प्रेमोन्माद के चित्रण में लगा दी। जिस श्रीकृष्ण की मुरली की मनोरम ध्वनि अचेतन सरिताओं के वीच भी प्रेम का उन्माद उत्पन्न करने में कृतकार्य होती है,[१] उसीको अन्तः श्रोत्र से श्रवणगोचर कर यदि संस्कृत के कवियों ने राधामाधव की रसस्निग्ध लीला को अपनी काव्यकला का मुख्य वर्ण्य विषय वनाया, तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

श्रीमद्भागवत की लोक-प्रियता

वारहवीं शती में राधाकृष्णविषयक काव्य के उदय के जो कारण ऊपर निर्दिष्ट किये गये हैं उनमें श्रीमद् भागवत के विपुल प्रचारजन्य प्रभाव का भी हमने संकेत किया है। भागवत के गम्भीर अर्थ को सुवोध तथा लोकप्रिय बनाने का यही युग है। इस युग में दो महनीय विद्वानों को भागवत के ऊपर टीकाग्रन्थ का प्रणयन कर इसे सुवोध वनाने का श्रेय प्राप्त है। एक तो थे भागवत के आद्य टीकाकार **श्रीधरस्वामी** और दूसरे थे **बोपदेव**। **श्रीधरस्वामी** की **भावार्थदीपिका** टीका (श्रीधरी) संक्षिप्त होने पर भी तलस्पर्शिनी है और भागवत के मर्म का उद्घाटन करने के लिए नितान्त उपादेय मानी जाती है। श्री नृसिंह भगवान् के प्रसाद से श्रीधरस्वामी भागवत के समग्र मर्म को जानने में समर्थ थे; ऐसी प्रसिद्धि पण्डित-

---

१. नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत—
मावर्तलक्षित - मनोभव-भग्न-वेगाः।
आलिंगन - स्थगितमूर्मिभुजै - र्मुरारे—
गृह्णन्ति पाद-युगलं कमलोपहाराः।
(दशम स्कन्ध २१।१५)

समाज में आज भी विद्यमान है [१]। चैतन्यमहाप्रभु को श्रीधरीमें वड़ी आस्था थी। यह टीका अद्वैतमत के अनुसार है और चैतन्य मत के वैष्णव गोस्वामियों ने भागवत के गम्भीरार्थ की व्याख्या में इस टीका को वहुशः आश्रित किया है। नाभादासजी ने एक प्राचीन आख्यान की ओर अपने छप्पय में संकेत किया है [२]। अपने गुरु परमानन्द की आज्ञा से श्रीधर ने काशी में इस व्याख्याग्रन्थ का प्रणयन किया, जो भागवत के सम्प्रति उपलब्ध प्राचीनतम टीका है। इसी टीका में निर्दिष्ट चित्सुखाचार्य की व्याख्या सम्भवतः आज उपलब्ध नहीं है। श्रीधरी की उत्कृष्टता का प्रामाण्य स्वयं विन्दुमाधवजी ने दिया जव यह ग्रन्थ उनके सामने परीक्षा के लिए रखा गया था। फलतः श्रीधरस्वामी ने इस युग में भागवत की लोकप्रियता सम्पादन की; यह हम निःसन्देह कह सकते हैं। श्रीधरस्वामी सम्वत् ११५७ (११००ई०) के लगभग जीवित माने जाते हैं। इनसे प्राचीनतर दो टीकाकारों का पता चलता है जिनमें से एक वेदान्त के मान्य आचार्य चित्सुखाचार्य हैं और दूसरे हनुमान नामक हैं। श्रीधर के द्वारा निर्दिष्ट किये जाने के कारण इन दोनों का समय १२ वीं शती से प्राचीन होना चाहिए। इन दोनों की व्याख्यायों का नाम ही उपलब्ध है। उनकी प्रतियाँ सम्भवतः उपलब्ध नहीं हैं। फलतः श्रीधर का आविर्भाव भाव ११ वीं शती का उत्तरार्द्ध तथा १२ वीं शती का आरम्भ है। भागवत के सर्वप्राचीन टीकाकार ये ही हैं; इसमें दो मत नहीं हो सकते।

दूसरे भागवत मर्मज्ञ बोपदेव के सत्प्रयत्न से भागवत की लोकप्रियता निःसन्देह प्राप्त हुई; यह कथन कथमपि असंगत नहीं माना जा सकता। बोपदेव तथा इनके आश्रयदाता श्री हेमाद्रि—ये दोनों महनीय विद्वान् देवगिरि के यादववंश नरेश महादेव राव और रामदेव राव के शासनकाल में पाण्डित्य तथा व्यवहार के लिए सर्वत्र प्रख्यात थे। महादेव का राज्यकाल सं० १३१७–१३२८(१२६०–१२७१ ई०) है तथा उनके उत्तराधिकारी तथा भ्रातुष्पुत्र रामचन्द्र (उर्फ रामदेव राव) का शासनकाल सं० १३२८–१३६६(१२७१–१३०९ ई०) है। इस प्रकार भागवत के प्रचारक बोपदेव का समय १३ वीं शती माना जाता है। ये भागवत को अत्यन्त उदात्त ग्रन्थ मानते थे। इन्होंने अपना भागवतप्रेम एक सुन्दर श्लोक में इस प्रकार व्यक्त किया है—

वेदः पुराणं काव्यं च प्रभुर्मित्रं प्रियावचः
बोधयन्तीति ह प्राहुस्त्रिवद् भागवतं पुनः ॥

---

१. व्यासो वेत्ति शुको वेत्ति राजा वेत्ति न वेत्तिन वेत्ति वा।
श्रीधरः सकलं वेत्ति श्रीनृसिंह प्रसादतः ॥

२. तीन काण्ड एकत्व सानि कोउ अज्ञ बखानत।
कर्मठ ज्ञानी ऐंचि अर्थ को अनरथ बानत।
परमहंस संहिता विदित टीका बिसतारयौ
षट् शास्त्रनि अविरुद्ध वेद-सम्मतहि विचारयौ।
'परमानन्द' प्रसाद तें माधौ सुकर सुधार दियौ
श्रीधर श्री भागौत में परम धरम निर्नय कियौ ॥ —भक्तमाल (छप्पय ४४०)

अर्थात् वेद, पुराण और काव्य यथाक्रम प्रभु, मित्र तथा कान्ता के वचन के समान बोध करानेवाले हैं, परन्तु भागवत की यह श्रेष्ठता है कि वह वेदों के समान प्रभुसम्मित उपदेश अधिकारयुक्त वाणी से करता है, पुराणों के समान मनोरंजक कथायें कह कर मित्र के नाते परामर्श देता है और काव्य के समान प्रिया के वचनों की मधुरता के साथ प्रेम से सद्बोध कराता है[1]। बोपदेव के द्वारा रचित भागवतविषय चार ग्रन्थ बतलाये जाते हैं जिनमें से प्रथम दो तो प्रकाशित हैं तथा अन्तिम दो सम्भवतःअभी तक प्रकाश में नहीं आये (१) हरिलीला[2]—इसमें भागवत के अध्यायों की विस्तृत अनुक्रमणी दी गई है जिससे इसमें स्कन्धशः समग्र भागवत का सार आ गया है। (२) मुक्ताफल[3]—यह भागवत के श्लोकों का नवरस की दृष्टि से किया गया एक सुन्दर संग्रह ग्रन्थ है। इसकी टीका स्वयं हेमाद्रि पण्डित ने की है जिसका नाम है कैवल्य-दीपिका। (३) परमहंसप्रिया—भागवत की टीका। (४) मुकुट—भागवत - मन्दिर पर मुकुट के समान यह ग्रन्थ भागवत का सार प्रस्तुत करता है। इन ग्रन्थों की रचना के द्वारा बोपदेव तथा हेमाद्रि ने १३ वीं शती में भागवत कीलोकप्रियता की वृद्धि कराने में बड़ी सहायता पहुँचाई।

१६ वीं शती में बंगाल में चैतन्य महाप्रभु के उदय ने वैष्णव धर्म के प्रचार की काया ही पलट डाली। उन्हीं के समसामयिक वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग की स्थापना कर भागवतधर्म को अग्रसर किया। इन दोनों आचार्यों से पूर्ववर्ती श्री निम्बाकाचार्य ने राधाकृष्ण की युगल उपासना को अपने सम्प्रदाय के लिए आवश्यक बतलाकर धर्म की प्रतिष्ठा को पुष्ट किया था। इस युग में भागवत की व्यापक प्रतिष्ठा, विपुल प्रचार तथा सार्वभौम प्रसार होने की घटना से हम भलीभाँति परिचित हैं। इस युग से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हेमाद्रि तथा बोपदेव ने अपने ग्रन्थ से भागवत धर्म की अभिवृद्धि में विशेष योग दिया था तथा भागवत पुराण को लोकप्रिय बनाकर जनता के हृदय तक पहुँचाया था। भागवत के इस व्यापक प्रसार के कारण ही १२ वीं शती में वैष्णव कविता राधाकृष्ण की प्रेममयी लीलाओं का आश्रय लेकर समृद्ध तथा रससिक्त हुई; यह स्वीकार करना ऐतिहासिक दृष्टि से कथमपि अनुपयुक्त नहीं माना जा सकता।

(ख) संस्कृत गीतिका का भाषा-गीतिका पर प्रभाव

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में वैष्णवधर्म का आन्दोलन बड़े पैमाने पर आरम्भ हुआ जिसने उत्तर भारत का कोई भी कोना अछूता नहीं रखा। इस भक्ति-आन्दोलन

१. द्रष्टव्य-पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर रचित श्री ज्ञानेश्वर चरित्र (प्रकाशक गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० १९९०) पृष्ठ २०–२६।

२. चौखम्भा सं० सीरिज (नं० ४११) में काशी से मधुसूदन सरस्वती की टीका के साथ 'हरिलीलामृतम्' नामसे प्रकाशित, १९३३ ई०, काशी।

३. कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज में कलकत्ता से टीका के साथ प्रकाशित।

की केन्द्रस्थली थी व्रजमण्डल में मथुरा-वृन्दावन की पवित्र नगरी, जहाँ व्रजनन्दन श्रीकृष्ण-चन्द्र ने अपनी ललित लीलाओं का विस्तार किया था। फलतः कृष्णभक्ति का उदय धार्मिक जगत् की एक सर्वाश्चर्यमयी घटना है। इस युग में भक्ति का एक प्रवल ओघ ही उपस्थित हुआ जिसके सामने ज्ञानी-योगी, यति-मुनि सबही सब प्रवाहित हो गये। जन-मानस को इसने अपने अपरिमेय माधुर्य से प्लावित कर दिया। धार्मिक चेतना का अदम्य उदय इस युग की विशेषता है। इस समय की साहित्य-वाटिका में कवि-कोकिलों के कण्ठ से मनोरम काकली फूट निकली। जान पड़ा कि माधुर्य का उत्स प्रवाहित हो रहा हो। रसिकशिरोमणि श्रीव्रजनन्दन तथा रमणीशिरोमणि श्रीकीर्तिकुमारी राधिका की कमनीय केलि तथा लावण्यमयी लीला ही वर्ण्य विषय के रूप में कवि जनों के मानसपटल के सामने विराजने लगी। जहाँ श्रृंगाररस के परमाराध्य नन्दनन्दन का लीलावर्णन ही कविजनों का इष्ट विषय हो, वहाँ उनकी वाणी में मधुरिमा का, लेखनी में लालित्य का तथा पदों में सौकुमार्य्य का निवास होना नितान्त नैसर्गिक है। गौडीय वैष्णवकवि जहाँ श्री चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से प्रभावित थे, वहाँ वृन्दावनीय कवियों के ऊपर आचार्य निम्वार्क का, आचार्य वल्लभ का तथा रसिकाचार्य हितहरिवंशजी का प्रभाव विशेषरूप से क्रियाशील था।

इन भक्तिरस से आप्लुत कवियों के सामने संस्कृत भाषा के प्रेमकाव्य तथा वैष्णवगीतिका अमर निधि के समान विद्यमान थी जिसे उनका साहित्यिक रिक्थ भलीभाँति माना जा सकता है। फलतः इन कवियों ने इस रिक्थ को अपना कर अपनी वाणी में अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर दिया। पदावली के रचयिता कवियों के ऊपर संस्कृत-कवियों के उत्कृष्ट भावों का, कोमल पद विन्यास का, मनोरम अर्थ—चमत्कार का तथा नवीन प्रतिभा का बड़ा ही अन्तरंग प्रभाव पड़ा है; इसे एक विद्वान् आलोचक ने बड़े विस्तार से दिखलाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।[1] यह प्रयत्न इतना तर्कयुक्त तथा प्रमाणसंवलित है कि इसके विषय में दो मत होने की गुंजाइश ही नहीं है। एक दो नये उदाहरणों से यहाँ उसे पुष्ट करने का प्रयास किया जाता है—

संस्कृत भाषा का एक बड़ा ही सुन्दर पद्य है जिसमें संयोग तथा विप्रयोग के वैषम्य को दर्शाने का ललित दृष्टान्त दिया गया है। नायक का कथन है कि संयोगदशा में मैंने अपनी प्रियतमा का गले में हार डालने का साहस ही नहीं किया, क्योंकि इस व्यापार से हम दोनों का दैहिक संश्लेष कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता था। परन्तु आज इस समय में हम दोनों के बीच में सरिता तथा सागर लहरा रहे हैं और पहाड़ अलंघ्यरूप के समान खड़े हैं!!!

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा
इदानीमावयोर्मध्ये सरित्सागर-भूधराः॥

१. द्रष्टव्य, डा० शशिभूषण दास गुप्त रचित ग्रन्थ 'राधा का क्रम विकाश' (प्रकाशक, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५६।)

इस कमनीय चमत्कारी भाव को वैष्णव कवियों ने अपने पदों में बड़ी सुन्दरता से उतारा है:—

विद्यापति

चिर चन्दन उर हार न देल
सो अब नदि गिरि आँतर भेल ॥

सूरदास

उतारत हैं कंठिनि ते हार
हरि हरि मिलत होत हैं अन्तर
यह मन कियौ विचार ॥ –(सूरसागर पृ० २०६)

नरसी मेहता

पीयु मारी सेजडी नो शणगार
जोबन सींचणहार ।
पीयुजी कारण हुं तो हार न धरती
जाणुं रखे अन्तर थाये ॥

घनानन्द

तब हार पहार ते लगात हे
अब बीच में आनि पहार अड़े ॥

ध्यान देने की बात है कि इन कवियों ने गृहीत भाव में नवीन सौन्दर्य उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की है। सूर की राधा अपने कण्ठ से हार को इसलिए उतार फेंकती है कि उसके रहने से हरि के साथ मिलने में अन्तर पड़ जाता है। उधर नरसी की राधा आभूषण-प्रिय होने पर भी अन्तर पड़ जाने के भावी भय से हार अपने गले में धारण ही नहीं करती। नरसी ने प्राचीन भाव में सचमुच जान डाल दी है। जहाँ सूर की राधा मिलन में विच्छेद की आशंका से पहने हुए हार को उतार डालती है, वहाँ नरसी की राधा उसे पहनती ही नहीं—सचमुच अधिक कोमल है यह भावना और अधिक सुकुमार है उसका यह व्यवहार !!!

कोई मुग्धा अपने प्रियतम के विरह में नितान्त दीन-मलिन है, परन्तु गुरुजनों के सामने अपने दुःख को प्रकट करना समाजमर्यादा के विरुद्ध होता; इसी भावना से वह अपने नेत्रों से उमड़ने वाले आँसुओं को रोकती है। इस पर उसकी सखी कह रही है कि उसका यह प्रयास कथमपि सफल नहीं हो सकता। बात यह है कि वह रात-रात में आँसुओं की झड़ी से भीगे हुए अपने बिस्तर के एक भाग को घाम में सूखने के लिए रख देती है जो निश्चय रूप से उसकी दयनीय दशा की अभिव्यक्ति सबके सामने कर देता है। तब छिपाना क्यों? बात छिपाने से क्या छिप सकती है? इसी भाव का सूचक एक प्राचीन पद्य तथा उसकी छाया पर रचित बँगला पद नीचे दिये जाते हैं:—

गोपायन्ती विरहजनितं दुःखमग्रे गुरूणां
किं त्वं मुग्धे! नयनविसृतं बाष्पपूरं रुणत्सि ।

नक्तं नक्तं नयन-सलिलैरेष आर्द्रीकृतस्ते
शय्यैकान्तः कथयति दशामातपे दीयमानः ॥
—शार्ङ्गधरपद्धति १०९५

कि तुहुँ भावसि रहसि एकान्त
झरझर लोचने हेरसि पन्थ ॥
कह कह चम्पक गोरी
काँपसि काहे सघन तनु मोड़ि ॥
घाम किरण बिनु घामयि अंग
ना जानिए काहुक प्रेम तरंग ॥
जलधर देखि वहये घन श्वांसे
बिशोयास करु राधामोहन दासे ॥

इस युग में पार्थिव प्रेम के अभिव्यंजक प्राचीन पद्यों के ऊपर वैष्णव छाप डाल कर उन्हें राधाकृष्ण के अपार्थिव प्रेम का अभिव्यंजक मान लिया गया। प्रेमाभिव्यंजक सामग्री की कमी तो थी नहीं, उन्हें एक नया मोड़ देकर एक नई दिशा की ओर लाया गया। जो पद्य भौतिक प्रेम की प्रशंसा में मूलतः निवद्ध किये गये थे उन्हें उन्नयन की प्रक्रिया द्वारा आध्यात्मिक प्रेम का संकेतक माना गया। एक प्रख्यात दृष्टान्त द्वारा इस परिवर्तन को समझाना उपयुक्त होगा।

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपाः
ते चोन्मीलित-मालती-सुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापार-लीलाविधौ
रेवा-रोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥

इस पद्य का तात्पर्य है—"जो मेरे कौमार्य को (कुमारीपने को) हरण करनेवाला है, वही मेरा वर है। चैत की वे ही रातें हैं। खिली मालती के सुगन्ध से सुरभित कदम्व वन का वही प्रौढ़ पवन है। मैं भी वही हूँ। तथापि सुरतव्यापार की लीला के लिए नर्मदा के किनारे वेतसी वृक्ष के नीचे आज मेरा चित्त उत्कंठित हो रहा है।" इस शृंगारिक पद्य में कोई नायिका सखी से अपनी चित्तवृत्ति का परिचय दे रही है कि उत्कण्ठा के हेतु के अभाव में न जाने क्यों उसका मन उत्कण्ठित हो रहा है। यह संस्कृत का एक प्राचीन पद्य है जो अनेक सूक्तिग्रन्थों में तथा अलंकार ग्रन्थों में उद्धृत किया है। मम्मट (११ शती का उत्तरार्द्ध) ने अपने काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में इस पद्य की रसशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की है। पद्य में राधाकृष्ण की केलि के साथ कथमपि सम्पर्क दृष्टिगोचर नहीं होता। तथापि रूपगोस्वामी ने 'पद्यावली' में इसे निर्जन में सखी के प्रति राधा की उक्ति के रूप में उल्लिखित किया है। कृष्णदास कविराज ने अपने 'चैतन्यचरितामृत' के दो स्थलों (मध्य लीला, प्रथम परिच्छेद तथा मध्य लीला, त्रयोदश परिच्छेद) पर इस श्लोक को उद्धृत कर श्री चैतन्यदेव के द्वारा एक गूढ़ अभिव्यंजना की ओर संकेत किया है। महाप्रभु जगन्नाथपुरी में विराजते थे, परन्तु वहाँ के वैभव तथा कोलाहल से व्याकुल होकर

वृन्दावन निवास की कामना करते थे । उसी प्रसंग में उन्होंने भाववेश में आकर इस पद्य को दुहराया था[1]। जीव गोस्वामी के 'गोपालचम्पू' नामक चम्पूकाव्य में यह श्लोक राधा के द्वारा कहलाया गया है[2]। यह दृष्टान्त स्पष्ट संकेत करता है कि किस प्रकार प्राचीन पार्थिव प्रेम बोधक पद्यों का उपयोग राधाकृष्ण के विषय में इस युग में किया जाने लगा था।

एक उदाहरण और देखिए। संस्कृत के प्रख्यात गीतिकाव्य 'अमरुशतक' के प्रणेता अमरुक की कोमल कविता भी राधाकृष्ण के प्रसंग में रूपगोस्वामी ने उद्धृत की है। अमरुक के शृंगारप्रधान मुक्तकों को प्रबन्धायमाण कह कर आनन्दवर्द्धन ने इनकी विपुल बड़ाई की है अपने 'ध्वन्यालोक' में। इन उद्धृत कविताओं के देखने पर स्पष्ट

---

१. नाचिते नाचिते प्रभुर हइल भावान्तर
हस्त तुलि श्लोक पड़े करि उच्चस्वर।
"यः कौमार हरः"
एइ श्लोक महाप्रभु पड़े बारबार
स्वरूप विना केह अर्थ ना बूझे इहार।
पूर्वे येन कुरुक्षेत्रे सब गोपीगण
कृष्णेर दर्शन पाया आनन्दित मन।
जगन्नाथ देखि प्रभुर से भाव उठिल
सेइ भावाष्टि हइया धुया गायो आइल।
अवशेषे राधाकृष्णे कइल निवेदन
सेइ तुमि सेइ आमि सेइ नव संगम।
तथापि आमार मन हरे वृन्दावन
वृन्दावने उदय कराह आपन चरन।
इहाँ लोकारण्य हाति-घोड़ा-रथ-ध्वनि
ताँहा पुष्पवन भृङ्ग पिक-नाद शुनि।
इहाँ राजवेश संगे सब क्षत्रियगण
ताँहा गोपगण संगे मुरलीवदन।
व्रजे तोमार संगे सेइ सुख-आस्वादन
से सुख -समुद्रेर इहाँ नाहि एक कण।
आमा लइया पुनः लीला कर वृन्दावने
तबे आमार मनो वाञ्छा हयत पूरणे॥

—चैतन्यचरितामृत

२. थोड़े पाठान्तर के साथ यह पद्य किन्हीं सूक्तिसंग्रहों में शीला भट्टारिका के नाम से दिया गया है। 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' में तथा 'सदुक्तिकर्णामृत' में 'असतीव्रज्या' के अन्तर्गत असती के प्रेमप्रदर्शक पद्यों के साथ उद्धृत किया गया है। काव्यप्रकाश में इसके दृष्टान्तरूप से उद्धरण की चर्चा ऊपर की गई है।

प्रतीत होता है कि कोमल भावों की अभिव्यंजना में, उत्तान शृंगार की विवृति में, विरह की तीव्र वेदना के विवरण में ये मुक्तक पद्य राधाकृष्णसम्बन्धी प्रणयकविताओं के आदर्श रूप माने गए हैं। अमरुक की यह प्रसिद्ध कविता राधा की उक्ति के रूप में गृहीत की गई है[1]—

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
गन्तुं निश्चित चेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित प्रिय सुहृत्सार्थः कथं त्यज्यते ॥

वलयों ने प्रस्थान कर लिया; प्रियमित्र अश्रु लगातार चले गये; धृति क्षण भरके लिए भी न टिकी; चित्त ने आगे चलने का निश्चय कर लिया। प्रियतम के जाने के निश्चय कर लेने पर सब एक साथ ही प्रस्थान कर गये। ऐसी दशा में जाना जब निश्चित ही ठहरा, तो ऐ मेरे प्राण, प्रिय साथियों का संग क्यों छोड़ रहे हो? तुम भी इसी समय निकल क्यों नहीं जाते? अपने इष्ट-मित्रों का साथ क्यों छोड़ रहे हो?

विशुद्ध शृंगारिक कविताओं से राधाकृष्ण की आध्यात्मिक कविताओं की तुलना करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये वैष्णव कवितायें संस्कृतसाहित्य में प्रवहमान प्रेमपरम्परा के अन्तर्गत ही उल्लसित हुई हैं। इस तथ्य तर पहुँचना नितान्त स्वाभाविक भी है। राधाकृष्णकाव्य की यही पृष्ठभूमि थी। इसीके भीतर से यह अलोकसामान्य सुन्दरता तथा मधुरता से सनी रसपेशल कविताओं का उद्गम हुआ। सुर में अन्तर अवश्य है; पार्थिववाद में सनी इन भौतिक कविताओं में आध्यात्मिकता का पुट लेकर विशुद्ध उदात्तीकरण की अभिव्यंजना कवियों के भक्तिपेशल हृदय की प्रतीक है। प्रेम में दोनों दिशायें सर्वत्र विद्यमान रहती हैं। यदि वह विषय की ओर प्रवाहित होकर अधोमुखी होता है, तो वह शुद्ध शृंगारिक कविता का विषय बनता है। यदि वह प्रेम राधाकृष्ण जैसे दिव्यदम्पति की ओर प्रमुख होकर ऊर्ध्वमुखी होता है, तो वह विमल भक्ति-कविता का आलम्बन बनता है। भाव तो वही ठहरा। भौतिकता तथा आध्यात्मिकता, पार्थिव तथा अपार्थिव रूप ही उसका विभेदक बनता है। ऐसी दशा में हम वैष्णवकाव्य की पृष्ठभूमि के रूप में उन्हीं कविताओं को पाते हैं जिनमें घोर शृंगारिकता की सत्ता विद्यमान है। उन्नयन (सब्लिमेशन) की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा पार्थिव प्रेम की अभिव्यंजक इन कवितायों में अपूर्व आध्यात्मिकतासूचक परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है जो वैष्णव कविता की निजी विशिष्टता है।

शृंगारी कवियों तथा भक्त कवियों के काव्यों का पार्थक्य नितान्त स्फुट है। शृंगारी कवि संभोग को ही प्रधानता देकर प्रेम को स्थूल बना देता है। परन्तु वैष्णव कवियों का लक्ष्य विरह का ही वर्णन है। इसी कारण उनके द्वारा प्रदर्शित प्रेम नितान्त मञ्जुल, सूक्ष्म तथा तलस्पर्शी बन सका है। वैष्णव कवि प्राकृत प्रेम की चर्चा नहीं करता, प्रत्युत नित्यवृन्दावनधाम में सतत जागरूक अप्राकृत प्रेम का सरस निरूपण ही उसकी कविता का लक्ष्य होता है। वैष्णव कवि के जगत् में

१ श्रीरूपगोस्वामी की 'पद्यावली' में उद्धृत। श्लो० सं० ३१८।

साधक भगवत्प्रेम की ओर सतत उन्मुख होता है। वह व्रजनन्दन के सरस सान्निध्य का इच्छुक होता है, परन्तु इस दुर्लभ भाव तक पहुँचना सर्वदा सुलभ नहीं होता; इसलिए वह विरह में अपना दिन विताता है—ऐसे विरह में, जो हृदय को विपण्ण न वना कर उल्लसित वनाता है, हृदय की वृत्तियों को भगवदुन्मुख वनाकर उन्हें आह्लाद से पूर्ण बनाता है। वैष्णव कवि का यही आदर्श है। श्रीरवीन्द्रनाथ ने अपनी एक उत्कृष्ट कविता में वैष्णव कवि की विशिष्टता की वड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति की है—

सत्य करे कहो मोरे हे वैष्णव कवि
कोथा तुमि पेये छिले एइ प्रेमच्छवि ?
कोथा तुमि शिखेछिले एइ प्रेमगान
विरह तापित ? हेरि काहार नयान
राधिकार अश्रु आँखि पड़े छिलो मने ?
विजन वसन्त राते मिलन शयने
के तोमारे बेंधेछिल दुटि बाहु डोरे,
आपनार हृदयेर अगाध सागरे
रेखेछिल मग्न करि ? एतो प्रेम कथा,
राधिकार चित्त दीर्ण तीव्र व्याकुलता
चुरि करि लइयाछ कार मुख कार
आँखि हते ? आज तार नाहि अधिकार
से संगीते ? तारि नारीहृदयसंचित
तार भाषा हते तारे करिबे बंचित
चिर दिन ?

"सच बताओ हे वैष्णव कवि , तुमने यह प्रेमचित्र कहाँ पाया था ? यह विरहतप्त गान तुमने कहाँ सीखा था ? किसकी आँखें देख कर राधिका की आँसू-भरी आँखें याद आ गई थीं। निर्जन वसन्तरात्रि की मिलनशय्या पर किसने तुम्हें भुजपाशों से बाँध रखा था ? और अपने हृदय के अगाध समुद्र में मग्न कर रखा था ? इतनी प्रेमकथा, राधिका की चित्त विदीर्ण करनेवाली तीव्र व्याकुलता तुमने किसके मुँह से और किसकी आँखों से चुरा ली थी ? आज इस संगीतपर क्या उसका अधिकार नहीं है। क्या तुम उसीके नारी हृदय की संचित भाषा से उसी को सदा के लिए वंचित कर दोगे ?"

रविबाबू ने वैष्णवकाव्य की प्रशंसा में वैष्णवकवि के अन्तरंग की पहिचान में, जो वातें इस कमनीय कविता में लिखी हैं, वे यथार्थ हैं। कोई भी आलोचक वैष्णवकवि की कोमलभावना की तथा सहानुभूतिपूर्ण हृदय की प्रशंसा किये विना नहीं रह सकता । सचमुच वैष्णव कवि की सबसे महती देन साहित्य संसार को है—राधा । इसी नाम के भीतर अतुल रस का समुद्र लहरें मार रहा है और तव तक मारता रहेगा, जव तक एक भी व्यक्ति का हृदय प्रणयरस से सिक्त होने की क्षमता रखेगा तथा दूसरे के भावों में विभोर कर देने की कुशलता कवि की लेखनी में होगी।

द्वितीय परिच्छेद

राधाकाव्य की विकास-परम्परा

राधा वैष्णवकवि की मनोरम प्रतिमा का मधुर विलास है। कवि ने अपनी अलोक-सामान्य प्रतिभा के बल पर काँट-छाँट कर जिस नारी-कल्पलता का सर्जन किया है, वही राधा है। वह नारी के सब गुणों से परिपूर्ण एक प्रेम प्रतिमा है—नितान्त सुन्दर, कोमल, सरस तथा सरल। उसका बाह्यरूप जितना कमनीय है, उसका अन्तर विग्रह भी उतना ही मुग्धकारी है। राधा साहित्य की सृष्टि है जिसका प्रेम अपार्थिव रूप में उल्लसित होता है, जिसका सौन्दर्य स्वर्गीय सुषमा की एक झाँकी प्रस्तुत करता है और जिसका हृदय अगाध स्नेहवारिधि से सिक्त अमृत का उत्स है। मैंने प्रसंगवश अनेकत्र आलोचकों का ध्यान इस निष्कर्ष की ओर आकृष्ट किया है कि राधा की सर्जना साहित्यसंसार की अप्रतिम वस्तु है। वह रसस्निग्ध कवि की अतुलनीय तूलिका द्वारा चित्रित सौन्दर्यमयी रमणी है। साहित्य के भीतर से वह उद्भूत हुई है, परन्तु वह वहीं तक पर्यवसित नहीं हो जाती। वैष्णव धर्म ने उस मूर्ति को अपनाकर अपने कलेवर में अद्भुत उत्कृष्टता उत्पन्न कर दी है। राधातत्त्व का विवरण दार्शनिकों की अलौकिक चिन्तना का परिणाम है। परन्तु वह मूलतः साहित्य की वस्तु है, साहित्य की कल्पना है—विशुद्ध, निर्मल तथा रसनिर्भर।

विचारणीय प्रश्न है कि राधा का उदय किस साहित्य में हुआ—लोक साहित्य में या शिष्ट साहित्य में ? प्राकृत भाषा में लिखित साहित्य को हम 'लोक साहित्य' के नाम से पुकारते हैं तथा संस्कृत में निवद्ध साहित्य को 'शिष्ट साहित्य' की संज्ञा प्रदान करते हैं। राधाविपयक काव्य की उपलब्धि तो दोनों साहित्यों में हमें होती है, परन्तु उसके उद्‌गमस्थल की विवेचना करने पर हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वह कुछ विलक्षण सा अनेक आलोचकों को प्रतीत होगा। हमारा निष्कर्ष है कि राधा का उदय लोकसाहित्य में ही मूलतः सम्पन्न हुआ और वहीं से वह शिष्टसाहित्य में परिगृहीत की गई तथा कालान्तर में परिवृंहित भी की गई। इस प्रकार राधा के विकास की द्विविध धारा लक्षित होती है (१) लोकसाहित्य की धारा तथा (२) शिष्ट-साहित्य की धारा। इन उभयविध धाराओं के संयुक्त अनुशीलन से ही हम राधा के पूर्ण साहित्यिक रूप के ग्रहण करने में कृतकार्य हो सकते हैं। इस निष्कर्ष को प्रमाणित करने के लिए हम कतिपय मुख्य तर्क उपस्थित करने जा रहे हैं जिनके अनुशीलन से कोई भी निष्पक्ष आलोचक उस तथ्य तक पहुँच सकेगा; ऐसी मेरी धारणा है।

राधा : गाथा-सप्तशती

किसी पिछले परिच्छेद में मैंने सप्रमाण दिखलाया है कि राधा का सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख हाल के द्वारा प्रणीत (या संगृहीत) 'गाथा सप्त शती' में उपलव्ध होता है। सुभीते के लिए राधा नाम से अंकित वह गाथा यहाँ उद्धृत की जा रही है—

मुहमारुएण तं कह्ण ! गोरअं राहिआएँ अवणेन्तो
एताणं वल्लवीणं अण्णाणं वि गोरअं हरसि॥ (१.२९)

कोई गोपी श्रीकृष्णचन्द्र से उनकी राधा के प्रति आसक्ति को लक्ष्य कर कह रही है—हे कृष्ण, तुम अपने मुखमारुत से—मुँह की फूंक से—राधा के मुँह में लगे गोरज (अर्थात् धूलि) को दूर कर रहे हो। इस व्यापार के द्वारा इन गोपियों का तथा अन्य नारियों का गौरव हरण कर रहे हो। इस गाथा में राधा का स्पष्ट उल्लेख ही नहीं है, प्रत्युत उसके प्रति कृष्ण की विशिष्ट आसक्ति तथा प्रेम का भी पूरा संकेत है।

गोपीलीलाविपयक अन्य गाथाओं की ओर दृष्टिपात कीजिए। गोपियाँ यशोदाजी से श्रीकृष्ण के नटखट व्यवहार की शिकायत करने आई हैं। इस पर यशोदाजी कह रही हैं—"आज भी हमारा दामोदर अभी वालक है; यह कभी दुर्विनीत चेष्टा नहीं कर सकता;" यशोदा जव यह कह रही थीं तव व्रजवनितायें कृष्ण के मुँह की ओर देख कर चुपचाप हँस रही थीं। आशय है कि कृष्ण के वालकपन के भीतर उसका सब उत्पात छिप गया, माता को उसके उत्पाती जीवन तथा अटपटी चाल की तनिक आशंका भी नहीं होती—

अज्जवि बालो दामोअरो त्ति इऊ जंपिए जसोआए।
कह्णमुह पेसिअच्छं णिहुअं हसिअं वअवहूहिं॥—२।१२

एक दूसरी गाथा में किसी गोपी के उत्कृष्ट कृष्ण-प्रेम का पूरा परिचय हमें मिलता है। कोई निपुण गोपी नाच की प्रशंसा करने के वहाने किसी अपनी सहेली गोपी के पास

जाती है और उस गोपी के कपोल पर प्रतिविम्बित श्रीकृष्ण का चुम्बन कर रही हैं। दूर स्थित किसी भी गोपी को इस घटना का पता ही क्यों कर चल सकेगा ? वह तो यही समझती है कि गोपी अपनी सखी का केवल चुम्बन कर रही है, परन्तु यह चुम्बन तो था उस कृष्ण की कपोलगत प्रतिभा का। दूरस्थ कृष्ण का चुम्बन लोकलाज के कारण न सही, तो न सही। उनकी प्रतिमा का चुम्बन कौन रोक सकता है ? गोपी को निपुण वतलाने का यही हेतु है।

णच्चण सलाहणणिहेण पास परि संठिआ णिउण गोवी।
सरिस गोविआणं चुम्बइ कवोल-पडिमागअं कह्णम्॥ —२।१४

एक तीसरी गाथा में गोपिकाओं द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति गहरी उलाहना का प्रसंग है। श्रीकृष्ण अपने उत्पाती स्वभाव के कारण वदनाम थे। वे कभी इस गोठ में भेंट करने जाते हैं किसी गोपी से, तो कभी दूसरे ही गोठ में पैठते हैं अन्य गोपी से मुलाकात करने के वास्ते। कोई गोपी श्रीकृष्ण के इस चंचल सुभाव पर तीखा व्यंग्य कस रही है—हे कृष्ण, यदि भ्रमण करते हो, तो इसी तरह सौभाग्यगर्वित होकर इस गोष्ठ में भ्रमण करो, यदि तुम महिलाओं के गुण दोष का विचार करने में समर्थ हो। स्त्रियों के गुण में दोष के विचार करने की क्षमता तुम में तनिक भी नहीं। फलतः तुम्हारा गोठों में भ्रमण लम्पटता का ही द्योतक है—

जइ भमसि भमसु एमेअ कह्ण! सोहग्ग गव्विरो गोट्ठे
महिलाणं दोसगुणे विचारइउं जइ खमो सि॥ —५।४७

प्रथम शताब्दी में विरचित यह गाथासप्तशती जो उस सुदूर प्राचीन युग के प्राकृत कवियों की चुनी हुई कमनीय कवितायें प्रस्तुत करती है सचमुच लोकसाहित्य का प्रतिनिधि काव्यग्रंथ है। इसके संग्रहकर्ता शातवाहन नरपति हाल ने वड़े गर्व से घोषित किया है कि करोड़ों गाथाओं में से चुन कर विन्यस्त अत्यन्त रुचिर तथा ललितगाथाओं का यह संग्रह आलोचकों का तथा काव्यरसिकों का अवश्यमेव हृदयावर्जन करेगा। तथ्य भी ऐसा ही है। यह सप्तशती चुस्त श्रृंगारिक भावों को प्रकट करने में अद्वितीय है। इसकी गाथायें आलोचकों द्वारा वहुशः प्रशंसित तथा आदृत हैं जिन्होंने इन्हें ध्वनि कविता का आकर स्वीकार किया है। उस युग में श्रृंगारी कविता के प्रति जनता की विशेष अभिरुचि दीख पड़ती है। राधाकृष्ण की श्रृंगारीलीलाओं के उद्गम का वही युग था। कृष्ण को व्रज की आभीरवालाओं से विशेष प्रीति थी। उनके साथ क्रीडा करते वे कभी अघाते नहीं थे। इन गोपियों में उनकी एक प्रेयसी गोपी थी जिसका भागवत तथा विष्णुपुराण में हम स्पष्ट संकेत पाते हैं। वह व्रजनन्दन की प्रेयसी 'राधा' के अभिधान से मण्डित होकर इस युग में अवतीर्ण हुई। ग्रन्थ के आरम्भ में दिखलाया गया है कि 'राधा' नाम है पर्याप्त प्राचीन; यह वेदों में भी उपलब्ध होता है। श्रीकृष्ण की प्रेयसी कल्पना-जगत् की सृष्टि न होकर मांसल रूप में अपना साहित्यिक आविर्भाव पाती है इसी गाथासप्तशती में। श्रृंगारी कविता के प्रति आसक्त जनता ने यदि कृष्ण की प्रेयसी का नाम ही नहीं दे डाला, प्रत्युत उसकी श्रृंगारी केलि-क्रीडा का भी

काव्यजगत् में आविर्भाव किया, तो इस तथ्य पर अविश्वास करने की गुञ्जाइश न होनी चाहिए।

एक बात और भी। राधाकृष्ण की गीतिकाओं की अभिवृद्धि में भी इस सप्तशती का योगदान कम नहीं रहा है। इसकी बहुत सी विशुद्ध शृंगारी गाथायें भाषा के पदकर्त्ताओं द्वारा आध्यात्मिकता से सम्पन्न बनाकर सर्वांशतः गृहीत कर ली गई हैं। एक दो उदाहरण ही पर्याप्त होगा—

विरह के दिन गिनने में असमर्थ किसी मुग्धा की विवशता देखिए। प्रियके विरह में दिन गिनते-गिनते हाथ और पैर की उँगलियाँ समाप्त हो गईं, जिनके सहारे वह दिन गिना करती थी। अब वह किसी तरह दिनों को गिनेगी? इसी विचार से चिन्तित होकर वह मुग्धा रो रही है—

हत्थेसु अ पाएसु अ अंगुलि-गणणाइ अइगआ दिअहा।
एण्हिं उण केण गणिज्जउ त्ति भणिऊ रुअइ मुद्धा॥

—गाथासप्तशती ४१७

इस प्रकार के विरह दिनों के गिनने कीं बात वैष्णव कविता की साधारण घटना है जिसका उल्लेख अनेक कवियों ने अपने पदों में किया है। विद्यापति की राधा कहती हैं—

कत दिन माधव रहब मथुरापुर
कबे घुचब बिहि वाम।
दिवस लिखि लिखि नखर खोयाओल
बिछुरल गोकुल नाम॥

अन्यत्र भी यही भाव इस प्रकार उपन्यस्त है—

एखन तखन करि दिवस गमाओल
दिवस दिवस करि मासा।
मास मास करि बरस गमाओल
छोड़लूं जीवन आशा॥

चण्डीदास ने इस भाव को बड़ी सुन्दरता से इस पद में रखा है—

आसिवार आसे लिखिनु दिवसे
खोयाइनु नखेर छन्द।
उठिते बसिते पथ निरखिते
दु आँखि हइल अंध॥

हाथ पैर की उंगलियों के सहारे दिन गिनने की प्रणाली के अतिरिक्त एक और भी पद्धति थी। दीवाल के ऊपर या जमीन के ऊपर रेखा खींच कर गणना करने की इस पद्धति के उपयोग से भी नवीन चमत्कारी भावों का वर्णन गाथा में उपलब्ध होता है। नायिका का प्रियतम जिस दिन प्रातःकाल परदेस गया, वह प्रेम की अधिकता के कारण उसकी अवधि गिनने लगती है उसी समय से ही। 'प्रिय मेरा आज गया' आज गया—इस तरह गिनते-गिनते नायिका ने दिन के प्रथमार्द्ध में ही दोपहर होते-होते

दीवाल को रेखाओं से चित्रित कर दिया। उसकी अधीरता की सुन्दर अभिव्यंजना है इस सरस गाथा में––

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए।
पढमं व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिं चित्तलिओ॥ ––गा० श० ३।८

वैष्णव कविता में यही भाव उपलब्ध होता है। विद्यापति का यह पद इस विषय में तुलनीय है––

कालिक अवधि करिय पिया गेल
लिखइते कालि भीत भरि गेल।
भले प्रभात कहत सबहि
कह कह सजनि कालि कबहि॥

अन्यत्र भी यही भाव मिलता है––

अवनत वयने हेरत गीम
खिति लिखइते भेल अंगुलि छीन॥
पद अंगुलि देइ खिति पर लेखइ
पाणि कपोल अवलम्ब॥

इस पद का भाव संस्कृत के इस विश्रुत पद्य में भी मिलता है––

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितः।

अन्तर इतना ही है कि जहाँ संस्कृत का पद्य दयित की दशा का द्योतक है, वहाँ यह पद दयिता की अवस्था का परिचायक है। इस प्रकार गाथासप्तशती के द्वारा चित्रित लोकसमाज के भीतर से श्रीव्रजनन्दन की प्रेमलीलाओं का तथा उनकी प्रेयसी श्रीराधा का आविर्भाव सम्पन्न हुआ; इस तथ्य को स्वीकार करना अनुपयुक्त न होगा।

राधा : अपभ्रंश काव्य

अपभ्रंश काव्यों में भी गोपीजनों के साथ श्रीकृष्ण की ललितकेलि का वर्णन हमें उपलब्ध होता है। जैनियों के द्वारा निवद्ध अपभ्रंशभाषा के काव्यों का प्रकाशन इधर प्रचुरता के साथ हो रहा है। उनमें वृन्दावनलीला अपने पूर्ण वैभव के साथ संकेतित है। पुष्पदन्त के उत्तरपुराण[1] की ८५ वें सन्धि (सर्ग) में नारायण की बाल-क्रीडा का बड़ा ही हृदयावर्जक वर्णन किया गया है जिसमें गोपियों की केलि-क्रीड़ा का सरस विन्यास है। इस ग्रन्थ का रचना काल १०म शती का मध्यभाग है। आचार्य पुष्पदन्त राष्ट्रकूटवंशीय नरेश कृष्ण तृतीय (९३९ ई०–९५९ ई०) के महामात्य भरत तथा उनके सुयोग्य पुत्र नन्न के द्वारा सम्मानित तथा आदृत थे; इसका उल्लेख ग्रन्थ के भीतर पाया जाता है। एक जैन धर्मावलम्वी कवि के द्वारा वर्णित यह सरस प्रसंग इस वात का निःसन्दिग्ध साक्षी है कि जनता में कृष्ण की वाललीला का बहुल प्रचार था तथा उनकी यमुनापुलिन पर विन्यस्त गोपियों के संग मधुरलीला का अस्वादन जनता प्रेम तथा

१ 'उत्तरपुराण' माणिकचन्द दिगम्बर जैन, ग्रन्थमाला में बम्बई से प्रकाशित, १९४१। उसी की ८५ वें सन्धि से यह उद्धरण यहाँ दिया जाता है।

भक्ति से करती थी। रास के वर्णन प्रसंग में पुष्पदत्त का कथन है कि कोई सखी आधी विलोई दही को छोड़ कर वैसी ही भाग खड़ी हुई; किसीकी मथानी टूट गई । इस पर वह कह रही है कि तुमने मेरी मथानी तोड़ डाली है और इसका मूल्य एक आलिंगन देकर चुकाओ। किसी गोपी की पाण्डुर रंग की चोली गोविन्द की छाया से काली हो जाती है। इस प्रकार क्रीडा-परवश होकर गोपाल गोपियों का हृदय हरण कर रहे हैं। इस सुन्दर पद्य में रास के समय की तीव्र आकुलता का स्पष्ट संकेत किया गया है और वह भी एक जैनकवि के द्वारा। पुष्पदन्त का यह वर्णन गीतगोविन्द की रचना से लगभग दो सौ वर्ष पहिले का है, यह घटना इस वर्णन को ऐतिहासिक महत्त्व दे रही है और इस तथ्य का विशद साक्षी है कि जनता में राधाकृष्ण की केलियों का बहुल प्रचार हो गया था। जयदेव के आविर्भाव से दो शताब्दी पूर्व ही राधाकृष्ण जनता के हृदय तक पहुँच चुके थे तथा सामान्यजनों का मनोरंजन करने में समर्थ थे। उत्तर पुराण का वह आवश्यक अंश यह है—

धूली धूसरेण वरमुक्क सरेण तिणा मुरारिणा
कीला - रस - वसेन गोवालअ - गोवी-हियय - हारिणा।
मंदीरउ तोडिवि आवट्टिउं, अद्ध विरोलिउं दहिउं पलोट्टिउं।
कावि-गोवी गोविन्दहु लग्गी, एण महारी मंथानि भग्गी।
एयहि मोल्ले देहु आलिंगणु, णं तो मा मेल्लहु मे प्रंगणु।
काहिं वि गोविहि पंडरु चेल्लउं, हरि-तणु-छाइहि जायउँ-कालउं॥

—उत्तरपुराण, ८५ सन्धि (नारायण बालक्रीडा वर्णनम्)

१२वीं शती के आसपास अपभ्रंश भाषा में विपुल काव्यसम्पत्ति उपलब्ध थी जिसका किंचित् आभास हमें हेमचन्द्र के द्वारा उदाहरणरूप में संगृहीत दोहों में मिलता है। प्रत्येक भाषा का कोई-न-कोई नितान्त लोकप्रिय छन्द होता है जिसे हम उस भाषा का मुख्य छन्द कह सकते हैं। संस्कृत में अनुष्टुप् तथा प्राकृत में गाथा के समान अपभ्रंश में दोहा ही ऐसा लोकप्रिय छन्द है। अपभ्रंश भाषा में दोहों में विरचित अनेक काव्यग्रन्थ विद्यमान थे जिनसे उद्धरण देकर हेमचन्द्र ने अपने अपभ्रंश के व्याकरणरूपों के लिए उदाहरण प्रस्तुत किया है। ऐसे उदाहरणों में दो दोहे ऐसे हैं जिनमें राधाकृष्ण की लीला का वर्णन उपस्थित किया गया है। कोई विशेष संकेत तो उपलब्ध नहीं होता, परन्तु प्रतीत होता है कि ये दोहे हेमचन्द्र से प्राचीन हैं तथा किसी कृष्ण-परक पूर्ण काव्य के अंश हैं। इन दोहों के भावों को परखिए।

हरि नच्चाविउ पंगणहि विम्हइ पाडिउ लोउ
एम्बइ राह पओहरहं जं भावइ तं होउ॥

दोहे का आशय है कि हरि को प्रांगण में नचाने वाले तथा लोगों को विस्मय में डालने-वाले राधा के पयोधरों को जो भावे सो हो। इस आशय से पता चलता है कि यह किसी सखी की उक्ति राधा के प्रति है, जो उसके रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा कर राधा के समधिक महत्त्व को प्रकट करना चाहती है। दूसरा दोहा—मइं भणियउँ बलिराय तुहुँ

केहउ मग्गण एहु—नारायण तथा राजा वलि की कथा के संकेत पर निर्मित किया गया है। मेरा लक्ष्य प्रथम दोहा ही है जिसमें राधा की शृंगारिकलीला का स्पष्ट संकेत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश के काव्यों में राधाकृष्ण की लीला का वर्णन किया गया था और जो परम्परा 'गाथा सप्तशती' से आरम्भ हुई थी वह इस मध्ययुग में अक्षुण्णरूप से विद्यमान रही।

'प्राकृत पैंगल' में उद्धृत अपभ्रंशपद्यों का युग हेमचन्द्र से अर्वाचीन माना जाना चाहिए। यह एक छन्दोग्रन्थ है जिसमें १२ शती से १४ शती तक के अपभ्रंश पद्य दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किय गये हैं। इसमें प्राचीन सामग्री भी वर्त्तमान है; परन्तु दोनों का विश्लेषण वैज्ञानिक ढंग पर करना एक प्रकार से कठिन है। ध्यातव्य तथ्य इतना ही है कि इस ग्रन्थ में उद्धृत पद्यों के साक्ष्य पर हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इन शताब्दियों में भाषाकवियों की दृष्टि से राधाकृष्ण की केलिकथा कथमपि अन्तर्हित नहीं थी; वे उसमें पर्याप्त रसिकता के साथ रमण करते थे, जिसकी अभिव्यक्ति उन अज्ञातनामा कवियों के इन पद्यों में भली-भाँति होती है। प्राकृत पैंगल में निर्दिष्ट काव्य को हम 'पुरानी हिन्दी' की रचना मान सकते हैं, क्योंकि इसी के अनन्तर तो हिन्दीकाव्य का नैसर्गिक आविर्भाव सम्पन्न होता है और वह अपनी विशिष्टता के साथ आगे प्रवाहित होता है। प्राकृतपैंगल[1] में उदाहृत पद्यों की भाषा अधिकतर शौरसेन अपभ्रंश है जो व्रजभाषा काव्य का मूल माना जाता है। इसमें श्रीकृष्ण के विपय में कतिपय पद्य मिलते हैं और एक नितान्त सरस पद्य में राधा के साथ कृष्ण की केलि का हृदयावर्जक वर्णन है। ये पद्य नीचे दिये जाते हैं।

अरेरे वाहहि कान्ह णाव, छोडि डगमग कुगति ण देहि।
तइँ इथि णदिहिं सँतार देइ, जो चाहसि सो लेहि॥
(दोहा; १.९)

आशय—हे कृष्ण नौका खेवो; यह नाव छोटी है, इसे डगमग गति मत दो। इस नदी में संतार देकर-इस नदी से पारकर-जो तुम चाहो, सो ले लेना।

इस पद्य में स्पष्ट है कि यह गोपियों का वचन श्रीकृष्ण के प्रति है और इसका सम्वन्ध श्रीकृष्ण की नौकालीला से है। यह पद्य मुक्तक-सा प्रतीत होता है, परन्तु सम्भावना की जा सकती है कि किसी कृष्णकाव्य का यह आवश्यक अंश हो।

कंस संहारणा पक्खि संचारणा
देवई डिंभआ देउ मे णिब्भआ॥
(विज्जोहा; २.१४६)

---

१ 'प्राकृत पैंगलम्' का एक प्राचीन संस्करण चन्द्रमोहन घोष के संपादकत्व में १९०३ ई० में कलकत्ते से प्रकाशित था। अब उसका एक नवीन तथा वैज्ञानिक संस्करण तीन संस्कृत टीकाओं (१) रविकर उपनाम श्रीपति कृत 'पिंगलसारप्रकाशिनी', (२) लक्ष्मीनाथ भट्ट रचित 'पिंगलप्रदीप', (३) वंशीधर कृत 'पिंगलप्रकाश' के साथ 'प्राकृत ग्रन्थ परिषद्' वाराणसी से १९५९ में प्रकाशित हुआ है। यह पूर्व संस्करण की अपेक्षा अधिक शुद्ध तथा प्रामाणिक है।

हे कंस के मारनेवाले, गरुड़ पक्षी पर संचरण करनेवाले देवकी के पुत्र मुझे अभय प्रदान करो ।

भुअण अणंदो तिहुअण कंदो
भमर - रावण्णो स जअइ कण्हो ॥
(चतुरंसा; २१४६)

अर्थात् समस्त भुवनों के आनन्द रूप, त्रिभुवन के मूल भ्रमर के समान नीलवर्ण कृष्णकी जय हो ॥

श्रीकृष्ण की स्तुति में प्रयुक्त यह पद्य कितना अभिराम है—

परिणअ - ससहर-वअणं विमल - कमलदलणअणं
विहिअ - असुरकुलदलणं पणमह सिरिमहु - महणं ॥
—२।१०६; दमनक वृत्त

पूर्ण चन्द्रमा के समान मुखवाले, विमल कमल पत्र के तुल्य नयन वाले असुरकुल का दमन करनेवाले श्रीमधुमथन (मधुसूदन, श्रीकृष्ण) को प्रणाम करो ।

ग्रन्थ के अन्तिम पद्य में शिव तथा कृष्ण की स्तुति एक साथ की गई है। इस प्रकार की स्तुति में आश्चर्य न होना चाहिए; क्योंकि हरिहर की युगल मूर्त्ति में शिव तथा कृष्ण का सान्निध्य सर्वदा वांच्छित होता ही है। यह पद्य इस तथ्य का पर्याप्त द्योतक है कि इस युग में कृष्ण की उपासना शंकर की उपासना के समान ही लोकप्रिय तथा वहुश: प्रचलित हो गई थी। शिव-कृष्ण अर्थात् हरिहर का यह स्तुतिपरक पद्य इस प्रकार है—

जअइ जअइ हर वलइअ विसहर
तिल इअसुंदरचंदं मुणिआणंदं सुहकंदं ।
वसह गमण-कर तिसुल - डमरुधर
णअणहि डाहु अणंगं रिउभंगं गोरि-अधंगं ।
जअइ जअइ हरि भुजजुअधरु गिरि
दहमुह कंस विणासा पिअवासा सुंदर हासा ।
बलि छलि महि हरु असुर-विलअ-करु
मुणिअण माणसहंसा सुहभासा उत्तमवंसा ॥
—२।२१५; त्रिभंगी

इस पद्य के पूर्वार्द्ध में महादेव की तथा उत्तरार्द्ध में कंस के विनाश करनेवाले कृष्ण की स्तुति की गई है।

अव उस शोभन पद्य पर दृष्टिपात कीजिये जिसमें 'राधामुख का भ्रमर के समान पान करनेवाले कान्ह की स्तुति वड़ी ही सजीव भाषा में उपन्यस्त की गई है।'

जिणि कंस विणासिअ कित्ति पआसिअ
मुट्ठि अरिट्ठि विणास करे, गिरि हाथ धरे,
जमलज्जुण भंजिअ पअभर गंजिअ
कालिअ कुल संहार करे, जस भुअण भरे ।

चाणूर विहंडिअ णिअकुल मंडिअ
राहामुह महुपाण करे, जिमि भमरवरे
सो तुम्ह णराअण विप्पपराअण
चित्तह चिंतिअ देहु वरा, भअभीअहरा ॥

—१।२०७; मदनगृह छन्द ।

[जिन्होंने कंस को मारा, कीर्ति प्रकाशित की, मुष्टिक और अरिष्ट का नाश किया, पर्वत को हाथ पर रखा; जिन्होंने यमलार्जुन को तोड़ा, पैरों के वोझ से कालियनाग का दर्प चूर्ण किया और उसके कुल का नाश किया, तथा यश से भुवन भर दिया; जिन्होंने चाणूर का खण्डन किया, अपने कुल को मंडित किया, तथा भ्रमर की भाँति राधा के मुख का पान किया; वे भवभीति के हरणकरने वाले विप्रपरायण नारायण तुम्हें चित्त का चिन्तित वर प्रदान करें।]

इस ग्रन्थ में श्रृंगारी कविता के वड़े ही मनोहर सुन्दर पद्य उदाहृत किये गये हैं जिनके भावों की समता वैष्णवपदावली के रचयिता कवियों के पदों में वहुशः उपलब्ध होती है। वहुत सम्भव है कि इनका प्रभाव जाने या अनजाने इन पदों पर पड़ा हो। एक दो दृष्टान्त ही पर्याप्त होगा।

चलि चूअ कोइलसाव महुमास पंचम गाव
मण मज्झ वम्मह ताव णहु कंत अज्जवि आव ॥

—२।८७; तोमरछन्द ।

कोई विरहिणी नायिका अपनी सखी से कह रही है—हे सखि, कोयल के वच्चे आम की ओर जाकर वसन्त समय में पंचमस्वर से गा रहे हैं। मेरे मन को काम तपा रहा है; प्रिय अभी तक नहीं लौटा।

जं णच्चे विज्जू मेहंधारा पंफुल्ला णीपा सद्दे मोरा
वाअंता मंदा सीआ वाआ, कंपंता गाआकंता णा आ।

—२।८६; रूपमाला ।

विरहिणी की उक्ति सखी से —विजुली नाच रही है; मेघ का अन्धकार (फैल गया है) कदम्व फूल गये हैं, मोर शब्द कर रहे हैं, शीतल पवन धीरे-धीरे चल रहा है, इसलिए मेरा शरीर काँप रहा है; परन्तु हाय! कन्त अभी तक नहीं आया।

फुल्ला णीवा भम भमरा दिट्ठा मेहा जल समला।
णच्चे विज्जू पिअसहिआ आवे कंता कहु कहिआ ॥

—२।८१; पाइत्ता छन्द ।

हे प्रिय सखि, कदम्व फूल गये हैं, भौंरे घूम रहे हैं, जल से श्यामल मेघ दिखाई दे रहे हैं, विजुली नाच रही है; कहो, प्रिय कव आवेंगे?

इन पद्यों के समान अर्थवाली वैष्णव कविता को यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं। इन्हें यहाँ देने का तात्पर्य इतना है कि अपभ्रंश काल की ये कवितायें भाषा की वैष्णव कविता की पूर्व पीठिका हैं: जहाँ से वह अपनी पुष्टि तथा स्फूर्ति ग्रहण करती है। अन्यत्र दिखलाया

गया है कि वैष्णवकाव्य में वर्णित अपार्थिव प्रेम तथा शृंगारीकाव्यों में अभिव्यक्त पार्थिव प्रेम के चित्रण में विशेष पार्थक्य नहीं है। वैष्णवकाव्य के स्वरों में उदात्ता है, भावों में परिशुद्धि है और राधाकृष्ण जैसे दिव्यदम्पति के विषय में प्रस्तुत इन काव्यों में वैसा होना नैसर्गिक है, परन्तु उनके प्रवाह की धारा वही है जो संस्कृत के, प्राकृत के और अपभ्रंश के शृंगारी काव्यों के माध्यम से प्रवाहित होती आई है। साहित्य के विकास की पद्धति भी इस तथ्य का समर्थन करती है। साहित्य की कोई भी प्रवृत्ति हो, वह किसी पूर्वपीठिका पर कम या अधिक मात्रा में अवश्यमेव अवलम्बित रहती है। वैष्णवकविता इस सामान्य नियम का कथमपि अपवाद नहीं है।

राधा-कृष्णकाव्य : स्वरूप और मूल

कृष्णकाव्य के साथ गीतिकाव्य का एक प्रकार से अविच्छेद सम्बन्ध है। गीतिकाव्य का कवि विषय के चुनाव के लिए अपने से बाहर नहीं जाता; वह अपने अन्तस्तल में प्रवेश करता है और अपनी अनुभूतियों का ही कोमल चित्रण प्रस्तुत करता है। फलतः उसके काव्य में अन्तस्तल में नित्य नूतन उदीयमान भावों की मधुर अभिव्यंजना ही प्रधान लक्ष्य होती है। संस्कृत साहित्य में गीतिकाव्य नामक किसी काव्य रूप की स्वीकृति नहीं है, परन्तु उसके मूलतत्त्व की स्थापना खण्डकाव्य में, विशेषतः मुक्तक काव्य में, बहुशः उपलब्ध होती है। सन्दर्भ से मुक्त होने के कारण ही 'मुक्तक' इस अभिधान से पुकारा जाता है। यह विषय की तथा रस की दृष्टि से स्वतः पूर्ण होता है। वह किसी भी बाह्य उपकरण पर अपनी रसवत्ता के लिए अवलम्बित नहीं रहता। संस्कृत का मुक्तक अंग्रेजी लिरिक का पर्यायवाची माना जा सकता है। पद्यों की गेयता, अर्थों का मधुरविन्यास, अन्तस्तल की सततपरिवर्तनशील वृत्तियों का चित्रण, भाव-चाञ्चल्य अथवा भावतारल्य का ललित उपन्यास—लिरिक पोइट्री के ये ही कतिपय विधायक तत्त्व हैं और इन सब की सत्ता संस्कृत मुक्तकों में भी बहुशः उपलब्ध होती है। इसलिए गीतिकाव्य का अन्तर्भाव हम मुक्तककाव्य के भीतर सुगमता से मान सकते हैं।

ऊपर कहा गया है कि गीतिकाव्य कृष्णकाव्य की यथार्थ अभिव्यक्ति के निमित्त सर्वाधिक सुन्दर तथा सर्वापेक्षया उपर्युक्त काव्यरूप है। दोनों के बीच एक अविभाज्य सम्बन्ध विषय की तथा इतिहास की दृष्टि से भी दृष्टिगोचर होता है। व्रजनन्दन श्रीकृष्ण का जीवन माधुर्य का निकेतन है; आनन्द का उत्स है तथा सौन्दर्य का सार है। उनकी वृन्दावनलीला माधुर्य की महँक से सुगन्धित है, चाञ्चल्य की केलि से कमनीय है; तथा सारल्य की खेल से उल्लसित है। उस लीला के ललित उपन्यास के लिए सर्वाधिक शोभन काव्यरूप गीतिकाव्य ही है और हो सकता है। प्रबन्धकाव्य के रूप में उसका चित्रण विशेष सफल नहीं होता; इस विषय में हिन्दी के अनेक कवियों की विफलता इसकी साक्षी है कि गीतिकाव्य का कलेवर लीलापुरुषोत्तम के लीलागुम्फन के निमित्त सर्वोत्तम साधन है। यही कारण है कि कृष्णचरित के कीर्तन के अवसर पर संस्कृत के कवियों ने भी स्थान-स्थान पर गीतों को स्थान दिया है। श्रीकृष्ण की लीलाओं के वर्णन में

श्रीमद्भागवत् अन्य पुराणों की अपेक्षा नितान्त समर्थ तथा सरस माना जाता है। यथार्थतः है भी वह ऐसा ही ललित-कोमल भावों का वर्णन-परक काव्य। उसने श्रीकृष्ण के लीलावर्णन के प्रसंग में अनेक मंजुल गीतियों का बड़ा ही सरस उपन्यास किया है। रास के अन्तर्गत कृष्ण के अन्तर्धान होने पर व्रजांगनाओं के द्वारा उदीरित गोपीगीत (१० स्कन्ध, ३१ अध्याय) वंशीवादन की मधुरिमा तथा प्रभाव की अभिव्यंजना में वेणुगीत (१०।२१) तथा युगलगीत (१०।३५) कृष्ण के विरह में अपनी तीव्रवेदना प्रकट करने वाली रुक्मिणी आदि पटरानियों द्वारा कथित महिषीगीत (१०।९०) तथा उद्धव के सामने कृष्ण के प्रति तीव्र उपालम्भ की अभिव्यक्ति में भ्रमर को लक्ष्य कर गोपियों द्वारा प्रकटित भ्रमरगीत (१०।४७)—ये ऐसी ललित गीतें हैं, जिनमें भाव-तारल्य तथा मानस-वृत्ति का चित्रण बड़े ही चमत्कारिक ढंग से किया गया है। परवर्ती वैष्णव कविता के निर्माता भक्तकवियों की काव्यकला के ऊपर भागवत का बड़ा ही मोहक तथा हृदयावर्जक प्रभाव पड़ा था; यह तथ्य किसी भी विज्ञ आलोचक की दृष्टि से ओझल नहीं माना जा सकता।[1]

भागवत : स्वरूप का निर्देश

व्रजनन्दन की व्रजलीला की सुषमा जितनी मधुरता के साथ श्रीमद्भागवत में विकसित होती है, उतनी अन्यत्र नहीं। 'वैष्णवगीतिका' अथवा 'गेयमुक्तकों' का मूल स्रोत यहीं से प्रवाहित होता है। इसके पद्यों में एक विचित्र माधुर्य तरंगित होता है जिससे आकृष्ट हुए विना मानवहृदय रह नहीं सकता। भागवत श्रीकृष्णचन्द्र का शब्दमय विग्रह है। जिस प्रकार व्रजनन्दन पूर्ण रसामृतसार हैं, भागवत भी उसी प्रकार पूर्ण शब्दामृतसार है। इस पुराण के भीतर भी इसकी महिमा की प्रभूत प्रशंसा की गई है।

यह भागवत अत्यन्त गोपनीय—एक रहस्यात्मक पुराण है, यह भगवत्स्वरूप का अनुभव करानेवाला तथा समस्त वेदों का सार है। संसार में फँसे हुए जो लोग इस घोर अन्धकार से पार जाना चाहते हैं, उनके लिए आध्यात्मिक तत्त्वों को प्रकाशित करनेवाला एक अद्वितीय दीपक है। वास्तव में उन्हीं पर करुणा कर बड़े-बड़े मुनियों के आचार्य श्रीशुकदेवजी ने इसका वर्णन किया है—

> यः स्वानुभावमखिल - श्रुतिसारमेकम्
> अध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम्।
> संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं
> तं व्याससुनूमुपयामि गुरुं मुनीनाम्॥
> —भागवत १।२।३

इतना ही नहीं, आत्माराम श्री शुकदेवजी को आकृष्ट करनेवाले इस पुराण की जितनी महिमा वर्णित की जाय, उतनी ही कम है। श्रीशुकदेवजी तो अपने ही आत्मानन्द में निमग्न थे। इस अखण्ड अद्वैत स्थिति से उनकी भेददृष्टि सर्वथा निवृत्त हो चुकी थी। फिर भी

---

१. द्रष्टव्य लेखक का ग्रन्थ—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १२०–१२५ (षष्ठ संस्करण, शारदामन्दिर, काशी, १९६०)

मुरलीमनोहर श्यामसुन्दर की मधुमयी, मंगलमयी, मनोहारिणी लीलाओं ने उनकी वृत्तियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और उन्होंने जगत् के प्राणियों पर कृपा करके भगवत्तत्त्व को प्रकाशित करने वाले इस पुराण का विस्तार किया। कौन ऐसा सामान्य मानव तथा सहृदय व्यक्ति होगा जो सर्वपापहारी व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजी के चरणों में श्रद्धा से अवनत न हो जाय?

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्-व्युदस्तान्यभावोऽ
प्यजित - रुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीयं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥
—भागवत १२।१२।६८

व्रजनन्दन की जो लीलायें शुकदेव जैसे संन्यस्त तथा वालब्रह्मचारी के चित्त को हठात् अपनी ओर खींच सकती हैं, वे यदि मानवों के हृदय को रसिकता से अपनी ओर खींच लेती हैं, तो इसमें विस्मय ही कहाँ? भागवत को केवल तत्त्वप्रकाशक पुराण मानना उसके साथ घोर अन्याय करना है। वह काव्य भी है और मधुरतम काव्य है। उसे काव्य का विग्रह पहनानेवाला साधन है मंजुलगीतों का सद्भाव। इन गीतों में मानव हृदय की सुन्दरतम अभिव्यक्ति है। पदशैली का आविर्भाव अवान्तर काव्यविकास के युग की घटना है, परन्तु भागवत की इन गीतियों में स्निग्धता तथा गेयता अपनी पूर्ण विभूति के साथ उल्लसित हो रही है; यह तथ्य किसी भी विज्ञ आलोचक की दृष्टि से परोक्ष नहीं है। एक दो उदाहरण से भागवत की इस सुरसता का परिचय मिल सकता है।

(गोपी-गीत से)

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्
श्रवण - मंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥
(भागवत १०।२९)

गोपियाँ व्रजनन्दन के रास में अकस्मात् अन्तर्हित हो जाने से नितान्त खिन्न हैं और इस पद्य में वे उनकी कथा के अमृत प्रभाव का वर्णन कर रही हैं—हे नन्दनन्दन, आपकी कथा अमृत के समान सन्तप्त (विरह से तथा भव-ताप से) पुरुषों को जिलानेवाली है। कवियों के द्वारा वह कीर्तित होकर पापों को दूर करने वाली है। सुनने में वह मंगलमयी है तथा शोभा से चर्चित है। वह वहुत विस्तृत भी है। उसकी जो स्तुति करनेवाले जन हैं वे पृथ्वीतल पर धन्य हैं तथा प्रभूत दानशील हैं।

(वेणु-गीत से)

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्तलक्षित - मनोभव - भग्नवेगाः।
आलिङ्गन - स्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारेः
गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः॥
(भागवत १०।२१।१५)

सखियाँ कह रही हैं—अरी सखी, इन जड़ नदियों को नहीं देखती ? इनमें जो भँवर दीख पड़ते हैं, उनसे इनके हृदय में श्यामसुन्दर से मिलने की तीव्र आकांक्षा का पता चलता है। उसके वेग से ही तो इनका प्रवाह रुक गया है। इन्होंने भी प्रेमस्वरूप श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि सुन ली है। यह देखो; ये अपनी तरंगों के हाथों से उनके चरण पकड़ कर कमल के फूलों का उपहार चढ़ा रही हैं और उनका आलिङ्गन कर रही हैं; मानों उनके चरणों पर अपना हृदय ही निछावर करती हैं।

(महिषी-गीत से)

प्रियराव-पदानि भाषसे मृतसञ्जीविकयाऽनया गिरा।
करवाणि किमद्य ते प्रियं वद मे वल्गितकण्ठ कोकिल ॥

(भागवत १०।४७।१३)

महिषीगण का कथन —री कोयल, तेरा गला बड़ा ही सुरीला है। मीठी बोली बोलनेवाले हमारे प्राणप्यारे के समान ही मधुर स्वर से तू बोलती है। सचमुच तेरी बोली मृतक को जिलानेवाली है। तेरी बोली में सुधा घोली हुई है, जो प्यारे के विरह में मरे हुए प्रेमियों को जिलानेवाली है। तू ही बता, इस समय हम तेरा क्या प्रिय करें ?

(भ्रमरगीत सें)

सकृदधर सुधां स्वां मोनिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्
परिचरति कथं तत् पादपद्मं तु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः ॥ (भागवत १०।४७।१।१५)

गोपियों का वचन भ्रमर से । हे भ्रमर, जैसा तू काला है, वैसे वे कृष्ण भी हैं। तू भी पुष्पों का रस लेकर उड़ जाता है, वैसे वे भी निकले। उन्होंने हमें केवल एकबार—हाँ ऐसा ही लगता है—केवल एकवार अपनी तनिक-सी मोहिनी और परममादक अधरसुधा पिलाई थी और फिर हम भोली-भाली गोपियों को छोड़ कर वे यहाँ से चले गये। पता नहीं, सुकुमारी लक्ष्मी उनके चरणकमलों की सेवा कैसे करती रहती है ? अवश्य ही वे भी छैल-छबीले श्रीकृष्ण की चिकनी-चुपड़ी बातों में आ गई होंगी। चितचोर ने उनका भी चित्त चुरा लिया होगा।

इन्हीं गीतों के कारण भागवत में वह सातिशय माधुर्य है और इन्हीं के हेतु वह मध्य युगीय प्रत्येक कृष्णपरक वैष्णव सम्प्रदाय का नितान्त प्रामाणिक तथा मान्य ग्रन्थरत्न है। महाप्रभु चैतन्य भागवत की मधुरिमा के जितने उपासक थे, उतने ही थे श्री वल्लभाचार्य। वल्लभ तो प्रस्थानत्रयी के अतिरिक्त भागवत को भी शास्त्र के सिद्धान्तों के लिए उतना ही प्रामाण्य प्रदान करते हैं और वे इसे व्यासकी 'समाधिभाषा' के विशिष्ट तथा साभिप्राय अभिधान से पुकारते हैं (समाधिभाषा व्यासस्य)। भागवत की विशिष्टता तथा वेदसाररूपता के विषय में जीवगोस्वामी का 'तत्त्वसन्दर्भ' पाण्डित्यपूर्ण विवेचन है और उनका सम्पूर्ण षड्सन्दर्भ इसीलिए 'भागवतसन्दर्भ' की महनीय संज्ञा से मण्डित है। इसीलिए चैतन्यमत में भी भागवत शास्त्र तथा निर्मल प्रमाण स्वीकार किया जाता है (शास्त्रं

भागवतं प्रमाणममलम्-विश्वनाथ चक्रवर्ती)। मेरे कथन का तात्पर्य यही है कि श्री मद् भागवत वैष्णव शास्त्र का जिस प्रकार सार प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार वैष्णव काव्यों को मौलिक प्रेरणा प्रदान करता है, चाहे वे संस्कृत में निवद्ध हों या देशी भाषाओं में विरचित हों। इस पुराण के इस उभयरूप को भलीभाँति समझना वैष्णव दर्शन तथा काव्य के विश्लेषण के निमित्त आवश्यक साधन है। भागवत के इन गीतों के छन्दों पर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये वर्णिक छन्द हैं। कतिपय वर्णिक छन्दों की कोमलता तथा गेयता नितान्त प्रसिद्ध है। मालिनी तथा शिखरिणी ऐसे ही रसपेशल छन्द हैं जिनमें संगीत के तत्त्व—गेयता, कोमलता, सुकुमारता आपामर प्रख्यात हैं। शिखरिणी में निवद्ध शिव महिम्निःस्तोत्र का वीणा के साथ गायन वहुशः देखा-सुना जाता है।

पद-शैली : क्षेमेन्द्र

कालान्तर में कृष्णगीतिका के निमित्त मात्रिक छन्दों का चुनाव संस्कृत में भी किया गया। यह कब किया गया? इसका उत्तर तो दिया जा सकता है, परन्तु कहाँ किया गया? इसका ठीक उत्तर देना कठिन है। १२वीं शती में मात्रिक छन्द में निवद्ध कृष्णगीति का दर्शन हमें मिलता है जयदेव के गीतगोविन्द में तथा क्षेमेन्द्र के दशावतार चरित में। दोनों में क्षेमेन्द्र कुछ प्राचीन प्रतीत होते हैं। इनकी अन्तिम रचना 'दशावतार चरित' का निर्माण अन्तरंग उल्लेख से १०६६ ईस्वी माना जाता है (४१ मिते लौकिकाब्दे)। ये काश्मीर के प्रख्यात प्रौढ़ महाकवि माने जाते हैं। त्रिकदर्शन की केन्द्रस्थली शारदाभूमि में भी ये वैष्णव कवि थे। साहित्य में युगान्तरकारी आलोचक श्री अभिनवगुप्ताचार्य के शिष्य होने पर भी वे उनके शैव दर्शन में दीक्षित नहीं थे, प्रत्युत भागवताचार्य 'सोमपाद'—नामक आचार्य से इन्होंने वैष्णवी दीक्षा ली थी। 'दशावतारचरित'[1] में भगवान् विष्णु के दसों अवतारों का बड़ा ही विशद प्राज्जल तथा रसपेशल विवरण वैदर्भीरीति में प्रस्तुत किया गया है। इनमें भी कृष्णावतार का वर्णन सर्वापेक्षया अधिक है। ८७३ पद्यों में निवद्ध कृष्णचरित पूरे ग्रन्थ के चतुर्थांश से भी अधिक हैं। ध्यान देने की वात है कि क्षेमेन्द्र ने श्रीकृष्ण की तीनों लीलाओं का वर्णन बड़े ही वैशद्य के साथ किया है। कृष्णचन्द्र के महाभारतीय चरित का विवरण बड़े विस्तार से मुख्य घटनाओं को स्पर्श करता हुआ निबद्ध किया गया है। कृष्ण की वृन्दावनलीला के वर्णनप्रसंग में राधा का नाम ही निर्दिष्ट नहीं है, प्रत्युत तत्सम्वद्ध श्रृंगारीलीलाओं का भी कमनीय विन्यास है। विरह-विधुरा गोपियाँ व्रजनन्दन के विरह में यह गीतिका गाती चित्रित की गई हैं[2]—

ललितविलासकलासुखखेलन
ललनालोभन शोभन यौवन
मानित-नववदने।

---

१. काव्यमाला में मुद्रित, बम्बई।

१. दशावतार चरित पृष्ठ ९१ (कृष्णावतार का वर्णन) काव्यमाला संस्करण, बंबई।

अलिकुल कोकिल कुवलय कज्जल
कालकलिन्दसुता विवलज्जल
कालियकुल-दमने ।
केशिकिशोर महासुरमारण
दारुण गोकुलदुरितविदारण
गोवर्धन-धरणे ।
कस्य न नयनयुगं रतिसज्जे
मज्जति मनसिज - तरलतरंगे
वररमणीरमणे ॥

यह गीतिका निश्चय ही मात्रिक छन्द में विरचित है । जयदेव की अष्टपदियाँ तो नितान्त प्रसिद्ध ही हैं । पूरे गीतगोविन्द में २४ अष्टपदियाँ नाना मात्रिकछन्दों में विन्यत की गई हैं । कृष्णचरित के साथ गीतिका का कोमल सामञ्जस्य विद्यमान है । फलतः गोपियों का गायन उभय काव्यों में मात्रा छन्दों में उल्लसित हो रहा है। इस पदशैली के उदय का यही युग है द्वादश शती, जिसमें वैष्णवकाव्य की धारा अदम्य रूप से प्रवाहित हुई । इस विषय का ऐतिहासिक विवेचन पिछले किसी परिच्छेद में किया गया है ।

पदशैली के उद्गम का देश जयदेव के साक्ष्य पर अधिकांश विद्वान् भारत का पूर्वी अंचल मानते हैं, परन्तु क्षेमेन्द्र द्वारा विरचित ऊपर उद्धृत गीतिका के सद्भाव से उस तथ्य में दृढ़तापूर्वक विश्वास कैसे रखा जा सकता है ? तथ्य तो यह प्रतीत होता है कि जब संस्कृत कवियों के सन्मुख श्री नन्दनन्दन की वृन्दावन-लीला के उपन्यास का अवसर आया, तब उन्होंने इस शैली को अपनाया । जयदेव इस शैली के निमित्त क्षेमेन्द्र के ऋणी थे; प्रमाणों के अभाव में इसे दृढ़ता से हम मानने के लिए तैयार नहीं हैं। दोनों प्रतिभा-सम्पन्न वैष्णव कवि थे। दोनों ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर एक नवीन शैली का आविर्भाव स्वतन्त्ररूप से किया; इस कथन को सिद्धान्त रूप से मानने में कोई हिचक न होनी चाहिए जब तक इसके विरुद्ध किसी पुष्ट प्रमाण की उपलब्धि न हो।

गीतगोविन्द का प्रचुर प्रभाव संस्कृत तथा भाषा के काव्यों पर विशेष रूप से पड़ा। पदशैली की मंजुलता से मुग्ध होकर वैष्णव कवियों ने उसे ही अपनी कविता का माध्यम बनाया । संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषाओं का सम्मिलित प्रभाव देशी-भाषाओं के काव्यों पर पड़ा। इसका संक्षिप्त विवरण आगे किया गया है।

हिन्दी में वैष्णव पदावली का प्रथम रचयिता

यह तो सर्वविदित है कि वैष्णवधर्म के अभ्युदयकाल में वैष्णवकवियों ने राधामाधव के लीला के चिन्तन के अवसर पर पदशैली में अपने काव्यों का प्रणयन किया । 'पद' का काव्यरूप में उद्गम मध्ययुगीय भाषा-साहित्य की एक मान्य विशिष्टता है । निर्गुणपंथी संतों ने अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए इस काव्यरूप का आश्रयण किया; यह एक ऐतिहासिक तथ्य है । परन्तु इस काव्यरूप का उत्कट स्वरूप

हमें वैष्णव-काव्यों में ही उपलब्ध होता है। राधाकृष्ण की उपासना के साथ संगीतका बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। फलतः इन संगीतमय पदों के माध्यम से वैष्णव कवि अपने भावों को पूर्ण वैभव के साथ प्रकट करने में समर्थ हुए; यह कथन सर्वथा सत्य है। राधाकृष्ण की ललितलीलाओं का वर्णन प्रबंधकाव्यरूप में सफलतापूर्वक नहीं हो सका; यह बात नहीं कि उधर प्रयास नहीं किए गये। प्रयास तो किये गये, परन्तु इन कवियों को इस कार्य में साफल्य प्राप्त नहीं हुआ। गीति ही इन कमनीय कोमल केलिविलासों के समुचित विन्यास के निमित्त एक सुकुमार माध्यम है; इस ऐतिहासिक सत्य का कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता। हिंदी के भीतर हम उसकी 'विभाषाओं' का भी अन्तर्भाव मानते हैं। इसी धारणा पर हिंदी में वैष्णव पदावली लिखनेवाले आद्य कवि का ऐतिहासिक तथा साहित्यिक परिचय यहां संक्षेप में देने का उद्योग किया जा रहा है।

पदशैली : भाषा-काव्य

भाषा-काव्य में पदशैली का आविर्भाव जयदेव के गीतगोविन्द के आदर्श पर सर्वथा न्यायसंगत प्रतीत होता है। उत्तर भारत की प्रधान भाषाओं मैथिली, बंगला तथा व्रजभाषा के कवियों ने इस शैली को अपनाकर बड़े ही सुकुमार पदों की रचना की। मैथिली में विद्यापति ने, बंगला में चण्डीदास ने तथा व्रजभाषा में सूरदास ने श्री व्रजनन्दन के केलिवर्णन के निमित्त इस शैली को स्वीकार किया और उसका बड़ी सफलता के साथ निर्वाह किया। साधारणतः माना जाता है कि व्रजसाहित्य का आरम्भ सूरदास से होता है और व्रज में पदकर्ता होने के हेतु हिंदी के प्रथम पदकार वे ही हैं। सूरदास का जन्म १४९३ ई० में हुआ तथा अपने जीवन के चालीसवें वर्ष में १५३३ ई० में उन्होंने वल्लभाचार्य से वैष्णव धर्म में दीक्षा ग्रहण की तथा वे उन्हीं के उपदेश से व्रजभाषा में कृष्ण-विषयक पदों की रचना में प्रवृत्त हुए। फलतः सूरदास द्वारा पदरचना का आरंभकाल १५३५ ईस्वी के आसपास मानना कथमपि अनुपयुक्त न होगा। विद्यापति तथा चण्डीदास दोनों वैष्णवकवि सूरदास से प्राचीन हैं। सूर के ऊपर विद्यापति का भी प्रभाव लक्षित होता है। विद्यापति तथा चण्डीदास ये दोनों कवि समकालीन थे, क्योंकि दोनों के आविर्भाव का समय १५.वीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। सूरदास को व्रजभाषा का प्रथम पदकर्ता मानना कथमपि उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उनसे लगभग सत्तर-अस्सी वर्ष पूर्व के एक कवि की व्रजभाषा की कविता तथा पद भी उपलब्ध हुए हैं। इन कवि का नाम विष्णुदास है। इनका प्रथम परिचय तो बाबू श्यामसुन्दरदास ने १९०६–७ की हिंदीग्रंथों की खोज-रिपोर्ट में दिया था; परन्तु इनके ऐतिहासिक महत्व का परिचय अभी चला है।

पदशैली : विष्णुदास

नवीन खोज से पता चलता है कि व्रजभाषा में काव्य का आरंभ सूरदास से लगभग एक शती पूर्व ही हो गया था। विष्णुदास की काव्य-रचनाओं की सूचना हिंदी पुस्तकोंकी खोज रिपोर्टों में प्रकाशित हुई है। परन्तु उनके काव्यों का ऐतिहासिक मूल्यांकन अभी

होने लगा है।[1] इनके दो काव्य नितान्त महत्त्वपूर्ण हैं साहित्य की दृष्टि से—**स्नेहलीला** तथा **रुक्मिणीमंगल**। इनमें से स्नेहलीला गोपी तथा उद्धव के संवाद रूप में है और सूरदास के भ्रमरगीत का मूलरूप माना जा सकता है। 'रुक्मिणी मंगल' मंगल-काव्य है जिसमें श्रीकृष्ण के साथ रुक्मिणीजी के विवाह का काव्यमय वर्णन है। इस रुक्मिणी-मंगल में पदशैली का दर्शन हमें मिलता है। इनका समय १४२५ ई० माना गया है जो सूरदास से पूर्व लगभग अस्सी साल से कम नहीं है। व्रजभाषा में विष्णुदास ही प्रथम पदकार माने जा सकते हैं। 'रुक्मिणीमंगल' से इनका एक पद यहां उद्धृत किया जाता है।

> मोहन महलन करत विलास।
> कनक मन्दिर में केलि करत हैं और कोउ नहिं पास।
> रुक्मिनी चरन सिरावै पी के पूजी मन की आस।
> जो चाहो सो अम्बे पाओं हरि पति देवकी सास॥
> तुम विन और न कोऊ मेरो धरणि पताल अकाश।
> निस दिन सुमिरन करत तिहारो सब पूरन परकास॥
> घट घट व्यापक अन्तरजामी त्रिभुवन-स्वामी सब सुखरास।
> 'विष्णुदास' रुकमन अपना है जनम जनम की दास॥

व्रजभाषा के प्रथम पदकर्ता विष्णुदास से मैथिली पदकर्ता विद्यापति तथा वंगला पदकर्ता चण्डीदास दोनों प्राचीनतर हैं। यह तो प्रायः विदित ही है। परन्तु इन दोनों विश्रुत पदकर्ताओं से लगभग साठ-सत्तर वर्ष पूर्व उत्पन्न होनेवाले एक मैथिली पदकर्ता की ओर आलोचकों का ध्यान यहाँ आकृष्ट किया जाता है, क्योंकि मेरी दृष्टि में ये ही हिन्दी में वैष्णवपदावली के आदि रचयिता हैं। इनका नाम है—उमापति उपाध्याय या केवल उमापति। इन्होंने संस्कृत में 'पारिजात हरण' नामक लघुकाय रूपक का प्रणयन किया है जिसमें मैथिली भाषा के ही गीत पर्याप्त मात्रा में दिये गए हैं। प्राचीन काल में भी संस्कृतनाटकों में गीतों की रचना प्राकृत भाषा में की जाती थी; प्राकृत थी लोकभाषा और लोकभाषा में निवद्ध गीतों का प्रभाव जनता पर विशेष रूप से पड़ता था; यह तो एक नैसर्गिक घटना है। प्रांतीय भाषाओं के उदय होने पर संस्कृत के नाटकों में तत्तत्—प्रांतीय भाषाओं का उपयोग गीतों की रचना में किया जाने लगा। उमापति का 'पारिजात-हरण' इस वैशिष्ट्य का एक उज्ज्वल समर्थक नाटक है। यहाँ उमापति के ऐतिहासिक वृत्त का और साहित्यिक चमत्कार का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

उमापति और उमापतिधर की भिन्नता

प्रथमतः ध्यान देने की वात है कि उमापति उस उमापतिधर नामक कवि से नितांत भिन्न हैं जिनका उल्लेख जयदेव ने लक्ष्मणसेन के समसामयिक कवि-पंडितों की गणना में किया है। 'वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः'—जयदेव का यह कथन उमापतिधर की काव्य-

---

१. डा० शिवप्रसाद सिंहः सूरपूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य, पृष्ठ १४७-१५२ (हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५८)

शैली का पर्याप्त द्योतक है। ये अपने 'वाक्पल्लवन' के लिए उस युग के कवियों में नितांत विश्रुत थे और इस विश्रुति का पुष्ट प्रमाण भी उपलब्ध होता है इनकी निःसंदिग्ध कविता की समीक्षा से। विजयसेन की देवपाड़ा प्रशस्ति के निर्माण का श्रेय इन्हीं उमापतिधर को है, जिसका उल्लेख उस शिलालेख में स्पष्टतः किया गया है। यह प्रशस्ति उत्कृष्ट गौड़ीरीति में निबद्ध की गई है। दण्डी के 'काव्यादर्श' के अनुसार 'वाक्-पल्लवन' गौडीरीति की प्रमुख पहिचान है। उस युग के वैष्णव वातावरण का प्रभाव इनके ऊपर कम नहीं था। 'सदुक्तिकर्णामृत' में उमापतिधर के नाम से अनेक कवितायें उद्धृत की गई हैं जिनका विषय ही है श्रीकृष्ण की वृन्दावनलीला। हरिक्रीड़ा के विषय में इनका एक पद्य यहाँ सद्यः निर्देश के लिए पुनः उद्धृत किया जाता है जिसमें श्रीकृष्ण की दृष्टियों की विजय-कामना की गई है—

भ्रूवल्लीचलनैः कयापि नयनोन्मेषैः कयापि स्मित
ज्योत्स्नाविच्छुरितैः कयापि निभृतं सम्भावितस्याध्वनि ।
गर्वोद्भेद-कृतावहेल-विजय-श्री-भाजि राधानने
सातंकानुनयं जयन्ति पतिताः कंसद्विषो दृष्टयः ।।

इस पद्य का तात्पर्य है कि जब श्रीकृष्ण रास्ते में जा रहे थे, तब गोपियों ने उन्हें नाना भाव से स्वागत किया। किसी गोपी ने अपनी भौंहें चलाकर, किसी ने नेत्रों को फैलाकर, किसी ने अपनी मुसुकान की चांदनी छिटका कर, किसी ने चुप रह कर उनकी अभ्यर्थना की। राधा इस दृश्य को दूर से देखकर विमना बन गई। उसके मुखमण्डल पर एक साथ गर्वजनित अवहेलना का भाव उदित हुआ तथा विजय की शोभा से वह दमकने लगा। ऐसे मुखमण्डल पर कृष्ण ने जब अपनी दृष्टियाँ डालीं तब उनमें आतंक (भय) तथा अनुनय के भाव सद्यः स्फुरित हो रहे थे। कवि कृष्ण की इन दृष्टियों की विजय-कामना करता है। यह पद्य विभिन्न मनोवृत्तियों के चित्रण के कारण नितरां रमणीय है। उमापति के एक दूसरे पद्य में श्रीकृष्ण के एक गुप्तभाव की हम अभिव्यक्ति पाते हैं—

व्यालाः सन्ति तमालवल्लिषु वृतं वृन्दावनं वानरैः
उन्नक्रं यमुनाम्बु घोरवदनव्याघ्रा गिरेः सन्धयः।
इत्थं गोपकुमारकेषु वदतः कृष्णस्य तृष्णोत्तर-
स्मेराभीर-वधू-निषेधि नयनस्याकुंचनं पातु वः ।।

——हरिक्रीडा, पद्य ४

श्रीकृष्ण अपने संगी-साथियों से घिरे हुए खेल रहे हैं, परन्तु वह निराले में राधा से भेंट करने के इच्छुक हैं। इसलिये वह अपने मित्रों को किसी बहाने से खेल से परांङ्मुख करने के लिए कह रहे हैं—तमाल लतायें साँपों से भरी हुई हैं; वृन्दावन को वन्दरों ने घेर रखा है; यमुना के जल में मगर भरे पड़े हैं और पर्वतों की संधियों में विकराल मुखवाले व्याघ्र वर्त्तमान हैं। ऐसी बातें गोपकुमारों से कह कर श्रीकृष्ण अपनी एक आँख सिकोड़ कर मिलन की तृष्णा से अधीर होनेवाली स्मेरवदना राधा को निषेध कर रहे हैं। व्रजनंदन के नेत्र का यह आकुंचन तुम्हारी रक्षा करे।

वेणुनाद के विषय में भी इनका एक रोचक पद्य 'सदुक्तिकर्णामृत' में उद्धृत किया गया है जो "पद्यावली में भी इन्हीं के नाम पर दिया गया है। द्वारिका के मन्दिर में श्रीरुक्मिणी देवी के द्वारा आलिङ्गित होने पर श्रीकृष्ण को यमुना के तीर पर वानीर कुंज में मिलित राधा की लीला के स्मरणमात्र से मूर्च्छा आ जाती है। इस तात्पर्य का वर्णन इस मधुर पद्य में किया गया है—

रत्नच्छायाच्छुरित-जलधौ मन्दिरे द्वारिकाया
रुक्मिण्यापि प्रततपुलकोद्भेदमालिंगितस्य ।
विश्वं पायान् मसृणयमुना-तीर-वानीरकुञ्जे-
ष्वाभीरस्त्रीनिभृतचरितध्यानमूर्च्छा मुरारेः ॥

श्लोक का व्यंगार्थ यह है कि द्वारिका के पूर्ण वैभव तथा विलास से घिरे रहने पर भी तथा श्रीरुक्मिणी देवी द्वारा विपुल रोमाञ्च के उदय से संवलित आलिङ्गन पाने पर भी व्रजनन्दन के हृदय में राधा की यह वेतसलता के कुञ्ज की केलि कथमपि विस्मृत नहीं होती। वे उसके ध्यानमात्र से मूर्च्छित हो जाते हैं। फलतः कवि की दृष्टि में राधा की केलि का रुक्मिणी के आलिंगन की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व है स्नेह की स्वाभाविकता में तथा आनन्द के उल्लास में। स्पष्टतः उमापतिधर राधा के लीलावाद के समर्थक रसिक जीव हैं, राधामाधव के यथार्थ उपासक कवि हैं।

इन उद्धरणों से उमापतिधर की वैष्णवकाव्यसुषमा का किंचित् आभास हमें मिल जाता है। परन्तु जो पदकर्ता उमापति हमारी चर्चा के विषय हैं वे उमापतिधर से देशतः तथा कालतः, इस प्रकार उभयतः भिन्न और पृथक् हैं। उमापतिधर गौड़ देश के अधिपति राजा लक्ष्मणसेन की सभा के रत्न थे तथा १२वीं शती के उत्तरार्द्ध में वर्त्तमान थे। उमापति मिथिला देश के शासक राजा हरिहर देव की सभा के रत्न थे तथा १४वीं शती के आरम्भ में (१३२० ई० लगभग) विद्यमान थे। फलतः उमापति उमापतिधर से डेढ़ सौ वर्ष पीछे उत्पन्न हुए। ऐसी विभिन्नता के वर्त्तमान रहते दोनों की अभिन्नता मानना एकदम अनुचित है। अब उमापति के व्यक्तित्व से परिचय पाना विषय की स्पष्टता के लिये आवश्यक है।[1]

उमापति : परिचय

इस प्रकार उमापतिधर से उमापति की विभिन्नता केवल काव्यशैली पर ही आश्रित नहीं है, प्रत्युत आविर्भावकाल की भिन्नता पर भी अवलम्बित है। उमापतिधर ने सेनवंशी विजयसेन की देवपाड़ा प्रशस्ति की रचना की है—जिसमें विजयसेन के द्वारा मिथिला के राजा नान्यदेव (१०९८–११३५ ई०) के पराजय की घटना उल्लिखित है। इसी नान्यदेव की चौथी पीढ़ी में उमापति के आश्रयदाता ने जन्मग्रहण किया था। मिथिला में यह किंवदंती है कि उमापति ने नान्यदेव से चौथे राजा हरिदेव (या हरदेव) के शासन

---

१. विशेष के लिये द्रष्टव्य—प्रस्तुत लेखक का 'काव्यानुशीलन' नामक ग्रंथ, पृष्ठ ११५–१२७ 'पारिजातहरण'—मैथिलीनाटक शीर्षक निबंध। (प्रकाशक रमेश बुकडिपो, जयपुर सन् १९५५)।

काल में इस नाटक की रचना की थी। नाटक की अन्तरंग परीक्षा इस किंवदंती की पर्याप्त पोषिका है। इस नाटक की प्रस्तावना से पता चलता है कि उमापति उपाध्याय रचित इस 'पारिजातहरण' नाटक का अभिनय हिंदूपति श्री हरिहर देव के आदेश से उनके सामन्तों के सामने किया गया था।[१] मिथिला के नरेश हरिहर देव के लिये कवि ने जिन विशेषणों का प्रयोग किया है उससे दो तथ्यों का स्पष्ट संकेत मिलता है। उन्होंने मिथिला में उच्छिन्न होनेवाले वैदिक मार्ग की प्रतिष्ठा में योगदान दिया तथा यवनों के पराजय में अपनी वीरता का प्रदर्शन किया। इनमें से दूसरा संकेत ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। उमापति के समय में मुहम्मद तुगलक दिल्ली का शाहंशाह था। उसने बंगाल पर चढ़ाई कर उसे अपने अधिकार में किया। इतिहास में उसके बंगालविजय की घटना बहुशः प्रशंसित है, परन्तु मिथिला में किसी संघर्ष के विषय में इतिहास मौन है। मिथिला की राजधानी 'द्वारबंग (दरभंगा) के नाम से इसीलिए प्रसिद्ध है कि बंगाल में प्रवेश करने का द्वार यहीं से होकर है। यह अनुमान असंगत नहीं माना जा सकता है कि मिथिला के संघर्ष में हरिहरदेव के हाथों पठान बादशाह को शिकस्त होना पड़ा था। उमापति के वर्णन में अतिशयोक्ति के पुट को हटा देने पर इस ऐतिहासिक घटना की एक फीकी झाँकी अवश्य मिलती है। अतएव हमारे कवि के आश्रयदाता हरिहरदेव तथा नान्यदेव से चतुर्थ मिथिलानरेश हरदेव या हरिदेव एक ही व्यक्ति हैं। हरिहर का राज्यकाल सन् १३०३ से सन् १३२३ तक माना जाता है। उमापति के आविर्भाव का यही काल है। चतुर्दश शती प्रथम चतुर्थांश (१३२० ई० के आसपास)।

पारिजात हरणः विषयवर्णन

उमापति उपाध्याय का यह लघुकाय मैथिली नाटक श्रीकृष्ण-चरित की एक विश्रुत घटना पर आधृत है। सत्यभामा के आग्रह करने पर श्रीकृष्ण ने इन्द्र को पराजित कर उनके नंदनवन से पारिजात-वृक्ष का हरण किया था। यह घटना हरिवंश तथा श्रीमद्भागवत में संक्षेप से वर्णित है; परन्तु विष्णुपुराण में यह रोचक विस्तार के साथ निर्दिष्ट की गई है। इस नाटक के पात्रों में वार्तालाप तो देववाणी में ही किया गया है, परन्तु प्रकृति की सुषमा, सत्यभामा का सौंदर्य तथा मानिनी सत्यभामा का श्रीकृष्ण के द्वारा मनुहार-आदि विषयों का वर्णन नाना गेय पदों में किया गया है विशुद्ध मैथिली में। साहित्य की दृष्टि से ये पद बड़े ही अभिराम, सरस तथा कोमल हैं और ऐतिहासिक दृष्टि से

---

१. आदिष्टोस्मि यवन-वन-च्छेदन-कराल-करवालेन विच्छेदगत-चतुर्वेद पथप्रकाशक-प्रतापेन भगवतः श्रीविष्णोर्दशमावतारेण हिंदूपति श्री हरिहरदेवेन यथा उमापत्युपाध्यायविरचितं नवपारिजात-मंगलभिनीय वीररसावेशं शमयन्तु भवन्तो भूपाल-मण्डलस्य।

—पारिजातहरण, पृ० २, प्रकाशक मिथिला-प्रकाश परिखद्, दरभंगा, सन् १८९३। भारती जीवन यंत्रालय, काशी में मुद्रित।

हिंदी में ही नहीं, प्रत्युत किसी भी उत्तर भारतीय भाषा में वैष्णव पदशैली का यह प्रथम अवतार है। इनमें से कतिपय पद यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

उमापति ने इन पदों के लिए उपयुक्त रागों का विधान भी निर्दिष्ट किया है। ऐसे रागों में मालवराग (पृ० ३, २०) वसन्तराग (पृ० ४ तथा २१), असावरीराग (पृ० ५, ७), राजविजयराग (पृ०१०,२२), केदार राग (पृ० १६, १७), तथा ललितराग (पृ० २५) मुख्य हैं। इससे स्पष्ट है कि उमापति संगीत के भी जानकार थे। तथा गेय पदों के लिए उपयुक्त रागों की छानवीन करने में समर्थ थे। ये मैथिली गीत माधुर्य से सर्वथा परिपूर्ण हैं। शब्दों की सुबोध्यता तथा सरसता पर विशेष ध्यान दिया गया है। मैथिली में मिठास स्वभावतः प्रचुर मात्रा में होता है; इस नाटक के गेयपदों में वह मिठास कथमपि न्यून मात्रा में नहीं है। सबसे बड़ी विशिष्टता है छोटे-छोटे प्रसन्न शब्दों का विन्यास। माधुर्य के साथ प्रसाद की अधिकता सोने में सुगन्ध का काम कर रही है। इन गीतियों में हृदय के कोमल भावों की अभिव्यंजना की ओर कवि का विशेष आग्रह है। इसलिए, इनमें सहृदय को रससिक्त बनाने की क्षमता विद्यमान है। यह कम श्लाघा का विषय नहीं है कि हिंदी की ये आद्य गीतिकाएँ उन सभी गुणों तथा चमत्कारों से समन्वित हैं, जिन्हें हम वैष्णव-गीतिकाओं के उत्कर्ष-काल में उनमें प्रचुरतया उपलब्ध करते हैं। निष्कर्ष यह है कि भाषा की सुरसता तथा अर्थों की सुकुमारता दोनों दृष्टियों से उमापति की ये गीतें नितांत श्लाघनीय हैं। वैष्णव पदावली के विकास की दृष्टि से तो इनका महत्त्व समधिक मननीय है।

उमापति : वैष्णवपदावली

पद-संख्या १; वसन्त-वर्णन वसन्तरागे गीतम्

अनगनित किंशुक चारु चम्पक बकुल बकुहुल फुल्लिआ
पुनु कतहु पाटलि पटलि नीप नेवारि माधवि मल्लिआ।
अति मंजु बंजुल पुंज पिंजल चारु चूअ बिराजहीं
निज मधुहि मातल पल्लवच्छवि लोहितच्छवि छाजहीं।
पुनि केलि कलकल कतहु आकुल कोकिलाकुल कूजहीं
जनि तीनि जग जिति मदन नृप मुनिविजय राज सुराजहीं।
नवमधुर मधुर समुग्ध मधुकर कोकिला रस भावहीं
जनि मानिनीजन मानभंजन मदन गुण गुरु गावहीं।
वह मलय परिमल कमल उपवन कुसुम सौरभ सोहहीं
ऋतुराज रैवत सकल दैवत मुनिहु मानस मोहहीं।
जदुनाथ साथ विहार हरषित सहस षोडश नायिका
भन गुरु 'उमापति' सकल नृपपति होथु मंगलदायिका।

श्रीकृष्ण के स्निग्ध रूप की छटा इस पद में देखिए—

पद संख्या २

सखि हे रभस रस चलु फुलवारी
तहां मिलत मोर मदन मुरारी।

कनक मुकुट मणि भल भासा
मेरु शिखर जनु दिनमणि बासा ।
सुन्दर नयन वदन सानन्दा
उगल जुगल कुवलय लय चन्दा ।
पीतवसन तनु भूषण मनी
जनि नव घन उग दामिनी ।
बनमाला उर उपर उदारा
अंजन गिरि जनु सुरसरिधारा ।

इस पद में श्रीकृष्ण की शोभा का वर्णन अलंकृत रूप में किया गया है। कृष्ण के पीतवसन की सजलनील मेघों में कौंधनेवाली विजली से तुलना कितनी अनुरूप है। कृष्णजी के गले में लटकनेवाली आजानुलम्बिनी माला का ध्यान कर किस सहृदय का चित्त अंजन-गिरि से बहनेवाली पवित्रसलिला सुर-सरिता की उज्ज्वल धारा की उत्प्रेक्षा से सद्यः आनन्दनिमग्न नहीं हो जाता।

सत्यभामा की रूपशोभा का वर्णन कम चमत्कारी नहीं है——

पद-संख्या ३ मालवरागे गीतम्

सत्यभामा देवि देल परवेश
स्वामी सोहाग सोहाउनि वेश ।
हरसित हृदय गरू अभिमान
कृष्ण पिआरी प्राण समान ।
देखत चान-कला . क सन्देह
बसुधा वसु जनि बिजुरी रेह ।
मणिमय भूषण अंग अमूल
कनकलता जनु फूलल फूल ।
सुमति उमापति कवि परमान
पट महिषी देवि हिन्दूपति जान ।

सत्यभामा की विरह-दशा का वर्णन उसकी सखी सुमुखी श्रीकृष्ण के सामने कर रही है——

पद संख्या ४ : वियोग पद

कि कहव माधव तनिक विशेशे
अपनहु तनु धनि पाव कलेशे ।
अपनु क आनन आरसि हेरी
चातक भरम काँप कत बेरी ।
भरमहु निय कर उर पर आनी
परसै तरस सरसीरुह जानी ।
चिकुर-निकर निय नयन निहारी
जलधर जाल जानि हियहारी ।

अपन बचन पिकरव अनुमाने
हरि हरि तेहु परितेजय पराने ।
माधव आवहु करिय समधाने
सुपुरुष निठुर रहय न निदाने ।
सुमति उमापति भन परमाने
माहेशरि देइ हिन्दूपति जाने ।

सत्यभामा की विरह-दशा गजब की है—अपने ही शरीर से भय। आश्चर्य !!! दर्पण में अपना ही मुँह देखकर सत्यभामा चंद्रमा समझती है और डर से काँप उठती है। अपने ही केशपाश को देखकर नील घनघटा की भ्रांति से उसका दिल बैठ जाता है। अपने ही मधुर वचनों में कोकिला की काकली की भ्रांति हो जाती है। विरह में ऐसी भ्रांति, ऐसा पागलपन, अपनी ही देह से भय खाना—क्या अलौकिक नहीं है ?

सत्यभामा को जब सुध आती है, तब वह छलिया कृष्ण की विचित्र करतूतों पर आश्चर्य प्रकट करती है और अपने ठगे जाने पर यों शोक अभिव्यक्त करती है—मेघ की छाया के नीचे तो मैंने शयन किया उसे शीतल सुखद समझ कर; परन्तु अन्त में वह तीव्र घाम के रूप में बदल गया !!! उन्होंने अपनी पुरानी रसमयी प्रीति को जो भुला दिया, उसमें उनका दोष ही क्या ? काले साँप को कितना भी जतन कर पाला जाय, क्या वह कभी पोस मानता है ? अब मैं आगे अपमान की शंका से कभी अपने स्नेह को प्रकट नहीं करूँगी। पत्थर को दस हजार बार अमृत में भिगोया जाय, तो क्या वह कभी कोमल हो सकता है ? घनश्याम का यह उपालम्भ कितना सुन्दर और साहित्यिक है—

पद सं० ५ : उपालम्भ-पद

हरि सो प्रेम आस कय लाओल
पाओल परिभव ठामे ।
जलधर छाहरि तर हम सुतलहु
आतप भेल परिनामे ।
सखि हे, मन जनु करिय मलाने
अपन करम फल हम उपभोगव
तोहें किय तेजह पराने । (ध्रुवम्)
पुरुव पिरिति रिति हुनि यें बिसरव
तइओ न हुनकर दोसे
कतेक जतन धरियें परिपालिय
साँप न मानय पोसे ।
कबहु नेह पुनु नहि परगासव
केवल फल अपमाने ।
बेरि सहस दस अमिय भिजाबिअ
कोमल न होय पखाने ।

गुरु उमापति हरि होएव परसन
मान होएव अवसाने ।
सकल नृपति पति हिन्दूपति जिउ
महारानि बिरमाने ।।

पद-संख्या ६ : मानभंजन पद (मालवरागे गीतम्)

सांवरे कृष्ण सत्यभामा के महल में पहुँचते हैं और मानिनी को मनाने का सतत उद्योग करते हैं।

अण्ण पुरुब दिसि बहलि सगर निसि
गगन मलिन भेल चन्दा ।
मुनि गेलि कुमुदिनि तइअओ तोहर
धनि मूनल मुख अरविन्दा ।
कमल बदन कुवलय दुहु लोचन
अधर मधुरि निरमाने
सगर शरीर कुसुम तुअ सिरजल
किए तुअ हृदय पखाने ।
असकति कर कंकण नहि पहिरसि
हृदय हार भेल भारे ।
गिरिसम गरुअ मान नहि मुंचसि
अपरुप तुअ बेवहारे ।
अवगुन परिहरि हरषि हेरु धनि
मानक अवधि बिहाने
हिम गिरि कुम्मरि चरण हृदय धरि
सुमति उमापति भाने ।।

श्रीकृष्ण की समझ में मानिनी सत्यभामा का व्यवहार विलकुल वेढंगा जान पड़ता है। मोतियों का हार तो बोझ-सा जान पड़ता है, इसीलिए उसने उसे उतार फेंका है; परन्तु पहाड़ के समान भारी मान को वह नहीं छोड़ती और उसे अपने हृदय में छिपाये हुए बैठी है। क्या उसके व्यवहार में अपरूपता नहीं है? सत्यभामा का समग्र शरीर सुकुमार कुसुममय है; मुख कमल है; दोनों आँखें कुवलय हैं; अधर रसमय महुआ के फूल से विरचित प्रतीत होता है। परन्तु, आश्चर्य है कि ब्रह्मा ने उसके कोमलतम अंग—हृदय—को पत्थर से बना रखा है।

इतनी मनावन करने पर सत्यभामा का मान क्षीण नहीं होता; तब श्रीकृष्ण को एक नई युक्ति सूझती है। वे झट अपना दोष मान लेते हैं और दण्ड देने के लिए सत्यभामा से आग्रह करने लगते हैं। दण्ड पाने में उनके मनोरथ की सिद्धि सद्यः हो जाती है। वे सुन्दर व्यंग्य-भरे वचनों में अपनी भावना प्रकट करते हैं।

पद-संख्या ७

मानिनि मानह जओं मोर दोसे
शास्ति करिय वरु न करिय रोसे।
भौंह कमान विलोकन बाने
बेधह विधुमुखि ! कय समधाने।
पीन पयोधर गिरिवर साधी
बाहुफांस धनि धरु मोहि बांधी।
को परिणति भय परसनि होही
भूषण चरण कमल देइ मोही।
सुमति 'उमापति' भन परमाने
जगमाता देइ हिन्दूपति जाने ॥

हे मानिनि, यदि मेरा ही दोष मानती हो, तो उसके लिए मुझे दण्ड दो, रोष न करो। हे विधुवदनी ! अपनी कमान-रूपी भौंहों से साधकर वाण के समान तीखे कटाक्ष छोड़ो और मुझे विद्ध कर डालो। पीन पयोधर-रूपी पर्वतों में साधकर मुझे तुम अपनी भुजा-रूपी पाश से जकड़कर बाँध लो। वह दण्ड सहने के लिए मैं सर्वथा उद्यत हूँ।

उमापति के इन पदों के ऊपर गीतगोविन्द का प्रभाव यथेष्टरूपेण अभिव्यक्त है। अनेक पदों के भाव तथा अर्थ गीतगोविन्द के किसी प्रख्यात पद की छाया लेकर विरचित हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है। इस पदशैली को वैष्णवभावों की अभिव्यंजना के निमित्त प्रचलित करना श्रीजयदेव के ही सरस हृदय तथा अलौकिक प्रतिभा का संवलित परिणाम है। फलतः, जयदेव का प्रभाव पिछले कवियों के ऊपर, चाहे वे संस्कृत के हों अथवा भाषा के हों, पड़ना स्वाभाविक है। उमापति के ऊपर यह प्रभाव मात्रा में न्यून नहीं है। ऊपर उद्धृत सप्तम पद के भावों की तुलना गीतगोविंद के एक विश्रुत पद से भली भाँति की जा सकती है। श्रीकृष्णचंद्र मानिनी राधिकाजी की मान-ग्रंथि खोलने का यत्न कर रहे हैं। इसी प्रसंग में राधिका के प्रति यह ललित निवेदन है—

सत्यमेवासि यदि सुदति मयि कोपिनी
देहि खर-नखर शर-घातम्।
घटय भुजबन्धनं जनय रदखण्डनं
येन वा भवति सुखजातम् ॥

आशय है कि हे सुदति राधिके, यदि तुम सचमुच ही मेरे ऊपर क्रुद्ध हो, तो मेरे शरीर पर तीखे नख-रूपी वाणों से प्रहार करो। मुझे अपनी भुजाओं से वन्धन में डाल दो अपने दाँतों से मेरे अधर आदि अंगों का खण्डन करो, जिससे तुमको सुख उत्पन्न हो। अपराधी को उसके अपराधों के लिए वाणों से प्रहार, वन्धन में डालना तथा अस्त्र से शरीर का खण्डन आदि दण्ड दिये ही जाते हैं। मैं भी इन दण्डों के लिए तैयार हूँ, परन्तु इन दण्डों का रूप श्रृंगारिक होने से रस का पोषक है, शोषक नहीं। उमापति के पूर्वोक्त पद में यही भाव सुवोध मैथिली शब्दों में अभिव्यक्त किये गये हैं।

इस नाटक का संस्कृत-भाग तो नितांत साधारण है। कथनोपकथन के लिए, पात्रों में परस्पर वार्तालाप के निमित्त प्रयुक्त यह संस्कृत सामान्य कोटि की है। बीच-बीच में संस्कृत के सुन्दर पद्य अवश्य पिरोये गये हैं। परन्तु, इसका सर्वाधिक मूल्यवान् अंश है मैथिली गीत। अबतक महाकवि विद्यापति ही मैथिली के और साथ-ही-साथ हिंदी के भी प्रथम पदकर्ता माने जाते थे; परन्तु इस नाटक ने इस धारणा को निर्मूल सिद्ध कर दिया है। यह नाटक विद्यापति (लगभग १४०० ई०) से करीब ७५ वर्ष पहिले लिखा गया था। अतएव, उमापति को मैथिली का तथा साथ-ही-साथ हिंदी का प्रथम वैष्णव-पदकर्ता मानना कथमपि असंगत नहीं है। बँगला के प्राचीन पदावली-संग्रहों में उमापति के एक-दो पद अवश्य यत्र-तत्र मिलते हैं, परन्तु विद्यापति के कवित्वमय व्यक्तित्व के सामने उमापति का व्यक्तित्व कुछ फीका पड़ गया था और इसीलिए इनकी उतनी प्रसिद्धि न हो सकी।

तृतीय परिच्छेद

संस्कृत-साहित्य में राधा

चैतन्य-पूर्व युग में संस्कृत-काव्य में राधा का विशेष वर्णन उपलब्ध नहीं है। चैतन्य द्वारा प्रवर्त्तित भक्ति-आन्दोलन के व्यापक प्रभाव के कारण उनके पीछे वैष्णव-कविता की विपुल सृष्टि हुई, जिसमें राधा तथा कृष्ण की माधुर्यमयी लीला का नितान्त ललित वर्णन उपलब्ध होता है। ऐसे चैतन्योत्तर महनीय संस्कृत-कवियों में श्रीरूपगोस्वामी का नाम बड़े आदर तथा श्रद्धा के साथ लिया जाता है। श्रीरूपगोस्वामी वृन्दावन के प्रख्यात षड्गोस्वामियों के प्रभाव-केन्द्र थे, जिनसे प्रेरणा तथा स्फूर्त्ति ग्रहण कर अन्य गोस्वामियों ने संस्कृत-साहित्य को अपनी रचना से समृद्ध करने के लिए अश्रान्त परिश्रम किया। वे एक ही साथ आचार्य तथा कवि दोनों थे। उनके आचार्यत्व का दर्शन आलोचकों को मिलता उनके प्रौढ अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ **हरिभक्तिरसामृतसिन्धु** तथा **उज्ज्वलनीलमणि** में; जहाँ भक्तिरस की शास्त्रीय विवृति बड़ी प्रौढता से की गई है। इन दोनों ग्रन्थों में उनकी मौलिकता स्पष्टतः परिस्फुटित होती है। उनके कविरूप का परिचय मिलता है उनके नाटकों तथा काव्यों में। **विदग्धमाधव** तथा **ललितमाधव** नाटकों में राधा-कृष्ण की केलिकथा का नाटकीय रूप बड़े चमत्कार के साथ प्रस्तुत किया गया है। **स्तव-माला** में उनकी ललित गीतियों का हृदयावर्जक संग्रह प्रस्तुत किया गया है। इन गीतियों

में श्रीरूपगोस्वामी[1] के कमनीय पद-विन्यास का, नूतन भाव-गाम्भीर्य का, नवीन उत्प्रेक्षा का तथा विमल अर्थ-चमत्कार का अविराम दर्शन आलोचकों को मुग्ध कर देता है। उनकी काव्य-प्रतिभा वास्तव में अलौकिक थी; मानव-हृदय के भावों के परखने का तथा उनके समुचित वर्णन करने की कला सचमुच आश्चर्यजनक है। दोनों अलंकार-ग्रन्थों के समस्त उदाहरण इनकी अपनी रचनाएँ है और इन उदाहरणों की संख्या कई सौ हैं। **पद्यावली** नामक सूक्तिसंग्रह में तत्कालीन वैष्णव-कवियों के कमनीय पद्यों का संग्रह प्रस्तुत किया गया है। **उद्धवदूत** तथा **हंसदूत** में गोपियों ने अपने भावों की अभिव्यक्ति वड़े ही सुन्दर शब्दों में की है। श्रीरूपगोस्वामी का समस्त जीवन ही वैष्णव-धर्म के प्रचार-प्रसार, वैष्णव-काव्य के लेखन-संकलन, भक्ति के शास्त्रीय रूपचिन्तन तथा वर्णन पर न्यौछावर हुआ था। अध्यात्मसाधना तथा काव्यसाधना दोनों दृष्टियों से उनका जीवन सफल माना जा सकता है। उनकी रोचक काव्यकला के निदर्शन के लिए दो-एक उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

> तवात्र परिमृग्यता किमपि लक्ष्म साक्षादिदं
> मया त्वमुपसादिता निखिललोकलक्ष्मीरसि।
> यथा जगति चञ्चता चणकमुष्टिसम्पत्तये
> जनेन पतिता पुरः कनकवृष्टिरासाद्यते॥

श्रीकृष्ण राधा से कह रहे हैं कि तुम्हारी खोज में इधर-उधर घूम रहा था कि कहीं पर तुम्हारा कोई चिह्न ही चित्त को सन्तोष देने के लिए मिल जाय; परन्तु समस्त लोक की लक्ष्मीरूपिणी तुम स्वयं मुझे प्राप्त हो गई हो। धन्य मेरे भाग्य! मेरी धन्यता तो उस व्यक्ति के सुभग भाग्य से तुलना की जा सकती है, जो केवल मुट्ठी-भर चने के लिए इधर-उधर घूमता हो, परन्तु उसे आगे ही पड़ी सोने की वृष्टि मिल जाय। भाग्य का उत्कर्ष इससे अधिक क्या हो सकता है?

ज्ञान की शिक्षा देने के लिए वृन्दावन पधारनेवाले उद्धव गोपियों का यह कथन कितना सरस तथा हृदयग्राही है—

> या पूर्वं हरिणा प्रयाणसमये संरोपिताऽऽशालता
> साऽभूत् पल्लविता चिरात् कुसुमिता नेत्राम्बुसेकैः सदा।
> विज्ञातं फलितेति हन्त भवता तन्मूलमुन्मूलितं
> रे रे माधवदूत जीवविहगः क्षीणः कमालम्बते॥

अपने प्रयाण के समय ही कृष्ण ने हमारे हृदय में आशालता का रोपण किया; उसे हमने अपने आँसुओं से सींच-सींचकर पल्लवित तथा पुष्पित किया। अव उसमें फल लगने की पूरी आशा थी कि आपने उस लता के मूल को ही उखाड़ डाला।

---

१. रूपगोस्वामी के जीवनचरित के लिए देखिए—
 (क) डी० सी० सेन: मिडिएवल लिटरेचर ऑफ् बंगाल (कलकत्ता-विश्वविद्यालय का प्रकाशन, १९१३)
 (ख) बलदेव उपाध्याय: भागवत सम्प्रदाय (काशी, १९५५ ई०)

हे माधव (कृष्ण तथा वसन्त) के दूत, यह दुर्बल जीव-रूपी पक्षी अब किसका आलम्बन करे? उसका आलम्बन आशालता ही उखाड़ दी गई। अब हमारा प्राण-पखेरू कहाँ बैठें ?

लीलाशुक : कृष्णकर्णामृत[1]

चैतन्य-पूर्व युग में दो काव्य-ग्रन्थों की प्रख्याति समधिक थी। ये काव्य-ग्रन्थ हैं—कृष्णकर्णामृत तथा गीतगोविन्द। इनमें प्रथम के कवि हैं लीलाशुक तथा द्वितीय के हैं जयदेव। यह प्रसिद्धि है तथा चैतन्यचरितामृत आदि चैतन्य के चरित-ग्रन्थों में बहुशः उल्लेख मिलता है कि चैतन्यदेव दक्षिण भारत की तीर्थयात्रा से अपने साथ कृष्णकर्णामृत काव्य बंगाल लाये थे। इस काव्य के रचयिता के देशकाल का प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है। लीलाशुक को केरलदेशीय विद्वान् केरल देश का निवासी मानते हैं। आविर्भाव समय भी १३वीं १४वीं शती के मध्य में माना जा सकता है। इस काव्य के दो संस्करण मिलते हैं—चैतन्यदेव के द्वारा आनीत संस्करण लघुसंस्करण है, जिसमें लगभग एक सौ पद्य उपलब्ध होते हैं। दक्षिण भारत में प्रचलित वृहत् संस्करण में लगभग तीन सौ श्लोक मिलते हैं। लीलाशुक की वाणी में अलौकिक माधुर्य है; अर्थ की कल्पना में नवीनता है तथा भक्ति के आवेश में प्रणीत इस काव्य में रागानुगा प्रीति का अद्भुत चमत्कार प्रदर्शित किया गया है। चैतन्यदेव के भक्त-हृदय को आकृष्ट करना हँसी-खेल की बात नहीं है। काव्य में विमल भक्ति-भावना तथा चमत्कारी कवित्व का अनुपम सम्मिलन है। इस काव्य का प्रभाव परवर्त्ती पदकारों की कविता में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है।

जयदेव : गीतगोविन्द

गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव का काल तो पता चलता है, परन्तु उनके देश का यथार्थतः नहीं। ये बंगाल के अन्तिम स्वतन्त्र हिन्दू राजा लक्ष्मणसेन के सभाकवि माने जाते हैं। लक्ष्मणसेन का राज्यकाल सन् ११८३ से १२०३ ई० तक माना जाता है। इन्होंने गीतगोविन्द के आरम्भ में ही तत्कालीन कविपञ्चक का उल्लेख किया है[2]—उमापतिधर, जयदेव, शरण, गोवर्द्धनाचार्य तथा कविसम्राट् धोयी। लक्ष्मणसेन के

---

१. कृष्णकर्णामृत का लघु संस्करण ढाका-विश्वविद्यालय से तथा वृहत् संस्करण की वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम् से प्रकाशित है।

२. वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव, शरणः श्लाघ्यो दुरुहद्रुतेः।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन—
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कवि क्ष्मापतिः॥
—गीतगोविन्द, श्लोक ४।

इस श्लोक की राणा कुम्भकर्ण-रचित रसिकप्रिया टीका में 'श्रुतिधर' को भी व्यक्तिगत अभिधान मानकर छह कवियों का उल्लेख यहाँ माना गया है—'षट् पण्डितस्तस्य राज्ञो लक्ष्मणसेनस्य प्रसिद्धा इति रूढिः।' परन्तु यह मान्य नहीं है। शंकरमिश्र ने अपनी टीका

सभागृह के दरवाजे पर यह पद्य उत्कीर्ण बतलाया जाता है[1], जिसमें पूर्वोक्त पाँचों कवियों का उल्लेख मिलता है। इस कविपञ्चक के अन्यतम कवि धोयी के द्वारा प्रणीत 'पवनदूत' में लक्ष्मणसेन को लक्ष्य कर किसी दक्षिणदेशीय सुन्दरी ने पवन को दूत बनाकर अपना प्रणय-संदेश भेजा है। फलतः, धोयी तथा लक्ष्मणसेन की समकालीनता प्रमाणपुष्ट है। इससे धोयी के अन्य सखा-कवियों का भी लक्ष्मणसेन का समसामयिक होना अनुमानतः सिद्ध है। गीतगोविन्द की रचना १२वीं शती के अन्तिम चरण में सम्पन्न हुई थी, यह तो निर्विवाद है, परन्तु विवाद है जयदेव की जन्मभूमि के विषय में। वंग-नरेश लक्ष्मणसेन के सभाकवि होने से, केन्दुविल्व को केन्दुली नामक बंगाली ग्राम से एकता मानने से (जहाँ आज भी उनकी स्मृति में वैष्णवों का एक बड़ा मेला लगता है) इनकी बहुमत से बंगाल ही जन्मभूमि माना जाता है; परन्तु उत्कलदेशीय विश्वनाथ कविराज द्वारा सर्वप्रथम उद्धृत किये जाने से[2] तथा चन्द्रदत्त-रचित 'भक्तमाला' नामक संस्कृत-ग्रन्थ में स्पष्ट उल्लेख[3] से इन्हें कतिपय विद्वान् उत्कलदेशीय मानते हैं। उनका कहना है कि पुरी का जगन्नाथ-मन्दिर इनकी वैष्णव-भावना को उद्दीप्त करने का जैसा सुलभ साधन माना जा सकता है, वैसा कोई भी साधन बंगाल में उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार, इनकी जन्मभूमि के विषय में निश्चयात्मक तर्क उपस्थित नहीं किया जा सकता।

'रसमञ्जरी' में 'श्रुतिधरः' को धोयी का विशेषण माना है और यही ठीक मत है; क्योंकि इसका उल्लेख ग्रन्थकार ने स्वयं किया है--

ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्यगोष्ठी
विद्या भर्त्तुः खलु वररुचेराससाद प्रतिष्ठाम् ।
इतिश्री धोयीकविराजविरचितं पवनदूताख्यं काव्यं समाप्तम् ।
द्रष्टव्य पवनदूत की पुष्पिका--

१. गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य तु ॥

यह सदुक्तिकर्णामृत में धोयी के नाम से उद्धृत पद्य का उत्तरार्द्ध है। कविराज धोयी की उपाधि थी।

इस पद्य में निर्दिष्ट 'कविराज' धोयी का ही संकेत करता है। पूर्व पद्य का 'कविःक्ष्मापतिः' कविराज का ही पर्यायवाची है।

२. विश्वनाथ कविराज ने 'उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुप' (गीतगोविन्द, १।११) पद्य को साहित्यदर्पण में अनुप्रास के दृष्टान्त के लिए उद्धृत किया है।

३. जगन्नाथपुरी प्रान्ते देशे चैवोत्कलाभिधे ।
बिन्दुविल्व इति ख्यातो ग्रामो ब्राह्मणसङ्कुलः ।
तत्रोत्कले द्विजो जातो जयदेव इति श्रुतः ॥

--भक्तमाला, ३९ वाँ सर्ग, श्लोक २१ (वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित)

गीतगोविन्द की अन्तरंग परीक्षा से इतना ही परिचय मिलता है कि इनके पिता का नाम था भोजदेव, माता का नाम राधादेवी या रामादेवी, एक सरसहृदय वन्धु का नाम था पराशर[1] तथा पत्नी का नाम था पद्मावती,[2] ग्राम का नाम था किन्दुविल्व। ऊपर निर्दिष्ट 'भक्तमाला' ग्रन्थ में विन्दुविल्व नाम मिलता है।

जयदेव की एकमात्र रचना यही गीतगोविन्द है। 'सदुक्तिकर्णामृत' में जयदेव के नाम से कतिपय पद्य उल्लिखित हैं। इनके विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये गीतगोविन्दकार की ही रचनाएँ हैं। सिक्खों के 'गुरुग्रन्थ साहव' में जयदेव के नाम से दो व्रजभाषा के पद दिये गये हैं। कुछ विद्वान् इन्हें गीतगोविन्दकर्त्ता के ही पद मानते हैं, परन्तु मुझे तो प्रतीत होता है कि ये किसी जयदेव-नामधारी निर्गुणियाँ सन्त की सामान्य रचना है। नाम-साम्य ही भ्रम-उत्पादन का कारण है।

जयदेव : भक्त कवि

जयदेव संस्कृत-भारती के एक परम मधुर कवि ही नहीं हैं, जिनके प्रत्येक पद-विन्यास की मधुरता सर्वोपरि विराजमान है, प्रत्युत वे एक भक्त कवि भी हैं, जिनके हृदय में आनन्दकन्द श्रीव्रजनन्दन के चरणारविन्द में अनुपम प्रेमासक्ति है। इसका परिचय किसी भी आलोचक को उनकी दो शर्त्तों से लग सकता है, जिन्हें उन्होंने अपने काव्य 'गीतगोविन्द' के श्रवण के लिए वहुत ही आवश्यक वतलाया है। उनमें से पहिली है—हरि के स्मरण में सरस मन, और दूसरी है—विलास कला में कौतूहल।

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥

—गीतगोविन्द, १।३

इन दोनों में पहिली और सबसे श्रेष्ठ योग्यता श्रोता की है— स्मरण में सरस मन का रखना। इसी को कवि ने प्राथमिकता प्रदान की है। फलतः,गीतगोविन्द किसी विलासी कवि की रचना न होकर भक्ति-संवलित कविहृदय का मधुरतम उद्गार है। दूसरी योग्यता से पता चलता है कि जयदेव के समय में राधाकृष्ण का चित्रण आदर्श नायक-नायिका के रूप में साहित्य-संसार में स्वीकृत हो गया था। फलतः, कवि अपने श्रोताओं की उस योग्यता की ओर भी संकेत करता है और चाहता यही है कि नीरस पाठक इस मधुरिमोद्गार से दूर ही हटकर रहें। इसकी मिठास को वे ही जान सकते हैं, जो विलासकला—कामकला—में कुतूहल रखते हों। उसके भीतर पैठने की

---

१. श्रीभोजदेवप्रभवस्य रामा (धा) देवीसुतश्रीजयदेवकस्य
पराशरादिप्रियवर्गकण्ठे श्रीगीतगोविन्दकवित्वमस्तु।
—गीतगोविन्द, पृ० १७१।

२. जयति पद्मावतीरमण जयदेव कवि-
भारतीभणितमति शातम्। —गीतगोविन्द, पृ० १३३।
इयं मे तनया ब्रह्मन् जगन्नाथाज्ञया मया।
नाम्ना पद्मावती तुभ्यं दीयतेऽनुगृहाण ताम्॥
—भक्तमाला।

क्षमता उनके हृदय में हो। इन दोनों योग्यताओं से सम्पन्न पाठक ही कवि की इस मधुर कृति का आस्वादन कर सकता है, दूसरा नहीं।

कवि ने ग्रन्थ के अन्त में अपनी रचना के वैशिष्ट्य की ओर स्वतः संकेत किया है, जिससे उनके उद्देश्य समझने में भ्रम नहीं हो सकता—

यद् गान्धर्वकलासु कौशलमनुध्यानं च यद् वैष्णवं
यच्छृङ्गारविवेकतत्त्वरचना काव्येषु लीलायितम्।
तत्सर्वं जयदेवपण्डितकवेः कृष्णैकतानात्मनः
सानन्दाः परिशोधयन्तु सुधियः श्रीगीतगोविन्दतः॥

—गीतगोविन्द, १२।१०

इस काव्य में तीन वस्तुओं की निर्मल सत्ता विराजमान है—गायन, विष्णुभक्ति तथा शृंगार रस, जिनके कारण इसके रचयिता सामान्य कवि न होकर पण्डित कवि हैं, साथ-ही-साथ उनकी आत्मा कृष्ण में अनन्यभाव से अनुरक्त है। कृष्ण के दिव्य अनुराग में आसक्त होकर ही कवि ने इस रमणीय रचना का प्रादुर्भाव किया है। 'कृष्णैकतानात्मनः' पद इस तथ्य का स्पष्ट द्योतक है कि गीतगोविन्द में भक्ति का प्राधान्य है, शृंगार का नहीं, कृष्ण-केलि का प्रामुख्य है, शृंगारलीला का नहीं। पार्थिव प्राकृत प्रेम से आकृष्ट कवि की वाणी न होकर यह अप्राकृत अपार्थिव प्रेम के गायक का हृदयोद्गार है। शृंगार की नाना लीलाओं का वर्णन अवश्य है, परन्तु उसका परिवृंहण दिव्य नायक श्रीकृष्ण तथा दिव्य नायिका श्रीराधा की लीला के सर्वांगीण विवरण प्रस्तुत करने के लिए ही किया गया है। ग्रन्थ का तात्पर्य वतलाने की आवश्यकता आज इसलिए है कि अनेक मान्य आलोचकों की दृष्टि में यह एक सामान्य शृंगारी काव्य है। एक समालोचक का तो यहाँतक कहना है कि आज के युग में आध्यात्मिक चश्मे वहुत ही सस्ते हैं, जिनके लगाने से विद्यापति के पदों के समान जयदेव का काव्य भी आध्यात्मिकता से स्निग्ध प्रतीत होता है। कवि की पूर्वोक्त स्वीकारोक्ति के सामने समालोचक की यह वहक एकदम अनर्गल है; इस पर विशेष जोर देने की जरूरत नहीं।

गीतगोविन्द : वर्ण्य विषय

इस काव्य के स्वरूप के विषय में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं। प्राकृत भाषा के विशेषज्ञ डॉ० पिशल की सम्मति में यह काव्य मूलतः देशी भाषा में लिखा गया था, जिसे ग्रन्थकार ने पीछे देववाणी का रूप प्रदान किया। परन्तु, यह कल्पना निर्मूल तथा निराधार है। मात्रा-छन्दों की वहुलता ही इस कल्पना की जननी है। मेरी धारणा है कि काव्य में गेयता तथा संगीत-गत लय-ताल आदि की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए ही जयदेव ने मात्रा-छन्दों का वहुत प्रयोग किया। मात्रा छन्दों का उदय प्राकृत-काव्यों के सम्वन्ध में मूलतः कभी भले ही हुआ हो, परन्तु एतावता वह प्राकृत की सम्पत्ति नहीं माना जा सकता और न उसमें निवद्ध संस्कृत-काव्यों के प्राकृत मूल की कल्पना भी तर्कयुक्त मानी जा सकती है। यह मूलतः संस्कृत का काव्य है, परन्तु इसके रूप-निर्देश में भी पाश्चात्य आलोचक एकमत नहीं हैं। कोई इसे 'कृषीवल रूपक' (पैंस्टोरल ड्रामा) वतलाता है, तो कोई इसे विशुद्ध गीतिकाव्य (लिरिक पोइट्री) मानता है। इसमें दूती के साथ कथनोपकथन का वर्णन अवश्य है, परन्तु

इतने से ही इसे रूपक की कोटि में बतलाना उचित नहीं। यह विशुद्ध गीतिकाव्य है। जयदेव स्वयं ही इसके आस्वाद के लिए तीन वस्तुओं से परिचय की आवश्यकता मानते हैं—संगीत, विष्णुभक्ति तथा शृंगार रस। इन विषयों का मर्मज्ञ विद्वान् ही इस काव्य की कमनीयता तथा रस का आस्वादन कर सकता है। जयदेव के इस तथ्य-कथन के ऊपर ही इसकी आलोचना आधृत की जा सकती है।

अब इसके वर्ण्य विषय पर ध्यान देना आवश्यक है। कवि का उद्देश्य राधा-माधव की निकुंज-लीला का वर्णन है, परन्तु उस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए कवि विरह की विविध दशाओं से होकर उस आनन्दमयी अनुभूति पर पहुँचता है। गीतगोविन्द में १२ सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग का स्वल्प कथानक अन्तिम तात्पर्य की ओर पाठकों को ले जाता है। प्रत्येक सर्ग के भिन्न-भिन्न अभिधान बड़े ही ललित तथा अन्वर्थक हैं। काव्य का आरम्भ वसन्त-ऋतु के ललित वर्णन से होता है, जहाँ श्रीकृष्ण व्रजगोपियों के साथ केलि का सम्पादन करते हैं ('सामोद दामोदर)। राधा को कृष्ण के इस व्यवहार से, इस साग्रह उपेक्षा से बड़ा ही रोष होता है। वह कुंज में अकेली बैठकर सन्ताप करती है और अकस्मात् सखी के वहाँ पधारने पर कृष्ण को मिलाने की प्रार्थना करती है (२ अक्लेश केशव)। कृष्ण को अपने आचरण पर, राधा की अवहेलना पर, पश्चात्ताप होता है। वह राधा को अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर व्रज-सुन्दरियों को छोड़ देते हैं। राधा की खोज में असफल होने पर वह यमुना के वानीर-कुंज में विषाद करने लगते हैं (३ मुग्ध मधुसूदन)। उधर राधा की सखी भी कृष्ण की टोह में बाहर निकलती है और विषण्ण कृष्ण को देखकर राधा की विरह-दशा का विवरण देती है (४ स्निग्ध मधुसूदन)। कृष्ण को अपनी त्रुटि का पता चलता है तथा अनुनय-विनय कर राधा को मना लाने के लिए वे सखी को भेजते हैं। सखी कृष्ण की विरह-दशा का तथा उनके उत्कृष्ट अनुराग का चित्र खींचकर राधा से अभिसार की प्रार्थना करती है (५ साकाङ्क्ष पुण्डरीकाक्ष)। सखी लौटकर श्रीकृष्ण से वासगृह में मिलने की उत्सुकता में बैठी हुई राधा की सूचना देती है और उसकी निःसीम व्याकुलता की अभिव्यंजना करती हुई कहती है कि राधा आपके अनुपस्थित आगमन की सम्भावना से अन्धकार-पटल का ही आलिंगन करती है और चुम्बन देती है ('धन्य वैकुण्ठ)। अगले सर्ग में राधा अपनी विप्रलब्ध दशा का वर्णन कर नितान्त खिन्न होती है। इसी समय दूती को अकेली लौटी देखकर भी उसे विश्वास नहीं होता कि व्रजनन्दन को लिये ही बिना वह लौट आई है। फलतः, कृष्ण को साक्षात् उपस्थित मानकर उन्हीं को लक्ष्य कर राधा अपनी दयनीय दशा का चित्रण स्वयं करती है (७ नागर नारायण)। राधा को इसका बड़ा ही खेद है कि माधव ने निकुंज में मिलने के लिए स्वयं वचन दिया था; परन्तु कथित समय पर हरि के न पधारने पर वह अपने निर्मल यौवन को व्यर्थ समझती है। वह 'खण्डिता' के रूप में यहाँ चित्रित की गई है (८ विलक्ष्य लक्ष्मीपति)। अगले सर्ग में राधा का वर्णन 'कलहान्तरिता' के रूप में जयदेव ने किया है। (९ मुग्ध मुकुन्द)। दशम सर्ग में मानिनी राधा के मान-भंजन का सफल उद्योग व्रजनन्दन की ओर से किया गया है: 'प्रिये चारुशीले मुञ्च मयि मानमनिदानम्' की अष्टपदी में कृष्ण ने राधा के क्रोध की शांति के लिए नवीन शृंगारिक उपायों का अवलम्बन श्रेयस्कर बतलाया है (१० चतुर चतुर्भुज)। अबतक विरहिणी राधा का

चित्र प्रस्तुत किया गया है। अन्तिम दो सर्गों में राधा-माधव के मिलन-जन्य आनन्दोल्लास का बड़ा ही भव्य चित्रण है। सखी अपने अश्रान्त उद्योग में साफल्य प्राप्त करती है। वह राधा को मनाती है, वेशभूषा से सुसज्जित होने का निवेदन करती है तथा सुभग वेशमयी राधा को वह निकुंज में पहुँचा आती है (११ सानन्द दामोदर)। अन्तिम सर्ग में माधव की करुण प्रार्थना पर राधा सुरत-शय्या को अलंकृत करती है तथा राधा-माधव की अलोकसामान्य रति-केलि का चित्रण कर गीतगोविन्द समाप्त होता है (१२ सुप्रीत पीताम्बर)। यही संक्षेप में गीतगोविन्द की कथावस्तु है।

गीतगोविन्द : समीक्षण

गीतगोविन्द प्रतीकात्मक विशुद्ध गीतिकाव्य है। गीतिकाव्य की पूर्ण प्रतिष्ठा के निमित्त जिन कमनीय साधनों का अस्तित्व आलोचक-वर्ग मानता है, वे समग्र अपने परिपूर्ण वैभव के साथ गीतगोविन्द में वर्त्तमान हैं। किसी काव्य की गीतिकाव्य (लिरिक) की श्रेणी में परिगणना के निमित्त तीन गुणों की विद्यमानता अवश्यम्भावी मानी जाती है—पदों की गेयता, भाव की तीव्र अनुभूति तथा सुकुमार शब्दार्थ की ललित अभिरुचि। और, मेरी दृष्टि में ये तीन गुण अपने चरम उत्कर्ष पर इस कमनीय काव्य में उपस्थित हैं। गीतगोविन्द में २४ अष्टपदियाँ हैं, जो भिन्न-भिन्न रागों तथा तालों में गाने के लिए ही निर्मित की गई है। जयदेव ने संगीत के ज्ञान को इस काव्य की परिचिति के लिए आवश्यक साधन माना है। (यद् गान्धर्वकलासु कौशलम्, सर्ग १२, पद्य १०) और आधुनिक संगीताचार्यों की सम्मति में गीतगोविन्द के इन राग-तालों का यथार्थ ज्ञान आज भी संगीतज्ञों को नहीं है। जयदेव ने अपने संगीत-ज्ञान के उत्कर्ष को इन अष्टपदियों में उड़ेलकर रख दिया है, यह कथन अत्युक्ति-पूर्ण नहीं माना जा सकता। कवि में राधा-माधव के हृदय में उमड़नेवाले भावों के परखने की अद्‌भुत शक्ति है। दशा-विशेष के कारण भावों में उदीयमान परिवर्त्तन को कवि अपनी अनुभूति से भली भाँति समझता है। भावों की इस तीव्र अनुभूति के कारण ही गीतगोविन्द में हृदय-पक्ष की इतनी चारु अभिव्यंजना है। इस रसपेशल काव्य में शृंगार के उभय पक्ष का चित्रण है—विप्रयोग का भी, संभोग का भी। विप्रयोग की अनुभूति के संभोग की भावना में तीव्रता उत्पन्न नहीं होती; इस सहृदय की मान्यता पर जयदेव की पूरी आस्था है और इसीलिए उन्होंने विप्रयोग के चित्रण में वियुक्ति की नाना दशाओं की अभिव्यंजना में, अपने काव्य का बड़ा अंश व्यय किया है। शब्दार्थ की सुकुमार अभिव्यक्ति का भी यहाँ मञ्जुल साम्राज्य है। संस्कृत-भाषा में शाब्दिक मधुरिमा के चरम अवसान का सूचक है यह गीतगोविन्द-काव्य। पदों का लालित्य, वर्णों की मैत्री, अक्षरों का सुभग विन्यास कितना हृदयावर्जक है। देववाणी में इसके लिए गीतगोविन्द की कोई भी अष्टपदी साक्षी दे सकती है। वसन्त की वर्णनपरक अष्टपदी के कुछ पदों को निरखिए, जिसका लालित्य सचमुच ही श्रोताओं के श्रोत्र-कुहरों में अमृतरस उड़ेल रहा है—

> ललितलवङ्गलतापरिशीलन-
> कोमलमलयसमीरे।

मधुकरनिकरकरम्बितकोकिल-
कूजितकुञ्जकुटीरे ।
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते ।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि
विरहिजनस्य दुरन्ते ॥
माधविकापरिमलललिते नव—
मालतिजातिसुगन्धौ
मुनिमनसामपि मोहनकारिणि
तरुणाकारणवन्धौ ॥

—तृतीय अष्टपदी, पृष्ठ २४

इस अष्टपदी के अक्षर-अक्षर में, वर्ण-वर्ण में, लालित्य रमण करता प्रतीत होता है। सुकुमार पदों का विन्यास इससे अधिक हृदयावर्जक क्या हो सकता है? जान पड़ता है कि वसन्त की सुषमा को निरखनेवाले कवि के हृदय से ये पद आप-से-आप वाहर निकल रहे हैं। पदों के माध्यम से कवि का सरस हृदय श्रोताओं के सामने अपनी मंजुल अभिव्यक्ति करता प्रतीत होता है। यह गाढ अनुभूति, सरसहृदयता, सुकुमार शब्दयोजना तथा नवीन अर्थयोजना गीतगोविन्द का निःसन्दिग्ध प्राण है। ऐसा जादू है, जो पाठकों के सिर पर चढ़कर वोलने लगता है।

गीतगोविन्द में हृदय-पक्ष का प्रावल्य है। विरह तथा संभोग—दोनों पक्षों के चित्रण में कवि सिद्धहस्त हैं। परन्तु, कलापक्ष का भी आश्रयण कम नहीं है। ध्यान देने की वात है कि गीतगोविन्द में विद्यमान कलापक्ष हृदयपक्ष का अवरोधक न होकर सर्वथा समर्थक तथा पोषक है। नवीन अर्थ तथा नूतन अलंकार, अलौकिक प्रतिभा के सहारे इस काव्य में विन्यस्त होकर अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करते हैं। राधा उदास होकर बैठी है और कोमल लाल हथेली पर अपने कपोल को रखकर सोच में निमग्न है। इस दशा का चित्रण जयदेव ने एक सरस अथच नूतन उपमा के सहारे किया है—

त्यजति न पाणितलेन कपोलम्
बालशशिनमिव सायमलोलम् ।

राधा अपने पाणितल से कपोल को नहीं छोड़ती, जैसे सन्ध्या अचंचल बाल शशी को छोड़ती नहीं। साम्य पर ध्यान दीजिए। विरहिणी राधा के दोनों नेत्रों से आँसुओं की धारा वरस रही है। कवि को जान पड़ता है कि चन्द्रमा के बिम्व से राहु के दो दाँतों के गड़ जाने से अमृत की धारा गिर रही है—

वहति च वलितविलोचनजलभर-
माननकमलमुदारम् ।
विधुमिव विकटविधुन्तुददन्त-
दलनगलितामृतधारम् ॥

—अष्टम अष्टपदी

चन्द्रमा के कलंक के कारणों की खोज में कवियों ने नई-नई कल्पनाएँ निकाली हैं। जयदेव की कल्पना एकदम निराली है। चन्द्रमा ने कुलटा-जनों के रास्ते को ही अपनी चन्द्रिका से विघटित कर नष्ट कर दिया। रास्ते को एकदम बन्द कर दिया। इसी ताप के कारण ही उसके बिम्ब में यह काला धब्बा आज भी दीखता है—

अत्रान्तरे च कुलटाकुलवर्त्मघात-
सञ्जातपातक इव स्फुटलाञ्छनश्रीः।
वृन्दावनान्तरमदीपयदंशुजालै-
र्दिक्सुन्दरी वदनचन्दनबिन्दुरिन्दुः॥
—गीतगोविन्द, ७।१।

जयदेव मुद्रालंकार के बड़े प्रेमी प्रतीत होते हैं। शिखरिणी[१], शार्दूलविक्रीडित[२], उपेन्द्र-वज्रा[३], पुष्पिताग्रा[४] और पृथ्वी[५] का प्रयोग मुद्रालंकार के रूप में इतना सुन्दर हुआ है कि आलोचक मुग्ध हो उठता है।

तथ्य तो यह है कि गीतगोविन्द गीतिकाव्य होने के अतिरिक्त एक प्रतीक-काव्य है। राधा-माधव का मिलन जीव तथा भगवान् के साक्षात्कार का प्रतीक है। सखी गुरु-स्थानीया है। विषय के प्रपंच में भटकनेवाले जीव को गुरु ही अपने सदुपदेश से भगवान् की ओर उन्मुख करता है और अन्त में हृदय-रूपी निकुंज में दोनों का अप्रतिम मिलन कराता है, जहाँ आनन्दोल्लास की पूर्ण प्रतिष्ठा होती है। वियुक्त जीव भगवान् से मिलकर अपने पार्थक्य को हटाकर अपने पूर्ण वैभव को पा लेता है। जयदेव के अध्यात्म-पक्ष का यही रहस्य है।

गीतगोविन्द : नायिका-भेद

नायिका-भेद की दृष्टि से भी गीतगोविन्द का अध्ययन कम महत्त्वशाली नहीं है। मेरी दृष्टि में जयदेव ही प्रथम कवि हैं, जिन्होंने राधाकृष्ण की केलि को नायिका-भेद के शास्त्रीय ढाँचे में ढालकर अनुपम सौन्दर्य प्रदान किया और जिनको भारतवर्ष के वैष्णव-पदकारों ने अपना आदर्श मानकर अपने काव्यों में अनुकरण किया। विद्यापति, चण्डी-दास, ज्ञानदास, सूरदास, परमानन्ददास आदि प्रख्यात वैष्णव-कवियों को राधा-माधव की शृंगारकेलि की वर्णन-दिशा को संकेत करने में यह गीतगोविन्द ही सर्वतोभावेन प्राधान्य धारण करता है; यह हम निःसंकोच कह सकते हैं। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में अवस्था-भेद से नायिका का अष्टभेद स्वीकार किया है, जिनके नाम हैं—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका और अभिसारिका। दशरूपक के टीकाकार धनिक ने इन आठों को स्वतन्त्र प्रकार मानने के

---

१. प्रसूतिश्चूतानां सखि शिखरिणीयं सुखयति।—पृ० ५१।
२. कन्दर्पोऽपि यमायते विरचयन् शार्दूलविक्रीडितम्।—पृ० ६९।
३. उपेन्द्रवज्रादपि दारुणोऽसि।—पृ० ७३।
४. चिरविरहेण विलोक्य पुष्पिताग्राम्।—पृ० ७५।
५. अहो विबुधयौवनं वहसि तन्वि पृथ्वीगता।—पृ० १३७।

लिए विशेष तर्क उपस्थित किया है।[1] इन आठ भेदों में संभोग तथा विप्रयोग-शृंगार की उभय दशाओं में नायिका का समस्त जीवन चित्रित किया गया है। ध्यान से देखने पर जयदेव इन समग्र प्रकारों का चित्रण कहीं व्यक्त रूप से, कहीं अव्यक्त तथा स्वल्परूप से करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। उनके उल्लेखानुसार पंचम सर्ग में वर्णन है वासकसज्जा का, सप्तम में विप्रलब्धा का, अष्टम में खण्डिता का, नवम में कलहान्तरिता का, दशम में मानिनी का तथा द्वादश में स्वाधीनपतिका का। चतुर्थ सर्ग में विरहोत्कण्ठिता का वर्णन नितान्त व्यक्त है तथा द्वितीय सर्ग में प्रोषितपतिका का वर्णन अनुमान-गम्य है। इस प्रकार, जयदेव ने राधा को अष्टविध नायिका के रूप में सर्वप्रथम चित्रित कर वैष्णव-कविता के इतिहास में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। भक्ति तथा शृंगार का यह अनुपम सामञ्जस्य जयदेव की अमर प्रतिभा का विलास माना जा सकता है। हरिस्मरण तथा विलासकला के कुतूहल की पूर्त्ति के लिए गीतगोविन्द की इस सरस शैली का अनुसरण भारतवर्ष के वैष्णव-कवियों ने अपने काव्यों में सफलता से किया; गीतगोविन्द की अन्तरंग स्फूर्त्ति तथा गाढ प्रेरणा का यह सुन्दर दृष्टान्त माना जा सकता है।

गीतगोविन्द की छन्दोयोजना बड़ी ही हृदयंगम है। जयदेव ने 'सार' छन्द का प्रयोग अपने काव्य में बड़ी मधुरता के साथ किया है। श्रीमाधवराव पटवर्धन ने जयदेव के 'ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे' चरण के आधार पर इसका नाम 'ललित-लवङ्ग' रखा है। 'सार' में २८ मात्राएँ होती हैं। प्राचीन नियम के अनुसार सोलह मात्राओं के बाद यति और अन्त में दो गुरु होना चाहिए। गीतगोविन्द में 'सार' का अधिक प्रयोग किया गया है और इसीका अनुसरण बंगाल के वैष्णव-कवियों, जैसे—चंडीदास, गोविन्ददास आदि ने अपने पदों में किया है। अन्य मात्रा-छन्दों का भी प्रयोग बड़ी सुन्दरता से यहाँ किया गया है।[2]

गीतगोविन्द का प्रभाव : संस्कृत-काव्य

काव्य की सुषमा में, मनोभावों के गम्भीर वर्णन में, शब्दों के सामञ्जस्य-विन्यास में तथा पदशैली के नूतन आविष्कार में गीतगोविन्द संस्कृत-साहित्य के इतिहास में नितान्त उन्नत स्थान रखता है। वैष्णव-काव्य के विकास में इस ग्रन्थरत्न के विपुल प्रभाव का अभी तक यथार्थ रूप से अध्ययन नहीं हो पाया है। गीतगोविन्द का प्रभाव उत्तर भारत के ही विभिन्न भाषा-साहित्यों पर नहीं पड़ा है, प्रत्युत महाराष्ट्र, गुजरात तथा कन्नड़-प्रांत के साहित्य पर भी प्रभूत मात्रा में पड़ा है। इसीको आदर्श मानकर पद-शैली में प्रणीत संस्कृत-काव्यों की एक विस्तृत परम्परा आज भी संस्कृत में जागरूक है। गीतगोविन्द से स्फूर्त्ति तथा प्रेरणा ग्रहण कर संस्कृत में एक अत्यन्त ललित 'गीत-साहित्य' का उद्गम हुआ, जिसमें कवियों ने विभिन्न देवों की प्रेमलीला के विषय में इसी शैली में तथा इन्हीं

१. द्रष्टव्य दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, श्लोक २३ की टीका।
२. विशेष द्रष्टव्य : डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल : आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्दोयोजना, पृ० २९६–९७, पृ० ३६८–३७० (प्रकाशक, लखनऊ-विश्वविद्यालय, लखनऊ, २०१४ वि०)।

माधुर्य-भावनाओं से सिक्त सरस काव्यों का प्रणयन किया । ऐसे गीतकाव्यों में कतिपय प्रमुख काव्य-ग्रन्थोंका उल्लेख यहाँ किया जाता है[1]—गीतगौरीपति (भानुदत्त-रचित, १४वीं शती), गीतगंगाधर (कल्याण, राजशेखर तथा चन्द्रशेखरसरस्वती-रचित विभिन्न काव्य); गीतशंकर (भीष्ममिश्र, अनन्तनारायण तथा हरिकवि); गीतगिरीश (रामकवि); गीतगणपति (कृष्णदत्त; हस्तलेख १८वीं शती); गीतराघव (हरिशंकर, प्रभाकर, रामकवि); कृष्णगीत (सोमनाथ), संगीतमाधव (गोविन्ददास १५५७–१६१२ ई०) । इनमें से प्रथम ग्रन्थ को छोड़कर शेष अभी तक अप्रकाशित हैं।[2]

गीतगौरीपति की रचना मिथिला के विख्यात कवि तथा आलंकारिक भानुदत्त (१४वीं शती) ने की। इसमें दस सर्ग हैं तथा शंकर-पार्वती की प्रेमलीला का चित्रण किया गया है। शैली वही अष्टपदी की तथा वर्ण्य विषय भी वैसा ही । वियुक्त शिव-पार्वती का दूती द्वारा मेल तथा संयोग । जयदेव का अनुकरण बड़ी सफलता से किया गया है। दृष्टान्त के तौर पर एक पद यहाँ उद्धृत किया जाता है—

कलित-कलङ्कममृतकरविम्बम्
रचयति विषघटरुचिमविलम्बम्
मधु मधुरे०
किमु करवाणि विधौ विधुरे (ध्रुव)
अङ्गारकभरितेन हसन्ती
विकसदशोकलता विहसन्ती
मधु मधुरे०
प्रसरति केसर कुसुमजधूली
किमु यमकासरखुरपुटधूली
मधु मधुरे०

श्रीगौडीय गोस्वामियों के ऊपर जयदेव के प्रभाव का तो प्रत्यक्ष दृष्टान्त उपलब्ध होता है । गीतगोविन्द चैतन्यदेव का बड़ा ही प्रिय ग्रन्थ था, जिसके पदों को गाते-गाते वे आनन्द से विभोर हो उठते थे । श्रीरूपगोस्वामी के स्तवमाला नामक काव्य-ग्रन्थ में अनेक अष्टपदियाँ अपनी शोभा बढ़ा रही हैं । इसमें गोस्वामीजी ने भगवान् श्रीकृष्ण तथा राधा की ललित केलियों का वर्णन 'पदशैली' में बड़े ही हृदयावर्जक रूप से किया है । श्रीरूप प्रतिभा के धनी वैष्णवकवि थे, जिनका अन्तःस्थल श्रीराधाकृष्ण की विमल भक्ति के कारण नितान्त निर्मल था तथा जिनकी लेखनी कोमल हरि-भावों की अभिव्यक्ति

---

१. इन काव्यों की पूरी सूची के लिए देखिए—कृष्णमाचार: 'हिस्ट्री ऑफ् क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर', मद्रास ।

२. गीतगौरीपति का प्रकाशन गोपालनारायण कम्पनी ने प्रकाशित किया है; बम्बई, १८९१।

करने में सर्वथा समर्थ थी। इनके गीतों की भाषा तथा शैली दोनों रस से स्निग्ध है। इन की 'भणिता' में रूप का नाम न होकर सनातन का नाम है, जिससे कतिपय आलोचक इसे उनके ज्येष्ठ भ्राता सनातन की रचना मानने के लिए प्रस्तुत हैं, परन्तु तथ्य यह है कि अपने अग्रज के ऊपर अगाध श्रद्धा तथा अटूट भक्ति के कारण ही इन्होंने ऐसी भणिता दी है। इनके दो-एक पद उदाहरणार्थ यहाँ दिये जाते हैं—

निपतति परितो वन्दनपाली
तं दोलयतिमुदा सुहृदाली
विलसति दोलोपरि वनमाली
तरलसिरोरुहशिरसि यथाली।
जनयति गोपीजनकरताली
कापि पुरो नृत्यति पशुपाली।
अयमारण्यकमण्डनशाली
जयति सनातनरसपरिपाली॥

राधा-विरह—
अनधिगताकास्मिक गदकारणम्
अर्पितमन्त्रौषधिनिकुरुम्बम्
अविरतरुदितविलोहितलोचन-
मनुशोचति तामखिलकुटुम्बम्।
सा तव निशितकटाक्षशराहत-
हृदया जीवतु कृशतनुराली (ध्रुवम्)
हृदि वलदविरलसंज्वरपटली
स्फुटदुज्ज्वलमौक्तिकसमुदाया।
शीतलभूतलनिश्चलतनुरिय
मवसीदति सम्प्रति निरुपाया॥
गोष्ठजनामयसत्रमहाव्रत-
दीक्षित! भवतो माधव! बाला।
कथमर्हति तां हन्त 'सनातन'—
विषमदशां गुणवृन्दविशाला॥

कृष्ण-रूप—
अमलकमलरुचिखण्डनपटुपद
नटनपतिमहुतकुण्डलिपतिमद।
नवकुवलयसुन्दररुचिभर-
घनतडिदुपमितबन्धुरपटधर॥

ये समस्त गायन 'गोविन्द-विरुदावलि' के भीतर समाविष्ट किये गये हैं। इन गायनों के

छन्दोनिर्देश का भी बड़ा ही शास्त्रीय विवरण जीवगोस्वामी ने अपनी टीका में दिया है जो छन्दःशास्त्र के अध्येताओं के लिए बड़ा ही लाभदायक है।[१]

इसी प्रकार, गोविन्ददास (१६वीं शती का उत्तरार्द्ध), विश्वनाथ चक्रवर्त्ती (जन्मकाल १६६४ ई०) तथा राधामोहन ठाकुर (१६९८–१७७८ ई०) के द्वारा निर्मित अनेक संस्कृत-पद उपलब्ध होते हैं, जो जयदेव की परम्परा को अग्रसर करनेवाले कवियों की ललित रचनाएँ हैं।

अपभ्रंश-काल में निर्मित काव्यों के ऊपर भी गीतगोविन्द का प्रभाव अवश्य पड़ा था; ऐसा अनुमान करने के लिए आधार प्रस्तुत है। 'प्राकृतपैंगलम्' नामक प्राकृत छन्दो-विषयक ग्रन्थ में प्राकृतछन्दों का विवरण दिया गया है और उनके उदाहरण में अनेक कवियों के द्वारा निर्मित पद्य भी उद्धृत किये गये हैं। सबसे अर्वाचीन कवि का काल, जिसका पद्य यहाँ उद्धृत किया गया है, १४वीं शती है। फलतः, इस ग्रन्थ को १४वीं शती से प्राचीन होना चाहिए।' इसमें दो छन्द ऐसे हैं, जिनके ऊपर गीतगोविन्द का प्रभाव बहुत ही स्पष्ट है। दश अवतार धारण करनेवाले नारायण की स्तुति एक छन्द में इस प्रकार है—

> जिण वेअ धरिज्जे महिअल लिज्जे पिट्ठिहि दंतहि ठाउ धरा।
> रिउ वच्छ विआरे, छल तणु धारे, वंधिय सत्तु सुरज्ज हरा॥
> कुलखत्तिय तप्पे, दहमुख कप्पे, कंसअ केसि विणास करा।
> करुणा पअले मेच्छह विऊले सो देउ णरायन तुम्ह वरा॥
>
> —२।२०७; सुन्दरी

यह छन्द गीतगोविन्द का इस प्रख्यात पद्य का स्पष्ट अनुवाद ही है—

> वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते
> दैत्यान् दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
> पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
> म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥
>
> —प्रथम सर्ग, श्लोक १२

वसन्त का वर्णनपरक यह छन्द कविता की दृष्टि से रमणीय तथा रोचक है। इसमें शीतल वायु के बहने से दिशा-विदिशा में भ्रमरकुल के गुंजार से तथा कोकिल की

१. जीवगोस्वामी के अनुसार मात्रावृत्त का एक प्रमुख भेद 'कलिका' है, जिसके चण्डवृत्त नामक भेद के अन्तर्गत वर्द्धित, वीरभद्र, अच्युत, तुरंग, गुणरति आदि उपभेद होते हैं। कृष्णरूप का वर्णनपरक ऊपर उद्धृत पद 'तिलक' नामक चण्डवृत्त का उदाहरण है।

> कलानाम भवेत् तालनियता पदसन्ततिः।
> कलाभिः कलिका प्रोक्ता तद्भेदाः षट् समीरिताः॥

द्रष्टव्य : जीवगोस्वामी की स्तवमाला-टीका (काव्यमाला, सं० ८४, बम्बई १९३०)।

गीतगोविन्द का प्रभाव : अपभ्रंश-काव्य।

काकली से विरहिजनों के हृदय में प्रियतमा की स्मृति नूतन होकर स्मृति-पटल पर छा जाती है—

> जं फुल्लुक मल वण वहक लहु पवण
> भमइ भमरकुल दिसि विदिसं ।
> झंकार पलइ वण रवइ कुइल गण
> विरहिअ हिअ हुअ दर विरसं ॥
> आणंदिय जुअजण उलसु उठिय मणु
> सरस नलिणिदल किअ सयणा ।
> पल्लट्ट सिसिर रिउ दिवस दिहर
> भउ कुसुम समय अवतरिअ वणा ॥
>
> —प्राकृतपैंगलम् २।२१३; शालूरवृत्त

कोई कवि वसन्त का वर्णन कर रहा है—आज वन में सरस कमल-दल के विछौनेवाला वसन्त आ गया है; कमलवन प्रफुल्ल हो गया है; मन्द-मन्द पवन वह रहा है; दिशाओं और विदिशाओं में भौंरे घूम रहे हैं; वन में झंकार—भौंरों का गुंजार प्रवृत्त हो रहा है; कोकिल-समूह विरहियों के सामने कठोर स्वर में कूक रहा है; युवक आनन्दित हो गये हैं; मन तेजी से उल्लसित हो उठा है; शिशिर ऋतु पलट गया है (अर्थात्, लौट गया है) और दिन बड़े हो चले हैं।)

> उन्मीलनमधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुरः
> क्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वराः ।
> नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-
> प्राप्तः प्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः ॥
>
> —तृतीय अष्टपदी : श्लोक ११, पृ० २९

ध्यान देने की बात है कि इस पद्य को विश्वनाथ कविराज ने अपने 'साहित्यदर्पण' के दशम उल्लास में वृत्त्यनुप्रास के उदाहरण के लिए उद्धृत किया है। 'महापात्र' पदवीधारी विश्वनाथ कविराज उत्कल के तत्कालीन राजा के सान्धिविग्रहिक थे तथा १४वीं शती के आरम्भ में उत्पन्न हुए थे।[1] गीतगोविन्द की रचना के सौ वर्षों के भीतर ही एक उत्कलदेशीय आलंकारिक उसके पद्य को उदाहरण-रूप से प्रस्तुत करता है, यह बात बड़े महत्त्व की है। मेरी दृष्टि में गीतगोविन्द का अलंकार-ग्रन्थों में यह प्रथम उद्धरण है और वह भी एक उत्कलीय ग्रन्थ में। इससे उत्कल देश में गीतगोविन्द की प्रख्याति का होना जाना जा सकता है। जयदेव की जन्मभूमि बंगाल में बहुमत से मानी जाती है, परन्तु कतिपय विद्वान् इनकी जन्मभूमि उत्कल देश में मानते हैं, तथा 'किन्दुविल्व' नामक इनका जन्मस्थान, जिसका उल्लेख कवि ने स्वयं गीतगोविन्द में किया है[2],

---

१. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ६४०–६४१ (काशी; षष्ठ संस्करण, १९३१)

२. केन्दुविल्वसमुद्रसम्भवरोहिणीरमणेन ।—गीतगोविन्द ।

उत्कल में बतलाया जाता है। बंगाल में 'केन्दुली' नामक स्थान पर आज वैष्णवों का एक भारी वार्षिक मेला जयदेव की पवित्र स्मृति में लगता है, परन्तु उत्कलीय विद्वान् इसमें आस्था नहीं रखते और उत्कल के केन्दुली को ही जयदेव का जन्मस्थान मानते हैं। जो कुछ भी हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि जयदेव का उत्कल के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। गीतगोविन्द की माधुरी के उपासक चैतन्यदेव अपने जीवन की सन्ध्या में नीलाचल (जगन्नाथपुरी) पर विराजते थे; इससे भी उत्कल में गीतगोविन्द के विपुल प्रचार-के तथ्य का समाधान किया जा सकता है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि चैतन्यदेव के शिष्य पुरी-नरेश प्रतापरुद्रदेव (१६वीं शती) ने उत्कल के अनेक मन्दिरों में गीतगोविन्द के नियमित गायन के लिए भूमिदान दिया था, जिसका उल्लेख उनके शिलालेखों में मिलता है।

विश्वनाथ कविराज के प्रायः समसामयिक, परन्तु देशतः बहुत दूर, गुजरात के शार्ङ्गदेव के शिलालख में जो १३४८ वि० (१२९१ ई०) की रचना है, गीतगोविन्द की एक पंक्ति का उल्लेख मिलता है। इस लेख का प्रारम्भ 'वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूभारमुद्बिभ्रते' से होता है और यह जयदेव के पूर्वोक्त श्लोक की आदिम पंक्ति है। यह लेख अनावाडा से प्राप्त है और गुजरात में जयदेव के प्रभाव का तथा प्राचीन काल में -कृष्ण-भक्ति के प्रचार का पर्याप्त सूचक माना जाता है।[1]

गीतगोविन्द का प्रभाव : भाषा-काव्य

प्रांतीय भाषाओं में निर्मित कृष्ण-काव्यों के ऊपर 'गीतगोविन्द' का प्रभाव बहुत ही व्यापक तथा पुंखानुपुंख रूप से पड़ा है; इसके विषय में सन्देह करने के लिए स्थान नहीं है। तथ्य तो यह है कि भागवत के अनन्तर गीतगोविन्द ही वह अनुपम काव्य है, जो अपने रचनाकाल से आजतक कवियों के हृदय को आकृष्ट करता आया है। मध्ययुगीय वैष्णव-साहित्य के ऊपर तो इसका प्रभाव बड़ा ही अक्षुण्ण, गम्भीर तथा तलस्पर्शी है। इस प्रभाव की एक संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

वह प्राचीनतम भाषाकवि, जिसके ऊपर जयदेव के काव्य की माधुरी अपना प्रभाव जमाये हुए है, मैथिल कवि उमापति हैं। मेरी दृष्टि में भाषा-काव्य में पदशैली का आरंभ इन्हीं से होता है। जयदेव के समकालीन उमापतिधर तथा पदकर्त्ता उमापति अभिन्न हैं या भिन्न? इस प्रश्न के उत्तर में विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है। उमापतिधर की अनेक वैष्णव-कविताएँ 'सदुक्तिकर्णामृत' में उद्धृत हैं, जिनसे उनके वैष्णव होने या वैष्णव-प्रभाव से प्रभावित होने में सन्देह नहीं किया जा सकता। जयदेव ने उमापतिधर को वाक्-पल्लवन का कवि स्वीकार किया है (वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः) और यह तथ्य उनकी निःसन्दिग्ध रचना विजयसेन के देवपाड़ा-प्रशस्तिकाव्य के अध्ययन से प्रमाणित होता है। सदुक्तिकर्णामृत में उद्धृत पद्यों की भाषा में भी वही वाक्-पल्लवन लक्षित होता है। अतएव, कोमल पदावली की रचना का श्रेय उमापति को देना चाहिए, जो इनसे नितान्त भिन्न

---

१. श्रीदुर्गाशंकर केशवराम शास्त्री : वैष्णवधर्म नो संक्षिप्त इतिहास (गुजराती), पृ० ३५७ (प्रकाशक फार्ब्स गुजराती सभा, मुंबई, द्वितीय आवृत्ति, १९३९ ई०)।

अथच अर्वाचीन कवि हैं। उमापति ने मिथिला के राजा हरदेव या हरिदेव के राज्यकाल में अपने मैथिल नाटक 'पारिजातहरण' का प्रणयन १३२० ई० के आसपास किया। फलतः, ये महाकवि विद्यापति से लगभग सत्तर-पचहत्तर वर्ष पहिले उत्पन्न हुए थे। इनके कृष्ण-केलि से सम्बद्ध पदों में गीतगोविन्द का भाव बहुशः ग्रहण किया गया है। मानिनी रुक्मिणी को मनाते हुए श्रीकृष्ण उनसे अपनी बात सुना रहे हैं—

मानिनि मानह जओं मोर दोसे
शास्ति करिय बरु न करिय रोसे।
भौंह कमान विलोकन बाने
बेधह विधुमुखी कय समधाने।
पीन पयोधर गिरिवर साधी
बाहु फाँस धनि धरु मोहि बाँधी।
को परिणति भय परसनि होही
भूषन चरण कमल देह मोही।

इस पद का मौलिक भाव गीतगोविन्द की एक प्रख्यात अष्टपदी में उपलब्ध होता है। कृष्ण राधा के प्रणय-मान के निराकरण के लिए एक नवीन उपाय ढूंढ़ निकालते हैं—

सत्यमेवासि यदि सुदति मयि कोपिनी
देहि खरनखरशरघातम्।
घटय भुजबन्धनं जनय रदखण्डनं
येन वा भवति सुखजातम्॥

—अष्टपदी १९ : द्वितीय पद्य

इसका तात्पर्य है कि हे सुन्दर दाँतवाली राधिके! यदि तुम मुझसे सचमुच ही क्रुद्ध हो, तो तुम्हारे कोप के प्रकाशन का मैं उचित मार्ग बतला रहा हूँ। अपने तीक्ष्ण शररूपी नखों से मेरे शरीर पर प्रहार करो। अपनी भुजाओं के द्वारा मुझे बन्धन में डाल दो तथा अपने दाँतों से मेरे कोमल अंग का खण्डन कर दो अथवा जिससे तुम्हें सुख मिले, वह कार्य तुम कर डालो। कोई रोक नहीं तुम्हारे कामों पर। यही भाव सुन्दरता से उमापति ने अपने पद में प्रदर्शित किया है।

विद्यापति पर जयदेव का प्रभाव तो विषय-निर्वाचन में, शैली में तथा भाव-संचयन में बहुत ही अधिक है। उसका विस्तृत विवेचन विद्यापति के काव्य-समीक्षण के अवसर पर आगे किया जायेगा। यहाँ केवल भावसाम्य का एक ही पद्य देना पर्याप्त होगा। जयदेव का यह प्रख्यात पद्य विरहिणी की मनोदशा का अत्यन्त रोचक तथा चमत्कारी वर्णन प्रस्तुत करता है, जिसे विद्यापति ने नीचे के पद में सुन्दर ढंग से अपनाया है—

कत न वेदन मोह देसि मदना
हरि नहि बला मोहि जुवति जना।
विभूति भूषन नहि छान्दनक रेनू
बाघ छाल नहि मोरा नेतक बसनू।

नहि मोरा जटाभार चिकुरक बेणी
सुरसरि नहिं मोरा कुसुमक सेणी।
चान्दनक बिन्दु मोरा नहि इन्दु छोटा
ललाट पावक नहिं सिन्दुरक फोटा।
नहिं मोरा कालकूट मृगमद चारु
फनिपति मोरा मुकुताहारु।

विद्यापति का यह सुन्दर पद जयदेव के एक प्रख्यात पद्य की छाया पर विरचित है। जयदेव का वह सुप्रसिद्ध पद्य इस प्रकार है—

हृदि विसलताहारो नायं भुजङ्गमनायकः
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः।
मलयजरजो नेदं भस्म, प्रियारहिते मयि
प्रहर न हर भ्रान्त्याऽनङ्ग क्रुधा किनु धावसि॥ —३।११

कृष्ण के विरह का प्रसंग है। वह कामदेव को संबोधित करते हुए कह रहे हैं—मेरी छाती के ऊपर यह मृणाल का सफेद हार हिल रहा है; यह साँप नहीं है। कण्ठ में मेरे नील कमल के पत्तों की यह श्रेणी है; विष की कालिमा नहीं है। शरीर पर शीतल उपचार के लिए लपेटा गया यह चन्दन-रज है, सफेद भस्म नहीं है। फलतः, ऐ कामदेव, शंकर के भ्रम से मेरे ऊपर अपने वाणों का प्रहार मत करो। तुम मुझे मारने के लिए क्रुद्ध होकर क्यों दौड़ रहे हो?

विद्यापति का पूर्वोक्त पद गीतगोविन्द के ऊपर आधृत है। दोनों का भावसाम्य विलक्षण है। विद्यापति ने अपनी ओर से कुछ जोड़कर भाव में विशेष चमत्कार उत्पन्न किया है।

महनीय साधक चण्डीदास तथा उनके पश्चाद्वर्त्ती बँगला के पदकारों की कविता के ऊपर गीतगोविन्द का प्रभाव इतना स्पष्ट तथा विशद है कि उसके लिए भाव-साम्य-वाले पदों को यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं। यह इतना स्पष्ट है कि विशेष व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता। १६वीं तथा १७वीं शती के गुजराती कवियों को भी जयदेव ने अपनी गीतमाधुरी से आकृष्ट किया था। तभी तो नरसी मेहता (१४१४ ई०—१४८१ ई०) ने कृष्णकेलि के अमृतरस के पान का श्रेय गोपियों के अनन्तर जयदेव को नामोल्लेखपूर्वक दिया है—

सुणो तमे नारी! अमे ब्रह्मचारी
अमने ते कोई एक जाणो रे।
वेद भेद लहे नहि मारो
सनकादिक नारद बखाणो रे।
एक जाणे छो व्रजनी गोपी
के रस जयदेवे पीधो रे।
उगतो रस अवनी ढलतो
नरसैंये ताणी ने लीछो रे। —शृंगारमाला

इस महत्त्वपूर्ण उल्लेख का ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि नरसी स्वयं अपने-आपको गोपियों और जयदेव की परम्परा का भक्त स्वीकार करते हैं। फलतः, वे भी माधुर्य-भक्ति के उपासक भक्त हैं, इसमें सन्देह करने के लिए स्थान नहीं रहता। स्वर्गीय दुर्गाशंकर शास्त्री ने नरसी पर जयदेव के प्रभाव का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है।[1]

व्रजभाषा के कृष्णभक्त कवियों पर भी गीतगोविन्द का प्रभाव पर्याप्तरूपेण मिलता है। अष्टछाप के कवियों पर विषय की एकता के कारण जयदेव के इस अमर काव्य का प्रभाव अपेक्षाकृत न्यून नहीं है। व्रजभूमि में गीतगोविन्द का प्रचार काफी व्यापक था; इसका पता हमें चलता है इस ग्रन्थ के हस्तलेखों से। 'गीतगोविन्द की अनेक प्रतिलिपियाँ हिन्दी के प्राचीन पुस्तकों के साथ वँधी, व्रज के वैष्णव-घरों में और मन्दिरों में मिलती हैं। इससे ज्ञात होता है कि गीतगोविन्द का, चाहे संगीत की दृष्टि से हो, चाहे इसमें निहित भावों की दृष्टि से, व्रज में वहुत प्रचार था।'[2] अष्टछाप की मधुर पदावली के अध्ययन से गीत-गोविन्द के प्रभाव का अनुमान सहज में लगाया जा सकता है।

मराठी-साहित्य में भी गीतगोविन्द का प्रभाव १३वीं शती के एक प्रख्यात कवि के काव्य पर लक्षित होता है। महानुभावी कवि भास्करभट्ट वोरीकर (१२७५-१३१० ई०) के काव्यग्रन्थ 'शिशुपालवध' में गीतगोविन्द के अनेक भाव-सादृश्य उपलब्ध होते हैं, जिन्हें ग्रन्थकार ने जयदेव से निश्चित रूप से ग्रहण किया है। कर्नाटक-प्रांत में भी इसी अमर काव्य का प्रभाव कन्नड़ी काव्यों पर लक्षित होता है। अप्रमेय शास्त्री (१७५० ई०) ने इस ग्रन्थ पर 'शृंगारप्रकाशिका' नाम्नी व्याख्या कन्नड़ भाषा में लिखी है। मैसूर के राजा चिक्कदेव राय (१६७२ ई०-१७०४ ई०) ने गीतगोविन्द के आदर्श पर 'गीतगोपाल' नामक सुन्दर काव्य का प्रणयन किया, जो कन्नड़ देश में गीतगोविन्द की लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है।[3] इस प्रकार, गीतगोविन्द की अखिलभारतीय ख्याति रही है तथा यह समग्र भारतीय कृष्ण-कथा पर अपनी अमिट छाप छोड़ गया है; यह कथन सर्वथा यथार्थ है। गीत-गोविन्द एक सार्वभौम काव्य है, देश तथा काल की परिधि जिसे वाँध नहीं सकती और जिसकी कोमलकान्त पदावली का आकर्षण साहित्य-संसार में एकदम अनुपम तथा अतुलनीय है।

जयदेव की राधा

जयदेव की राधा पार्थिव प्रेम की प्रतिमा न होकर दिव्यभक्ति की संचारिणी कल्पलता है। वह अपने आराध्य व्रजनन्दन के प्रति सहज स्वाभाविक अनुराग धारण करती है। आदर्श प्रेमी के समान वह अपने आराध्यदेव के वास्तविक दोषों का तनिक भी खयाल नहीं करती। वह जानती है कि वह 'वहुवल्लभ' है--उसकी प्रीतिपात्री कोई एक भाग्यवती ललना नहीं है, प्रत्युत वह अनेक नारियों को आकृष्ट करनेवाला व्यक्ति है। इतना ही नहीं, वह 'स्वच्छन्दं रमते' मनमानी ढंग से रसकेलि में पगा हुआ रहता है—अपनी

१. ऐतिहासिक संशोधन, पृ० १३४, १३७ (प्रकाशक गुजराती साहित्य, प्रथमावृत्ति, १९४१)।

२. दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, प्रथम खण्ड, पृ० ५४ (प्र० साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००४)।

३. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ३४२।

प्रणय-लीला में वह प्रवृत्त होता है बेरोक-टोक; उसे वहाँ से हटानेवाला कोई भी पुरुष नहीं है; वचन देकर भी वह ठीक समय पर नहीं आता। इतना जानकर भी प्रियतम के दोषों से परिचय पाकर भी वह बुरा नहीं मानती। वह अपने सखी से कहती है कि इसमें तेरा दोष ही क्या? ये साधन किसी सामान्य स्त्री के हृदय को विरक्त करने के लिए पर्याप्त होते, परन्तु राधा के हृदय में इन बातों से अपने प्रियतम से किसी प्रकार की विरक्ति नहीं होती; प्रत्युत वह कहती है कि क्षण-भर के विलम्ब में भी उसका चित्त उत्कण्ठार्त्ति के भार से कट जायगा। इस प्रकार, राधा दिव्य प्रेमिका के रूप में चित्रित की गई है—

नायातः सखि निर्दयो यदि शठस्त्वं दूति किं दूयसे ?
स्वच्छन्दं बहुवल्लभः स रमते किन्तत्र ते दूषणम् ?
पश्याद्य प्रियसङ्गमाय दयितस्याकृष्यमाणं गुणैः
उत्कण्ठार्त्तिभरादिव स्फुटदिदं चेतः स्वयं यास्यति ॥

भावानुवाद--

आयो न नाथ जो साथ तिहारो,
तो दोष कहा तुहि को दुख छायगो।
ठौर कुठौर लखै न सुछन्द
कठोर हियै को सखै निठुरायगो।
तौ उनके गुन यौवनरूप
फँदानि फँस्यौ अति हि अकुलायगो।
मो मन मोहि न मानत मोहन
मोहन के ढिग आपुहि जायगो॥

—गीतगोविन्दादर्श, पृ० ५५–५६

राधा : रूप-सुषमा

जयदेव की दृष्टि में चिरसुन्दरी राधा भूतल पर विचरण करनेवाली दिव्य ललनाओं का एक अपूर्व सम्मिलन है। वह विचरण करती है पृथ्वी के ऊपर; परन्तु उसके अंग-प्रत्यंग में स्वर्गलोक की अप्सराएँ अपने पूर्णवैभव तथा सौन्दर्य के साथ केलि किया करती है। राधा के दोनों नेत्र 'मदालसा' (मद से अलस तथा मदालसा नाम्नी अप्सरा) हैं। स्वर्गलोक को तो एक ही मदालसा अलंकृत करती है, परन्तु राधा के शरीर के एक भाग में दो मदालसा विराजमान हैं। राधा का मुख चन्द्रमा के समान दीप्ति का विस्तार करता है तथा 'इन्दुमती' नामक अप्सरा चन्द्र-वदन में निवास करती है। राधा की गति मनुष्यों के मन को रमानेवाला है तथा वह 'मनोरमा' अप्सरा है। राधा की दोनों जंघाओं ने 'रम्भा' (केला तथा रम्भा नामक अप्सरा) को जीत लिया है। राधा की रति (हाव, भाव आदि) कला-कौशल से युक्त है। साथ-ही-साथ काम की पत्नी रति तथा 'कलावती' अप्सरा को वह धारण कर रही है। राधा की दोनों भौंहें कोप के कारण विचित्र भ्रूकुटि को धारण करनेवाली हैं, साथ-ही-साथ वे दो 'चित्रलेखाओं' को धारण करती हैं। तात्पर्य

यह है कि स्वर्ग में तो एक ही चित्रलेखा अप्सरा वास करती है, परन्तु राधा के भ्रू-युगल दो चित्रलेखा की रचना में समर्थ हैं। हे तन्वी राधा! तुम पृथ्वी पर रहकर भी देवांगनाओं के समूह को धारण करती हो। इस प्रकार जयदेव ने राधा के श्लाघनीय सौन्दर्य की दिव्य छटा की अभिव्यंजना 'मुद्रा' अलंकार से अलंकृत इस पद्य में कितनी स्पष्टता से की है—

दृशौ तव मदालसे वदनमिन्दुसन्दीपकं
गतिर्जनमनोरमा विजितरम्भमूरूद्वयम् ।
रतिस्तव कलावती रुचिरचित्रलेखे भ्रुवा-
वहो विबुधयौवनं वहसि तन्वि पृथ्वीगता ॥

—गीतगोविन्द, सर्ग १०, श्लोक ७

कवि स्वर्गलोक से भूतल पर आता है, और राधा के अंगों की समता खोजने के लिए वह पुष्पों की रमणीय वाटिका में भ्रमण करता है। राधा के अंगों का आश्रय लेकर कुसुमायुध कामदेव विश्व को जीतने में समर्थ होता है; कवि की इस उक्ति से राधा के अलौकिक सौन्दर्य का अनुमान रसिक पाठक भली भाँति कर सकता है। राधा का अधर वन्धूक-पुष्प की शोभा का मित्र है। उसका स्निग्ध कपोल मधूक (महुवा) पुष्प के समान अत्यन्त सरस तथा चिक्कण है। लोचन अपनी कान्ति से नीलकमल की शोभा को दूर कर रहा है। दाँत कुन्दफूल के समान शोभा धारण कर रहे हैं। राधा की नासिका तिल के फूल की पदवी को धारण करनेवाली है। इस प्रकार, वह कुसुमायुध काम राधा के मुख को ही अपना कटक वनाकर संसार को जीत रहा है। कामदेव के पाँच वाण प्रसिद्ध हैं। यहाँ संकेत पाँचों वाणों का विद्यमान है। रक्तबन्धुजीव 'आकर्षण' वाण है। पीतमधूक 'वशीकार' वाण है। लोचन 'उन्मादन' वाण, नासा 'द्रावण' वाण तथा दन्त 'शोषण' वाण का कार्य वर्ण की समता से कर रहे हैं। इस प्रकार, राधिका के मुख की सेवा से कामदेव संसार के जीतने में समर्थ होता है। फलतः, राधा का मुख अलौकिक सौन्दर्य से युक्त तथा काम का उद्दीपक है, इस तथ्य का संकेत जयदेव ने बड़ी सुन्दरता के साथ इस पद्य में किया है—

बन्धूकद्युतिबान्धवोऽयमधरः स्निग्धो मधूकच्छवि-
र्गण्डश्चण्डि चकास्ति नीलनलिनश्रीमोचनं लोचनम् ।
नासाभ्येति तिलप्रसूनपदवीं कुन्दाभदन्ति प्रिये
प्रायस्त्वन्मुखसेवया[1] विजयते विश्वं स पुष्पायुधः ॥

—गीतगोविन्द, सर्ग, १०।६

१. इस श्लोक में रसमंजरी टीका के अनुसार 'सेवया' के स्थान पर 'सेनया' पाठ मिलता है। परन्तु अभिव्यंजना की दृष्टि से 'सेवया' पाठ 'सेनया' की अपेक्षा कहीं अधिक उचित तथा सरस है। शिवजी ने वाण से युक्त काम को जला दिया था। फलतः, वह काम राधा के विशिष्ट पुष्प के समान अंगों को अपना आयुध बनाकर विश्व को जीतता है, वह भाव 'सेवया' पाठ रखने पर ही विशेष रूप से सिद्ध होता है।—ले०

जयदेव की राधा के वय का परिचय हमें काव्य के प्रथम श्लोक से हो जाता है। उस तमिस्रा के भीषण रूप को देखकर नन्दजी को बड़ी चिन्ता थी कि मेरे बालक को सकुशल घर कौन पहुँचा सकेगा। जल-भरे बादलों के कारण आकाश काला हो गया था, तमाल के वृक्षों के कारण वनभूमि श्यामा बन गई थी, उस पर हो रहा था रात का आगमन। छोटा बालक नितान्त भीरु था। इसलिए, नन्द ने राधा से कहा कि इसे घर पहुँचा आओ। उनके निदेश से माधव को लेकर राधा पहुँचाने चल पड़ी तथा यमुना के किनारे प्रत्येक कुञ्जवृक्ष के नीचे उन दोनों ने प्रेममयी केलियों का विस्तार किया। इस वर्णन से स्पष्ट है कि राधा कृष्ण की अपेक्षा वय में अधिक तथा भयजनक वातावरण में भी शान्त रहनेवाली प्राणी थीं। फलतः, उन्हें साहित्यिक परिभाषा के अनुसार यदि प्रौढा की संज्ञा दी जाय, तो कुछ अनुचित नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म-वैवर्त्तपुराण में भी राधाकृष्ण के विषय में ऐसी ही एक कथा मिलती है। नन्द की आज्ञा से बालक कृष्ण को अपने साथ जब राधा ले जा रही थी, तब अचानक एक अलौकिक घटना घटती है। कृष्ण बालक-रूप से किशोर-रूप में परिणत हो जाते हैं, अर्थात् केलि-सम्पादन के अनुकूल वय में वर्त्तमान हो जाते हैं। जान पड़ता है कि इस पुराण के लेखक को राधा और कृष्ण के वय में जो वैषम्य दृष्टिगोचर हो रहा था, उसे दूर करने के लिए यह अलौकिक घटना गढ़ी गई है। जो कुछ हो, जयदेव के वर्णन के अनुसार राधा का वय कृष्ण के वय की अपेक्षा कुछ अधिक प्रतीत होता है।

काव्य के आरम्भ में वसन्त की सुषमा का सर्वत्र संचार दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति में चारों ओर आनन्द छाया हुआ है। सुन्दर लवंगलता के स्पर्श से कोमल मलयानिल चारों ओर प्रवाहित हो रहा है। भौंरों की गूँज तथा कोयलों की कूक से कुञ्ज का कुटीर मुखरित हो रहा है। रक्त वर्ण का किंशुक फूल ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह कामदेव का युवकजन के हृदय को विदीर्ण करनेवाला खून से भरा टेढ़ा-टेढ़ा नख हो। केसर का पीला फूल इस प्रकार विकसित हुआ है कि वह मदन-महीपति के सुवर्ण से बने राजदंड के समान विलसित हो रहा है। इस समय लज्जा-विहीन जगत् के प्राणियों की दशा देखकर तरुण करुण का फूल मानों विहँस रहा है। केतकी के फूलों से दिशाएँ इस प्रकार व्याप्त हो रही हैं कि जान पड़ता है कि ये विरही-जनों के हृदय को विदारण करने के लिए भाले की नोंक हों। वृन्दावन में इस प्रकार चारों ओर वसंत का साम्राज्य उल्लसित हो रहा है। समय नितान्त सुहावना है, और काम का उद्दीपक है। प्रकृति के इस रमणीय परिवेष में राधा माधव को खोजती हुई पधारती है, परन्तु उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रहती, जब वह सुनती है कि वह माधव राधिका को छोड़कर अन्य युवतीजनों के साथ कामकेलि में प्रवृत्त है। कोई गोपवधू अपने पीन पयोधर के भार से कृष्ण का अत्यन्त प्रेम से परिरम्भण कर पंचम राग में गा रही है। दूसरी मुग्ध गोपी मधुसूदन के मुख-कमल को ध्यान से देख रही है, कोई सुन्दरी कृष्ण के कान में रहस्य कहने के लिए कपोल-तल से व्रजनन्दन का चुम्बन कर रही है। यमुना के किनारे सुन्दर मञ्जुल कुञ्ज में बैठनेवाले कृष्ण के कपड़े कोई पकड़कर अपने हाथ से खींच रही है। राधा के सामने

यह कौतुकवर्द्धक दृश्य उपस्थित है। इसे देखकर राधा की आत्मा अभिमान तथा अपने अनुत्कर्ष की भावना से विगलित हो जाती है। वह किसी लताकुंज में छिपकर ईर्ष्या के वश होकर अपने पूर्व गौरव का स्मरण करती है। वह दिन उसके मानस-पटल के सामने प्रत्यक्ष होकर घूमने लगता है, जब कृष्ण ने युवतिजनों के संग में कालिन्दी के कूल पर रास का विस्तार किया था और राधा के प्रति समधिक अनुराग का प्रदर्शन किया था।

राधा : रास की स्मृति

वह कहती है कि हे सखि! मेरा मन रास में विलास करते हुए नर्मकेलि से मुस्कराते हुए व्रजनन्दन का स्मरण कर रहा है। उस रास में श्यामसुन्दर मोहन वंशी बजा रहे थे, जिसकी ध्वनि अधर के माधुर्य के सम्पर्क में आकर और भी मधुर हो गई थी। उनके दृगञ्चल और मौलिदेश चंचल हो रहे थे, जिससे कपोलों पर लटकनेवाले आभूषण आन्दोलित हो रहे थे—

सञ्चरदधरसुधामधुरध्वनिमुखरितमोहनवंशं
चलितदृगञ्चलचञ्चलमौलिकपोलविलोलवतंसम् ।
रासे हरिमिह विहितविलासं
स्मरति मनो मम कृतपरिहासम् ॥

इस रास में श्रीकृष्ण व्रज की सुन्दरियों से परिवृत होकर नृत्य में प्रवृत्त थे, परन्तु उन्होंने कभी मेरी उपेक्षा नहीं की। सुन्दरियों का प्रलोभन व्रजसुन्दर के चित्त को मुझसे कभी पराङ्मुख करने में समर्थ नहीं हुआ। इसलिए, वह इसका स्मरण करती हुई उस अपने सौभाग्य की बात सुनाने से विरत नहीं होती, जब विशद कदम्ब-वृक्ष के नीचे वे संकेत-स्थल पर पहिले पहुँचकर उपस्थित हुए थे और उसे काम से तरंगित नेत्रों से तथा मन से आनन्दित कर रहे थे। क्या यह दृश्य कभी भुलाने लायक है? आज वे भले ही मेरी उपेक्षा करें, परन्तु उस दिव्य रासमण्डल में तो वह राधा के प्रति साग्रह आकृष्ट थे —

विशदकदम्बतले मिलितं कलि कलुषभयं शमयन्तम् ।
मामपि किमपि तरङ्गदनङ्गदृशा मनसा रमयन्तम् ॥

प्रिय की उपेक्षा, वह भी इस सरस वसन्त के समय में सामान्य कामिनी को प्रेम-विमुख करने में समर्थ होती है, परन्तु राधा के हृदय में इससे विरक्ति नहीं उत्पन्न होती। यही उसके हृदय की दुर्बलता है। साथ-ही-साथ भगवान् से मिलने के लिए उसके चित्त में तीव्र अभिलाषा है। इन्हीं दोनों भावों के मिश्रण के कारण राधा का भावावेश इतना उग्र, इतना वेगवान् तथा इतना सुन्दर हो गया है। वह अपने सखी से, कृष्ण से मिलाने के लिए आग्रह करती है। वह व्रजनन्दन के हृदय के विशेष अनुराग को भली भाँति जानती है। श्रीकृष्ण व्रज की सुन्दरियों से परिवृत होने पर राधा पर दृष्टि डालते ही लज्जा के मारे गड़ जाते हैं। विलास की वंशी हाथ से गिर जाती है। कुटिल भ्रू-लतावाली गोपियों को दूर हट जाने के लिए वे अपने नेत्र का इशारा करते हैं। अतिशय स्वेद के उदय होने से उनका कपोल नितान्त आर्द्र हो जाता है। राधा के

नेत्रों के सामने कृष्ण का यह प्रेमार्द्र संकोच, यह शृंगारमयी लज्जा आकर उपस्थित होती है। फलतः, वह कहती है कि ऐसे लज्जाशील व्रजकुमार को मैं नेत्रों से कब देखूंगी और प्रसन्न होऊँगी। कृष्ण की उपेक्षा क्षणिक है, अनुराग स्थायी है। इसलिए, राधा के उदार हृदय में कृष्ण के इस नूतन व्यवहार के लिए रोष नहीं है, प्रत्युत दया है। क्रोध नहीं है, प्रत्युत कृपा है। राधा का यह उदात्त चरित्र जयदेव की भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति है—

हस्तस्रस्तविलासवंशमनृजुभ्रूवल्लिमद्वल्लवी
वृन्दोत्सारिदृगन्तवीक्षितमतिस्वेदार्द्रगण्डस्थलम् ।
मानुद्वीक्ष्य विलज्जितं स्मितसुधामुग्धाननं कानने
गोविन्दं व्रजसुन्दरीगणवृतं पश्यामि हृष्यामि च ॥ –गीतगोविन्द, २।१०

राधा : विरहोत्कण्ठा

राधिका की सखी माधव से राधा की विरहोत्कण्ठा का विवरण दे रही है—राधा तुम्हारे विरह से नितान्त दीन है। वह ध्यान से अपने-आपको तुममें लीन करके स्थित है। जान पड़ता है, वह कामदेव के वाणों के गिरने से भयभीत हो गई है। तुम्हारे भीतर हृदय में स्थित होने पर काम के वाण तुम्हारे शरीर पर न गिरें, इसी भावना से वह तुम्हारे ध्यान में मग्न है। वह समस्त शीतल पदार्थों से घृणा करती है; चन्दन की निन्दा करती है; चन्द्रमा की किरणों को देखकर अधीर होकर खेद प्राप्त करती है और मलयानिल को विषैला समझती है; क्योंकि वह साँप से भरे चन्दन-वृक्ष का स्पर्श कर प्रवाहित होता है।

विरह की अत्यन्त उत्कण्ठा के कारण उसने ध्यान से तुम्हारे साथ तादात्म्य प्राप्त कर लिया है। तुम उसके हृदय में स्थित हो और उधर बाहर कामदेव वाणों की वर्षा लगातार कर रहा है। इस वाण-वर्षा से तुम्हारी रक्षा करने के लिए वह अपने हृदय के मर्मस्थल पर नलिनी के सजल पत्तों को कवच के समान धारण करती है, सजल पत्तों का आश्रय तुम्हारे वचाव के लिए करती है, अपने जीवन की उसे चिन्ता कहाँ ?

अविरलनिपतितमदनशरादिव भवदवनाय विशालम् ।
स्वहृदयमर्मणि वर्म करोति सजलनलिनीदलजालम् ॥

वह फूलों की सेज वनाकर शयन करती है। यह सेज विविध विलास-कलाओं से कमनीय है, जान पड़ता है कि पुष्पायुध कामदेव के वाणों से यह तैयार किया गया है। वह इसका आश्रय तुम्हारे आलिङ्गन-सुख की प्राप्ति के लिए मानों व्रत के सामान करती है। लोक में भी शर-शय्या का आश्रय व्रत के रूप में किया जाता ह। राधा फूलों की सेज अपने सुख के लिए नहीं तैयार करती, प्रत्युत कृष्ण की प्राप्ति के लिए व्रत के विचार से ही करती है—

कुसुमविशिखशरतल्पमनल्पविलासकलाकमनीयम् ।
व्रतमिव तव परिरम्भसुखाय करोति कुसुमशयनीयम् ॥

राधा निरन्तर आँसुओं को वरसा रही है, जिससे उसकी आँखों से आँसुओं की धारा निरन्तर वहती चली जाती है। उसका मुख कमल के समान अत्यन्त मनोहर तथा शोभन है। यह मुखमंडल उस चन्द्रमा के समान प्रतीत होता है, जिसमें राहु के विकट दाँतों के

गड़ जाने से अमृत की धार निरर्गल बह रही हो। जयदेव की यह उत्प्रेक्षा साहित्य-जगत् में अनुपम तथा अतुलनीय है।

वहति च चलितविलोचनजलभरमाननकमलमुदारम् ।
विधुमिव विकटविधुन्तुददन्तदलनगलितामृतधारम् ॥

राधा को इतने से संतोष नहीं होता। वह एकान्त में कस्तूरी से तुम्हारा चित्र वनाती है, जो कामदेव के रूप के समान ही आकृति में सुन्दर होता है। उस चित्र के हाथ में आम-रूपी वाण को रखकर और नीचे आसन के स्थान पर मकर की मूर्त्ति वनाकर प्रणाम करती है। वह तुम्हारा दुर्लभ दर्शन ध्यान के द्वारा पाकर विलाप करती है, हँसती है, खिन्न होती है, रोती है, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती है और ध्यान के द्वारा ही तुम्हारे संगम की कल्पना कर अपने संताप को दूर भगाती है। वह प्रतिपद यही कहती रहती है—"हे माधव ! मैं तुम्हारे चरण पर गिरी हूँ। मुझे ग्रहण करो। नहीं तो तुम्हारे विमुख होने पर यह सुधाकर भी मेरे शरीर में दाह उत्पन्न करता है।"

राधा का विरहिणी-रूप जयदेव की लेखनी से इतना सुन्दर उतरा है कि उसमें हृदय-पक्ष तथा काव्य-पक्ष दोनों का अनुपम सम्मिलन विज्ञ आलोचक के हृदय में चमत्कृति तथा सहानुभूति उत्पन्न करने में नितान्त समर्थ होता है। यह वचन भी राधा की सखी का कृष्ण के प्रति है। वह कह रही है कि विरह के कारण राधा का महल जंगल के समान प्रतीत होता है। उसे चारों ओर से घेरकर रहनेवाली सखियों का समूह जाल के समान मालूम पड़ता है। उसकी साँसों से निकलनेवाली उष्णता दावाग्नि की लपट के समूह के समान दृष्टिगोचर होती है। हाय ! वह वेचारी राधा तुम्हारे विरह में हरिणी के समान है। ऐसी स्थिति में सिंह के समान क्रीडा करता हुआ कामदेव, यमराज का आचरण कर रहा है। भला, ऐसी विकट परिस्थिति में उसके बचने की आशा ही क्या है ? जंगल में दावाग्नि के वीच जाल में फँसी हुई पराधीन हरिणी के ऊपर यदि सिंह आक्रमण करता है, तो क्या वह अपने प्राणों की रक्षा किसी प्रकार कर सकती है ? एक तो घनघोर जंगल, इस पर चारों ओर भीषण आग, फिर जाल में फँसना—ये परिस्थितियाँ ही हरिणी के विनाश के साक्षात् कारण हैं। उसपर यदि सिंह कहीं से टूट पड़े, तो वह विचारी अपनी जान कैसे वचाये ? जाल में फँसने के कारण वह भाग नहीं सकती। भागकर वाहर जाय भी, तो भीषण दावाग्नि उसे जला डालेगी। उससे भी अगर कहीं वच जाय, तो सिंह का आक्रमण निश्चय ही उसे नष्ट कर डालेगा। इतने अनर्थ की परम्परा से भला कोई प्राणी वच सकता है ! राधा की भी ऐसी दयनीय स्थिति है। यह सांग रूपक जयदेव की काव्यकला का निदर्शक माना जा सकता है, जहाँ भाव तथा भाषा, अलंकार तथा रस मिलकर मञ्जुल चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ हैं—

आवासो विपिनायते प्रियसखिमालापि जालायते
तापोऽपि श्वसितेन दावदहनज्वालाकलापायते ।
सापि त्वद्विरहेण हन्त हरिणीरूपायते हा कथं
कन्दर्पोऽपि यमायते विरचयञ्शार्दूलविक्रीडितम् ॥—गीतगोविन्द, सर्ग ४।१०

भावानुवाद :

सुखद सदनते दुखद बनरूप भये,
अलिमाल जाल जिमि चहुँ ओर छई है।
ऊरध उसास निसि बासर हिये सों लागि,
तपत दवागि की विपति नित नई है।
जहर लहर हिय केहरी के हर ढिग
काम आठौयाम यमयोनि जानो लई है।
बरनी न जात मनहारिनी तिहारी हारि,
नीके चलि देखो हरिनी के रूप भई है।।

विरहिणी राधा की कृशता कितनी अधिक बढ़ गई है कि सखियों के द्वारा छाती पर रखे हुए अनमोल हार को वह भार समझती है। शरीर में लगाये गये सरस और चिक्कन चन्दन के लेप को वह भयभीत होकर विष के समान देखती है। उसकी गरम-गरम साँस काम की ज्वाला के समान प्रतीत होती है। वह चिन्ता में इतनी मग्न रहती है कि सायंकाल अपनी हथेली से कपोल को तनिक भी नहीं हटाती, जिस प्रकार सन्ध्या दूज के चाँद को। वह सदा तुम्हारे नाम को हरि-हरि कहकर जपा करती है, जिस प्रकार मरने के लिए तैयार प्राणी हरि का नाम जपता है। इस प्रकार, दूती राधा की दीन दशा का चित्र उपस्थित कर कृष्ण के हृदय में सहानुभूति का संचार करना चाहती है। वह कहती है—हे देववैद्य अश्विनीकुमार के समान चिरसुन्दर व्रजनन्दन नन्दकिशोर! राधा काम-रोग से पीड़ित होकर पड़ी है। उसे नीरोग करने की एक ही दवा है और वह है अमृत के समान तुम्हारे अंग का संग। इस दवा के लिए तुम पराधीन नहीं हो। ऐसी स्थिति में यदि तुम राधा की वाधा दूर नहीं करते, तो तुम वज्र से भी अधिक दारुण हो, इस तथ्य में भला कुछ भी संदेह है?—

स्मरातुरां दैवत वैद्यहृद्य त्वदङ्गसङ्गामृतमात्रसाध्यम्।
विमुक्तबाधां कुरुषे न राधामुपेन्द्र वज्रादपि दारुणोऽसि।।
—गीतगोविन्द, सर्ग ४।११

राधा : अभिसार

सखी का व्यापार उभयमुखी है। वह केवल राधिका की दीन दशा की सूचना कृष्ण से नहीं करती, प्रत्युत वह कृष्ण की भी दशा का संकेत राधिका से करती है। कृष्ण ने अब सखियों का संग छोड़ दिया है। उनकी रात्रिन्दिव चिन्ता का विषय केवल राधा ही है। जो प्रेमी सुन्दर महल को छोड़कर घनघोर जंगल में वास करता हो, पृथ्वी की सेज पर लोटता हो तथा प्रेमिका के नाम का ही जप करता हो, भला, उसकी सच्ची भावना में क्या किसी को क्षण-भर के लिए सन्देह हो सकता है? नहीं, कभी नहीं। व्रजनन्दन की भी यही दशा है। वह वास्तव में राधा का नाम प्रतिक्षण जपा करते हैं—

वसति विपिनविताने त्यजति ललित धाम।
लुठति धरणिशयने बहु विलपति तव नाम।।

अतएव, ऐसे प्रिय की उपेक्षा कथमपि श्लाघनीय नहीं है। जहाँ धीमी-धीमी शीतल हवा बहती है, ऐसे यमुना के तीर पर वन में वह वनमाली आज अभिसार में उपस्थित है। उसका वेश कामदेव के समान सुभग सुन्दर है। हे नितम्बिनि राधे! चलने में अब विलम्ब न करो। उस हृदय के प्रिय के लिए विना विलम्ब अभिसरण करो। सखी राधा के हृदय में श्रीकृष्ण के अनुराग की स्थिति दिखलाकर अभिसार के लिए प्रेरणा भरती है। वह कहती है—

वह श्यामसुन्दर बैठा-बैठा वंशी वजा रहा है, जिसमें वह तुम्हारे नाम को पुकारता है तथा मिलने के स्थल का संकेत करता है। जब तुम्हारे शरीर को छूकर बहनेवाली हवा उसकी ओर धूलि उड़ाती है, तव उस धूलि का संस्पर्श पाकर वह अपने को धन्य मानता है—

नामसमेतं कृतसङ्केतं वादयते मृदु वेणुम् ।
बहु मनुतेऽतनु ते तनुसङ्गतपवनचलितमपि रेणुम् ॥

इतना ही नहीं, वह तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा में पल-पल व्याकुल है। चिड़िया के उड़ते ही पत्ता जव खड़कता है, तव वह तुम्हारे आने की आशंका कर बैठता है। वह सेज रचता है और चकित नयनों से तुम्हारे रास्ते की ओर निहारता रहता है—

पतति पतत्रे विचलति पत्रे शङ्कितभवदुपयानम् ।
रचयति शयनं सचकितनयनं पश्यति तव पन्थानम् ॥

कृष्ण की व्याकुलता का और अधिक परिचय क्या हो सकता है? इसलिए, सखी का आग्रह है कि केलि में चंचल इस नूपुर को दूर करो। यह तो शत्रु ठहरा, जो अभिसरण में विघ्न डालने के लिए तैयार है। कुंज घने अन्धकार से ढका हुआ है। इसलिए नील निचोल पहनकर निकलो। देर मत करो। देखती नहीं हो कि तुम्हारी प्रतिकूलता के साथ-ही-साथ वह तीक्ष्ण किरणोंवाला सूर्य अस्त हो गया है। गोविन्द के मनोरथ के साथ अन्धकार ने सघनता प्राप्त कर ली है। चकवा के करुण स्वन के समान मेरी प्रार्थना दीर्घ, दीर्घतर है। हे मुग्धे राधिके! विलास करना व्यर्थ है। यह अभिसार के लिए बड़ा ही अनुकूल समय है—

त्वद् वाम्येन समं समग्रमधुना तिग्मांशुरस्तं गतो
गोविन्दस्य मनोरथेन च समं प्राप्तं तमः सान्द्रताम् ।
कोकानां करुणस्वनेन सदृशी दीर्घा मदभ्यर्थना
तन्मुग्धे विफलं विलम्बनमसौ रम्योऽभिसारक्षणः ॥
—गीतगोविन्द, ५।४

भावानुवाद :

बामता तेरी के संग हे बाम ! पतंग भयौ असतंगत जैसो ।
मैन मनोरथ मोहन के सँग आनि छयो तिमिराकर तैसो ॥
बीनती मोरी औ कोकील बाणी सुनी अवलम्ब विलम्बन कैसो ।
सार पसारि दयो अपनो निशिहार समैं अभिसार न ऐसो ॥

इस पद्य में जयदेव ने प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का साम्य बड़ी ही सुन्दरता से प्रकट किया हैं। राधा का वामाचरण तथा सूर्य का ताप दोनों ही तीक्ष्ण तथा कष्टकारक हैं। ये दोनों एक साथ अस्तंगत होते हैं। अन्धकार की सान्द्रता तथा गोविन्द के मनोरथ की सघनता एक श्रेणी की है। जिस प्रकार गोविन्द का मनोरथ—राधा से मिलने की अभिलाषा—सघन है, उसी प्रकार अन्धकार भी सघन हो गया है। जिस प्रकार चक्रवाक अपनी प्रिया से मिलने के लिए करुण स्वर से लगातार पुकारता है, उसी प्रकार कृष्ण से तुम्हें मिलने की मेरी प्रार्थना दीर्घ तथा निरन्तर जागरूक है। इस प्रकार, प्रकृति तथा मानव का इस क्षण में अपूर्व समानता हैं। फलतः, प्रकृति की अनुकूलता के कारण यह अवसर अभिसार के लिए नितान्त उपयुक्त है।

राधा के इस वर्णन से सहृदय पाठकों को जयदेव की अलौकिक कल्पना का, मधुर रस की अभिव्यक्ति का संक्षिप्त परिचय मिल गया होगा। जयदेव अपने काव्य की सुषमा से स्वयं अपरिचित नहीं थे, प्रत्युत उसपर उनका नैसर्गिक अभिमान था, उसकी मधुरता के स्वयं ही आनन्द-बोध करनेवाले सहृदय कवि थे—इन बातों का संकेत गीतगोविन्द के इस पद्य में पाया जाता है—

> साध्वी माध्वीकचिन्ता न भवति भवतः शर्करे कर्कशासि
> द्राक्षे द्रक्ष्यन्ति के त्वममृत मृतमसि क्षीर नीरं रसस्ते।
> माकन्द क्रन्द कान्ताधरधरणितलं गच्छ यच्छन्ति भावं
> यावच्छृङ्गारसारं शुभमिव जयदेवस्य विष्वग्वचांसि ॥
>
> —गीतगोविन्द, १२।१२

इसे हम आत्मश्लाघा नहीं मानते; यह तो तथ्य-कथन है। सचमुच, गीतगोविन्द संस्कृत-काव्य के नन्दनवन का पारिजात है।

मैथिली-काव्य में राधा

संस्कृत-काव्य के अनन्तर मैथिली-काव्य में राधाकृष्ण की केलि का वर्णन अन्य प्रांतीय काव्यों की अपेक्षा प्राचीन प्रतीत होता है। हमने पहिले मैथिली के कवि उमापति को हिन्दी में वैष्णव-पदावली के आदि रचयिता होने का ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित किया हैं। उनके काव्य का निदर्शन ऊपर किया जा चुका है। उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। यहाँ मैथिली के प्रधान महाकवि विद्यापति के राधाकाव्य की चर्चा की जा रही है।

विद्यापति की राधा

मैथिल-कोकिल विद्यापति अपनी उल्लासमय गीतियों से सैकड़ों वर्षों से भक्तजनों के मानस को आह्लादित करते आये हैं। इनके मैथिली भाषा में निबद्ध पदों में एक अद्भुत चमत्कार है। संस्कृत-ग्रंथों के निर्माण से इनकी उतनी प्रसिद्धि नहीं है, जितनी इन पदों की रचना से। मिथिला के अनेक राजाओं के दरबार को सुशोभित करने का अवसर इन्हें प्राप्त हुआ था। राजा शिवसिंह से इनकी गाढ़ी मित्रता थी तथा उनके दरबार के एक अनुपम रत्न माने जाते थे। इनके आरंभिक पदों में शृंगार अवश्यमेव

विशेष रूप से लक्षित होता है, परन्तु इनके अन्तिमकालीन पदों से पता लगता है कि ये एक भावुक भक्त थे। इन्हें हम शृंगारी रहस्यवाद का एक चमत्कारी कवि मान सकते हैं। राधाकृष्ण के रूप तथा लीला के वर्णन में वे अपनी तुलना नहीं रखते। राधा के वर्णन-परक कतिपय पद यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनसे उनकी राधा-भावना का दिव्यरूप स्पष्ट होता है।

विद्यापति के आविर्भाव-काल का परिचय उनके ग्रन्थ के परीक्षण से स्पष्टतः मिलता है। इन्हें बड़ी दीर्घ आयु प्राप्त थी। इनका आदिम ग्रन्थ है **कीर्त्तिलता** तथा अन्तिम रचना है **दुर्गाभक्तितरंगिणी**। **कीर्त्तिलता** का प्रणयन मैथिल-नरेश राजा कीर्त्तिसिंह की प्रशस्ति के रूप में किया गया है, जिसमें उस समय की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति का पूरा चित्र खींचा गया है। कीर्त्तिसिंह के पिता राजा गणेश्वर को १३७१ ई० में असलान नामक एक तुरक ने विश्वासघात कर मार डाला था। जौनपुर के अधीश इब्राहिम शाह की कृपा से असलान को युद्ध में पराजित कर गणेश्वर के तीन पुत्रों—वीरसिंह, कीर्त्तिसिंह तथा राजसिंह ने मिथिला का अपना राज्य पुनः प्राप्त किया तथा कीर्त्तिसिंह को गद्दी पर बैठाया। **कीर्त्तिलता** का रचना-काल १३८० ई० के आसपास है। **दुर्गाभक्तितरंगिणी** में दुर्गापूजा की विधि, माहात्म्य तथा प्रमाण दिये गये हैं। यह इनका अन्तिम ग्रन्थ है। इसकी रचना धीरसिंह तथा भैरवसिंह के राज्यकाल में (१४४५ ई० के लगभग) कवि ने की। इस प्रकार, विद्यापति के प्रथम तथा अन्तिम ग्रन्थ के प्रणयन में लगभग ८५ साल का अन्तर है। इस प्रकार, विद्यापति एक शताब्दी तक जीवित रहे—१४वीं शती के उत्तरार्द्ध से आरम्भ कर १५वीं शती के लगभग पूर्वार्ध तक। इनकी घनिष्ठ मित्रता थी राजा शिवसिंह तथा उनकी पट्टरानी लखिमा देवी के साथ, जिनका समय इस काल के बीच में पड़ता है। पदावली की रचना का यथार्थ समय बतलाना एक दुरूह व्यापार है। शिवसिंह के राज्यकाल के साथ उसका सम्बन्ध बहुशः जोड़ा जाता है। तथ्य यह है कि यह पदावली विभिन्न समय पर निर्मित पदों का संग्रह प्रस्तुत करती है।

सुन्दरी राधा

राधा का रूप बड़ा ही सुहावना है। इसे प्रकट करने के लिए विद्यापति ने भिन्न-भिन्न कथन-भंगिमा का ग्रहण किया है अपने पदों में। एक पद में वे गोरी राधा को सम्बोधित कर कह रहे हैं कि हे गोरी, तुम अपने मुख को आँचल से ढककर रखो। नहीं तो पुलिस में चन्द्रमा की चोरी की रपट लोगों ने लिखाई है। घर-घर में पुलिस तलाशी ले रही है और जान पड़ता है कि इसका अपराध तुम्हें ही लगाया जायगा। हे सुन्दरी, तुम मेरे उपदेश को सुनो, जिससे स्वप्न में भी तुम्हें विपत्ति या क्लेश न सहना पड़े। तुम अपनी मुस्कान की सुधा को बाहर प्रकट न होने दो, नहीं तो वह धनिक बनिया तुम्हारे मुख पर अपनी सम्पत्ति का दावा ठोंक देगा। तुम्हारे अधर के पास ही दाँत चमचमा रहे हैं, जान पड़ता है कि सिन्दूर की सीमा में मोती बैठाये गये हों। और यह भी चोरी का माल समझा जायगा। राधा, सावधान हो जा और अपने मुँह को

आँचल से ढक लो। नहीं तो तुम चोरी के मुकदमे में फँस जाओगी। क्या ही सुन्दर उक्ति है—रसमयी तथा प्रसाद-गुण-सम्पन्न, चोखी तथा अनोखी!!!

अम्बरे वदन झपावहु गोरि
राज सुनइछि चान्दक चोरि ॥१॥
घरे घरे पहरी गेल अछ जोहि
अब ही दूषण लागत तोहि ॥२॥
सुन सुन सुन्दरि हित उपदेश
सपनेहु जनु हो विपद कलेश ॥३॥
हास सुधा रस न कर उजोर
धनिके बनिके धन बोलव मोर ॥४॥
अधर समीप दसन कर जोति
सिन्दुर सीम नैसाउलि मोति ॥५॥

—विद्यापति-गीतसंग्रह, पद २१४

एक दूसरे पद में विद्यापति ने एक नई वात कह डाली है। राधा के मुख को देखकर कोई कह रहा है कि ऐसा न हो कि कहीं तुम्हें चन्द्रमा को चुरा लेने का अपराध लगाया जाय। तुमसे यही कहना है कि न तो तुम किसी को देखो और न किसी को अपना मुँह देखने दो। डर लगता है कि चन्द्रमा के भ्रम से कहीं राहु इसका ग्रास कर ले। तुमने अपनी चमकीली आँखों में काजल लगा रखा है। जान पड़ता है कि किसी व्याध ने अपने धनुष के ऊपर तीखा वाण चढ़ाया है। तुम्हें वह ध्यान से देखकर अपना जाल फैलायेगा और तुम्हें वह खंजन समझकर अपने जाल में फँसा लेगा। तुमने सागर के सार पदार्थ अमृत को और चन्द्रमा को चुरा लिया है और इसके लिए राहु वड़ा द्वन्द्व (झगड़ा) मचा रहा है। चाँद की चोरी को कहाँतक छिपाओगी? भला, चाँद भी कहीं छिपाया जा सकता है? जहाँ उसे छिपायेगी, वहीं वह उजाला करने लगेगा। अतएव, व्यर्थ का प्रयास मत करो। मेरी दृष्टि में काले केश-कलाप से ढके हुए मुख को देखकर विद्यापति ने राहु और चन्द्रमा के द्वन्द की वात सोच निकाली है। उक्ति नितान्त हृदयावर्जक है!

नोनुअ वदन सिरि धनि तोरी
जस लागिह मोहि चाँदक चोरी ॥१॥
दरसि हलह जनु हेरह काहु
चाँद भरमे मुख गरसत राहु ॥२॥
धवल नयन तोर काजरे कार
तीख तरल धनु व्याधा जनि धार ॥३॥
निरलि निहारि फास गुण जोलि
बान्धि हलत तोहि खन्जन बोलि ॥४॥

सागर सार चोराओल चन्द
ता लगि राहु करए बड़ दन्द ।।५।।
कतए लुकाओब चान्द क चोरि
जतहि लुकाइस ततहि उजोरि ।।६।।
—वि० गी० सं०, पद २०४

देख देख राधा रूप अपार ।
अपरुब के विहि आनि मिलाओल खिति तल लावनिसार ।।१।।
अंगहि अंग अनंग मुरछायत हेरए पड़इ अथीर ।
मनमथ कोटि मथन करु ये जन से महिमह गीर ।।२।।
कत कत लखिमी चरन तल नेउछय रंगिनि हेरि बिभोरि ।
करु अभिलाष मनहि पदपंकज अहोनिशि कोरि अगोरि ।।३।।

राधा की अनुपम सुन्दरता को देखो। इस प्रकार की अनुपम सुन्दरता का सार विधाता ने कहाँ से लाकर इस पृथिवी-तल पर एकत्र कर दिया है। उनकी सुन्दरता देखकर कृष्ण मोहित हो जाते हैं और उनका अंग-अंग काम से पीडित होकर उन्हें मूर्च्छित कर देता है। राधा की ओर दृष्टि जाते ही मानों करोड़ों कामदेव कृष्ण के चित्त को व्याकुल करने लगते हैं और वे उनकी ओर दृष्टि डालते ही विह्वल भाव से धरणी पर गिर पड़ते हैं। उस सुन्दरी के चरणों पर कितनी लक्ष्मी न्यौछावर की जा सकती है। मन में यही अभिलाषा होती है कि मैं रात-दिन उनके चरण-कमलों का ध्यान करता रहूँ।

नन्दक नन्दन कदंबेरि तरु तरे धिरे धिरे मुरली बजाव ।
समय संकेत निकेतन बइसल बेरि बेरि बोलि पठाव ।।१।।
सामरी तोरा लागि अनुखने बिकल मुरारि ।।
जमुनाक तिर उपबन उदबेगल फिरि फिरि ततहि निहारि ।
गोरस बिके अवइते जाइते जनि जनि पुछ बनमारि ।।२।।
तोंहे मतिमान सुमति मधूसूदन वचन सुनह किछु मोरा ।
भनइ विद्यापति सुन बरजौवति बन्दह नन्दकिसोरा ।।३।।

नन्द के नन्दन कदम्ब के वृक्ष के नीचे धीरे-धीरे वंशी बजाते हैं। नियमित समय पर संकेत-स्थान में बैठकर बार-बार वे बुलावा भेजते हैं। हे सुन्दरी, तुम्हारे लिए कृष्ण प्रतिक्षण व्याकुल रहते हैं। यमुना के तट पर उपवन में उद्विग्न भाव से वे बार-बार मुँह फेरकर ताकते हैं। मानों वे किसी से पूछते हैं कि दही बेचकर मेरी प्राणप्रिया ग्वालिन लौट रही है, या नहीं। हे बुद्धिमती, जरा मेरी भी बात मान लो, कृष्ण तुम्हारे प्रति अनुरक्त हैं। विद्यापति कहते हैं कि हे श्रेष्ठ युवती, तुम नन्दकिशोर की वन्दना करो।

विरहिणी राधा

विरहिणी राधिका के मनोभावों के चित्रण में विद्यापति ने अद्भुत कौशल प्रदर्शित किया है। विभिन्न अवस्थाओं में प्रेयसी के कोमल हृदय में अपने प्रियतम के लिए जो

नूतन भाव अपना खेल किया करते हैं, उन्हें विद्यापति ने अपनी लेखनी के द्वारा चित्रित करने में अपूर्व रसिकता दिखलाई है। माधव के लिए राधा ने अपनी सेज को फूलों से सजा रखा है। दीपक तेजी से जल रहा है। चन्दन और अगरु की गन्ध चारों ओर फैल रही है; कृष्ण के पैरों की ध्वनि सुनने के लिए राधा चारों दिशाओं में अपना कान लगाती है; प्रियतम के लोभ से मिलने की तीव्र अभिलाषा के सामने उसकी लाज गल गई है। हमलोग सुनते आते हैं कि सुज़न अवधि तथा स्थान से कभी नहीं चूकता; वह ठीक समय पर और ठीक संकेत-स्थल पर पहुँचने में कभी गलती नहीं करता। परन्तु, माधव के न पहुँचने से जान पड़ता है कि जंगल में आग की लपट फैल रही है। कृष्ण के आने की आशा से राधा के पास नींद नहीं आती और उसकी आँखें सदा घर के दरवाजे पर लगी हुई हैं। प्रियतम के न आने से राधा की विकलता अवर्णनीय है—

कुसुम रचित सेजा, दीप रहल तेजा,
परिमल अगर चन्दने ॥१॥
जब जब तुम मेरा, निफले वहलि बेरा,
तबे तबे पीडलि मदने ॥२॥
माधव, तोरि राही वासकसजा ॥३॥
चरण सवद (भाने), चौदिस आपए काने,
पिआ लोके परिनति लजा ॥४॥
सुनिअ सुजन नामे, अवधि न चूकए ठामे,
जनि वन पसेर लहरी ॥५॥
से तुअ गमन आसे, निन्द न आवे पासे,
लोचन लागल देहरी ॥६॥

जयदेव की राधा भी कृष्ण के आगमन की आशंका से कुछ ऐसा ही भाव प्रदर्शित करती है। पंछी के उड़ने पर ज्यों ही पत्ता खड़कने लगता है, वह समझती है कि माधव निकुंज में पधार रहे हैं। वह अपने सेज को सँवारती है, चकित नेत्र से वह कृष्ण के रास्ते को देखती है—

पतति पतत्रे विचलति पत्रे
शङ्कितभवदुपयानम् ।
रचयति शयनं सचकितनयनं
पश्यति तव पन्थानम् ॥

दोनों पदों की तुलना करने पर विद्यापति के पद में अपूर्व स्वाभाविकता मिलती है। शब्द को सुनने के लिए चारों दिशाओं में कान का 'आपना' (चौदिस आपए काने) में विलक्षण स्वाभाविकता है। 'आपए काने' में अद्‌भुत मिठास है। 'लोचन लागल देहरी' राधा की तन्मयता का सूचक है। राधा अपनी आँखों को दरवाजे पर नहीं लगाती, प्रत्युत वे स्वयं उधर लगी रहती हैं। इससे उत्सुकता का आधिक्य ध्वनित होता है। फलतः, विद्यापति की वासकसज्जा का यह चित्रण नितान्त नैसर्गिक है।

राधा के वियोग में कृष्ण को सर्वत्र अद्वैत भावना हो गई है। जब कभी और जिस किसी को वह देखते हैं, उसे ही वह राधा मान लेते हैं। वह मालती के जीवन को सराहते हैं; क्योंकि उसके विरह में भौंरा पागल होकर संसार-भर में चारों ओर घूमता रहता है। जातकी, केतकी और अनेक फूल संसार में हैं। क्या उनके रस में किसी प्रकार का अन्तर है? नहीं, कुछ भी नहीं। परन्तु, भौंरा इन किन्हीं पर अपनी दृष्टि भी नहीं डालता, मधु के पीने की तो बात ही न्यारी है। सच तो यह है कि जिसका हृदय जहाँ रहता है, वहीं वह आसक्त रहता है। कोई उस हृदय को वहाँ से दूर नहीं हटा सकता। कितना भी यत्न किया जाय रोकने के लिए, परन्तु पानी रुकता नहीं। वह नीचे और भी नीचे बहता ही जाता है। इस पद में राधा के भाग्य की बड़ाई है, जिसके विरह में कृष्ण भौंरे के समान पागल होकर संसार में चारों ओर बहक रहे हैं, उस राधा की धन्यता का वर्णन किन शब्दों में किया जाय?

मालती सफल जीवन तोर।
तोरे विरहे भुवन भमए भेल मधुकर भोर॥
जातकि केतकि कत न अछ (ए) कुसुमरस समान।
सपनहु (ओ) नहि काहु निहारए मधु कि करत पान॥
जकर हृदय (सखि) जतए रहल धसि (से) पए ततहि जाए।
जँअओ जतने बान्धि निरोधिअ निमन नीर समाए॥

माधव ने राधा को ठग लिया। वादा करके भी संकेत-स्थल पर नहीं आये। राधा का क्रुद्ध होना स्वाभाविक है। परन्तु, इसमें वह अपने प्रियतम का दोष नहीं मानती, प्रत्युत अपने ही भाग्य को दोष देती है। वह हरि को बड़ा जानती है और कल्पवृक्ष के समान समस्त कामनाओं को पूर्ण करनेवाला मानती हैं। परन्तु, अनुभव ने उसे सिखा दिया कि वह कपट का मन्दिर है। यहाँ 'कपट-मन्दिर' शब्द के भीतर कितनी गूढ़ अभिव्यंजना है। मन्दिर स्वभाव से ही पवित्र होता है। यदि वहाँ भी कपट ने प्रवेश किया, तो समझ लीजिए कि वंचकता की सीमा ही नहीं रही। कृष्णा का भी वही हाल है। उनके शब्द हाथी के दाँत के समान हैं। देखने के दूसरे, खाने को दूसरे। उसी प्रकार वे अपने ही बोले हुए शब्दों को स्वयं ही भूल जाते हैं। ऐसी दशा में कोई तीसरा आदमी क्या बोले। विप्रलब्धा (वंचिता) नारी का वचन इससे अधिक व्यंग्यपूर्ण नहीं हो सकता।

साजनि माधव नहि गमार।
पेमे पराभव बहुत पाओल 'करमक' दोस हमार॥
बड़ बोलि हरि जतने सेओल सुरतरु सभतनि जानि।
अनुभवे भेल कपट मंदिर आवे की करन आनि॥
सुपहुक वचन रदसम मोहिअ अखल्ल मान।
अपन भासा बोलि बिसरए इथी कि बोलत आन॥

ब्रजनन्दन के मधुर अक्षरों ने राधा को इतना मोह लिया है कि उसे अपने गौरव का तनिक भी भान नहीं हो रहा है। वह अपने हृदय की भावना को व्यक्त करते हुए

कह रही है—वरखा और तूफान से त्रस्त होकर मैंने एक वड़े पेड़ के नीचे विश्राम लिया; मैं तो समझती थी कि इससे मेरे प्राण वच जायेंगे, परन्तु डाल टूटकर मेरे कपाल पर गिर पड़ी। माधव, अव तुम मेरे सामने से चले जाओ। अथाह समुद्र की थाह मैंने अव पा ली। मैं समझती थी कि कृष्ण का प्रेम मेरे लिए असीम अथाह, समुद्र के समान विस्तृत था, परन्तु आज मुझे मालूम पड़ा कि वह छिछला तालाव है। हमको यहाँ लाने से कौन काज सिद्ध हुआ? गुरुजनों तथा परिजनों के सामने मुझे लज्जा लगती है। मेरे ऐसा कहने पर तुम चुप क्यों हो रहे हो? फेंका हुआ पत्थर कहीं-न-कहीं जाकर गिर ही पड़ता है—

झटक झाटल छाड़ल ठाम
कएल महातरु तर विसराम।
ते जानल जिव रहत हमार
सेस डारि टुटि पलल कपार।
चल चल माधव कि कहब जानि।
सागर अछल थाह भेल पानि।
हम जे अनओले कि भेल काज
गुरुजन परिजने होएतउ हे लाज।
हमरे वचने जे तोहहि विराम
फेकलओ चेप पाव पुनु ठाम॥

कृष्ण के वियोग में राधा की दयनीय दशा हो गई है। आँखों से आँसुओं की धारा निरन्तर वहती रहती है, जिससे पैरों का तल विलकुल भींग जाता है। जान पड़ता है कि स्थल-कमल जल-कमल हो गया। राधा का सुन्दर चरण स्थल-कमल के समान था, परन्तु आज जल की धारा में खड़े रहने के कारण वह जल-कमल प्रतीत होता है। होठों में ललाई एक क्षण के लिए भी दीख नहीं पड़ती, जान पड़ता है कि किसलय को पाला ने धो डाला है। चन्द्रवदनी के नेत्रों से वहनेवाले आँसुओं का अन्त ही नहीं है। कृष्ण के प्रति अनुराग के कारण सव अंग शिथिल पड़ गये हैं—किसी काम में आसक्ति नहीं, रुचि नहीं—

नयनक नीर चरण तल गेल
थलहुक कमल अम्भोरुह भेल।
अधर अरुण निमिषत नहि होए
किसलय सिसिरे छाड़ि हलु धोए।
ससिमुखि नोरे ओल नहि होए
तुअ अनुराग शिथिल सब कोए॥

इस पद में अलंकारों की योजना वड़ी स्वाभाविक तथा रसानुकूल है। नयन की जलधारा के कारण स्थल-कमल का जल-कमल के रूप में परिणत हो जाना कितनी अभिव्यंजक उक्ति है। लाल होठों के ऊपर आँसुओं का प्रभाव कितनी सुन्दरता से

अभिव्यक्त किया गया है। जान पड़ता है कि नये पल्लव को पाला ने बिलकुल धो डाला है। यहाँ आँसुओं की तुलना ओस से कितनी अच्छी और स्वाभाविक है। इस प्रकार, राधा की विरह-वेदना को प्रकट करनेवाले पद में अभिव्यंजना की पूरी सम्पत्ति इकट्ठी कर दी गई है।

दूती ने कृष्ण को राधा से मिलाया है, परन्तु कृष्ण के स्वार्थी प्रेम का उपहास करती हुई राधा दूती को संबोधित कर कह रही है—हे दूती, तुमने गुंजा को लाकर मेरे लिए मोतियों की माला तैयार की है। भला, यह कहाँ की रीति है। तुमने तो उसे सोना से भी अधिक चमकीलां बताया था, परन्तु वह तो काँच से भी घटकर निकला। सम्पूर्ण नगर में घूम-घूमकर मैंने नागर (चतुर तथा कृष्ण) को खोजा था, परन्तु वह तो निपट गँवार ही निकला। बड़ा सत्पुरुष कहकर मैंने उससे प्रेम बढ़ाया, परन्तु दिन-प्रतिदिन क्या इससे मेरी बड़ाई हुई? तेली का बैल तो थान तंर देखने में बहुत ही सुन्दर दीखता है, परन्तु जोतने में क्या उससे कुछ उजियाता है? क्या वह खेत जोतने में समर्थ होता है? बिलकुल नहीं। सब लोगों से मैंने सुना है कि वह सब गुणों का आगर है, परन्तु फल उलटा ही निकला। फल पाने की आशा से मैंने पेड़ के तल का अवलम्बन किया, परन्तु फल तो दूर रहा, छाया पाने में भी मुझे सन्देह हो रहा है। हाय, मैं कितनी ठगी गई। श्यामसुन्दर मेरे लिए कितना बुरा निकला!!!

गुंज आनि मुकुता हमे गाथल बुझलि तुअ परिपाटी ॥१॥
कंचन ताहि अधिक कए कहलह काचहु तह भेल घाटी ॥२॥
दूती अइसन तोहर बेवहारे ॥३॥
नगर सगर भमि जोहल नागर भेटल निछछ गमारे ॥३॥
बड़ सुपुरुष बोलि सिनेह बढ़ाओल दिने दिने होती बड़ाई ॥५॥
तेली-बलद थान भल देखिअ पालव नहि उजिआई ॥६॥
सब गुण आगर सब तहु सूनिअ ते मञे लाओल नेहे ॥७॥
फल कारणे तरु अवलम्बल छाहरि भेल सन्देहे ॥८॥

—विद्यापति-गीतसंग्रह, पद २२२

इस पद में देखने में ही सुन्दर तथा काम में चोर कृष्ण की तुलना तेली के बैल से देकर विद्यापति ने एक नवीन चमत्कार पैदा कर दिया है। पद के अन्तिम चरण में फल तथा छाया का वैषम्य कितनी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया गया है, जो नितान्त नैराश्य का जनक है। कंचन तथा काँच, गुंजा तथा मोती, नागर तथा गमार में कितना रोचक विरोध दिखलाया गया है। साहित्य की दृष्टि से यह पद सचमुच सुन्दर और चमत्कारी है।

राधा ने कृष्ण के पास अपनी दूती को भेजा है। वह वहाँ पहुँचकर राधा की दयनीय दशा का परिचय देकर कोप दूर करने के लिए प्रार्थना करती है। वह कहती है—आकाश मेघ से भर गया है; राधा जमीन टेककर उठती है; क्योंकि कामदेव उसके हृदय को बाणों से बेधकर चला गया है। यद्यपि उसकी देह क्षीण हो गई है, तथापि आजतक

वह जरूर जीवित रहेगी। परन्तु, कल क्या होगा, यह कौन जानता है। हे कन्हाई, अब तो क्रोध छोड़ दो। लाखों पुरुषों में तुम्हारे जैसा आदमी मिलेगा। राधा ने समझा-बुझाकर जिस दूती को भेजा है, उसने तो सब बातें तुम्हारे सामने साफ-साफ कह दी हैं। कृष्णपक्ष की रात में जब चारों ओर घनघोर अन्धकार छाया रहता है, उस समय चन्द्रमा की दशा से मेरी तुलना की जा सकती है। क्या मैं सांध्य काल में आकाश में अकेला उगनेवाला तारा के समान हूँ अथवा भादों के चौथ-चन्दा के समान हूँ, जिसे देखने से भी लोगों को पाप लगता है ? प्रियतम ने अपने मुँह को मुझसे ऐसे हटा लिया है कि मेरे लिए जीना भी दूभर हो रहा है। राधा की इस उक्ति में कितनी करुणा झलकती है। अमावस के चाँद से अपनी तुलना कर वह अपने मरण की ओर संकेत कर रही है। 'साँझ के एकसरि तारा' की उपमा कितनी मार्मिक तथा तलस्पर्शिणी है—

गगन भरल मेघे, उठलि धरनि थेघे
पचसरे हिअ गेल सालि ।
जँओ से देह खिन, जियति आजुक दिन,
के जान कि होइति कालि ॥१॥ (ध्रुव)
कन्हाई अबहु बिसर सबे रोस
पुरुष लाख एक लखवा पारिअ
नारिक चारिम दोस ॥२॥
कोपे कुगुति सबे समदि पठायथि
दूती कहि से केली ।
ते असित तिथि, सामर पख ससि,
तइसनि दसा मोरि भेली ॥३॥
कि हमे साँझ क एकसरि तारा
भादव चौठि क चन्दा
अइसन कए पिआजे मुख मालल
मोपति जीवन मन्दा ॥४॥
—विद्यापति-गीत-संग्रह, पद ७५

दूती अपनी प्रिय सखी की स्थिति के वर्णन करने में त्रुटि नहीं करती। वह कहती जाती है—राधा के नेत्रों से जल की धारा अनुक्षण वहती है, जैसे सरिता का प्रवाह। उसके किनारे हमारी सखी असहाय होकर पड़ी हुई है। प्रत्येक क्षण उसका चित्त चक्कर काट रहा है। हमलोग एक बात पूछती हैं, तो वह दूसरी बात का जवाब लेती है। हे माधव, राधा प्रतिदिन क्षीण होती चली जाती है। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के चाँद से भी बढ़ कर वह क्षीण हो गई है। उसकी इस दीन दशा को देखकर कुछ सखियाँ तो उपेक्षा करती हैं और कुछ अपना सिर धुन-धुनकर पछताती हैं। कुछ तो शाम की आशा रखती हैं, परन्तु मैं तो तुम्हारे पास दौड़कर आई हूँ। विद्यापति कहते हैं कि शार्ङ्गपाणि

(कृष्ण) ने ज्योंही यह बात सुनी, त्योंही पुरातन प्रेम को स्मरण कर वे प्रेम से घर के लिए चल पड़े—

नदी सतत वह नयनक नीर
पलिल रहए सखि से तहि तीर ॥
सब खन तकर भरम गेआन
आन पुछिअ हम ओ कह आन ॥
माधव अनुदिने खिनि भेली राही
चौदिसि चाँदहु चाही ॥
केओ सखि रहलि उपेखि
केओ सिर धुन धनि देसि ॥
केओ कर सामक आस
मओ धउलिहु तुअ पास ॥
विद्यापति कवि भान
एत सुनि सारँगपानि ॥
हरसि चलल हरि गेह—
सुमरि ए पुरुब सनेह ॥

—विद्यापति-गीतसंग्रह, पद ५५

व्रजनन्दन के मथुरा चले जाने पर राधा खिन्न होकर अपने मन के भाव प्रकट कर रही है—इतने दिन तो मेरे हृदय में आनन्द था, परन्तु आज वह हर्ष दूर हो गया। रंक का रतन खो गया, समग्र संसार सूना हो गया। विधि बड़ा ही निर्दय है, जिसने मुझे विना किसी दोष के ही इतना दुःख दिया। मन में आता है कि विष खा लूँ, परन्तु आत्मवध, आत्महत्या तो महान् पाप है। जीवन मरण के समान जान पड़ता है और मरण ही दोनों में अधिक शोभन प्रतीत होता है। विरही जनों में ऐसा कौन है, जो मेरे दुःख को सुनकर विश्वास करेगा। इसपर विद्यापति कहते हैं कि हे सुन्दरी, धीरज धारण करो; अधीर और बेचैन मत बनो। वह तुम्हारा प्रियतम शीघ्र ही मिलेगा मन से दुःख को हटा लो। मथुरा से वह व्रजकिशोर अवश्य आयेगा और तुम्हारा दुःख अवश्य दूर हो जायेगा।

एत दिन हृदये हरख छल आवे सब दूर गेल रे।
राँक क रतन हेरायल जगते ओ सून भेल रे।
विहि निरिदय कोन दोसें दहु देल दुख मनमथ रे।
मन कर गरल गरासिय पाप आतम बध रे।
जीवन लाग मरन सम मरन सोहावन रे।
मोर दुख के पतिआएत सुनह विरहि जन रे।
विद्यापति कह सुन्दरि मन धीरज धरु रे।
अचिर मिलत तोर प्रियतम मन दुख परिहरु रे।

राधा काले वादल को सम्वोधित कर कहती है—हे काले वादल, कमल सूख गया; भ्रमर अब उसके पास नहीं आता। राही प्यासा होकर चला जाता है, परन्तु पीने के लिए पानी नहीं पाता। दिन-प्रतिदिन सरोवर का जल छिछला होता जाता है। परन्तु, इतने पर भी तुम नहीं बरसते हो, जिससे पृथ्वी पानी से भर जाती। यदि अवसर की उपेक्षा कर, समय-असमय का विना विचार किये हुए पानी बरसेगा, तो कौन-सा फल पाओगे? भला, दिन के समय दीपक दिखाने से क्या लाभ? विद्यापति कहते हैं कि असमय की वर्षा व्यर्थ होती है और समय का एक चुल्लू भी पानी मूर्च्छित को जिला सकता है। श्रीकृष्ण के प्रति राधा की यह अन्योक्ति है। हे कान्ह, समय की उपेक्षा न कीजिए। अवसर रहते पधारिए और अपने प्रेम-रूपी अमृत-सिंचन से मेरे सूखते हुए प्राणों को जिलाइए। सीधे-सादे शब्दों में प्रकट की गई राधा की प्रार्थना रसिकों के हृदय में सीधे ही धँस जाती है। तथ्य यह है कि हृदय से निकलनेवाली प्रार्थना शब्द के वाहरी आडम्बर को कभी पसन्द नहीं करती—

कमल सुखायल भमर नहि आव।
पथिक पियासल पानी न पाव॥
दिन दिन सरोवर होइ अगारि।
अवहु नइ बरसइ मही भरि वारि॥
यदि तोहें बरसव समय उपेखि।
की फल पाओव दिवस दिप लेखि॥
भनइ विद्यापति असमय बानी।
मुरुछल जिवए चुरू एक पानी॥

परन्तु, कृष्ण भगवान् आये नहीं। आँखें कृष्ण से मिलने के लिए आगे दौड़ी जाती हैं, परन्तु, वहाँ कृष्ण कहाँ? वे आये ही नहीं। हे भगवन्, मेरे प्राण भी नहीं निकल जाते, प्रत्युत वे आशा में अरुझाये हुए हैं। कृष्ण के आने की आशा से प्राण बचे हुए हैं। मन तो करता है कि जहाँ हरि मिले, वहीं उड़कर चली जाऊँ और प्रेम के उस स्पर्शमणि को लाकर हृदय में लगा लूँ। भला, स्वप्न में भी यदि उनका संगम मिल जाय, तो मैं अपना रंग बढ़ा लूँ। परन्तु हाय! वह भी मेरे भाग्य में वदा नहीं था। ब्रह्मा ने उसे विघटित कर दिया—नींद हमारी टूट गई। विद्यापति कहते हैं—हे धन्ये राधिके, धीरज धारण करो। वह प्रियतम तुम से शीघ्र ही मिलेगा और तुम्हारा मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा—

लोचन धाए फेधायल हरि नहि आयल रे।
शिव शिव जिवओ न जाय आसे अरुझायल रे।
मन करि ताहाँ उड़ि जाइअ जाहाँ हरि पाइअ रे।
पेम परसमनि जानि आनि उर लाइल रे।
सपनहु संगम पाओल रंक बढ़ाओल रे।
से मोर विहि विघटावल नींद ओ हेराओल रे।
भनइ विद्यापति गाओल धनि धइरज कर रे।
अचिरे मिलत तोहि बालम पुरत मनोरथ रे।

कृष्ण-मनावन

राधा व्रजनन्दन से मिलने आई, परन्तु संकेत-स्थल सूना था। सुमुखी राधा विमुखी होकर चली गई। उसके मन में यह अभिलाषा जगी कि कृष्णचन्द्र की मीठी वाणी अपने कानों से सुनती, परन्तु उनके वहाँ उपस्थित न रहने से पूरी रात निष्फल बीत गई। हे हरि! सुनो, सुनो। राधा को छोड़कर तुमने कौन-सा फल पाया? तुम तो उचित छोड़कर अनुचित काज करते हो। राधा के वहाँ जाने पर तुम क्रोध मत करना। मेघ ने अपनी जलधारा से सब तालावों को, सब नदियों को, सारी पृथ्वी को भर दिया है। घनघोर अन्धकार चारों ओर फैला हुआ है, दिशाओं का जानना कठिन हो गया है। इन्हीं कारणों से वह अपने पैर से साँप के सिर कुचलकर आती है। इस प्रकार, उसका प्रेम कितना गम्भीर है। वह किसी प्रकार के विघ्नों पर ध्यान नहीं देती। उसका एक ही लक्ष्य है—कृष्ण-समागम। ऐसी दशा में वह राधा यदि मिलने के लिए आती है, तो उसकी उपेक्षा मत करो। उसका स्वागत करो। सच्चे स्नेह को परखो—

सून संकेत निकेतन आइलि सुमुखी विमुखी भेलि ॥१॥
मन मनोरथ बानी लागलि रजनी निफले गेलि ॥२॥
सुनु सुनु हे हरि, राही परहरि
की फल पाओल तोहे ॥३॥
उचित छाड़ि कहु अनुचित करसि
गेले न करिअ कोहे ॥४॥
वारि सरसि नदी सब धारा धरि जलधर कोपि ॥५॥
तरुण तिमिर दिग न जानए पद अहि सिरि गए रोपि ॥६॥

—विद्यापति-गीतसंग्रह, पद ३८

सच्ची प्रीति की प्रशंसा

राधा ने जीवन-भर प्रेम के सरोवर में अपने को डुबा रखा है। अपने परिपक्व अनुभव को सुना रही है। हे सखी, मेरा अनुभव क्या पूछ रही हो? वही प्रीति है, वही अनुराग है, जो क्षण-क्षण में नूतन होता है। रमणीयता का तो यही रूप है—'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति।' प्रीति की भी यही दशा होती है। मैंने जीवन-भर उस रूप को देखा, परन्तु नेत्र तृप्त नहीं हुए, आँखों की प्यास नहीं मिटी। वह मधुर बोल बराबर सुनती रही, तो भी उसने कानों को छुआ तक नहीं। श्रवण तृप्त नहीं हुए। कितनी मधु-यामिनी को आनन्द में बिता दिया, परन्तु जान नहीं सकी, केलि कैसी होती है। लाख-लाख युगों तक हृदय में धारण किये रही, परन्तु हृदय नहीं जुड़ाया। कितने विदग्धजनों ने रस का अनुमोदन किया, परन्तु अनुभव किसी ने नहीं देखा। विद्यापति कहते हैं कि हृदय को जुड़ानेवाला करोड़ों में एक ही मिलता है। प्रीति की यह विचित्र रीति है!!!

सखि! की पूछसि अनुभव मोय।
से हो पिरीति अनुराग बखानत,
तिले तिले नूतन होय।

जनम अवधि हम रूप निहारनु
नयन न तिरपित भेल।
से हो मधुर बोल श्रवनहि सुनल
श्रुति पथे परश न गेल।
कत मधु यामिनिये रभसे गमाओल
न बुझल कैसन केल।
लाख लाख युग हिय हिय राखल
तइयो हिया जुड़ल न गेल।
कत विदग्ध जन रस अनुमोदह
अनुभव काहु न देखि।
भनइ विद्यापति हृदय जुड़ाइत
मिलय कोटि में एक।

कृष्ण के विरह में राधा नितान्त खिन्न हैं। सखी उसे समझाती-बुझाती है मालती और भ्रमर के व्यवहार के द्वारा। वह (भ्रमर) संसार में चारों ओर घूमता ही फिरता है। किसी फूल से वह अब प्रेम नहीं करता और समस्त सुगन्ध को उसने तिलांजलि दे रखी है। जिसका स्वभाव जिस वस्तु से प्रेम करने का है, वह उसके बिना क्या कभी स्थित रह सकता है? स्नेह तर्क तथा विचार का अनुगमन नहीं करता। हे मालती, तुम्हारे बिना भौंरा बहुत ही दुःखित है। इस जंगल में न जाने कितने फूल खिले हुए हैं, परन्तु उसका मन सबसे हट गया है और कहीं भी वह मकरन्द को नहीं पीता। निर्मल कमल का मधु तो चन्द्रमा के अमृत के समान दिव्य मधुर होता है; परन्तु उसके लिए भौंरा तुम्हारे प्रेम को तोड़ता नहीं। जितने समय तक व्यक्ति अपने हृदय को रुचनेवाले प्रिय को नहीं देखता, उतने समय तक उसके लिए सब कुछ अन्धकार ही रहता है। आशय है कि कृष्ण का प्रेम राधा के प्रति नैसर्गिक है। फलतः, राधा को कृष्ण की उपेक्षा से कथमपि खिन्न नहीं होना चाहिए—

उगमल जग भम, काहु न कुसुम रम
परिमल कर परिहार ॥१॥
जकरि जतए रीति, ते बिनु नहि थिति,
नेह न विषय विचार ॥२॥
मालति तोहि बिनु भमर सदन्द ॥३॥
बहुत कुसुम वन, सबही विरत-मन,
कतहु न पिब मकरन्द ॥४॥
विमल कमल-मधु, सुधा-सरिस विधु,
नेह न मधुप बिदार ॥५॥
हृदय-सरिस जन, न देखिअ जतिखन,
ततिखन सयर अन्धार ॥६॥ —पद ४५

इस पद में विद्यापति की आदर्श प्रेम-भावना का स्पष्ट परिचय मिलता रहता है। सचमुच, स्नेह विचार का विषय नहीं; प्रेम तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। 'नेह न विषय विचार' सौन्दर्य-शास्त्र की एक गम्भीर सूक्ति है। जहाँ आन्तरिक आकर्षण के वल पर प्रेम प्रेमी तथा प्रेयसी को खींचकर लाता है, वहाँ विचार के लिए स्थान कहाँ? यह तो वह चुम्बक है, जो प्रिय के हृदय को प्रेयसी की ओर वलात् आकृष्ट करता है। महाकवि भवभूति ने अपने 'उत्तररामचरित' में कुछ ऐसी ही वातें कही हैं, जो प्रेम-दर्शन का सार माना जाता है। उनकी उक्ति इस प्रसंग में ध्यान से पढ़ने और मनोयोग से समझने लायक है। वे कहते हैं—

> व्यतिषजति पदार्थान् आन्तरः कोऽपि हेतुः
> न खलु वहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
> विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
> द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥

पदार्थों को एक सूत्र में जोड़नेवाला कारण भीतर का ही होता है, वाहर का नहीं। प्रीति वाहरी उपाधि या कारण के ऊपर आश्रित नहीं होती। सूर्य के उदय होने पर कमल विकसित होता है और चन्द्रमा के उदित होने पर चन्द्रकान्तमणि पिघलने लगता है। सूर्य तथा कमल का, चन्द्रमा और चन्द्रकान्तमणि का कौन-सा ऐसा सम्वन्ध है, जो दोनों को परस्पर प्रभावित करने का कारण वनता है। दोनों की दूरी सहस्रों में नहीं, प्रत्युत लाखों मीलों में गिनी जा सकती है। ऐसी दशा में प्राकृतिक प्रभाव की सम्भावना कहाँ? कोई आन्तरिक ही कारण है कि जिससे सूर्य तथा चन्द्र का प्रभाव भूतल की इन अचेतन वस्तुओं पर पड़ता है। कमल में न चैतन्य है, न चन्द्रकान्त पत्थर में प्राण; परन्तु सुदूर सूर्य का तथा चन्द्रमा के प्रभाव का इन वस्तुओं पर पड़ना इस तथ्य का साक्षी है कि प्रेम आन्तरिक आकर्षण से जन्य है, वाह्य हेतु से साध्य नहीं। विद्यापति ने इसी तथ्य की ओर इस पद में स्पष्ट संकेत किया है।

उपेक्षिता राधा

राधा को सखियाँ विश्वास दिला रही हैं कि कृष्ण अवश्य पधारेंगे। उनपर तुम भरोसा मत छोड़ो, परन्तु राधा को विश्वास नहीं होता इन मीठे वचनों पर। वह कहती है कि स्नेह का अंकुर दोनों जनों (प्रेमी तथा प्रेमिका) के मन को मिलाकर अव आगे वढ़ निकला है। वह दो पत्तों और तीन पत्तों से ढक गया है। उसकी शाखा तथा पल्लव फूलों से व्याप्त हो गये हैं और उसकी गन्ध चारों दिशाओं में फैल रही है। हे सखी, तुम क्या समझती हो कि यदि वह चाहेगा, तो कन्हाई फिर यहाँ आवेगा क्या! उसने तो मेरे प्रेम-भरे मनोरथ को वलात् तोड़ डाला है। ऐसे कपटी का भला कौन विश्वास करेगा? तुमने उसे सुन्दर प्रभु समझकर मुझसे मिलाया। मोती को सोना में गूँथा। पर क्या नहीं जानती हो कि वह विधाता अन्धा है। और, इसलिए वह कैतव को भी कंचन वना देता है और छाया को मोती कर देता है। भला,

ऐसी स्थिति में कृष्ण का विश्वास कैसे किया जाय ? राधा को कृष्ण के लौट आने में अब विश्वास नहीं रहा—

दुइ मन मेलि सिनेह-अंकुर
दोपत - तेपत भेला।
साखा पल्लव फूले वेआपल
सौरभ दह दिसि गेला।
सखि हे आबे कि आओत कन्हाई॥
पेम मनोरथ हठे विघटओलन्हि
कपटिहि के पतिआई॥
जानि सुपहु तोहे आनि मरोओल
सोना गाथलि मोती॥
कैतव कञ्चन अन्ध विधाता
छायाहु छाडलि मोन्ति॥—विद्यापति-गीतसंग्रह, पद १८९

कृष्ण के द्वारा उपेक्षिता राधा अपनी गूढ मनोव्यथा का वर्णन मर्म-भरे शब्दों में कर रही है—मैं विरह के ताप से सन्तप्त हो रही थी। उसे दूर करने की गरज से मैं तुम्हें चन्दन का पेड़ सुनकर तुम्हारे पास आई। मानसिक व्यथा के कारण ही मैं यहाँ आई। लाभ के बदले हानि ही उठानी पड़ी। मैं दुःखों से व्यथित हो गई। भगवान् जाने, पूर्वजन्म में मैंने कौन-सा पाप किया है, जिसके कारण मुझे इतना कष्ट सहना पड़ रहा है। हे माधव, तुम्हारे मुख के दर्शन के लिए मैं वारंवार यहाँ आई, परन्तु मुझे उत्तर नहीं मिला। उलटे मुझे विरह-रस में पगना पड़ा। तुम्हारे स्नेह का स्मरण कर ज्यों ही मैंने अपने घर को छोड़ा, त्यों ही गुरुजनों ने वह बात जान ली। यहाँ आने पर हरि निष्ठुर हो गये हैं। अब मैं किस प्रकार लौटकर घर जाऊँ? अब तो मुझे घर पर भी अनादर ही सहना पड़ेगा। मैं तो इधर से गई और उधर से भी गई। कितनी स्वाभाविकता है राधा के इस कथन में—

सुनि सिरिखँड तरु ते मञो गमन करु
तेजत विरहकलापे।
आरति अएलाहु मञो कुमिलएलाहु
के जान पुरुब कओन पापे॥
माधव, तुअ मुख-दरसन लागी।
वेरि वेरि आवञो, उतर न पावञो
भेलाहु विरह रस भागी।
जतहि तेजल गेह, सुमरि तोहर नेह
गुरु जने जानब तावे।
एतए निठुर हरि, जाएब केमनि परि
ततहु अनादर आवे॥ —वि०गी०सं०, प० २२१

उत्सुक राधा

विरह में व्रजनन्दन के लिए राधा की उत्सुकता का एक रेखाचित्र विद्यापति ने इतनी सुन्दरता से खींचा है कि देखते ही बनता है। अब अपनी सखी से कह रही हैं—हे सजनी, यह बात किसने कही कि माधव आनेवाले हैं। मेरा मन तो विश्वास नहीं करता कि मैं विरह-रूपी सागर को पार कर कभी उन्हें पा सकूँगी। आजकल करते-करते महीना बीता और महीना-महीना करते साल बीत गया। जीवन की आशा जाती रही। अब रही-सही आशा भी जा रही है। चन्द्रमा की किरणों से ही जब कमल जल जायेगा, तब बसन्त ऋतु ही आकर क्या करेगा? सूरज की गरमी से जब अंकुर ही जल जायेंगे, तब वर्षा का मेघ क्या करेगा? उनमें पत्तियाँ कहाँ से निकलेंगी? विरह की व्यथा सहते-सहते जब यह चढ़ती हुई जवानी ढल जायगी, तब प्राणपति के आने से भी क्या लाभ होगा? विद्यापति कहते हैं कि हे चन्द्रमुखी, अब निराश मत हो। हृदय को आनन्द देनेवाले व्रजनन्दन शीघ्र ही तुम्हारे पास आकर मिलेंगे। राधा की स्वाभाविक अनुभूति को प्रकट करनेवाला यह पद जितना सुन्दर है, उतना ही प्रसिद्ध है—

सजनि ! के कह आओब मधाइ
विरह पयोधि-पार किये पाओब
मझु मन नहि पतिआइ ॥
एखन-तखन करि दिवस गमाओल
दिवस - दिवस करि मास ।
मास-मास करि बरस गमाओल
छोड़लुं जीवनक आस ॥
बरष-बरष करि समय गमाओल
खोयलुं तनुक आशे
हिमकर-किरन नलिनी यदि जारब
कि करब माधबी मासे ॥
अंकुर तपन तापे यदि जारब
कि करब वारिद मेहे
इह नवयौवन विरहे गमाओब
कि करब से पिया लेहे ॥
भणइ विद्यापति सुन बरयुवती
अब नहि होत निराश
सो व्रजनन्दन हृदय आनन्दन
झटिति मिलब तुम पाश ॥

धन्या राधा

अन्त में बहुत दिनों की अभिलाषा पूर्ण होती है। दुर्दैव के दिन बीत जाते हैं। भाग्य पलट जाता है। जिस व्रजनन्दन के विरह में राधा इतनी व्याकुल तथा दुःखित रहती है,

वही 'साक्षान्मन्मथमन्मथ:' राधा से मिलने के लिए स्वयं कुंज में पधारते हैं। उस समय विरहिणी राधा के हृदय में जिस आनन्द की धारा छलक उठती है, उसका किंचित् परिचय इस पद में देखिए, जो महाप्रभु चैतन्यदेव को भी अपने माधुर्य से विभोर बना डालता था।

माधव से भेंट होने पर राधा अपने जीवन को धन्य तथा कृतार्थ मानती है—

कि कहब हे सखि आनन्द ओर।
चिर दिने माधव मन्दिरे मोर।
दारुन वसन्त यत दुख देल
पिया मुख हेरइत सब दुख गेल॥
यतहु अछल मोर हृदयक साध
से सब पूरल हरि परसाद॥
रभस आलिगने पुलकित भेल
अधरक पाने बिरह दुख गेल॥
भनहि विद्यापति आर नह आधि
समुचित औषधे ना रहे बेयाधि॥

महाप्रभु चैतन्यदेव का यह प्रिय पदों में से एक है। चरितामृत के अनुसार इस पद को गाते-गाते वह व्याकुल भाव से बेहोश हो गये थे (व्याकुल होइया प्रभु भूमि ते पडिला)। राधा कह रही है कि हे सखी, अपने अलौकिक आनन्द की अवधि का वर्णन क्या करूँ? बहुत दिनों के बाद माधव आज मेरे मन्दिर में पधारे हुए हैं। दारुण वसन्त ने जितना दुःख मुझे दिया था, वह सब प्रियतम के मुख देखते ही खतम हो गया। मेरे हृदय में जो कुछ साध रही, वह सब हरि के प्रसाद से पूरी हो गई। उन्हें गाढ आलिंगन करने से मेरा शरीर पुलकित हो गया। उनके अधर के पान से विरह का दुःख बिलकुल दूर हो गया। विद्यापति कहते हैं कि अब तुम्हारे मन में राधे! व्याधि नहीं रह सकती। समुचित दवा मिलने पर क्या कभी व्याधि रह सकती है? श्यामसुन्दर का मिलन राधा के तीव्र सन्ताप का, दीर्घकालव्यापी विरह का वस्तुतः पर्यवसान है।

विद्यापति : जयदेव का प्रभाव

विद्यापति के पदों पर गीतगोविन्दकार जयदेव के भावों का प्रभाव स्पष्टतः अंकित है। जयदेव राधा-काव्य लिखने में एक युगान्तरकारी प्रतिभा लेकर अवतीर्ण हुए थे। उनके प्रभाव का किंचित् प्रसार अन्यत्र लक्षित किया गया है। विद्यापति के ऊपर भी यह प्रभाव न्यून नहीं था। यहाँ इन दोनों कवियों के पदों में भाव-सादृश्य का थोड़ा निदर्शन दिया जा रहा है—

तोहरे चिन्ता तोहरे कथा
सेजहु तोहरे चाव।
सपनहु हरि पुनि पुनि कए
लए उठए तब नाव।

आलिंगन दए पाछु निहारए
तोहि विनु सून कोर।
अकथ कथा आयुअ बेथा
नयन तेजए नोर।
'राही' 'राही' जाहि मुँह सुनि
तत्तहि आपए कान।
सिरि सिवसिंह हू रस जानए
कवि विद्यापति भान।

दूती कहती है—हे राधे, कृष्ण को रात-दिन सेज पर भी तुम्हारी ही चिन्ता, तुम्हारी ही कथा तथा तुम्हारी ही चाह है। स्वप्न में भी वे तुम्हारा ही नाम लिया करते हैं। उसी अवस्था में ज्यों ही तुमसे मिलने के लिए, आलिंगन के लिए, हाथ बढ़ाते हैं, त्यों ही तुम्हारे विना अंक खाली देखकर मन की व्यथा मन में ही छिपाकर आँखों से आँसू वहाने लगते हैं। यदि कोई 'राधा' का नाम लेता है, तो कृष्ण उधर ही अपना कान लगा देते हैं। इस प्रकार व्रजनन्दन राधा के विरह में नितान्त दुःखित, उद्वेलित तथा क्षुब्ध हैं। इस भाव की समता के लिए जयदेव का यह पद्य देखिए—

विपुलपुलकपालिः स्फीतसीत्कारमन्त-
र्जनितजडिमकाकुव्याकुलं व्याहरन्ती।
तव कितव विधायामन्दकन्दर्पचिन्तां
रसजलधिनिमग्ना ध्यानलग्ना मृगाक्षी॥
—गीतगोविन्द, षष्ठ सर्ग, दूसरा पद्य

मानवती राधा के मनाने का प्रसंग है। राधा मान करके वैठी है और कृष्ण उसे मना रहे हैं। परन्तु, राधा मान नहीं रही है। उसपर कृष्ण कह रहे हैं—हे प्यारी, यदि वास्तव में तुम मुझसे क्रुद्ध हो, तो अपना मनमाना दण्ड मुझे दो। मैं उसे स्वीकार करने के लिए सर्वथा तैयार हूँ। अपने तीखे नख-रूपी वाणों से घात करो। भुजा-रूपी जंजीर में मुझे वाँध दो। दाँतों से अधर का दंशन करो। कुच-रूपी पत्थरों को मेरी छाती पर रख दो, जिससे मैं कहीं भाग न सकूँ। इस भाव को सूचित करनेवाली गीतगोविन्द की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

सत्यमेवासि यदि सुदति मयि कोपिनी
धेहि खरनखरशरघातम्।
घटय भुजबन्धनं जनय रदखण्डनं
येन वा भवति सुखजातम्॥

× × ×

मुग्धे विधेहि मयि निर्दयदन्तदंशं
दोर्वल्लिबन्धनिविडस्तनपीडनानि।
चण्डि त्वमेव मुदमञ्चय पञ्चवाण-
चण्डालकाण्डदलनादसवः प्रयान्ति॥ —गीतगोविन्द, १०।३

विद्यापति ने इसी भाव को सीधे तौर से अपनाया है—

हमर बचन यदि नहि परतीत।
बुझि काह साति जे होय उचित ॥
भुज पास बाँधि जघन तर तारि।
पयोधर पाथर हिय दह भारि ॥
उर-कारा बाँधि राख दिन राति।
विद्यापति कह उचित यह साति ॥

कृष्ण कहते हैं—हे राधे, यदि मेरी बातों का तुम्हें विश्वास नहीं है, तो तुम उचित दण्ड मुझे दो। मैं सब स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ। भुजा-रूपी फाँस में बाँधकर, जंघों से दबाकर छाती पर कुच-रूपी पत्थर रख दो। फिर हृदय-रूपी कारागार में बन्द कर दिन-रात कैद रखो। यही मेरे लिए उत्तम दण्ड है। दोनों कवियों ने बड़ा ही उत्तम दण्ड-विधान बतलाया है। यद्यपि विद्यापति ने जयदेव के ही पद्यों का भाव अपने पद में ज्यों-का-त्यों रख दिया है, तथापि 'जघन-तर तारि' और 'उर-कारा बाँधि राख दिन-रात' कहकर विद्यापति ने उर-कारागार का पूर्ण रूपक खींच दिया है। यही कारण है कि विद्यापति के पद में जयदेव के पद्य की अपेक्षा विशेष चमत्कार दृष्टिगोचर होता है।

विद्यापति ने अपने एक पद में दूती के द्वारा राधा की दीन दशा का वर्णन किया है। राधा की दूती कृष्ण से कहती है—हे मनमोहन, सुनो। तुमसे मैं क्या कहूँ? मुग्धा राधा तुम्हारे लिए रोती है। रात-दिन जगकर वह तुम्हारा नाम जपा करती है। वह इतनी प्रेम-विभोर तथा कामातुरा है कि वह थर-थर काँपती है और उसी स्थल पर गिर जाती है। जब आधी रात से समय ढल जाता है, तब वह तुम्हें न पाकर व्याकुल हो जाती है और रो उठती है—

सुनु मनमोहन कि कहब तोय
मुगुधिनी रमनी तुअ लागि रोय।
निसि दिन लागि जपए तुअ नाम
थर थर काँपि पड़ए सोइ ठाम।
जामिनि आध अधिक जब होइ
बिगलित लाज उठए तब रोइ।

जयदेव के जिस पद से इसकी तुलना करना उचित होगा, वह यह है—

नाथ हरे सीदति राधा वासगृहे।
त्वदभिसरणरभसेन वलन्ती
पतति, पदानि कियन्ति चलन्ती।
भवति विलम्बिनि विगलितलज्जा
विलपति रोदिति वासकसज्जा ॥

प्राचीन होने के कारण इस पद का प्रभाव विद्यापति के ऊपर अवश्यमेव पड़ा है, परन्तु विद्यापति के वर्णन में एक विशेष चमत्कार है। जयदेव ने इतना ही कहा है कि कृष्ण के

विलम्ब करने पर राधा विगलितलज्जा हो जाती है (भवति विलम्बिनि विगलितलज्जा); परन्तु विद्यापति ने आधी रात के बीतने का निर्देश कर अपने वर्णन में नई जान डाल दी है (जामिनि आध अधिक जब होइ)। यह समय-निर्देश राधा की चिन्ता, मनोवेदना को तीव्र बना रहा है। 'निशीथ' कामीजनों के मिलन की पवित्र वेला होता है, परन्तु उस समय भी जो प्रेमी अपनी प्रेमिका की आशा को भंग करता हुआ संकेत-स्थल पर नहीं पहुँचता, वह घोर अपराध करता है। उस समय नायिका का विगलितलज्जा होना स्वाभाविक हो जाता है। इस प्रकार, दोनों वर्णनों में भाव-साम्य होने पर भी मेरी दृष्टि में विद्यापति के वर्णन में एक सातिशय चमत्कृति है।

दोनों कवियों के अभिसार के वर्णन में भी विलक्षण साम्य दृष्टिगोचर होता है और कई अवस्थाओं में विद्यापति का वर्णन जयदेव की कल्पना से आगे बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। अभिसार के अवसर पर जयदेव की दूती कहती है कि राधे, तुम आवाज करनेवाले चंचल नूपुरों को दूर कर डालो। केलि में चंचल ये शत्रु के समान अभिसार में विघ्न डालनेवाले हैं। शब्द करके ये नूपुर शत्रु का काम कर रहे हैं। इन्हें जल्दी दूर हटाओ। नील वसन पहनकर इस तिमिराच्छन्न कुंज में कृष्ण से मिलने के लिए शीघ्र चलो—

मुखरमधीरं त्यज मञ्जीरं
रिपुमिव केलिसुलोलम्।
चल सखि कुञ्जं सतिमिरपुञ्जं
शीलय नीलनिचोलम्॥

विद्यापति की दूती इस अवसर पर कुछ दूसरी ही बात कहती है। वह कहती है—हे राधा, पैर के नूपुर को ऊपर चढ़ा लो; मुखर करधनी को हाथ से निवारण कर लो; नील वस्त्र से शरीर ढक लो और अँधेरी गली में निकल चलो—

चरन नूपुर ऊपर सारी
मुखर मेखल कर निवारी
अम्बर सामर देह झँपाई
चलहु तिमिर पन्थ समाई॥

दोनों काव्यों की तुलना करते समय दोनों कवियों के भावों को समझने की आवश्यकता है। अभिसार के लिए 'नूपुर' भी एक उद्दीपन पदार्थ है, जिससे काम की महिमा अत्यधिक बढ़ जाती है। अभिसारिका के लिए नूपुर का पहनना अत्यन्त आवश्यक होता है। क्योंकि, इसके अभाव में प्रेमी और प्रेमिका के हृदय में आनन्द की वह दिव्यधारा पूर्णरूप से प्रवाहित नहीं होती, जैसा होना चाहिए। इसीलिए, इसका धारण मंगलमय तथा शोभन माना जाता है; परन्तु इससे उत्पन्न होनेवाला शब्द संकेत के रहस्य को अवश्यमेव भिन्न कर देता है। इस विघ्न से राधा को बचाने के लिए जयदेव की दूती नूपुर को निकालकर अभिसरण के लिए जा रही है। ठीक है, शत्रु को दूर हटाना ही उचित न्याय है। परन्तु, विद्यापति की दूती चतुरता में इससे एक पग आगे है। रास्ते में झंकार रोकवाना दोनों का उद्देश्य है। परन्तु, नूपुर को बिना निकाले ही वह

ऐसी व्यवस्था करती है कि रास्ते में किसी प्रकार की आवाज न होने पावे। इसके लिए वह नूपुर को पैर के ऊपर चढ़ा लेने का उपदेश देती है। विद्यापति की दूती नूपुर निकलवाती ही नहीं और राह में झंकार भी होने नहीं देती। इसलिए, विद्यापति के पद में जयदेव के पद की अपेक्षा अधिक चमत्कार दीख पड़ता है। भाव दोनों के ही समान हैं, उद्देश्य दोनों के ही बराबर हैं, परन्तु उसकी सिद्धि के प्रकार भिन्न-भिन्न हैं। कोमलता की दृष्टि से, भाव-गाम्भीर्य के विचार से विद्यापति का भाव निःसन्देह सुन्दर और रोचक है!!!

इस प्रकार, दोनों कवियों के काव्यों में अनेक स्थलों पर भावसाम्य है। जयदेव का प्रभाव विद्यापति के ऊपर अवश्य है; उनके पदों के अनेक अनूठे भाव गीतगोविन्द से स्फूर्ति लेकर लिखे गये हैं; परन्तु इसका मतलब यह न समझना चाहिए कि विद्यापति सर्वत्र ही अधमर्ण हैं। अनेक स्थानों पर उनकी प्रतिभा अपना जौहर दिखाती है और मैथिल-कोकिल की वाणी रसिकों को आनन्द से विभोर बनाकर एक अद्‌भुत रस की सृष्टि करती है।

बँगला-साहित्य में राधा

चैतन्यदेव के भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव से बंगाल का कोना-कोना वैष्णव-भावों से मुखरित हो उठा। कीर्त्तन की लहरी अपने आनन्दमय प्रवाह में बंगाल के प्रत्येक प्राणी को आनन्द-विभोर बनाने लगी। वैष्णव-कवियों की वाणी राधाकृष्ण की लीला के वर्णन में अपने को सन्तप्त निमग्न करने लगी और इस दिव्य लीला के वर्णन के अतिरिक्त उसके सामने कोई विषय ही नहीं था। कीर्त्तन में उपयोग के लिए प्रेम-स्निग्ध पदों की सृष्टि होने लगी। पदावली-साहित्य बँगला-भाषा का सबसे माधुर्यमय कमनीय साहित्य है, जिसमें हृदय के कोमल भावों की अभिव्यंजना बड़े ही सुभग सरल शब्दों में की गई है। बँगला-पदकारों को भगवान् ने कोमल प्रतिभा का विलास मानों प्रसाद रूप से दिया था, जिसका अद्‌भुत चमत्कार हमें इस साहित्य के काव्यों में उपलब्ध होता है। ये कवि भावों के विस्तार में जितने समर्थ थे, उतने ही निपुण थे वे भावों की गहराई के वर्णन में। प्रेम की नाना अवस्थाओं के चित्रण में, गहरे भावों के विवरण में तथा मानव-हृदय की क्षण-क्षण में उदीयमान वृत्तियों के परीक्षण में इन कवियों ने एक विलक्षण चमत्कार दिखलाया है। इन्हीं पदों के कारण तो मध्य युग बँगला-साहित्य का सुवर्ण-युग माना जाता है। चण्डीदास महाप्रभु श्रीचैतन्य के उदय से पहिले ही उत्पन्न हुए थे और सुना जाता है कि चैतन्यदेव उनके पदों को गाते-गाते आनन्द से विभोर हो उठते थे। पिछले युग के पदकारों में गोविन्ददास तथा ज्ञानदास की विशेष ख्याति है। इन्हीं कवियों के प्रतिभा-विलास को रिक्थ के रूप में पाने से आज भी बँगला-साहित्य इतना समृद्ध, इतना सरस और इतना कोमल माना जाता है।

बँगला के कृष्ण-काव्य तथा हिन्दी के कृष्ण-काव्यों में विद्यमान रहनेवाला अन्तर ध्यान देने योग्य है। चैतन्य-मत के अनुसार युगल उपासना तथा उसके साथ लीलावाद का चिन्तन सब साधनाओं में केन्द्रस्थानीय है। फलतः, बँगला के कवियों में कान्ता-प्रेम

ही सर्वस्वरूपेण स्वीकृति पाता है। इन कवियों ने राधा-कृष्ण की माधुर्य रति के वर्णन में अपनी प्रतिभा का सदुपयोग किया है। हिन्दी-काव्य में भी युगल उपासना का वर्णन मिलता है, विशेषतः निम्वार्की तथा राधावल्लभी कवियों के काव्य तो इस वर्णन से ओत-प्रोत हैं, तथापि कान्ताभाव के ऊपर विशेष जोर नहीं दिया गया है। भक्ति के अन्य भावों शान्त, दास्य, वात्सल्य आदि के वर्णन करने में भी इन कवियों का आग्रह उससे कहीं कम नहीं है। सूरदास के रचित पदों के वर्ण्य विषयों के तुलनात्मक समीक्षण से यह भली भाँति समझ में आ सकती है कि उनमें वात्सल्य के ऊपर कवि का विशेष आग्रह है। फलतः, वर्ण्य विषयों की दृष्टि से हिन्दी कृष्ण-काव्य पर्याप्तरूपेण विस्तृत है, परन्तु बँगला-काव्य संकुचित है। इस संकुचित क्षेत्र में बँगला के कवियों ने मानव-भावों के सूक्ष्म निरीक्षण में तथा उनके वर्णन में जिस प्रतिभा का प्रदर्शन किया है, वह वास्तव में अद्भुत तथा चमत्कारजनक है।

साधना-जन्य वैलक्षण्य के कारण भी इन दोनों में भेद परिलक्षित होता है। व्रजभाषा के इन कवियों ने, विशेषतः मीराँबाई ने, कृष्ण के साथ लीला-विधान में अपने-आपको राधा के स्थान पर रखने में संकोच नहीं किया है। मीराँबाई अपने काव्यों में राधाभावापत्ति पर आग्रह दिखलाती है। वह अपने को राधा के स्थान पर रखती है और राधा के भाव-वर्णन में एक विलक्षण तन्मयता दिखलाती है। बँगला के कवियों में यह भाव विशेषरूपेण नहीं मिलेगा। ये मंजरी-भाव से कुछ दूर रहकर युगल लीला के दर्शन तथा आस्वादन में आसक्त रहते हैं, राधा-भाव से नहीं। साम्प्रदायिक तथ्यों का भी उद्घाटन हिन्दी-कवियों के काव्यों में कम नहीं मिलता। वे जिस सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, उसके सिद्धांतों का उपन्यास वे अपने काव्यों में करने से नहीं चूकते। निम्वार्की कवि द्वैताद्वैतवादी होता है, पुष्टिमार्गीय कवि शुद्धाद्वैती होता है। इन दार्शनिक दृष्टिकोणों का भी परिचय उनके काव्यों में मिलता है। बँगला-कवियों के विषय में यही बात कही जा सकती है; परन्तु बँगला में केवल चैतन्य-मत की विशेष प्रतिष्ठा होने के कारण बंगाली कृष्ण-काव्यों में दार्शनिक तथ्य-वर्णन में वैभिन्न्य नहीं है। अवश्य ही सहजिया वैष्णव-कवि चैतन्यमतानुयायी कवि से सिद्धान्त-वर्णन में पार्थक्य रखता है; परन्तु जब हम सम्प्रदाय की धार्मिक अवधि को पारकर साहित्य के सार्वभौम क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, तब उनके काव्यों में एकरूपता दृष्टिगोचर होती है। भाव-जगत् के राज्य में भावों का सामान्य विवेचन ही अभीष्ट होता है। सिद्धान्त-वर्णन में पार्थक्य अवश्यमेव परिलक्षित होता है, परन्तु लीला-वर्णन में पार्थक्य कहाँ? यहाँ कवि उस भाव-स्तर पर पहुँच जाता है, जिसमें पार्थक्य के लिए स्थान नहीं होता। व्रजभाषा के कवियों ने भागवत का आधार मानकर अपना वर्णन प्रस्तुत किया है; बहुतों ने भागवत के दशम स्कन्ध का पद्यबद्ध अनुवाद भी प्रस्तुत किया है और दूसरे कवियों ने श्रीकृष्ण की व्रजलीलाओं के वर्णन पर विशेष आग्रह दिखलाया है। यह बात बँगला-कवियों के विषय में चरितार्थ नहीं होती।

चण्डीदास की राधा

चण्डीदास के वैयक्तिक जीवन की विशेष घटनाओं का परिचय नहीं मिलता। हम इतना ही जानते हैं कि वे पैदा तो हुए थे वीरभूमि जिले के 'छटना' नामक गाँव में, परन्तु बाल्यकाल में ही 'नन्नुरा' नामक गाँव में जा बसे थे, जो आज के बोलपुर से दक्षिण-पूर्व में दस मील पर बतलाया जाता है। यहीं के बाकुली देवी के मन्दिर के वे पुजारी थे। इनके घर के ध्वंसावशेष आज भी वर्त्तमान बतलाये जाते हैं। ये प्रेम के दीवाने थे, पागल थे और आज भी विलक्षण स्वभाववाले व्यक्ति को पूरब बंगाल में 'पागला चंडीदास' कहने की प्रथा है। उनके जीवन की सबसे विलक्षण तथा महत्त्वपूर्ण घटना है—रामी नामक धोबिन से प्रेम, जिसे लोकनिन्दा की तनिक भी परवाह न कर इन्होंने जीवन-भर निभाया। रामी के प्रति इनका प्रेम विशुद्ध था तथा वासना के कालुष्य से विहीन था। समाज में इस प्रेम के कारण इन्हें अनेक संकट सहने पड़े, परन्तु इन्होंने इसे जीवन-भर उसी उत्साह तथा आनन्द से निभाया। ये सहजिया-सम्प्रदाय के वैष्णव थे और उस सम्प्रदाय के तान्त्रिक सिद्धान्तों का इनके ऊपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। आरोप-साधना के द्वारा ये रामी में ही राधा का साक्षात्कार करते थे और इसीलिए वे उसे वेदमाता गायत्री आदि पवित्रतम अभिधानों से संबोधित करने से पराङ्मुख नहीं होते थे। जिस पन्द्रहवीं शताब्दी में विद्यापति मैथिली-गीतों में राधाकृष्ण की ललित केलि का वर्णन कर रहे थे, उसी युग में चण्डीदास बँगला की गीतिकाओं में अपना रसपेशल हृदय उड़ेल रहे थे। इस प्रकार दोनों समकालीन हैं, वर्ण्य विषय की भी एकता है, परन्तु राधा के चित्रण में दोनों में एक सूक्ष्म पार्थक्य लक्षित होता है; यह ध्यान देने की बात है।

चण्डीदास की राधा भोलेपन की भव्य प्रतिमा हैं। उनकी हर एक बात से भोलापन टपकता है। वे युवावस्था में पदार्पण कर चुकी हैं, परन्तु यौवनसुलभ केलियों को वे जानतीं ही नहीं। श्रीकृष्ण का नाम सुनकर ही पागल हो गई हैं और अपनी सखी से इस विषय में गम्भीर जिज्ञासा कर रही हैं कि हे सखी, किसने श्याम का नाम सुनाया? कान के भीतर से होकर वह हृदय में प्रवेश कर गया और मेरे प्राणों को उसने व्याकुल कर दिया है। यह समझ में नहीं आता कि श्याम का नाम कितना मधुर है! वह मेरे शरीर में इस तरह से चिपट गया है कि उसे छुड़ा नहीं पाती हूँ। उसका नाम-स्मरण करते-करते मैं तो आपे में नहीं रही हूँ। ऐ सखी, उसे किस तरह पा सकूँगी? जिसके नाम से ही ऐसी अवस्था हो गई है, उसका अंग छू जाने पर न जाने क्या होगा? उसे नेत्र से देखकर युवतिधर्म कैसे रह सकता है? क्या उपाय किया जाय? चण्डीदास कहते हैं कि वह कुलवती का कुल नष्ट करना चाहता है और यौवन की भीख माँगता है। राधा के हृदय की सरलता कितने सहज शब्दों में अभिव्यक्त हो रही है। इस पद में—

सइ केवा शुनाइल श्याम नाम ?
कानेर भितर दिया मरमे पशिल गो
आकुल करिल मोर प्रान।

ना जानि कतेक मधु श्याम नाम आछे गो
बदन छाड़िते नाहिं पारे ।
जपिते जपिते नाम अवश करिल गो
केमने पाइब सइ तारे ॥

वे कहती हैं—हे भाई, मैं दोष ही किसे दूँ? विना जाने ही यदि प्रीति कर ली है, तो मैं किसपर रोष करूँ? सचमुच मेरा ही दोष होना चाहिए; मैं दूसरे पर दोष लगाने के लिए क्यों तैयार हूँ? अपने सामने अमृत का समुद्र देखकर अपनी इच्छा से ही आकृष्ट होकर मैं आई हूँ। मुझे क्या पता था कि इसका रसपान करने पर वह विष का काम करेगा और मुझे इतनी दिक्कत उठानी पड़ेगी। आलाप या इंगित से मुझे तनिक भी इसका आभास मिलता, तो मैं क्या ऐसा कभी करती? । जाति, कुल तथा शील—सब कुछ इसी में डूब गया और मैं विह्वल होकर मर रही हूँ। क्या करूँ? क्या कहीं मेरे लिए चारा है। इस पद में हमें राधा के स्वच्छ हृदय का, सारल्य का, भोलेपन का स्पष्ट संकेत मिलता है—

बंधु काहारे वा दिबो दोष ।
ना जानिया यदि करेछि पीरित काहारे करिब रोष ॥
सुधार समुद्र समुके देखिया आइनु आपन सुखे ।
के जाने खाइले गरल हइबे पइबे एतेक दुखे ॥
सो यदि जानिताँग अलप इंगिते तबे कि एमने करि ।
जाति कुल शील मजिल सकल झुरिया झुरिया मरि ॥
अनेक आशार भरसा मरुक देखिते करि ए साध ।
प्रथम पीरिति ताहार नाहिक विभागेर आधे आध ॥
याहार लागिया ये जन मरये सेइ यदि करे आने ।
'चण्डीदासे' कहे एमनि पीरिति करये सुजन सने ॥

अन्तिम पंक्ति में राधा कह उठती हैं—यह दशा देखकर तो यही जान पड़ता है कि किसी की आशा में पड़ना बड़ा ही दुःखदायी होता है। आरम्भ की प्रीति का समान विभाग नहीं हो सकता। जिसके लिए जो व्यक्ति मरता है, वह स्वयं आकर प्रीति करे—यही शोभन है। चण्डीदास कहते हैं कि सज्जनों की प्रीति ऐसी ही होती है।

व्रजनन्दन के प्रति राधा का हृदय आकृष्ट हो गया है। वह रात-दिन उसीमें डूबी रहती हैं। अन्य किसी विषय से उसे थोड़ा भी प्रयोजन नहीं रहता। सखियाँ इस धीरे-धीरे होनेवाले परिवर्त्तन को देखती हैं और आपस में मन्त्रणा करती है कि आखिर राधा के भीतर यह व्यथा कहाँ से उत्पन्न हो गई है। वह निर्जन में बैठती है; अकेली ही रहती है; किसी की भी बातचीत सुनती नहीं—उधर कान ही नहीं देती। वह सदा ध्यान में आसक्त रहती है। श्यामवर्ण के मेघों की ओर ही एकटक देखती रहती है। ध्यान में इतनी मगन हो जाती है कि उसके नयन की पुतली भी नहीं चलती, नहीं हिलती-डुलती अपनी जगह से। नयन के तारा का संचरण तो जीवन का लक्षण है, परन्तु राधा में

वह भी नहीं है। उसे भोजन से ही वैराग्य हो गया है; रंगीन कपड़ा पहनती है, जान पड़ता है कि कोई प्रवीण योगिनी हो, जो तत्त्व-चिन्तन में रात-दिन आसक्त रहती है। राधा के शरीर तथा मन पर विरह-वेदना का प्रभाव बड़े वैशद्य से यहाँ दिखलाया गया है। साथ-ही-साथ उसके सरल हृदय की ओर भी संकेत है। आसक्ति की इसे पराकाष्ठा समझनी चाहिए, जब प्रेमिका प्रियपात्र की वस्तुओं को धारण करने की ओर अग्रसर होती है। मेघ की ओर देखना घनश्याम के सवर्ण होने के ही तो कारण है और 'राँगा वास' का पहनना भी पीताम्बर धारण करने का प्रयास है—

आगो राधार कि हल अन्तरे व्यथा।
वसिया विरले थाकिया एकले ना शुने काहारो कथा॥
सदा धेयाने, चाहे मेघ पाने, ना चले नयन तारा।
विरति आहारे, राँगा वास करे, येन योगिनीर पारा॥

बड़ा उद्योग करने पर कृष्णचन्द्र राधा से मिलने के लिए पधारते हैं। वे समझते थे कि भेंट तुरन्त विना परिश्रम के अत्यन्त सरलता से हो जायगी। परन्तु, भेंट पूरे तौर पर हो नहीं सकी, इसी वात का वर्णन राधा अपनी स्नेहमयी सखी से बड़े ही विषण्ण शब्दों में कर रही है—हे सखी, मैं अपनी दशा तुमसे क्या कहूँ? अनेक पुण्यों के प्रभाव से उस जैसा वन्धु प्रिय मुझे मिला है। इस तरह की घनघोर अँधेरी रात में, जब मेघ की घटा चारों ओर छाई हुई है, वह कैसे आया? उसके आने पर हाय! मैं उसका उचित स्वागत नहीं कर सकी। आँगन के कोने में खड़ा हुआ मेरा वन्धु भींग रहा था; उसे देख मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा था। वात यह थी कि गुरुजनों से भरे हुए घर में मुझे स्वतन्त्रता कहाँ? घर से निकली मैं देर से। श्रीकृष्ण की प्रीति और आर्त्ति (पीड़ा) को देखकर चित्त करता है कि कलंक का टीका मैं मस्तक पर रख लूँ और इस घर में आग लगा दूँ। मेरा बन्धु ऐसा विलक्षण प्रेमी है कि वह अपने दुःख को तो सुख ही मानता है और मेरे ही दुःख से वह दुःखी होता है। चण्डीदास कहते हैं कि श्रीकृष्ण के इस आदर्श प्रीति से संसार सुखी हो रहा है। देखिए, इस पद में कृष्ण के स्वागत न करने पर राधा की विकलता गुरुजनों के समक्ष मर्यादा का निर्वाह तथा कृष्ण की आदर्श प्रीति दोनों कितने सरस शब्दों में अभिव्यक्त किये गये हैं—

सइ, कि आर बलिव तोरे
अनेक पुण्येर फले से हेन बन्धुआ मिलायल मोरे॥
ए घोर यामिनी मेघेर घटा केमन आइले बाटे।
आँगिनार कोणे बन्धुआ तितिछे देखिया पराण फाटे॥
गुरु जनार घर नहे स्वतन्तर बिलम्बे बाहिर हनु।
आहा आहा मरि मरि संकेत करिया कत ना यातना दिनु॥
बंधुर पीरिति आरति देखिया हेन मोर मनें करे।
कलङ्कैर डाला माथाय करिया अनल भेजाब घरे॥
बंधु आपनार दुख सुख करि माने, आमार दुखेर दुखी।
'चंडिदासे' कहे बँधुर पीरीति जगत हइल सुखी॥

चण्डीदास राधाकृष्ण के परस्पर प्रेम को देखकर उसे उदात्ततम रूप में चित्रित करते हैं। वे कहते हैं कि ऐसी प्रीति तो इस जगत् में कभी नहीं देखी है। दोनों के प्राण अपने-ही-आप एक दूसरे से बँध गये हैं। इस बँधने का रूप तो देखिए। दोनों एक दूसरे को गोदी में लिये हुए हैं। पूरे संयोग की सामग्री है, परन्तु दोनों रो रहे हैं। क्यों? अभी थोड़ी देर में दोनों का विच्छेद हो जायेगा; इसी की भावना से आधे क्षण के लिए भी यदि एक दूसरे को न देखे, तो वह मर जाय। धन्य है यह प्रीति और धन्य है यह युगल जोड़ी, जो ऐसी प्रीति का निर्वाह करती है। चण्डीदास ने प्रेम की इस पराकाष्ठा को बड़े ही साफ-सुथरे शब्दों में थोड़े में ही चित्रित किया है—

एमन पिरीति कभु देखि नाइ शुनि
पराणे पराणे बाँधा आपनि आपनि
दुहुँ कोड़े दुहुँ काँदे विच्छेद भाविया
तिल आध न देखिले याय से मरिया।

ऐसे मधुर वातावरण में व्रजनन्दन के संग में राधा के दिन आनन्द से बीतने लगे—कदम्बों की शीतल छाया में और श्याम तमाल से आच्छादित कालिंदी के पुलिन पर; परन्तु दुर्दैव से इस रसिक-युगल का यह सौभाग्य देखा न जा सका। नाम से तो अक्रूर (सौम्य), परन्तु कार्य से नितान्त क्रूर कंस के वे धावन आये व्रजनन्दन को मथुरापुरी ले जाने के लिए। सखियों ने इस दुःसमाचार की सूचना राधा को ही दी। राधा ने उन सखियों को फटकारकर कहा कि ऐसा तो हो ही नहीं सकता। भला, वह वन्धु कभी मधुपुरी जा सकेगा? नहीं, कभी नहीं। क्या स्वतन्त्र थोड़े ही है जाने-आने में? वह तो मेरे हृदय में निवास करता है। यदि कोई व्यक्ति मेरी छाती को चीरकर उसे बाहर कर दे, तभी तो श्याम मधुपुरी को जा सकेगा—

ए बुक चिरिया जबे बाहिर करिया दिब
तबे त श्याम मधुपुरे याबे॥

कितनी ओजोमयी है यह वाणी। राधा को अपने वन्धु के निश्छल प्रेम तथा सन्तत सान्निध्य पर कितना विश्वास है। कोई उन्हें राधा से छीनकर कहीं वृन्दावन से बाहर कभी ले जा सकता है क्या? नहीं, कभी नहीं। इसीलिए तो शास्त्र का वचन है—**वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।** दोनों का नित्य निरन्तर संयोग प्रकट लीला में विच्छेद अवश्य दीखता है, परन्तु अप्रकट लीला में विच्छेद का आभास नहीं!!!

प्रकट लीला में कृष्ण को देव-कार्य करने के लिए मथुरा जाना ही पड़ा। राधा को इससे बड़ी विकलता हुई। वह राधा, जो प्रेम के आनन्द से गद्गद होकर अपना जीवन व्यतीत कर रही थी, हठात् विच्छेद के दुःख-सागर में अपने को डूबती हुई पा रही है। वह सोचती है कि श्याम की प्रीति मेरे लिए वास्तव नहीं थी क्या? वेदना से चीत्कार करता उसका हृदय फट पड़ता है और वह कहती है कि श्याम की प्रीति तो शंख-वणिक् (शंखों की चूड़ियाँ बनानेवाला बंगाली बनिया) के आरे के समान है, जिससे वह चूड़ियाँ

बनाता है। वह आरा आते भी काटता है और जाते भी काटता है। इसी प्रकार कृष्ण की प्रीति न याद की जा सकती है, न भुलाई ही जा सकती है। वह तो दोनों दशाओं में मेरे हृदय को काटती जाती है। उसका स्मरण भी विषम और विस्मरण विषम। यह विलक्षण विरोधाभास है और है यह यथार्थ ही। यदि श्याम की प्रीति स्मरण करती हूँ, तो वह विषम प्रतीत होती है। यदि भुलाती हूँ, तो प्राण फटा जाता है—

श्यामेर पिरीत स्मरित विषम भुलिते परान फाटे।
शाँखबणिकेर करात[1] येमति, आसिते जाइते काटे॥

इस विरह-दुःख से दुःखित होकर वह अपनी सखी से पूछती है—हे सखि, कौन कहता है कि प्रीति अच्छी चीज है। हँसते-हँसते प्रीति की थी, परन्तु अब रोते-रोते जीवन बीत रहा है। कुछ मर्यादा को मानती हुई जो कुलवन्ती कुल में रहकर प्रीति करती है, वह तो कलप-कलप कर मरती है, जैसे भूसे की आग में जलनेवाले जीव। मैं अभागिनी हूँ, दुःखी हूँ। फिर भी, मेरे नेत्र प्रेम के जल से प्लावित हो रहे हैं। मेरी जो गति हुई है, उससे तो जीवन में जीवित रहने में भी मुझे संशय जान पड़ता है। विरह की वेदना से व्याकुल निष्कपट नारी के हृदय का यह उद्गार कितना मर्मस्पर्शी तथा प्रभावशाली है—

सइ, के बले पीरिति भाल।
हासिते हासिते पीरिति करिया
काँदिते काँदिते जनम गेल।
कुलवती हइआ कुले दाँड़ाञा
ये धनी पीरिति करे
तुषेर अनल येन साजाइया
एमति पुड़िया मरे।
हाम अभागिनी दुखेर दुखिनी
प्रेम छलछल आँखि
'चंडिदास' कहे ये गति हइल
पराने संशय देखि॥

इस प्रसंग में ऊपर पद में 'तुषानल की आग में जलने' की उपमा बड़ी मार्मिक है। अनेक संस्कृत तथा भाषा के कवियों ने इसे अपनी कविता में प्रयुक्त किया है। भूसे की

१. शाँखबणिक=शंखवणिक्। करात=करपत्र=आरा। आज भी यह सत्य है। काशी में यह दृश्य देखा जा सकता है और इस उक्ति की स्वाभाविक सुन्दरता आँकी जा सकती है। क्रकच से काटने की उपमा का प्रयोग। भवभूति ने भी उत्तररामचरित में किया है—निकृन्तन् मर्माणि क्रकच इव (४।३)
इसका स्वारस्य यह है कि आरा लकड़ी के मर्मस्थल को विदीर्ण करने में समर्थ होता है। जो किसी भी दूसरे औजार से नहीं होता। भवभूति ने इसी विशिष्टता को लक्ष्य कर ऊपर श्लोक में इसका प्रयोग किया है।—ले०

आग बड़ी तीखी होती है; वह तुरन्त राख नहीं बना डालती, बल्कि उस चीज को वह घुला-घुलाकर मारती है। यदि आग किसी के तेलसिक्त शरीर में लग जाय, तो उसे भस्म कर देने में कितनी देर लगती है। यह तो मिनटों का खेल होता है। परन्तु, भूसे की आग में यह बात कहाँ? उसमें दो गुण पाये जाते हैं—एक तो धीमे-धीमे सुलगना और दूसरा कड़ी आँच देना। इन दोनों गुणों के कारण इसमें पड़ने पर प्राणी को महती वेदना होती है। इसी भाव-सौन्दर्य की अभिव्यंजना के लिए इस उपमा का प्रयोग किया जाता है। मेरी दृष्टि में संस्कृत के महान् भावप्रवण कवि भवभूति ने इसका प्रथम प्रयोग उत्तररामचरित में किया है। लोकगीतों में भी इसका सुन्दर प्रयोग हम पाते हैं। इस उपमा के प्रयोग से राधा की अतीव तीव्र वेदना की अभिव्यंजना बड़ी सुन्दरता से की गई है। भवभूति के इस श्लोक के वक्ता स्वयं श्रीरामचन्द्र हैं। वे कहते हैं—प्रियजन के प्रवास में रहने के समय बहुत समय तक बारम्बार चिन्ता करके कल्पना से रचना कर सामने स्थापित किये गये की तरह होकर प्रियजन सान्त्वना नहीं देता है, यह बात नहीं है, अर्थात् सान्त्वना देता ही है। परन्तु, पत्नी के लोकान्तरित होने पर संसार बीहड़ जंगल के समान प्रतीत होता है और उसके अनन्तर हृदय तुषानल (भूसे की आग) की राशि में स्वयं दग्ध हो जाता है—

कुशूलानामग्नौ तदनु हृदयं पच्यत इव
चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः ।
प्रवासे चाश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः
जगत् जीर्णारण्यं भवति च कलत्रे ह्युपरते ॥

—उत्तररामचरित, ६।३८

राधा विलास की मूर्त्ति न होकर भक्ति की मूर्त्ति है। उसके हृदय में कृष्णविषयक रति का अखण्ड सागर लहरें मार रहा है। उसके समस्त व्यापार का एक ही प्रयोजन है—कृष्ण के चित्त का अनुरंजन। जिस उपाय से हो सके, इसी उद्देश्य से उसके समग्र व्यापार परिचालित होते हैं। वह अपनी सखी को कृष्ण के पास लाने के लिए भेज रही है और उससे सरल भाव में कहती है—मन की जितनी भावनाएँ थीं, जिन्हें मैं जागते तथा सोते सोचती रहती थी, उन सबको ब्रह्मा ने व्यर्थ कर डाला। आखिर, हम अबला ठहरीं। हम में इतनी शक्ति कहाँ कि हम बन्धु के विरह को सह सकें। विरह की आग हृदय में द्विगुणित होकर जल रही है। वह हमारी जैसी अबला के लिए नितान्त असह्य है। हे सखि! उस कान्ता के मन को स्वयं परखना और ऐसा उपाय करना कि अवश्य वह आ जाय। हमारे हृदय की यही अभिलाषा है। यह प्रार्थना राधा की तीव्र अभिलाषा का पर्याप्त सूचक है—

सखि कहबि कानुर पाय ।
से सुखसायग दैवे सुखायल तियासे परान जाय ।
सखि धरिबि कानुर कर ।
आपन बोलिया बोल ना तेजबि मागिया लइबि वर ।

सखि जतेक मनेर साध शयने स्वपने करितु भावने
विहि से करल बाद सखि, हाम से अबला हाय
विरह आगुन हृदये द्विगुन सहन नाहिक जाय
सखि, बुझिया कानुर मन
येमने करिले आइसे से जने द्विज चंडीदास भन ॥

राधा के जीवन में कृष्ण के प्रति समर्पण का भाव सबसे अधिक है। उसके जीवन में एक ही भावना है—वह है कृष्ण के प्रति मधुर भावना। कृष्ण को छोड़कर उसके लिए इस विश्व-भर में कोई भी प्रिय नहीं है। ऐसी अनन्यता तो शायद ही अन्यत्र कहीं देखी जाती है, जितनी दिखलाई पड़ती है चंडीदास की राधा में। वह प्रार्थना करती है कि हे वन्धु, मेरे जीवन-मरण में तुम्हीं हमारे साथी हो और जन्म-जन्मान्तर में तुम्हीं मेरा पति होना—

जीवने मरणे जनमे जनमे प्राणनाथ हैओ तुमि ।

कृष्ण के प्रति राधा की कितनी भक्ति है, कितना दृढ अनुराग है! वह कहती है कि तुम्हारे चरणों में मेरा हृदय प्रेम की रस्सी से वँध गया है। तुम्हें मैंने अपना सर्वस्व-समर्पण कर दिया है। अव मैं एकान्त मन से तुम्हारी दासी वन गई हूँ—

तोमार चरणे आमार पराणे
(वाँधिल प्रेमेर फाँसि)
सब समर्पिया एक मन हैया
निश्चय हइलाम दासी ।

राधा की अनन्यता आगे वढ़ती है, जव वह कहती है कि मैंने सोच-समझकर देख लिया है कि इन तीनों भुवनों में मेरा और कोई नहीं है। 'राधा' कहकर प्रेम से पुकारने-वाला भी कोई नहीं है। मैं खड़ी ही किसके पास हूँगी—

भाविया देखिलाम ए तिन भुवने
आर के आमार आहे ।
'राधा' बलि केह सुधाइते नाइ
दाँड़ाव काहार काछे ॥

अपने पूर्वोक्त कथन की व्याख्या में राधा कहती है—गोकुल में इस कुल में या उस कुल में—पतिकुल में या मातृकुल में किसे मैं अपना कहूँ? मैंने तुम्हारे इन दोनों चरण-कमलों को शीतल समझकर उनकी शरण ली है। वस, मेरा यही सर्वस्व है। कितनी स्वच्छ तथा भावमयी उक्ति है यह—

एकुले ओकुले दुकुले गोकुले
आपना बोलिबो काय ।
शीतल वलिया शरण लइलाम
ओ दुटी कोमल पाय ॥

वह एक क्षण के लिए भी कृष्ण के वियोग को सह नहीं सकती। कहती है कि यदि

अन्तिम निमिष तक भी मैं तुम्हें नहीं देखूँगी, तो मेरा प्राण ध्वस्त हो जायेगा। वन्धु, तुम मेरे स्पर्शमणि हो। तुम्हारा सान्निध्य सदा रखने के लिए उसे मैं अपने गले में पहनती हूँ—

आखिर निमिखे यदि नाहि देखि,
तब से पराणे मरि।
चंडिदाल कय परशरतन
गलाय गाँथिया परि ॥

राधा की तीव्र व्यथा को देखकर चण्डीदास की अन्तरात्मा वेदना से फटी पड़ती है और वह कहते हैं—अपने मन की वेदना को प्रकट करने से तो प्राण फट रहा है। भला, यह कहाँ का न्याय है कि सोने की मूर्ति (अर्थात् राधा) तो धूल में पड़ी हुई दिन काट रही है और यह कुब्जा (जिसमें शारीरिक भी सौन्दर्य नहीं है, मानसिक की तो कथा ही न्यारी है!!!) खटिया पर बैठकर आनन्द में मग्न है। इससे अधिक अन्याय हो ही क्या सकता है? कुब्जा का पलंग पर पौढ़ना और राधा का धूल में पड़ा रहना कवि के हृदय में अन्याय तथा वैषम्य का महान् दृष्टान्त है—

चण्डीदास भने मनेर वेदने
कहिते परान फाटे तोमार।
सोनार प्रतिमा धूलाय गड़ागड़ि
कुबुजा वसिल खाटे ॥

श्रीराधा कृष्णगतप्राणा है। कृष्ण को छोड़कर उसका पृथक् अस्तित्व ही नहीं है। वह तो कृष्ण को कुल-शील, जाति, मान-मर्यादा का एकमात्र स्वामी मानती है। यहाँतक कि यदि कृष्ण के सम्बन्ध में उसे कलंक लग रहा है, तो उसे गला में पहनने में वह सुख का अनुभव कर रही है—

तोमार लागिया कलंकेर हार
गलाय परिते सुख।

वह तो यहाँतक कहती है कि मैं सती हूँ या असती हूँ, साध्वी हूँ या दुराचारिणी हूँ, यह बात तुमसे छिपी नहीं है। मैं स्वयं अच्छा-बुरा कुछ भी नहीं जानती हूँ। मैंने जो भी पाप-पुण्य किया है, वह सब मैं तुम्हारे चरणों में अर्पण कर रही हूँ। इससे बढ़कर आत्मसमर्पण की उक्ति क्या हो सकती है?

सती वा असती तोमाते विदित
भाल मन्द नाहि जानि।
कहे चंडिदास पाप पुण्य मम
तोमार चरण खानि ॥

विद्यापति तथा चण्डीदास के द्वारा चित्रित 'राधा' के स्वरूप तथा मानस का संक्षिप्त परिचय अवतक प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुशीलन से दोनों का सूक्ष्म पार्थक्य लक्षित हो सकता है। विद्यापति की राधा विलासमयी है। उसका यौवन अब भी खिल रहा है।

वह नवस्फुटितयौवना है। आरम्भ में उसमें वासना का विशेष विलास परिलक्षित होता है तथा चंचलता उसकी सहगामिनी-सी प्रतीत होती है, परन्तु धीरे-धीरे वह चाञ्चल्य गाम्भीर्य में परिणत हो जाता है और राधा श्रीकृष्ण के सुख में तथा दुःख में दुःखी बनकर पूर्ण सहानुभूतिमयी दीखने लगती है। राजदरबार में आदृत कवि विद्यापति की वाणी में आरम्भ में भौतिक चाकचिक्य तथा भौतिक जीवन के सुख-सौख्य की ओर गाढ़ अनुरक्ति है, परन्तु ज्यों-ज्यों वह वार्धक्य की ओर बढ़ते हैं, उनकी कविता में चंचलता के स्थान पर गम्भीरता का, वासना के स्थान पर प्रेम का, भौतिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता का दर्शन होने लगता है और राधा के चित्रण में भी यह वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होता है। इसके विपरीत है चण्डीदास की राधा। वह बंगाली मानस की उपज है। फलतः, ठेठ बंगाली कवि की मनोनिर्मित तथा अन्तर्निर्धारित प्रेम-प्रतिमा है। गौडीय लोक-समाज में प्रतिष्ठित प्रेम तथा सौन्दर्य की पूर्ण भावना को प्रकट करने के लिए ही यह राधा आदर्श नारी के रूप में गढ़ी गई है। उसमें गम्भीरता है, चंचलता नहीं; प्रियतम व्रजनन्दन के सुख के लिए व्याकुलता है, अपनी कोई भी चिन्ता नहीं, वह कृष्ण-गतप्राणा है—जीती है कृष्ण के लिए और मरती है कृष्ण के लिए। उसमें आत्म-संभोग के स्थान पर आत्मसमर्पण की ही भावना सर्वातिशायिनी है। वह नित-नूतन प्रेम-मयी है। ऐसे सरल हृदयवाली, विशुद्ध प्रेममयी, भोलेपन की जीवित प्रतिमा तथा अनुराग की भव्य मूर्त्ति राधा को गढ़कर चण्डीदास सर्वदा के लिए अमर हो गये हैं। यदि कहा जाय कि विद्यापति की राधा कलाकृति है और चण्डीदास की राधा रसकृति है, तो अनुचित न होगा। यह अन्तर दोनों के रूप-वैशिष्ट्य के कारण प्रतीत होता है। "चण्डीदास स्वर्ग के पक्षी हैं, जहाँ पार्थिव सौन्दर्य तो कम है, परन्तु स्वर्ग की शीतलता अधिक। पर, विद्यापति दिन-भर पृथ्वी के निकट सुन्दर-सुन्दर स्थानों पर मँड़राते और साँझ को ऊपर उठकर अपने साथी को छू लेते हैं।" राधा का चित्रणगत वैभिन्न्य भी इसी कारण है।

रवि बाबू ने इस विषय में अपनी सम्मति इन शब्दों में प्रकट की है—"विद्यापति की राधिका में प्रेम की अपेक्षा विलास अधिक है; इसमें गम्भीरता का अटल स्थैर्य नहीं है; है केवल नवानुराग की उद्भ्रान्त लीला तथा चाञ्चल्य। विद्यापति की राधा नवीना है, नवस्फुटा है। हृदय की सारी नवीन वासनाएँ पंख फैलाकर उड़ना चाहती हैं, परन्तु अभी मार्ग का बोध नहीं। कुतूहल और अनभिज्ञतावश वे जरा अग्रसर होती हैं, फिर सिकुड़े आँचल की ओट में अपने एकान्त कोमल घोंसलों में लौट आती हैं। कुछ व्याकुलता भी है; कुछ आशा-निराशा का आन्दोलन भी है; किन्तु चंडीदास की राधा में जैसे 'नयन चकोर मोर जिते करै उतरोल' भाव नहीं है। कुछ-कुछ उतावलापन अवश्य है। नवीना का नया प्रेम जिस प्रकार मुग्ध, मिश्रित, विचित्र और कुतूहलपूर्ण हुआ करता है, उससे इसमें कुछ भी कमी नहीं है। चंडीदास गम्भीर और व्याकुल हैं, विद्यापति नवीन और मधुर। दीनेश बाबू कहते हैं—"विद्यापति-वर्णित राधिका कई चित्रपटों की समष्टि है। जयदेव की राधा के समान इसमें शरीर का भाग अधिक है, हृदय का कम। परन्तु, विरह में पहुँचकर

कवि ने भक्ति और विरह का गान गाया है । उसके प्रेम में बँधी हुई विलास-कलामयी राधा का चित्रपट सहसा सजीव हो उठता है। विद्यापति की राधिका वड़ी सरल, बड़ी अनभिज्ञा है। चण्डीदास की राधा प्रथम ही उन्मादिनी वेश में आती है; प्रेम के मलय समीर में उसका विकास हुआ है। इसके बाद प्रेम की विह्वलता, कितना कातर अश्रुपात, कितना दुःख-निवेदन, कितनी कातरोक्ति। प्रेम के दुःख का परिशोध है अभिमान, किन्तु यह तो केवल आत्मवञ्चना है। चण्डीदास की राधा में मान करने की क्षमता भी नहीं है। दसों इन्द्रियाँ तो मुग्ध हैं, मन मान करे तो कैसे? यह अपूर्व तन्मयता है।"[1]

बँगला-पदों में राधा

यह तो है चैतन्यपूर्व दो महनीय साधकों तथा कवियों की तूलिका द्वारा चित्रित राधा की भव्य प्रतिमा। अब चैतन्योत्तर काल में आविर्भूत राधा-मूर्त्ति का अवलोकन नितान्त अवसर-प्राप्त है। चैतन्य के भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव से वंगभाषा में एक विशाल मधुर साहित्य उत्पन्न हुआ, जिसे हम 'पदावली-साहित्य' के नाम से अभिहित करते हैं। कतिपय पदों की भाषा विशुद्ध वँगला है, परन्तु अधिकतर पदों की भाषा एक मिश्रित, वोली है, जो 'व्रजवुली' के नाम से आलोचकों में प्रसिद्ध है। 'व्रजवुली' एक संकीर्ण बोली है; परन्तु किन भाषाओं का मिश्रण इसमें उपस्थित होता है, इस विषय में विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है। कुछ विद्वान् इसमें मैथिली तथा वँगला का मिश्रण स्वीकार करते हैं। परन्तु, मेरी सम्मति में यह व्रजभाषा ही है, जो वंगाली वैष्णवों के मुख में अर्धविकृत होकर प्रकट होती है। मध्ययुग में वृन्दावन ही समस्त उत्तरी भारत की कृष्ण-भक्ति का प्रधान गढ़ था, जहाँ विभिन्न वैष्णव-सम्प्रदायों के आचार्य निवासकर सात्त्विक जीवन विताने के अतिरिक्त मनोरम कृष्ण-काव्यों के प्रणयन में भी संलग्न थे। व्रजभाषा ही मध्ययुगीन समस्त वैष्णव-कविताओं की भाषा है। वृन्दावन में रहने से वँगाली वैष्णवों की कविता भी उस मूल भाषा का आश्रय लेकर लिखी गई; इसमें आश्चर्य ही क्या है? वृन्दावन है व्रजनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की लीलाभूमि। फलतः, व्रजभाषा ही कृष्णचन्द्र की लीलाओं की वर्णमय विग्रह प्रस्तुत करने के लिए उपयुक्त माध्यम मानी जाने लगी। हिन्दी-कवियों के कृष्ण-काव्यों में विशुद्ध व्रजभाषा के दर्शन हमें मिलते हैं तथा वंगीय पदकारों की कविता में भी वही भाषा दृष्टिगोचर होती है, परन्तु स्थिति-भिन्नता के कारण किञ्चिन्मात्र विकृत रूप में। फलतः, व्रजवुली को व्रजभाषा की 'विभाषा' मानना ही भाषा शास्त्रीय दृष्टि से समीचीन मत है।

वँगला-पदों का सबसे बड़ा संग्रह 'पदकल्पतरु' है, जिसमें तीन हजार से ऊपर पदों का संकलन बड़ी ही सुव्यवस्था के साथ किया गया है। संग्रहकर्त्ता के साहित्य-ज्ञान का परिचय समग्र ग्रन्थ में मिलता है। इसके रचयिता वैष्णवदास हैं, जो स्वयं अनेक पदों के कर्त्ता थे। इसके पदों की संख्या ३१०३ (तीन हजार एक सौ तीन) है, जिनके रचयिता प्रायः १५०

---

१. सूर-साहित्य, पृ० १०१ पर उद्धृत (द्वितीय सं०, १९५६, बम्बई)।

कविजन हैं।[1] पदकल्पतरु चार शाखाओं में विभक्त है, जिनमें अनेक अवान्तर विभाग हैं, जो 'पल्लव' नाम से अभिहित किये गये हैं। पदावली का यह संकलन रसशास्त्र के अभीष्ट विषय-विभाजन पर आश्रित होकर प्रस्तुत किया गया है। इसकी पूर्वपीठिका है श्रीरूपगोस्वामी-विरचित उज्ज्वलनीलमणि नामक भक्तिशास्त्रीय अनुपम ग्रन्थ। संयोग तथा वियोग दोनों प्रकार के शृंगार रस को मानकर विषय का विभाजन किया गया है। राधा-कृष्ण की अन्य लीलाओं का वर्णन तो स्वल्प है, उनकी शृंगारिक लीलाओं का ही यहाँ साम्राज्य है।

वर्ण्य विषय

संभोगशृंगार चार प्रकार का माना जाता है—**संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पन्न** तथा **समृद्धिमान्**। विप्रलम्भ शृंगार के भी चार भेद होते हैं—पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्त्य तथा प्रवास। इनके संक्षिप्त परिचय से पदों की विशिष्टता का ज्ञान भली भाँति चलता है। **पूर्वराग** से अभिप्राय राधा-कृष्ण के मन में प्रेम के उदय से है, जो कभी चित्रपट के दर्शन से और कभी नायक के स्वप्न में रूप-दर्शन से उत्पन्न होता है। मान से अभिप्राय वह भाव है, जो दम्पति के एकत्र विद्यमान रहने पर भी अभीष्ट आलिंगन, अवेक्षण आदि को रोकता है, एक साथ सान्निध्य होने पर भी जहाँ कारणवश (सहेतुक) तथा विना किसी कारण के (निर्हेतुक) राधा और कृष्ण का परस्पर-मिलन, निरीक्षण आदि व्यापार संचारित नहीं होते, वहाँ **मान** की स्थिति रहती है। **प्रेमवैचित्त्य** प्रेम की वह दशा है, जहाँ मिलन होने पर भी भावी विरह की भावना से चित्त में विषण्णता विद्यमान रहती है। यह अनुराग-दशा तीन प्रकार की होती है—(क) रूपानुराग (=प्रेम के रूप में अनुराग); (ख) आक्षेपानुराग (=अनुराग के कारण दोष देना कृष्ण को, मुरली को, दूती को या अपने-आप को); (ग) रसोद्गार (पूर्व की गई क्रीडाओं और आनन्द की स्मृतियाँ)। **प्रवास** का अर्थ स्पष्ट है। यह दो प्रकार का होता है—**अदूर प्रवास** (जैसे क्षणिक प्रवास में) गोचारण में, कालियदमन में और रास में अन्तर्धान के समय); **दूर प्रवास** (दूर परदेश जाने में)। कृष्ण की मधुर लीला का प्रसंग इसी प्रवास के अन्तर्गत किया गया है।

संभोग के चारों प्रकारों में पहिला है **संक्षिप्त संभोग**। यह पूर्वराग के अनन्तर नायक तथा नायिकायों में अल्पकाल के लिए होता है। लज्जा के आधिक्य के कारण यह मिलन अल्पकालिक होता है। **संकीर्ण संभोग** मान के अनन्तर होता है, जिसमें मान के कारण उद्भूत दुःख की स्मृति अवशेष रहती है और इसीलिए पूर्ण आनन्द उत्पन्न नहीं होता। इसकी उपमा तपाये गये ऊख के रस से दी गई है, जिसमें माधुर्य के साथ औष्ण्य (उष्णता) की भी स्थिति एक ही स्थान पर होती है।[2] इसके अवसर और स्थान जल-

---

१. **इस ग्रंथ का प्रकाशन वंगीय साहित्य-परिषद् ने चार खण्डों में किया है। इसके सम्पादक श्रीसतीशचन्द्र राय ने इसे बड़े परिश्रम से सम्पादित किया है तथा अन्तिम खण्ड (पञ्चम) में समस्त पदकारों का जीवनवृत्त बड़े अनुशीलन से प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ कलकत्ता, से सन् १३३८ साल में प्रकाशित हुआ था।**

२. **यत्र सङ्कीर्यमाणाः स्युर्व्यलीकस्मरणादिभिः।**
उपचाराः स सङ्कीर्णः किञ्चित् तप्तेक्षुपेशलः॥ —उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५७२।

क्रीडा, रास, कुंज, नौका-विहार आदि हैं। तृतीय प्रकार है—**सम्पन्न सम्भोग**, जो प्रवास से लौटने पर सम्पन्न होता है। इसमें आगति तथा प्रादुर्भाव दो अवान्तर विभेद किये गये हैं। **समृद्धिमान् सम्भोग** की अन्तिम तथा पूर्ण दशा होती है। वियुक्त होनेवाले नायक-नायिका, जिनका दर्शन परतन्त्रता के कारण दुर्लभ होता है यदि आपस में मिलते हैं। तो उस समय का उपभोग का अतिरेक 'समृद्धिमान्' नाम से पुकारा जाता है।

पदावली-साहित्य की यही शास्त्रीय पृष्ठभूमिका है, जिसका अपरिचय पदों के वास्तविक स्वारस्य के समझने में बड़ा व्याघातक होता है। इस प्रकार, राधाकृष्ण की प्रेमलीला को लेकर यह विस्तृत साहित्य-सर्जना की गई है। आठों प्रकार की नायिकाओं—अभिसारिका, वासक-सज्जा, खण्डिता आदि का ग्रहण भी वहाँ यथेष्ट मात्रा में है, जिसका प्रथम संकेत 'गीतगोविन्द' में जयदेव ने किया है। फलतः, पदों की सृष्टि रसशास्त्रीय पद्धति पर जाने-अनजाने की गई है; इसे मानने से हम पराङ्मुख नहीं हो सकते। पदकारों में दो मुख्य माने जाते हैं—गोविन्द-दास तथा ज्ञानदास। **गोविन्ददास कविराज** (१५३० ई०—१६१३ ई० के आसपास) बड़े ही प्रतिभाशाली कवि थे। इनके पदों की संख्या भी कम नहीं है। पदकल्पतरु में इनके चार सौ साठ (४६०) पद उद्धृत किये गये हैं। इनका विस्तृत वर्णन भक्तमाल, प्रेमविलास आदि ग्रन्थों में मिलता है। इनकी समस्त रचनाएँ केवल व्रजबुली में ही है। **ज्ञानदास** गोविन्ददास के समकालीन पदकार थे। इनकी रचनाएँ बँगला तथा व्रजबुलि दोनों में उपलब्ध हैं। पद-कल्पतरु में इनके १८६ पद मिलते हैं। इनके पचास और पदों का भी संग्रह उपलब्ध है। वर्दवान जिले के उत्तर में स्थित 'काँदड़ा' ग्राम में इनका जन्म सन् १५३० ई० में हुआ था, जहाँ इनकी स्मृति में आज भी वैष्णव-भक्तों का सम्मेलन हुआ करता है। ये दोनों पदकार अपनी अलौकिक प्रतिभा, रसमयी भाषा तथा वर्णन-चातुरी के कारण नितान्त प्रसिद्ध हैं। कलापक्ष के साथ हृदयपक्ष का समन्वय इनकी महती विशिष्टता है। इनके अतिरिक्त वलरामदास, अनन्तदास, पुरुषोत्तमदास, जगन्नाथदास आदि पदकारों के सुन्दर तथा हृदयावर्जक पद उपलब्ध होते हैं।

ज्ञानदास

ज्ञानदास की राधा कहती है कि हे सखी, बन्धु का प्रेम भी कैसा अनोखा होता है। जिस तरह दरिद्र को सोना मिल जाने पर उसकी आँख दिन-रात उसी पर लगी रहती है, उसी तरह वन्धु से दृष्टि हटाते ही हृदय में बेचैनी आ जाती है। हृदय से हृदय मिलाने के लिए वह अंगों में चन्दन नहीं लगाती, जिससे चन्दन दोनों प्रेमियों के बीच में व्यवधान न उत्पन्न कर सके। शरीर की छाया के समान वह सदा पीछे लगी रहती है। क्षण-भर में कितनी बार मुँह ताककर अंचल से शरीर का पसीना पोंछती है। जागते, सोते उसे कभी दूसरी बात सूझती ही नहीं। वह सदा नाम के ही रस में लीन रहती है। ज्ञानदास कहते हैं—क्या संसार में ऐसी प्रीति और भी कहीं देखने में आई है—

> सइ किबा से बंधुर प्रेम।
> आखि पालटिते थिर नाहि माने येन दरिद्रेर हेम ॥
> हियाय हियाय लागियो बलिया चन्दन ना माखे अंगे ।
> गायेर छाया हाइ एर दोसर सवाइ फिरये संगे ॥

तिले कत बेरि मुख नेहारिया आँचर मोछये घाम ।
कोरे थाकिते कत दूरे हेन मानये तेञि सदाइ लय नाम ।।
जागिते घुमाइते आन नाहि चित्ते रसेर पसार काछे ।
'ज्ञानदास' कहे एमन पीरिति आर कि जगते आछे ।।

राधा ने कृष्ण को अपने प्रेम से वशीभूत कर लिया है—इतना प्रभाव डाल दिया है कि कृष्ण की चित्तवृत्ति सर्वदा राधामयी बन गई है। राधा इस परिवर्त्तन को बड़े नजदीक से देखती है, समझती है और कहती है—मेरे अंग का रंग पीला है और इसीलिए बन्धु पीला कपड़ा (पीताम्बर) धारण करते हैं। मेरे नाम लेने के लिए ही वह मुरली को प्राणों से भी प्यारी समझते हैं। मेरे अंक की सुगन्धि जिस क्षण जिस दिशा में जाती है, वह उसी क्षण उसी दिशा में दोनों हाथ पसारकर पागल होकर दौड़ते हैं। लाखों सुन्दरियाँ जिसके चरणों की सेवा करने के लिए रात-दिन लालायित रहा करती हैं, उसी श्याम को चतुर गोपी राधा ने अपनी प्रीति के बन्धन में बाँध रखा है—

आमार अंगेर बरण लागिया
पीत वास परे श्याम ।
प्राणेर अधिक करेर मुरली
लइते आमार नाम ।।
आमार अंगेर बरण सौरभ
यखन ये दिगे याय ।
बाहु पसारिया बाउल हइया
तखने से दिग धाय ।।
लाख कामिनी भावे राति दिनि
ये पद सेविते चाय ।
'ज्ञानदास' कहे आहीर नागरी
पीरिते बान्धल ताय ।।

इस पद में राधा का प्रभाव कृष्ण के ऊपर वर्णित है। अब नीचे के पद में उसके उलटे भाव का प्रदर्शन है—कृष्ण का प्रभाव राधा के ऊपर। राधा को पश्चात्ताप हो रहा है कि वह कालिन्दी के किनारे क्यों गई? उस काले रंग के नागर ने मेरे हृदय को छल-कर हर लिया। मेरी आँखें रूप के समुद्र में डूबी रहीं। उसके यौवन के वन में मेरा मन खो गया। घर आते समय रास्ते का ही अन्त नहीं हो रहा है। मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है। चन्द्रमा के समान उसके ललाट में चन्दन में लगी कस्तूरी के बीच मेरे हृदय की पुतली बँधी हुई है। उसकी कटि में पीताम्बर पर करधनी वेष्टित है। जाति, कुल और शील तो सब चला गया। केवल संसार में मेरे कलंक की घोषणा चारों ओर भर गई है। कुलवती सती होकर मैंने दोनों कुलों को दुःख दिया। 'ज्ञानदास' कहते हैं, अपने हृदय को दृढ कर रखो—

आलो मुञि केन गेलुं कालिन्दी कूले ।
चित हरि कालिया नागर निल छले ।।

रूपेर पाथारे आँखि डुबि से रहिल ।
यौवनेर वने मन हाराइया गेल ॥
घरे याइते पथ मोर हैल अफुराण ।
अन्तरे विदरे हिया फुकरे पराण ॥
चन्दन चाँदेर माझे मृगमद धाँधा ।
तार माझे हियार पुतली रैल बाँधा ॥
कटि पीतवसन रशन ताहे जड़ा ।
विधि निरमिल कुल कलंकेर कोड़ाँ ॥
जाति कुल शील सब हेन बुझि गेल ।
भुवन भरिया मोर कलंक घोषणा रहिल ॥
कुलवती सती हैया दुकुले दिलुं दुख ।
'ज्ञानदास' कहे दृढ़ करि बाँध बुक ॥

गोविन्ददास

कवि ने इस पद में पूर्वराग से विधुरा राधा का एक सुन्दर चित्र खींचा है और दिखलाया है कि राधा जितना ही अपने भावों का गोपन करना चाहती है, उतना ही वे बाहरी चिह्नों के द्वारा प्रकट हो रहे हैं—

निशसि नेहारसि फुटल कदम्ब
करतले सघन वयन अवलम्ब ।
खेने तनु मोड़सि करि कत भंग
अविरल पुलक मुकुले भरु अंग ।
× ×
भाव कि गोपसि गोपत ना रहइ
मरमक बेदन वदन सब कहइ ।
यतने निगरसि नयनक लोर
गदगद शबदे कहसि आध बोल ।
आन छले अंगन आन छले पन्थ
सघने गतागति करसि एकन्त ।
दूरे रहु गौरव गुरु जन लाज
'गोविन्ददास' कह पड़ल अकाज ॥

इसी भाव को वलरामदास ने अपने एक सुन्दर पद में बाँधा है। कृष्ण का अनुराग होने पर राधा की चित्तवृत्ति में महान् परिवर्त्तन हो गया है। उसको वह गुरुजन की लाज से सखियों के सामने छिपाना चाहती है, परन्तु शारीरिक विकास उसे छिपाने में समर्थ नहीं होते—

शुनइते कानहि आनहि शुनत
बुझइते बूझइ आन ।

पुछइते गदगद उत्तर ना निकसइ
कहइते सजल नयान ।।
सखि हे कि भेल ए वरनारी ।
करहुँ कपोल थकित रहु झामरि
जनु धनहारि जुआरि ।।
बिछरल हास रभस रस चातुरी
बाउरि ननु भेल गोरि ।
खने खने दीघ निशसि तनु मोड़ई
सघन भरमे भेलि भोरि ।।
कातर कातर नयने नेहारइ
कातर कातर वाणी ।
ना जानिये कोन दुखे दारुन वेदन
झर झरए दुइ नयानि ।।
घन घन नयने नीर भरि आओत
घन घन अधरहिं काँप ।
'बलरामदास' कह जानलु जग माह
प्रेमक विषम सन्ताप ।।

गोविन्ददास ने इस पद में मानवती राधा का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। मान करने पर राधा का पश्चात्ताप बड़े ही स्वाभाविक ढंग से यहाँ वर्णित है। उसका प्रत्युत्तर भी सखी के द्वारा बड़ा ही नैसर्गिक प्रकार से दिया गया है। राधा का वचन—

कुलवति कोई नयनि जनि हेरइ
हेरत पुन जनि कान ।
कानु हेरि जनि प्रेम बाढायइ
प्रेम करइ जनि मान ।।
सजनि अतये मानये निज दोख । (टेक)
मान दगध जिय अव नहि निकसये
कानु सञें कि करब रोख ।।
यो मझु चरण परश रस लालसे
लाख मिनति मुझे केल ।
ताकर दरशन विने तनु जरजर
दरश परश सम भेल ।।
सहचरि मोहे लाख समुझायल
ताहे ना रोपलुं कान ।
'गोविन्ददास' सरस वचनामृते
पुन बाहुडायव कान ।।

इस रोचक पद का तात्पर्य है कि किसी भी कुलवती को परपुरुष की ओर नहीं देखना चाहिए और देखे भी तो कान्हा को और भी न देखे। अगर उसे देखे भी, तो उससे प्रेम न बढ़ावे। अगर प्रेम कर भी ले, तो मान तो कभी न करे। सजनि, मैं कृष्ण के प्रति मान करने में अपना ही दोष समझती हूँ। मान से जले मेरे प्राण अब नहीं निकल रहे हैं। मैं कान्हा के संग में रोष ही क्यों करूँ ? जिसने मेरे चरण के स्पर्श-रस की लालसा से मुझसे लाखों मिन्नतें कीं, उस कान्हा के दर्शन के बिना मेरा शरीर जर्जर हो गया है। स्पर्श के समान उसका दर्शन भी दुर्लभ हो गया अब। मेरी सखी ने मुझे लाखों बार समझाया, परन्तु मैंने उसके प्रति अपना कान ही नहीं दिया। गोविन्ददास कहते हैं कि सरस वचनों की सुधा द्वारा कान्ह को फिर लौटा लावेंगे। राधा ने मान करने पर अपना ही दोष माना। इस वचन के उत्तर में राधा की सखी कहती है—

शुनइते कानु मुरली रव माधुरि
श्रवणे निवारलुँ तोर।
हेरइते रूप नयन युग झाँपलु
तब मोहे रोखलि भोर॥
सुन्दरि तइ खने कहल मो तोय।
भरमहि ता सञे नेह बाढायबि
जनम जोङायबि रोय॥
बिन गुण परखि परक रूप लालसे
काँहे सोंपलि निज देहा।
दिने दिने खोयसि इह रूपलावणि
जिवइते भेल संदेहा॥
यो तुहुँ हृदये प्रेम तरु रोपलि
श्याम जलद रस आशे
सो अब नयन नीर देइ सींचह
कहतहि गोविन्ददासे॥

हे राधे, जब तुम कान्हा की मुरली की मीठी तान सुनने को उत्सुक थी, तब मैंने तुम्हारे कानों को बन्द कर दिया था। उसके रूप को देखने के लिए जब तुम आतुर थी, तब मैंने तुम्हारी दोनों आँखों को मूँद दिया था। तब तुमने मुझपर क्रोध किया था। हे सुन्दरी, उस क्षण मैंने तुमसे कहा था कि भ्रमवश अगर तुम उसके साथ में नेह बढ़ाओगी, तो तुमको रो-रोकर जन्म गँवाना पड़ेगा। तुम अपनी त्रुटि तो नहीं देखती। कृष्ण के गुण की बिना परीक्षा किये ही रूप की लालसा से तुमने अपना शरीर क्यों सौंप दिया ? दिन-दिन तुम अपने रूप के लावण्य को खो रही हो—यहाँतक कि तुम्हारे जीने में अब सन्देह हो रहा है। अगर तुमने अपने हृदय में प्रेम के वृक्ष को रोपा है, इस आशा से कि श्याम घन (कृष्ण) का रस (आनन्द) प्राप्त होगा, तो गोविन्ददास कहते हैं कि उसे अपने नयनों का जल देकर सींचो। कितना स्वाभाविक है यह उपदेश।

विरह में रोना व्यर्थ नहीं जाता, उससे तो हृदय का प्रेम-बिरवा और भी लहलहाता है। आँसुओं के बहाने से प्रेम का पौधा बढ़ता है। अतः, तुम्हारा विषाद भी लाभदायक ही होगा। यह उक्ति-प्रत्युक्ति जितनी मार्मिक है, कितनी स्वाभाविक भी ! यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। इन्हीं सरस उक्तियों के गुम्फन के कारण ही तो पदावली-साहित्य इतना गौरवमय माना जाता है।

राधा श्रीकृष्ण के साथ मिलने जा रही है कि इतने में रात घनघोर अन्धकार से ढक जाती है और मेघ गरजने लगता है। इसपर वह कहती है कि मैं ऐसे दुर्दिन में किस प्रकार आऊँ? सेज बिछाकर मैं राह देखती उत्सुक भाव से बैठी हूँ। हे सखी, बताओ, अब मैं क्या करूँ? इतनी विपत्ति को पार कर मैं नवीन अनुराग से हृदय को भरकर आई हूँ; परन्तु बन्धु के दर्शन के बिना मैं यह रात कैसे बिताऊँगी। यह दमकती बिजली तथा गड़गड़ाता मेघ मेरे हृदय पर आघात कर रहे हैं। खण्डिता राधा के भावों का प्रदर्शनकारी यह पद कितना सुन्दर है—

ए घोर रजनी मेघ गरजिनी केमन आओब पिया।
शेज बिछाइया रहिनु बसिया पथ-पाने निरखिया ॥
सइ, कि करब कह मोर।
एतहुँ विपद तरिया आइनु नव अनुराग भरे।
ए हेन रजनी केमन गो भाव बँधुर दरश बिने ॥
विफल हइल मोर मनोरथ प्राणं करे उचाटने।
दहये दामिनी घन झनझनी पराण माझारे हाने
'ज्ञानदास' कहे शुनह सुन्दरी मिलाब बन्धुर सने ॥

बँगला के इन प्रतिभाशाली भक्तों ने रागात्मक वृत्ति के विविध विधानों का तथा नित्य-नूतन परिवर्त्तनशील विचारों का अनुशीलन तथा अभिव्यंजन जिस प्रकार किया है, उसी प्रकार प्रकृति के रहस्यों के उद्घाटन का भी प्रयास किया है। मनुष्य तथा प्रकृति दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। प्रकृति का विलास मानवीय मन पर पड़ता है और मानव के हर्ष-विषाद की रेखाएँ प्रकृति के रूप को चित्रित किया करती हैं। इन कवियों ने अन्तः प्रकृति के समान बाह्य प्रकृति के रूप-सौन्दर्य का दर्शन अपने खुले नेत्रों से किया था, जिसका चित्रण इनकी कविता में इतनी रोचकता के साथ किया गया है। संगीतात्मक रूप भी कम मनोहारी नहीं है। गोविन्ददास ने इस पद में राधाकृष्ण के रास के समय होनेवाले प्रकृति-विलास का बड़ा ही भव्य तथा हृदयावर्जक वर्णन किया है—

शरद चन्द पवन मन्द
विपिने भरल कुसुमगन्ध
फुल्ल मल्लिका मालती यूथी
मत्त मधुकर भोरणि ॥
हेरत राति एछन भाँति
श्याम मोहन मदने माति

मुरली गान पंचम तान
कुलवति चित चोरणि ॥
शुनत गोपि प्रेम रोपि
मनहिं मनहिं आपन सौंपि
ताँहि चलत याँहि बोलत
मुरलिक कल लोलनि ॥
बिसरि गेह निजहुँ देह
एक नयने काजर रेह
बाहे रंजित कंकण एकु
एकु कुंडल डोलनि ॥
शिथिल छन्द निविक बन्ध
वेगे धाओत युवतिवृन्द
खसत बसन राशन चोलि
गलित वेणि लोलनि ॥
ततहिं वेलि सखिनि मेलि
केहु काहुक पथ ना हेरि
ऐछे मिलल गोकुलचन्द
गोविन्ददास गाओनि ॥

रास के समय मुरली की ध्वनि सुनकर गोपियों की विह्वलता की कितनी सुचारु अभिव्यंजना है इस कोमल पद में। पद का संगीतात्मक रूप खूब निखरा हुआ है।

बलरामदास भी गोविन्ददास के समकालीन पदकर्त्ता हैं। वंगीय पदकारों में यही केवल पदकार हैं, जिन्होंने वात्सल्य रस के पदों की रचना सफलता के साथ की है। अन्य पदकारों ने भी इस विषय में प्रयास किया है अवश्य, परन्तु जितनी सफलता बलरामदास को प्राप्त हुई है, उतनी अन्य किसी को नहीं। गोविन्ददास, ज्ञानदास तथा बलरामदास ये तीनों समसामयिक पदकारत्रयी हैं, जिनके पद में स्वाभाविक मिठास है; मंजुल प्रतिभा का विलास है तथा संगीत की मनोमुग्धकारी माधुरी विद्यमान है। प्रकृति का यह चित्रण कितना मंजुल, तथा हृदयावर्जक है—

मधुर समय रजनि शेष
शोहइ मधुर कानन देश
गगने उयल मधुर मधुर
विधु निरमल काँतिया ॥
मधुर माधवि केलि निकुंज
फुटल मधुर कुसुमपुंज

१. शब्दार्थ—भोरणि=विभोर करनेवाली। माति=मत्त होकर। निबिक बन्ध=नीवी का बन्धन। धाओत=दौड़ती हैं। खसत=गिर पड़ते हैं। गाओनि=गाता है।

गावइ मधुर भ्रमरा भ्रमरि
मधुर मधुहि मातिया ॥
आजु खेलत आनन्दे भोर
मधुर युवति नव किशोर
मधुर वरज रंगिणी मेलि
करत मधुर रभस केलि।
मधुर पवन बहइ मन्द
कुजये कोकिल मधुर छन्द
मधुर रसहि शवद सुभग
नदइ विहँग पाँतिया ॥
रवइ मधुर शारि कीर
पढ़इ ऐछन अमिया गीर
नटइ मधुर मउर मउरि
रटइ मधुर भातिया ॥
मधुर मिलन खेलन हास
मधुर मधुर रस विलास
मदन हेरइ धरणी लुठइ
वेदन फुटइ छातिया ॥
मधुर मधुर चरित रीत
बलराम चिते फुरल नीत
दुहुँक मधुर चरण सेवन
भावने जनम यातिया ॥

वल्लभाचार्य के मधुराष्टक के समान यह पद भी राधाकृष्ण के मधुर मिलन का मधुर वर्णन है। शब्द-माधुर्य पठन-मात्र से तुरन्त अभिव्यक्त हो जाता है।

गोविन्ददास ने एक अन्य पद में राधा के प्रेम-वैचित्त्य का वड़ा ही सुन्दर वर्णन दिया है। राधा कृष्ण के पास बैठी है, परन्तु भावी विरह की वेदना से इतनी विह्वल हो उठती है कि पास में बैठे हुए कृष्ण को वह देख नहीं पाती। प्रेम-वैचित्त्य के भीतर ऐसे ही भावों का समर्थक वर्णन कर अनेक पदकार हमारी स्तुति के पात्र बन गये हैं। गोविन्ददास का पद पढ़िए—

रसवति बैठि रसिकवर पाश।
रोइ कहइ वनि विरह हुताश ॥
आर कि मिलब मोहि रसमय श्याम।
विरह जलधि कत पउरव हाम ॥
निकटहि नाह ना हेरह राह।
सहचरि कत परबोधइ ताइ ॥

कानु चमकि तब राइ करु कोर ।
गोविन्द दास हेरि भेल भोर ॥

इसी प्रकार अष्टविध नायिका के रूप में राधा की मनोदशा के वर्णन करने में भी इन पदकारों ने मनोविज्ञान का बड़ा अद्‌भुत परिचय दिया है।

इन पदों के अनुशीलन से आलोचक पदकारों की कविता का शब्द-सौष्ठव, अर्थ-तारतम्य सरस पद-विन्यास तथा संगीतात्मक छन्द से यत्किंचित् परिचय पाने में समर्थ होता है। ये पद भक्तिरस के शास्त्रीय विवेचन तथा भावों के विविध विस्तार को लक्ष्य में रखकर ही प्रधानता से विरचित हैं; ऐसी प्रतीति होने लगती है। यही गौडीय पदावली-साहित्य की विशिष्टता है। भारतवर्ष के किसी भी अन्य प्रांतीय भाषा के साहित्य में ऐसा सरस, मनोवैज्ञानिक तथा हृदयावर्जक वर्णन वहुलता से प्राप्त होगा, ऐसी आशा दुराशा-मात्र है। इसका मुख्य कारण है कि वंगाली पदकारों ने कृष्ण की अन्य शौर्यसूचक लीलाओं की ओर न जाकर उनकी माधुर्यमयी लीलाओं की ओर अपनी प्रतिभा को प्रसारित किया है।

पूर्वाञ्चलीय साहित्य

(१) उत्कल - साहित्य में राधा

(२) असमिया-साहित्य में राधा

(१) उत्कल-साहित्य में राधा

उत्कल में कृष्ण के साथ राधा की पूर्ण प्रतिष्ठा उपलब्ध होती है—साहित्य में तथा वैष्णव धर्म में। उत्कल देश के प्रधान देवता जगन्नाथजी हैं और इसी प्राधान्य के कारण उस भाषा का साहित्य कृष्ण-भक्ति से आमूल सिक्त है तथा राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं के कीर्तन से सुधाप्लुत है। बौद्धमत का प्रभाव इस देश के धर्म पर प्राचीन काल में अवश्य था, परन्तु वैष्णव धर्म के अभ्युदय तथा महान् उत्थान के साथ उसका या तो ह्रास ही हो गया अथवा (जैसा अनेक विद्वानों की सम्भावना है) वैष्णव धर्म ने ही बौद्ध मान्यताओं को अपनी विशाल उदर-दरी में आत्मसात् कर डाला। चैतन्य महाप्रभु से उत्कल वैष्णव धर्म को प्रसार की प्रेरणा अवश्य मिली, परन्तु यह धर्म उनसे कहीं अधिक प्राचीन तथा पुरातन है। चैतन्य का आगमन पुरी में १६वीं शती के आरम्भ में (१५१० ई० लगभग) माना जाता है, परन्तु इनसे लगभग डेढ़ सौ साल पहिले ही, १४वीं शती के शेष भाग में, **मार्कण्डदास** ने 'केशव कोइलि' नामक भक्तिरसांप्लुत काव्य का प्रणयन किया था, जिसमें श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर यशोदाजी के विलाप का वर्णन बड़े ही कोमल पदों में किया गया है। उत्कल देश में महाप्रभु के दोनों प्रकार के शिष्य थे—रागानुगा भक्ति के उपासक तथा ज्ञानमिश्रा भक्ति के आराधक। राय **रामानन्द राय** रागानुगा भक्ति के प्रमुख उपासक थे, तथा पंच महापुरुष **बलरामदास, जगन्नाथ, यशोवन्त, अनन्त** तथा **अच्युतानन्द** ज्ञानमिश्रा भक्ति के आराधक माने जाते हैं।

---

१. नगेन्द्रनाथ वसु : मॉडर्न बुद्धिज्म, कलकत्ता, १९११।

नीलाचल पर भगवान् पुरुषोत्तम के दोनों उपासक थे, परन्तु प्रथम प्रकार के भक्तों पर चैतन्य महाप्रभु का प्रभाव मधुराभक्ति की उपासना के रूप में विशेष लक्षित होता है। 'पंचसखा' धर्म में भगवान् के दोनों ही रूप स्वीकृत किये गये हैं—सगुण तथा निर्गुण। निर्गुण ब्रह्म ही श्रीकृष्ण के रूप में आविर्भूत होकर जगत् का मंगल-सम्पादन करता है। इसी की शरण में जाना उत्कलीय वैष्णवों का परम कर्त्तव्य है। अच्युतानन्द ने अपने 'अनाकार संहिता' में स्पष्ट लिखा है—विना श्रीकृष्ण की सहायता के कोई भी साधक परम-पद को प्राप्त नहीं कर सकता। इन अव्यक्त श्रीहरि का निवास 'अनाकार' के लोक में है, जिसके अनुग्रह पर अच्युतदास ने अपने को न्योछावर कर दिया है—

व्रजकुल तारि आपण तरिवि
श्रीकृष्ण सहाय हइछि
अव्यक्त हरि अनाकार पूरि
तेणु पद पुरु अछि॥

—अनाकारसंहिता

उत्कलीय वैष्णव धर्म के साथ राधा का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। इस मत की मान्यता है कि जगन्नाथजी स्वयं राधा तथा कृष्ण युगल-मूर्त्ति के प्रतीक हैं। इस तथ्य का प्रतिपादन भक्तों ने अपने नाना ग्रन्थों में किया है। विशेषतः दिवाकरदास ने अपने जगन्नाथचरितामृत में। वे राधा को स्वयं जगन्नाथ के रूप में प्रतिष्ठित मानते हैं—

राधाटि स्वयं जगन्नाथ
राधाटि स्थूलरूपे स्थित।
राधांगे वश जगन्नाथ
राधारु क्षरिछि जगत॥

राधा-रूप जगन्नाथ से समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है। फलतः, विश्व की सृष्टि में राधा ही प्रधान मूल तत्त्व है।

दिवाकरदास ने इस ग्रन्थ में राधाकृष्ण के दार्शनिक स्वरूप की बड़ी प्रामाणिक अभिव्यक्ति है। श्रीकृष्ण नित्य निराकार साक्षात् परमपुरुष हैं तथा राधा उनकी सहचारिणी माया है। यह सम्बन्ध कोटि युगों तक विद्यमान रहनेवाला नित्य तत्त्व है। जगत् के कल्याण के लिए ही इनका अवतार इस भूतल पर होता है—

माया ब्रह्म श्री परं ब्रह्म रे
अछन्ति श्री नीलाचल रे
नीलाचल रे परं ब्रह्म
राधांक संगे कृष्ण जाण
कोटि ए युग येवे याइ
ये क्रीडा केवे भंग नोहि

—जगन्नाथचरितामृत, अध्याय १२

राधाकृष्ण के युगलगायत्री-मंत्र में भी इसी अभेदतत्त्व का उद्घाटन है। यह युगलगायत्री इस प्रकार है—

ओं राधाकृष्णाय विद्महे
प्रेमरूपाय धीमहि ।
तन्मे राधाकृष्णः प्रचोदयात् ॥

इस मन्त्र में ध्यातव्य तत्त्व है 'राधाकृष्ण' का एकवचन में प्रयोग। ये दो भिन्न तत्त्व न होकर एक ही अभिन्न तत्त्व हैं। इसीलिए, इस मन्त्र में एकवचन का ही प्रयोग किया गया है। फलतः, सिद्ध होता है कि उत्कल में राधाकृष्ण की युगल-उपासना ही एकमात्र सर्वत्र स्वीकृत की गई है—

ए सर्वे नित्य अभिलाषी
अटन्ति जगन्नाथ दासी
नित्य युगल सेवा मान
करुथिले सिद्ध अंगण ॥
—जगन्नाथचरितामृत, अध्याय १३

उत्कलीय वैष्णव-भक्तों का कथन है कि गौडीय वैष्णव जन जगन्नाथ की नित्य युगल-मूर्त्ति को नहीं मानते और इसीलिए वे लोग जो गोपी के साथ वृन्दावन में लीला करनेवाले राधाकृष्ण की उपासना में निरत रहते हैं। इनका यह भी कथन है कि चैतन्य-देव के समय में भी गौडीय वैष्णव उत्कलीय वैष्णवों को अपनी भक्ति-परम्परा में लाने के लिए नितान्त आग्रहशील थे, परन्तु उन लोगों का प्रयत्न सफल नहीं हुआ और चैतन्य महाप्रभु की उत्कलीय शिष्य-मण्डली अपने प्राचीन विधि-विधान का, नियम-आचार का एकदम परित्याग कर अपना वैशिष्ट्य लुप्त करने के लिए कथमपि उद्यत नहीं हुई। इस ऐतिहासिक तथ्य का संकेत दिवाकरदास के इन शब्दों में मिलता है—

समस्त वैष्णव पूजिव
आपण सूत्र न छाड़िव
समस्त संगे प्रीति हेव
निज भावरे दृढ़ थिव। —जगन्नाथचरितामृत, अ० १।२१–२४

इतना ही नहीं, गौडीय वैष्णवों ने वृन्दावन को आश्रित कर युगल गायत्री के स्थान पर कामगायत्री[1] का आश्रयण किया तथा जगन्नाथजी की युगल मूर्त्ति के प्रतीक रूप को हटाकर राधाकृष्ण की पृथक् मूर्त्ति की कल्पना की—

युगल गायत्री छाड़िले
कामगायत्री आश्रे कले ।
छाड़ि जगन्नाथ मूरति
मदन मोहने पीरिति ॥

---

१. गौडीय वैष्णव-सम्प्रदाय में स्वीकृत कामगायत्री का रूप—ओं कामदेवाय विद्महे। पुष्पबाणाय धीमहि। तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात्।

वइध कर्म दूर कले।
रागमार्गे कृष्ण भजिले ॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि उत्कल देश के वैष्णव चैतन्य-मतावलम्बी गौडीय वैष्णवों की पूजा-पद्धति को विशेष आदर तथा श्रद्धा के साथ नहीं देखते थे। वे वैध कर्म का परित्याग के पक्षपाती न थे; विधि-विधान के कार्यों का सम्पादन करते हुए भगवान् में प्रीति करना ही उनका प्रधान लक्ष्य था। वे राधाकृष्ण के उपासक अवश्य थे तथा श्रीजगन्नाथजी को इस युगल मूर्त्ति के रूप में प्रतिष्ठित मानते थे। फलतः, वे अपने स्थानीय तीर्थ पुरुषोत्तमपुरी के उपासक थे, दूरस्थ व्रज-मण्डल में स्थित मथुरा-वृन्दावन के नहीं। फलतः, उत्कल के महान् कवि उपेन्द्रभंज ने इन गौडीय वैष्णवों की कड़ी आलोचना की है, जो राधाकृष्ण के ऊपरी उपासक हैं तथा उनकी शृंगारी पूजा के भीतर अपनी लम्पट-वृत्ति को चरितार्थ करनेवाले हैं—

कपट दर्शन लम्पट बिट रीति कि चाहिं।
ये सुधी सुधीरे वोलन्ति क्षेत्रबरटि एहि ॥

ओडिया वैष्णव-सम्प्रदाय का दृढ विश्वास है और पूर्ण आग्रह है कि राधा की स्थिति जगन्नाथ से अभिन्न मूर्त्ति के रूप में हैं, अर्थात् कृष्ण की श्यामल छवि तथा राधा की पीत छटा दोनों का सम्मिश्रण तथा समन्वय जगन्नाथजी की मूर्त्ति में प्राप्त होता है। इस तथ्य की ओर संकेत किया है उड़िया कवि अभिमन्यु सामन्तसिंह ने अपने प्रख्यात 'विदग्धचिन्तामणि' नामक काव्य में—

वेनि कान्ति प्रभा दिशिवार
कि वर्णि पारिवि कविछार
कि घन बिजुलि अन्धार चाँदनी
दिव रजनी परस्पर गो मिशामिशि।
वन भूमि पीतश्याम गला दिशि गो ॥

—विदग्धचिन्तामणि, छन्द ६१।

उत्कल का कृष्ण-काव्य

उत्कल-साहित्य में राधाकृष्ण-काव्य की प्रमुखता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। यह साहित्य वड़ा ही मधुर, सरस तथा रसपेशल है। उत्कल-साहित्य को इस विषय में बँगला-साहित्य से विशेष स्फूर्त्ति तथा प्रेरणा प्राप्त हुई है, इस तथ्य की स्वीकृति में विशेष संशय लक्षित नहीं होता। उत्कल के कवियों को कृष्ण की वृन्दावन-लीला ही अतिशय प्रिय है और उसमें भी राधाकृष्ण की शृंगार-लीला का मधुर चित्रण, कोमल पदों का विन्यास, तथा संगीतात्मक तत्त्वों का पूर्ण सामञ्जस्य उत्कल-कृष्ण-काव्य की प्रमुख-विशेषता है। द्वारका-लीला के प्रमुख प्रसंगों में 'रुक्मिणी-परिणय' की विशेष महत्ता है और उत्कल के अनेक प्रथम कोटि के कवियों ने इसे अपनी प्रतिभा के विलास का पात्र वनाया है। १६वीं शती उत्कल में पंचसखाओं का युग है, जो चैतन्य महाप्रभु के शिष्य होने पर भी अपने लिए एक नवीन धर्म का प्रवर्त्तन किया। इन्होंने चौंतीसा तथा कोइलि

नामक नवीन काव्य-रूपों का भी जन्म दिया, जो आगे चलकर इस साहित्य में विशेष लोकप्रिय सिद्ध हुए। 'चौंतीसा' काव्य चरणों का होता है और प्रत्येक चरण उड़िया वर्णमाला के एक वर्ण से आरम्भ होता है--हिन्दी की 'बारहखड़ी' की शैली के समान। कोइलि गहरी भावात्मक कविताएँ होती हैं, जो कोयल को लक्ष्य कर गाई जाती हैं। इस युग के पहिले भी ऐसी कविताओं तथा काव्यरूपों का उद्गम उत्कल-साहित्य में हो चुका था, परन्तु इनकी अभिवृद्धि इस युग में लक्षित होती है। पंचसखाओं की दृष्टि में जगन्नाथजी पूर्ण परात्पर भगवान् हैं; श्रीकृष्ण तो उनकी एक कला के रूप में हैं—

श्री जगन्नाथ बोलकला।
तहुँ कलाए नन्दवला॥

१७वीं शती में दीन कृष्णदास का रसकल्लोल राधाकृष्ण-काव्यों में अपनी मधुरता, गेयता तथा सुरसता के लिए नितान्त मूल्यवान् काव्य है। इसका वर्ण्य विषय ही है—राधा तथा कृष्ण का विमल प्रेम तथा श्रृंगारी लीला। कवि का कथन है कि ईश्वर योग की अनेक महान् प्रक्रियाओं से भी प्रसन्न नहीं होता, जितना वह प्रेम के कुछ मधुर शब्दों से होता है। श्रीकृष्ण ब्रह्मा की स्तुतियों के प्रति बधिर हैं, परन्तु वह गोपियों के मुख से निकले हुए प्रेम-शब्दों के प्रति जागरूक रहते हैं—

कल्पान्तरे योगायोग बाट जगि
पाइबाकु या दुर्लभ,
कि भाग्यबलरे गोपी गोपाल रे
सबुबेले से सुलभ।
कले वेदपति येते रूपे स्तुतिवश
नुहन्ति कहाकु;
कर्ण डेरि थान्ति बरज युवती
कउतुके डाकि वाकु॥

यह युग 'छन्दोयुग' तथा 'अलंकारयुग' के नाम से प्रख्यात है, जिसका काव्यविधाता था वह कविसम्राट् उपेन्द्रभंज, जिसके द्वारा प्रवर्त्तित साहित्य-शैली का अनुकरण तथा अनुसरण परवर्त्ती कवियों ने अपने काव्यों के लिए परम आराध्य माना। १८वीं शती में उसका प्रभाव विशेष लक्षित होता है। इस शती का महान् कलाकार था अभिमन्यु सामन्त सिंहार, जिसका विदग्धचिन्तामणि गहरे भावों और ईश्वरीय प्रेम की अनुभूतियों के विशद वर्णनों के कारण निःसन्देह एक महनीय काव्य-रचना है। प्रेम के वर्णन के अवसर पर राधा कहती हैं—

अनल नुहइ देह देहइ
अस्त्र नुहइ मरमे भेदइ;
नुहइ जल बुड़ाए कूल
नुहक मादक करे विह्वला।

अर्थात्, प्रेम अग्नि न होते हुए भी दाहक है। वह अस्त्र नहीं है, परन्तु मर्मस्थल का वेधन करता है। प्रेम पानी न होते हुए भी कगारों को डुबा देता है। प्रेम मादक पदार्थ नहीं है; फिर भी वह मदोन्मत्त बना डालता है।

ऐसे प्रेम में आकण्ठमग्ना राधा व्रजनन्दन से मधुर संयोग पाने के लिए व्याकुल है; उसकी मिलनेच्छा नितान्त प्रबल है। यदि मिलन इस जीवन में सम्भव नहीं है, तो मृत्यु के पश्चात् ही सही; परन्तु वह हो तो सही। समय पर आस्था नहीं। परिणाम पर ही पूरा आग्रह है श्रीमती राधारानी का—

येवे गो एमन्त करि न पारिब
तमाले कोल कराइ थोइब।
वंशीस्वन शुभुथिब येणिकि
कर्ण मोर डेरि देव तेणिकि ॥

राधा कह रही है—ऐ मेरी सखी, यदि तुम मेरी इच्छा की पूर्त्ति के निमित्त कुछ नहीं कर सकती हो, तो मृत्यु के बाद मेरे शरीर को तमाल-पल्लवों से ढककर रखना, जिससे उस दशा में भी तो मुझे घनश्याम के तुल्य वस्तु से आलिंगित होने का सौभाग्य और आनन्द मिले। मेरे कान को उस दिशा की ओर खुला रखना, जिधर से कृष्ण की बाँसुरी की ध्वनि आ रही हो। कितना कोमल, हृदयावर्जक तथा स्निग्ध भाव है इन कमनीय पंक्तियों का।

भक्त **चरणदास** की कृति **मथुरामंगल** अपनी सरलता तथा स्थानीय रंजकता के कारण उड़िया में एकान्त लोकप्रिय रचना है। **सदानन्द कविसूर्य ब्रह्म** की **युगलरसामृतलहरी** राधा-कृष्ण की प्रेमलीला का एक मधुर निदर्शन है। इन तीनों काव्य की कमनीयता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं, परन्तु पार्थिव तथा अपार्थिव प्रेम के अपार्थक्य के कारण इनमें कहीं-कहीं अश्लीलता भी झलक पड़ती है, जो विज्ञ पाठकों के वैरस्य का कारण बनती है।

१९वीं शती के कृष्ण-कवियों में **कविसूर्य बलदेवरथ** तथा **गोपालकृष्ण** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। **कविसूर्य** उपाधि ही उनकी काव्यकला की अनुपम परिचायिका नहीं है, प्रत्युत उनका **किशोर चन्द्राननचम्पू** अपनी गेयता, संगीतात्मकता तथा सौंदर्य के कारण आलोचकों की महनीय श्लाघा का पात्र है। इस काव्य की कविता को शास्त्रीय संगीत की पद्धति से गाना आज भी उड़िया-संगीतज्ञ के लिए कठिन परीक्षा है। इस काव्य के दो-एक पद उद्धृत किये गये हैं, जिनसे इसके भाव तथा भाषा दोनों के माधुर्य का परिचय मिलेगा। **गोपालकृष्ण** इन वैष्णव-कवियों की अन्तिम कड़ी है, जिनकी **गोपालकृष्ण-पद्यावली** अपने घरेलू वातावरण के कारण यथार्थ उड़ीसा का भव्य चित्र प्रस्तुत करती है। राधा तथा कृष्ण यहाँ सुदूर वृन्दावन में अपना केलि-विस्तार करनेवाले जीव नहीं हैं, प्रत्युत उड़िया के चिरपरिचित प्रेमी-प्रेमिका हैं। इस काव्य का आकर्षण सचमुच वास्तव तथा व्यापक है। कोई सखी राधा से कह रही है कि तुम

भले ही अपने मुँह से कृष्ण की कथा नहीं कहती, परन्तु तुम्हारे भावों को ठीक-ठीक भाँपने में क्या मुझसे गलती हो सकती है ?—

श्यामर तोर कथा नाहिं किरे
तु न कहिले मुं जाणु नाहिं किरे ।
तङ्क स्वक्षेत्र पूजा दिन
सबु करिछि मुंहि अनुमान रे ।।

फलतः, उड़िया-साहित्य अपने आरम्भ-काल से आजतक राधाकृष्ण की भक्ति-भावना से स्निग्ध, नितान्त मधुर तथा मनोरम है। व्रजभाषा की कविता से तुलना करने पर इसका माधुर्य विशेष स्फुरित होता है—राधा के निर्मल हृदय की अभिव्यंजना इस साहित्य का प्रमुख वैशिष्ट्य है।

भागवत : उत्कल भाषा में

उड़िया भागवत **जगन्नाथदास** की अनुपम रचना है। ये चैतन्य महाप्रभु के परम सखा, भक्त तथा पंचसखाओं में अग्रणी थे। यह भागवत श्रीमद्भागवत का उड़िया अनुवाद न होकर एक मौलिक काव्य है और इसका मूल्य मूल संस्कृत पुराण की अपेक्षा कहीं अधिक है। वैष्णव पुराणों में उपलब्ध सुन्दर-सुन्दर उपाख्यान इस भागवत में पिरोये गये हैं। भाषा स्वच्छ तथा सुबोध है। यह भागवत उत्कलदेश में आब्रह्मचाण्डाल—ब्राह्मण से चाण्डाल तक—समादृत है; क्योंकि उत्कल में यह धर्म की अभिवृद्धि में और नैतिकता के प्रसार में किसी ग्रन्थ से तुलना नहीं रखता। उडिया-भाषाभाषियों में इसका वही गौरवपूर्ण स्थान है, जो हिन्दी-भाषाभाषियों में गोसाईं तुलसीदासजी के **रामचरितमानस** का है। यह १६वीं शती की रचना है। इस उड़िया-भागवत में मूल पुराण के अनुसार ही राधा का नाम उपलब्ध नहीं होता, परन्तु **गुप्तभागवत** नामक प्रख्यात काव्य में राधा का निर्देश किया है। उडिया-काव्यों का केन्द्र-स्थान ही है श्रीराधारानी तथा व्रजकिशोर के साथ उनकी शृंगारी लीलाएँ। उत्कल के कवियों ने भागवत के महनीय आख्यानों के ऊपर भी काव्यों की रचना की है, जिनमें शिशुशंकरदास का 'उषाभिलाष' और कार्त्तिकदास का 'रुक्मिणीविभा' अपनी कोमल काव्यकला के कारण प्रमुख माने जाते हैं।

उत्कल-कृष्णकाव्यों का यह प्रमुख वैशिष्ट्य है कि कथानक तो वे भागवत से लेते हैं तथा शैली गीतगोविन्द से। अधिकांश राधाकृष्ण-काव्य गेय पदों के रूप में ही हैं। उडिया-गीतों की संगीतिमत्ता तथा मधुर गेयता अनुपम है। राधाकृष्ण की विमल भक्ति से आकण्ठ पूरित इन कवियों की वाणी उसी प्रकार फूटती है, जिस प्रकार वसन्त के आगमन पर गुलाब खिलता है तथा मधुमत्त कोकिल के कण्ठ से काकली निकलती है। उडिया-काव्य की यह गेयता, स्निग्धता, रसपेशलता तथा मधुरता गीतगोविन्द की पदशैली की स्वीकृति का परिणाम है। गीतगोविन्द की रचना उत्कल में चाहे भले ही न हुई हो, जैसा अनेक विद्वान् मानते हैं, परन्तु वृन्दावनदास का भाषा-गीतगोविन्द तो उत्कल की ही रचना है और नितान्त ललित रचना है।

राधा की उत्पत्ति

जिस प्रकार वृन्दावनी भक्त-मण्डली में भाद्रशुक्ला अष्टमी राधा के आविर्भाव की तिथि मानी जाती है, वही मान्यता उत्कलदेश में भी है। आज भी उत्कल में राधा का जन्मोत्सव इसी तिथि को वैष्णव-मन्दिरों में मनाया जाता है। राधा के जन्म की कथा का एक विचित्र रूप उड़ीसा में मिलता है। संक्षेप में यह जन्म-वृत्तान्त इस प्रकार है—

भृगुसेन शुक्लसेन के पुत्र थे। उनकी भार्या का नाम था सुप्रभा। कन्या की प्राप्ति के लिए दोनों ने घोर तपस्या की और ब्रह्मदेव की कृपा से बारह कन्याओं को वरदान में पाया। अन्तिम कन्या थी बड़ी कुरूपा। फलतः, पिता ने एक मंजूषा बनाकर उस कुरूपा कन्या को उसी में बन्द कर नदी के प्रवाह में बहा दिया। वह मंजूषा बहती हुई जब वृन्दावन में पहुँची, तब वृषभानु राजा ने उसे पकड़ा और खोला। खोलते ही उन्होंने उसमें एक बड़ी सुन्दरी बालिका देखी और उसे निकालकर अपनी पुत्री बनाया। उसीका नाम था राधा, जिसका आगे चलकर श्रीकृष्ण के साथ विवाह सम्पन्न हुआ। इस राधा-जन्म की कथा उत्कल देश में बहुत प्रसिद्ध है। इसका तात्पर्य यह है कि उत्कल के भक्त राधा की जन्मभूमि उत्कल देश ही मानते हैं। यहीं वह उत्पन्न हुई, परन्तु विधिवशात् उनका भरण-पोषण वृन्दावन के गोपराज वृषभानु के द्वारा सम्पन्न हुआ और इसी कारण राधा 'वृषभानुकन्या' के नाम से सर्वत्र विख्यात हैं।

इस कथा का मूल कहाँ है? किसी पुराण में या लोक-साहित्य में? यह कहना एकान्ततः कठिन है। उत्कल में ब्रह्मवैवर्त्तपुराण की मान्यता तथा आदर विशेष रूप से है, पता नहीं कि इस पुराण की वह कथा यहाँ विशेष रूप से क्यों नहीं लोकप्रिय है, जिसमें राधा की उत्पत्ति श्रीकृष्ण के वाम पार्श्व से बतलाई गई है। ब्रह्मवैवर्त्त के 'ब्रह्मखण्ड' में राधा की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है—एक बार श्रीकृष्ण गोलोक धाम में रास-मंडली में उपस्थित थे कि अकस्मात् उनके वाम पार्श्व से एक तेजोमयी कन्या की उत्पत्ति हुई। वह कन्या शीघ्र ही यौवन प्राप्त कर श्रीकृष्ण की आराधना करने लगी। इसी आराधना करने के हेतु ही उस कन्या का नाम 'राधा' पड़ा। इस कथा का विशेष वर्णन इस ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में किया गया है।

राधा : पराशक्ति के रूप में

यशोवन्तदास ने अपने विख्यात काव्य प्रेमभक्ति ब्रह्मगीता में श्रीकृष्ण के मुख से ही राधा के आदिमाता, विश्व-सृष्टि की जननी, शक्तिरूपा होने का स्पष्टतः निर्देश किया है—

श्री राधाकृष्ण नित्य स्थाने ये कथा पूर्बर विधाने
से कथा अगाध गहन थोकाए फुस मोर मन।
तु आदि माता शक्ति हेतु

राधा के स्वरूपबोधक ये वचन ध्यान देने योग्य हैं—

अपरा पञ्चमी आविर्भूता शक्ति परा।
पञ्च प्राणस्वरूपिणी देवी प्रेम भरा॥

सकल सम्पददात्री कृष्णभक्तिप्रदा ।
वराह कल्परे राधा आविर्भूत सदा ।।
पञ्चम राधिका देवी हेले अंशरूप ।
कला अंश रूपकला-अंश अंशांशस्वरूप ।।
कलांशांशरूपे एहि रूप पञ्चविधा ।
सकल योषित यार अंश कलामिधा ।।

इसका तात्पर्य है कि राधा पराशक्ति के रूप में आविर्भूत होती है। वह पाँचों प्राणों का रूप धारण करनेवाली तथा प्रेम की मूर्त्ति है; समस्त सम्पत्ति देनेवाली है। इतना ही नहीं, वही कृष्णचन्द्र को भक्ति प्रदान करती है। उसका आविर्भाव वराह-कल्प में हुआ था। राधिका पञ्च प्रकार से आविर्भूत होती है—अंशरूप, कलांशरूप, रूपकला-अंशरूप, अंशांशरूप, कलांशांशरूप। समस्त स्त्रियाँ उसीकी कला-अंश में वर्त्तमान, होती हैं।

यह पूरा वर्णन ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के अनुसार है। इस पुराण के अनुसार मूलतः प्रकृति एक होते हुए भी सृष्टि-कार्य के पाँच रूप धारण करती है—दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री तथा राधा। दुर्गा के रूप में वह प्रकृति गणेशजननी, शिवप्रिया, नारायणी, विष्णु-माया आदि नामों से अभिहित की जाती है। लक्ष्मी के रूप में वह शुद्धसत्त्वस्वरूपा होती है तथा यह शक्ति वैकुण्ठ में महालक्ष्मी, स्वर्ग में स्वर्गलक्ष्मी, राजाओं के यहाँ राज-लक्ष्मी तथा गृहस्थों के यहाँ गृहलक्ष्मी होकर 'सर्वपूज्या सर्ववन्द्या' होती है। सरस्वती वाक्, बुद्धि, ज्ञान आदि की देवी सर्वविद्यास्वरूपा, सर्वसन्देहभंजनी तथा सर्वदा सिद्धिप्रदा है।[1] सावित्री वेद, वेदांग, तन्त्र, मन्त्र आदि की देवी, जपरूपा, शुद्धसत्त्वस्वरूपिणी ब्रह्मतेजोमयी देवी सबके हृदय में प्रेरणा भरनेवाली है। प्रकृति की इन मूर्त्तियों में चार तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है। दुर्गा में शक्ति की, लक्ष्मी में ऐश्वर्य की, सरस्वती में ज्ञान की तथा सावित्री में इन तीनों वस्तुओं की प्राप्ति के निमित्त सम्यग् उद्योग की प्रेरणा भरने वाली देवी की हम अभिव्यक्ति पाते हैं। परन्तु, इन चारों देवियों की मूल प्रतिष्ठा करनेवाली देवी श्रीराधिकाजी हैं। वह प्रेम की अधिष्ठात्री देवी तथा पंचशक्तियों की प्राणस्वरूपिणी, परमानन्दस्वरूपा, सर्वमाता तथा परमाद्या हैं। रास-मंडल से उत्पन्न होनेवाली राधा परमाह्लादरूपा हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या है? वह स्वयं निर्गुणा, निरा-कारा, निरीहा तथा निरहंकारा हैं, परन्तु भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए वह विग्रह धारण करती हैं। वह वह्नि-विशुद्ध वस्त्र को धारण करनेवाली, रत्न तथा अलंकारों से मण्डित, कोटि चन्द्रमा की प्रभा से सेवित श्रीरूपिणी हैं।[2] सर्वशक्तियों की प्राणरूपा होने का एक

---

१. गणेशजननी दुर्गा, राधा लक्ष्मीः सरस्वती ।
सावित्री च सृष्टिविधौ प्रकृतिः पञ्चधा स्मृता ।।

२. निर्गुणा च निराकारा निर्लिप्तात्मस्वरूपिणी ।
निरीहा निरहङ्कारा भक्तानुग्रहविग्रहा ।।
वह्निशुद्धांशुकाधाना रत्नालङ्कारभूषिता ।
कोटिचन्द्रप्रभाजुष्टश्रीयुक्ता भक्तविग्रहा ।।—ब्रह्मवैवर्त्त ।

विशिष्ट स्वारस्य है। प्रेम ही जीवन का मूल तत्त्व है, जिसके अभाव में शक्ति, ऐश्वर्य विद्या आदि पदार्थों का मूल्य ही नहीं होता और राधाजी हैं इसी प्रेम की सर्व-स्वरूपिणी देवी। फलतः, इस विश्व में राधा का प्रामुख्य है। प्रकृति के पञ्चविध प्राकट्य में राधा का रूप सर्वातिशायी तथा सर्वाधिक मनोरम है। उत्कल के वैष्णव-ग्रन्थों में राधा का यही रूप प्रतिष्ठित है।

राधा : उत्कल-काव्य के आलोक में

राधा-कृष्ण के लीला-प्रसंग के वर्णन करनेवाले काव्यों में 'किशोरचन्द्रानन्द चम्पू' का स्थान विशेष गौरवशाली माना जाता है। इसके प्रणेता, कविसूर्य की उपाधि से मंडित **बलदेवरथ** उत्कल-साहित्य में अतुलनीय स्थान रखते हैं। नायक श्रीकृष्ण, नायिका श्रीराधा तथा दूती ललिता—इन तीनों की उक्ति-प्रत्युक्ति-रूप में ही इस काव्य का निर्माण हुआ है। ललिता के माध्यम से राधा तथा कृष्ण का परस्पर मिलन सम्पन्न होता है। कविसूर्य ने इस काव्य में प्रकृति तथा पुरुष के परस्पर मिलन का ही चित्रण किया है। कवि की दृष्टि में 'राधा' प्रकृतिरूपिणी हैं; उनके पिता वृषभानु मार्त्तण्ड के अवतार हैं। प्रकृति-रूपिणी राधा के साथ परम पुरुष श्रीकृष्ण का मिलन ही उक्त चम्पू का वर्ण्य विषय है। कथा की शैली गीत-गोविन्द की शैली से मिलती-जुलती है।

राधा निर्जन में ललिता से कहती है कि आज मैं यमुना के तट पर जाते समय केलि-कदम्ब के पास उस श्यामल मूर्त्ति को देखकर विवेकशून्य हो गई। मोहन के वेणु-रव ने मेरे कर्ण-कुहरों में ज्यों ही प्रवेश किया, मैं व्याकुल हो उठी। उससे मेरा मिलन कराओ, नहीं तो मेरे प्राण अब नहीं बच सकेंगे। ललिता मधुर तर्जना करती है—यह तुम्हारा दुःसाहस है। परम पुरुष के साथ तुम्हारा मिलना किस प्रकार सम्भव है? उन्मुक्त सौख्य तथा आनन्द का रसिक वह घनश्याम क्या इस सम्बन्ध में पड़ सकता है? राधा की विकलता बढ़ती ही जाती है। तब राधा की प्रेरणा से ललिता कृष्ण को समझाकर प्रकृति की ओर आकृष्ट करती है। अन्ततः, वे प्रकृति के प्रेम में पड़ जाते हैं और तब श्रीराधारानी के साथ उनका मंजुल सामरस्य प्रस्तुत होता है। दोनों का मधुर मिलन सम्पन्न होता है।

कविसूर्य की यह कृति उत्कल-साहित्य में उत्कृष्ट प्रतिभा का निदर्शन है। है यह चम्पू—संस्कृत गद्यपद्य-मिश्रित, परन्तु उड़िया गेयपदों की प्रधानता होने के कारण इसका संस्कृत भाग गौण ही है तथा उत्कल-पदावली ही मुख्य है। यह निसर्गतः मधुर काव्य कलापक्ष की दृष्टि से भी रमणीय तथा कौतुकावह है। कवि 'क' से 'क्ष' पर्यन्त अक्षरों में से क्रमशः प्रत्येक अक्षर से अपने पदों का आरम्भ करता है। स्थान-स्थान पर प्रकृति के वर्णन से भी यह काव्य सान्द्र रसाप्लुत है। राधाकृष्ण के मिलन को अग्रसर करनेवाले वसन्त का यह आगमन कितनी सुन्दरता तथा स्निग्धता से वर्णित है। कवि कहता है—

मधुरे मन्द मन्द होइ गन्ध प्रसरिला
कदम्ब निकुंज सीमा रे ॥

इस काव्य में प्रधानतः तीन पात्रों के द्वारा कथा का विस्तार किया गया है। राधा,

कृष्ण तथा ललिता ही यहाँ परस्पर कथनोपकथन में प्रवृत्त होकर अन्तिम मिलन में कारण-भूत होते हैं। इसके दो-चार रस-पेशल पद यहाँ लीला-विन्यास के निमित्त उद्धृत किये जाते हैं।

ललिता के प्रति राधा की उक्ति--

(राग सावेरी। ताल त्रिपुटा)

कि हेला रे कहित नुहइ भारती रे।
कालि या दुरु सखि कलना कलामो आखि,
कला इन्दीवर आरति रे॥

केलि कदम्वलतार, कोले कि श्यामल तार, तेज से रविसुतार तीरे।
कम्पि मोर कलेवर, होइ गला आर पार, याहाकु डरइ तार तीरे॥१॥
कुसुम कोदण्ड काण्ड, केते करि थिला दण्ड, कर्कश नोहिवा भारती रे।
कहुछि वरजि लज्जा, केवल हेला मोमज्जा, मज्जियिवि किउ भारती रे॥२॥
कि मोहन लीला धरि, कोटि कला कर शिरी, पुरुछि से श्याम मूरति रे।
कुत्सा करे मुँधा ताकु, काहिँ कि सरजि ताकु, चिरायु रखिला जरती रे॥३॥

कि नीति कि जातिशील, कि कुल वरतफल,
ठउरि पारिला मो मति रे।
कोमल तर मोहन, कुञ्जकुक्षिरु निस्वन,
आसि चुम्बि देला मो श्रुति रे॥४॥
कलवल छटपट, होइ याउ छिनिपट,
संवेश अशन विरति रे।
कहइ श्रीवालुकेश, शरण धरणी ईश,
ए कि दण्ड विना पीरिति रे॥५॥

इसके उत्तर में सखी राधा को समझाती-बुझाती है कि तुमने हमारे समझाने पर उस व्रजकिशोर से प्रेम किया, अपने को अनुराग-सूत्र में बाँधा। अब उसका दुःसह परिणाम झेलना ही पड़ेगा तुम्हें। अब उससे भागने से क्या लाभ?

(राग कामोदी । एकताली)

घेनाइ[1] आम्भे येते कहिलु गो।
घेनिलु ताहिँ वाला पहिलु गो।
घृत घट कु शिखि-पाखरे रखि
शिरीषदेहा एहा सहिलु गो॥
घस्रनाथ[2]-नन्दना अनाउणि किमना
करुँ ये थाउँ हटि चाहिँलु गो।
घटी सरि कि करे, नाहिँ कि विवेक रे,
महार्णवरे अव गाहिलु गो॥

---

१. घेनाइ=समझाकर; २. घस्रनाथ=दिवसनाथ, सूर्य।

घोटि कितव मूल, घोरि घोर जांगल,
गरल तुले ताहा पिइलु गो ।
घुमाइवार सम्भविला नाहिँ कि आम्भ,
सुयोगु सिना वंचि अइलु गो ।
घेनि घेनाइँ याइ, कहिबा समझाइ,
घटिले आम्भे एका जीइलु गो ।
घटना विरह रे, अवश्य त जहरे,
तो घेनि आत्मघाती होइलु गो ।
घोलारे पछे मरु, आऊँ तो हुकुमरु
निकुंज दउडकु रहिलु गो ॥
घान्टि हेउछु मात्र, आनील शतपत्र–
नेत्रा या आम्भवश नोहिलु गो ।
घने चपलालीला चाँहि घन कुन्तला,
तुकि ए अभिलाष वहिलु गो ॥
घोरि हेलु कि रसे, अष्ट दुर्गेश भाषे
अवश्य मो मनकु मोहिलु गो ॥

राधा ललिता से अत्यन्त दीनतावश व्रजनन्दन से मिलाने के लिए आग्रह करती हैं कि वह विचक्षणा है; विना उसके प्रीति की गति कौन जानता है। यदि उसकी अनुकम्पा न होगी, तो क्या यह प्रेम-मिलन सम्पन्न हो सकेगा ?

ललिता के प्रति राधा (रागसावेरी । अष्टताली)

विचक्षणा रे, विना तो प्रीति के गति अछि जगतीरे ।।पद।।
बोलि देलि सिना गेले हसि । विश्वे तो समकाहिँ विश्वासी ॥
वान्धिवाकु मो मन तु फाशी । विशेषरे मो हृदन्तर तोते जणा रे ॥
विश्वम्भरा रजखेल कालु । बहिः प्राण परि परिपालु ।
विधिवशु निसर्ग कृपालु । व्रजे हेउछि एहि डिण्डिम बाजणा रे ।
विके किणे ये याहाकु स्नेहें । बड़ ता ठारु जीवन नोहे ।
वल ताहा ठारे सिना सहे । वहिरंगे तुलुछन्ति देख अगणा रे ।
बोले अष्ट दुर्गर मघवा । वल्ली निकट कुचालयिवा ।
वंशीगीत पीयूष पिइवा । विभावरी नपाहुँ आसिवा अजणा रे ॥

व्रजांगनाएँ राधा के प्रति कहती हैं कि प्रेम में उपहास होने से क्या कोई रमणी प्रेम से पराङ्मुख होती है ? लोकापवाद की चिन्ता छोड़कर सच्चा साधक भगवान् के चरणारविन्द में अपने को निमग्न कर देता है।

राधाङ्कु प्रति व्रजाङ्गना (राग केदार)

रसाल सारे। रसि पुणि एकि लोकहसा रे ॥
रवितमा चुम्बिला इन्द्र आशारे। राजीवे प्रफुल्ल हेले कासारे ।

रतिनाथ समर प्रशंसारे । रमणि के न रसन्ति संसारे ।।
रसन्ति रसिके सिना निशारे। रजनी शेषरे ए कि दशारे ।।
रमणीय हेमकु सुदृशारे । रखिलु केडे निविडे मसारे ।।
रहु ना अयश आउरसारे। रसारुहारू लताकु खसारे ।।
राजा अष्टदुर्गर ए भाषारे। रचे एवे विजे हेउ सुसारे ।।

उड़िया-भाषा के कविसम्राट उपेन्द्रभंज (सन् १६७०–१७२८ ई०) के कृष्ण-काव्यों में भी 'राधा' विराजती हैं। यह सचमुच ऐसे उत्कृष्ट कवि हैं कि उनकी जोड़ का कवि अन्य भाषाओं में खोजने पर भी शायद मिले। नाना प्रकार के काव्य-रूपों का ही आश्रयण इन्होंने नहीं किया, प्रत्युत उनमें उत्कृष्ट कवि-कौशल भी प्रदर्शित किया है। 'सुभद्रापरिणय' में प्रत्येक पद के प्रत्येक पाद का प्रत्येक शब्द 'स' से आरम्भ होता है, उसी प्रकार, जिस प्रकार 'वैदेहीशविलास' में वह वकार से आरम्भ होता है। 'यमकराज चउतिशा' नामक काव्य में राधाजी का वर्णन है। यह समग्रतया यमक-काव्य है और ऐसे यमक संस्कृत में नहीं, अपितु सर्वत्र विरल हैं। इस राधा-काव्य का एक ही पद यहाँ उद्धृत किया जाता है—

कुञ्जवने कलानिधि कलानिधि कलानिधि कलाश्रीहरि ।
कहन्ति सकल कलकण्ठी पाशे कलकण्ठी प्रीति सुमरि ।।
कोकिल, कि करुथिव रामामणि ।
कुसुम शायक शायक शायक शायक विन्धुथिवटाणि ।।

अर्थात्, कुञ्जवन में व्रजचन्द्रमा कामकलासागर कृष्ण कलध्वनियुक्त कोयल के पास कोकिल-वचना राधा की प्रीति का स्मरण करते हुए उससे (कोयल से) कहते हैं कि श्रीराधा इस समय क्या करती होगी? इन्हें नष्ट करने में समर्थ विशिष्ट कन्दर्प अपने पञ्च बाणों को उसके ऊपर सन्धान करता होगा।

श्रीव्रजनन्दन कोकिला से उलाहना दे रहे हैं—उसके व्यवहार पर और अपनी दयनीयता पर। राधा के विषम विरह में उनकी दशा कितनी विपण्ण तथा चिन्तामग्न हो गई है। यह पद भी उसी यमक-काव्य 'यमकराज चउतिशा' से यहाँ कृष्ण-काव्य के कलापक्ष के उदाहरणार्थ उद्धृत किया जाता है। राधा-काव्य का हृदय-पक्ष तो नितान्त कोमल है; उसका कलापक्ष भी कम चमत्कारजनक नहीं है। इसीका निदर्शन है उपेन्द्र-भंज का यह कौतुकवर्धक यमक-काव्य—

मोगलामाला[1] मोर प्रियक[2] प्रियक[3] प्रियक[4] प्रियक[5] देखिव ।
गउरीन करि प्रियक प्रियक प्रियक मोहिनी वसिव ।।
कोकिल, गुणमणि केह्ने वञ्चिव ।
गुरु सम डोला तरल तरल तरल तार हेउथिव ।।
घेनिव पुनाग पुनाग पुनाग पुनाग देखि चमकिव ।
घन केशी अंग परासे परासे परासे परासे होइव ।।

---

१. मोगलामाला=राधा; २. प्रियक=भ्रमर; ३. प्रियक=कुंकुम; ४. प्रियक=कदम्ब; ५. प्रियक=नील अशोक।

कोकिल घोषुथिव . प्रीति निकर ।
घने नाशुथिव कदम्ब कदम्ब कदम्ब कदम्ब गतिर ॥
चतुरी चन्द्रमा चन्द्रमा चन्द्रमा सदन भानु समधेनि ।
चाहिंले करिवे मो नाम तारक तारक तारक मण्डनी ॥
कोकिल चारुमुखि . केह्‌ने वञ्चिव ।
चाहिंले मदन मदन मदन मदन मदन दहिव ॥
पद्मनेत्र टेकि चाहिंले केशरी केशरी भजिवे महीकि ।
पडिव मूर्च्छारे पतंग पतंग पतंग देखिले सहिकि ॥
कोकिल पीनस्तना एहा सहिला ।
पद स्वर्गकरि लोडिण आलोक आलोक आलोक होइला ॥'[1]

उत्कल के लब्धप्रतिष्ठ कवि अभिमन्यु सामन्त सिंगार के 'विदग्धचिन्तामणि' काव्य का वर्ण्य विषय ही है—राधा-माधव की विदग्ध लीला का कीर्त्तन। राधा के प्रीति-सम्पादन के लिए श्रीकृष्ण नाना छद्मवेषों में उपस्थित होते हैं और राधा के हृदय में व्रजनन्दन के निमित्त प्रकृष्ट प्रेम उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। इस कार्य में श्रीकृष्ण कभी नापिती बनते हैं, कभी गायिका, कभी रजकी के रूप में पधारते हैं, तो कभी मनिहारिन का वेष धरते हैं। कभी भगवान् शवरी-वेश में शुक-सारिका के साथ राधाजी के पास जाते हैं। उद्देश्य एक ही है व्रजनन्दन के प्रति राधा का स्वाभाविक प्रेम-परीक्षण तथा उन्मुखीकरण—

केते मते प्रीति जाणन्ति से । केते मन्ते वश नोहे रसे ।
शवरणी वेशे मोन परवशे शुकसारी पोत विकिवसे गो ।
प्राणसहि, विचारि पारिलि नाहिं सुहि गो ॥

अन्यत्र राधा की दीन दशा का चित्रण शोक कामोरी छन्द में किया गया है—

श्री राधा वातुली प्रेमरसातुली
घेन चिन्हरा ग्राहक स्नाने ।
कृष्ण अति दीने दूति काकु दिने
पचारन्ति कर धरि छन्ने ॥
प्राणबन्धु रीति कहि मो श्रुलिकु कर गति ।
हसि दूति भाषे, प्रेम जले भासे, विमेल्ति मति दिवाराति ॥

राधा-कृष्ण की अन्य हास्य तथा प्रेम-उत्पादक लीलाओं का वर्णन कवि ने बड़ी सूक्ष्मता से किया है। श्यामा के रूप में व्रजनन्दन ने राधा की स्तुति कैसे ग्रहण की थी। इसका भी उल्लेख कवि ने बड़ी सुन्दरता से किया है।

अवसर था श्यामा के पूजन का। राधाजी उचित कुंज में इस कार्य के लिए पधारती हैं,

---

१. यह यमक-काव्यस्वभावतः कठिन है, जिसका अर्थ कोशों की सहायता से ही सुबोध हो सकता है। उदाहरणार्थ—प्रियक=भ्रमर; प्रियक=कुंकुम; प्रियक=कदम्ब; प्रियक=नील अशोक। उसी प्रकार अन्य शब्दों का अर्थ भी समझा जा सकता है।

परन्तु उन्हें ठगने के लिए श्रीकृष्ण पहिले से ही श्यामा के रूप में विराजमान हैं। राधा को इसकी तनिक आशंका नहीं है। वे तो 'श्याम' को ही 'श्यामा' समझकर स्तुति में निरत हैं—

जय आद्या शक्ति देवि भगवति
अगतिर गति तारा ॥
नमो नारायणि ब्रह्मसनातनि
चन्द्राननि हरदारा ॥
श्यामा सुरेश्वरि भीमा भयंकरी
दिगम्बरि घोरवेशि ॥
श्मशानवासिनि शमनत्रासिनि
सुहासिनी मुक्तकेशि ॥

अन्त में भगवान् अपने रूप में प्रकट होते हैं और राधा से उनका मिलन संघटित होता है। एक वार श्रीराधिका ने कृष्ण के पास एक पत्र भेजा था जिसमें राधा के हृदय में कृष्ण की छवि अंकित थी। इसका वर्णन कवि ने इन शब्दों में किया है—

प्रियानुरागी अंगे अंगीकारी, मंगल वाम अतनुबइरी।
श्रीसदाशिव चरणे शरण, आद्ये होइछि मंगलाचरण ॥
ए उत्तारु विधि, पञ्चश्री रचना होइछि सिद्धि।

इसी प्रकार, राधाकृष्ण की विदग्ध केलियों के रसमय वर्णन से यह सुभग सरस 'विदग्धचिन्तामणि' पूरित तथा चर्चित है।

दीन कृष्णदास के अमर गीतिकाव्य रसकल्लोल में राधा-कृष्ण के प्रेम का प्रसंग वड़ी सुन्दरता तथा सरसता से वर्णित है। यह कवि भक्तिरस से जितना आप्लुत था, उसकी लेखनी राधा के प्रेम-वर्णन में उतनी ही सफल थी। दीन कृष्णदास उड़िया-साहित्य के सूरदास हैं—भाषा की तरलता में, पदों की गेयता में, वर्णन की मधुरता में तथा प्रतिभा के विलास में। उनका 'रसकल्लोल' वास्तव में रस का कल्लोल है, जिनकी मधुरिमा आज भी भावुकों के हृदय को रसस्निग्ध तथा प्रेमोच्छलित वनाती है। श्रीराधा के विरह में माधव की वेदना कितने सुन्दर सुभग शब्दों में वर्णित है—

किशोरि रतन राधा विरहे कन्दर्पबाधा
पाइवारु अतिशय करि
कलाकार-कलाप्राये कृशकु भजिला काये
कीरपाठ प्राये कान्ता नाम धरि से ॥ कंजनेत्र ॥
कारासम सदन मणन्ति। केलि कउतुक खेडरे गणन्ति ॥
काम अनल प्रबल करे मलय अनिल कले शीत उपचार तहिं।
कोटिए गुणे तपत कहुँ कहुँ होए जात जल देले।
जेह्ने सामु काकु दहि से ॥ कञ्जनेत्र ॥
कष्टे कष्टे सहन्ति से बाधा

क्रोध करि बोलन्ति उद्धर राधा से ।। कंजनेत्र ।।
कमनीय फुलमाल न वहन्ति वक्षस्थल
फनि मणि मानसे रे गणि
कलकण्ठ वाणी शुणि कर्णरे दिअन्ति पाणि
काम कुलिश घात पराये मणि से ।। कञ्जनेत्र ।।
कलकण्ठ डाकिले विटंके ।।

इस प्रकार, उत्कल-साहित्य राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला से नितान्त स्निग्ध है, रसपेशल है। प्रेम-माधुरी का द्योतक यह साहित्य भारतीय राधा-काव्य की परम्परा में एक मधुमय शृंखला प्रस्तुत करता है; इसमें संदेह के लिए स्थल नहीं।

(२) असमिया-साहित्य में राधा

बँगला-काव्य का जितना प्रभाव उत्कल-काव्य पर पड़ा, उतना असमिया-साहित्य पर नहीं। कारण है धार्मिक भावना की विभिन्नता। बँगाल में चैतन्य महाप्रभु के विपुल प्रभाव से वहाँ का साहित्य माधुर्य-भावना का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। उत्कल में वही भावना धार्मिक जगत् में मान्य थी। फलतः, उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है; परन्तु असम के एकशरणिया धर्म में दास्य-भाव का प्रामुख्य है। इस धर्म या धार्मिक सुधार के प्रवर्त्तक थे असमिया के महान् कवि तथा धर्मसुधारक शंकरदेव (सन् १४४९–१५६८ ई०)। इनके धर्म की मूल भावना है—एकशरण, आत्मसमर्पण अथवा प्रपत्ति।

कृष्ण किंकर कह विछोड़ि विसय कामा।
रामचरण लेहु शरण, जप गोविन्दकु नामा ।।

दास्य-भाव की इसमें प्रमुखता है। भगवान् के चरणारविन्द की सेवा के अतिरिक्त साधक का अन्य कर्त्तव्य नहीं है। इनके जीवन-सर्वस्व थे श्रीकृष्ण, जिनकी लीला के कीर्त्तन के निमित्त इन्होंने अनेक श्रव्य और दृश्य काव्यों का प्रणयन किया। अन्य काव्यों में प्रमुख हैं—भक्तिप्रदीप, १२ स्कन्धों में भागवत, गुणमाला, रामायण, भक्तिरत्नाकर तथा प्रख्यात कीर्त्तनघोषा। दृश्य काव्यों को 'आँकिया नाट' के नाम से पुकारते हैं, जिनमें गद्य तथा पद्य का समविभाग रहता है। ऐसे नाटकों में मुख्य हैं—पत्नीप्रसाद, कालिदमन, केलिगोपाल, पारिजातहरण तथा रुक्मिणीहरण। इन नाटकों में इन्होंने 'ब्रजबुलि' का पूरा प्रयोग किया है। 'रुक्मिणीहरण' नाटक में रुक्मिणी का यह वर्णन सुन्दर तथा कमनीय है—

ईषत हसित मुख चाँद उजोर।
दशन मोतिम यैचे नयन चकोर ।।
मणिक मुकुट कुण्डल गण्ड डोल।
कनक पूतली तनु नील निचोल ।।
कर कंकण केयूर झणकार।
माणिक कांचि रचित हेमहार ।।
चलाइते चरण मँजीरी करु रोल।
रूपे भुवन भूले 'शंकर' बोल ।।

इन्होंने अपने प्रख्यात काव्य 'वड़गीत' में भी गेयता तथा पदशैली के संग में उस युग की वैष्णव-पदावली में व्यवहृत भाषा ब्रजबुलि का भी पूर्णरूपेण समादर किया है। कृष्ण के रूप के प्रसंग में यह दृष्टान्त इनकी भाषा के रूप को समझने के लिए यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

जो ओरे सखि पेखेरे कंजलोचन चललि नन्द कुमारा।
इन्द्र वदन कोटि मदन रूपे तुल नुहि जारा॥
मकर कुंडल मंडित गंड गले जगमति लुले।
तरिताम्बर श्याम सुन्दर शिहर शिखन्डुक डुले॥
कर कंकन किंकिनी कनक, झनके चले गोपाला।
पंचम सुरे लम्बित उहर, केलि कदम्बकु माला॥
पद पंकज मंजिरे सुरे, हरय चित्त हामारु।
'शंकर' कह छाड़ विरह, वोहि जग आधारु॥

शंकरदेव के प्रधान शिष्य माधवदेव ने अपने काव्यों के माध्यम से असम में भक्ति की अजस्र धारा प्रवाहित की। इनके वड़गीतों में हमें बालकृष्ण की नटखट लीलाओं के रंग-विरंगे सुन्दर चित्र भी देखने को मिलते हैं। असमिया-साहित्य में वात्सल्य तथा दास्य दोनों का पर्याप्त उपबृंहण उपलब्ध है। अपनी वात्सल्यमयी गीतियों के कारण माधवदेव असमिया के सूरदास माने जाते हैं। इनकी अमर साहित्यिक कृति है **नामघोषा** जिसमें लगभग एक हजार पद हैं। यह गीता, भागवत तथा उपनिषद् की आध्यात्मिक भावनाओं का प्रदर्शन करनेवाला एक अनमोल ग्रन्थ-रत्न है। इसके प्रत्येक पद में कवि की आन्तरिक दास्य-भक्ति तथा दीनता और भगवान् की वत्सलता तथा दया का भाव बड़े ही स्वाभाविक ढंग से वर्णित है। कवि की इस प्रार्थना पर ध्यान दीजिए—

मोर सम पापी लोक, नहि केइ तिन लोक।
तुमि सम नाहि पापहारी॥
हरि ओ हरि करुणा सागर
करियो कृपा आमाक॥
प्रियतम आत्मा सखा इष्ट गुरु
मानिया आछो तोमाक।
चरणत धरो कातर करो हो
इ बार नेरिबा मोक॥

'इ बार नेरिवा मोक'—इस बार मुझे मत छोड़ना—इन वड़गीतों का सुमधुर दैन्यपूरित स्वर है। असमिया के संग में ब्रजबुलि का भी प्रयोग माधवदेव ने अपने काव्यों में किया है। ये हिन्दी से भी परिचित प्रतीत होते हैं; क्योंकि इनके पदों में यत्र-तत्र हिन्दी की छाप पाई जाती है। माधव का यह पद मीराँ के प्रख्यात पद की स्मृति जगाता है—

गोविन्द दीन दयाल स्वामी।
तुहुँ मेरि साहब, चाकर हामी॥

काकु करिये तुया चरणे लागों ।
अरुन चरणे चाकरि माँगो ।।
तेरी चरणे मेरी परणाम ।
चाकरि माँगो, नाहि आन काम ।।
आपुन करमें जनम जाहाँ होई ।
ताहँ तुया चरणे चाकर रहूँगोई ।।
'माधवदास' कहँ मतिहीना ।
गति मेरी नहि तुया पद बिना ।।

'म्हें चाकर राखो जी' भजन से इसकी भाव-समता नितान्त स्पष्ट है। बालकृष्ण की लीला का वर्णन भी पर्याप्त सुन्दर तथा स्वाभाविक है। शंकर तथा माधव के कीर्त्तनों तथा वड़गीतों द्वारा कृष्णभक्ति की अमिट छाप साहित्य पर पड़ी, जो वैष्णवयुग (सन् १४००—१६५० ई०) की महती विशिष्टता है। इस भाषा के साहित्य में रामकाव्य का प्रचलन अपेक्षाकृत न्यून ही है। १४वीं शती के माधवकन्दलि द्वारा रामायण का अनुवाद भाषा तथा काव्य उभय दृष्टियों से सरस सुभग है तथा जनजीवन में तुलसी की रामायण के समान ही ओत-प्रोत है, परन्तु कृष्ण-काव्यों में ही असमिया कवियों का मानस रमता था, विशेषतः द्वारिका-लीला में। 'पारिजातहरण' तथा 'रुक्मिणीस्वयंवर' अन्य कवियों के समान यहाँ भी लोकप्रिय विषय रहे हैं। वृन्दावन-लीला में बालकृष्ण की केलि इनकी प्रतिभा जगानेवाली वस्तु थी। श्रीधरकन्दलि का 'कानखोवा' बाललीला का बड़ा ही रोचक तथा मधुर वर्णन प्रस्तुत करता है। यह एक लोकगीत के रूप में सम्मान तथा समादर पाता है।

बालक कृष्ण सोता ही नहीं। माता यशोदा उसे सुलाने का प्रयत्न करती है। अन्त में, वह बालकों के कान खानेवाले (कानखोवा) एक भूत की कल्पना कर कृष्ण को डराती है। कवि जानता है कि कृष्ण परात्पर पुरुष हैं, परब्रह्म है, परन्तु मानव-रूप धारण करने पर वह शिशु की लीला भी नर-शिशु के समान ही करते हैं और इसीलिए वह अपना बाल-मनोविज्ञान से परिचय दिखाने से पराङ्मुख नहीं होता।

यशोदा कहती है—

घुमटि जायोरे अरे कानाइ हुरे कान-खोवा आसे ।
सकल शिशुरे कान खाइ-खाइ आसय तोमार पाशे ।।

'कानखोवा' जैसे विचित्र जन्तु (हौवा) की सृष्टि किसने की? कृष्ण अपने मन में विचारते हैं कि ब्रह्मा, शिव आदि तो मेरी ही रचना है, परन्तु 'कानखोवा' पैदा किया किसने? मुझे ही डरानेवाला और शिशुजनों के कान खानेवाला यह हौवा क्या मेरी सर्जना है—

अनादि स्वरूप जगत सृजिलो
चराचर भेद करि ।
समस्त जगत प्रतिपाल करि
आत्मा रूपे आछों धरि ।।

ब्रह्म महेश्वर आदि करि यत
समस्ते मोर स्रजना ।
मइ ना जानिलो सिटो कानखोवा
स्रजिलेक कोन जना ॥

कृष्ण डरकर यशोदा से कहते हैं कि माँ, इस समय मैं, सो रहा हूँ। 'कानखोवा' के आने पर उसे मुझे दिखा देना। यशोदा इस बाल-विनय पर रीझ उठती है और भयभीत गोपाल को छाती से चिपकाकर कहती है अरे—मैं तो तुम्हें यों ही डरा रही थी। सचमुच 'कानखोवा' असमिया वैष्णव-साहित्य की एक अद्भुत रचना है—कल्पना की दृष्टि से और कला की दृष्टि से भी।

इस साहित्यिक परिवेश में 'राधा' का स्थान क्या है? इस प्रश्न का उत्तर आवश्यक है। इसके उत्तर में लेखक अपने कथन को उद्धृत करना उचित समझता है[1]—"कृष्ण को आराध्यदेव मानने पर भी शंकरदेव के भक्तिमार्ग में दास्य-भक्ति पर ही सर्वापेक्षा अधिक आदर दिखलाया गया है। यही कारण है कि माधुर्य-भक्ति के उपासक गौडीय वैष्णव के पंथ के विपरीत यहाँ 'राधा' का स्थान नितान्त महत्त्वहीन है। शंकरदेव के तत्त्वोपदेश में राधा के लिए कोई स्थान नहीं है। असम के वैष्णव-नाटकों में सत्यभामा तथा रुक्मिणी का लीला-विस्तार विशेषतः लक्षित होता है। 'केलिगोपाल', 'रास झुमरा' और 'भूषणहरण' केवल इन तीन नाटों (नाटकों) में राधा का नाम निर्दिष्ट है, परन्तु यह यही सूचित करता है कि अन्य गोपियों की अपेक्षा राधा का स्थान महत्त्वशाली नहीं था। यह सामान्य गोपियों के समान ही कृष्ण का पूजन तथा आदर करती है। गौडीय तथा वल्लभ-मत में निर्दिष्ट रसपेशलता तथा प्रेमस्निग्धता असम-साहित्य की राधा में देखने को नहीं मिलती। राधा सामान्य गोपिका के समान ही व्रजनन्दन से अपना भाव प्रकट करती है—

जादव हे, कैछन बात बेगारि
सकल निगम तेरि अंत न पावत
हाम पामर गोप नारी ॥ (ध्रुव)
तुहु परम गुरु निखिल निगम पति
मानुस भाव तोहारि ।
चतुर बयन तेरि, माया विमोहित,
जाने नाहि योग बिचारि ।
तेरा अइचन भाव न जानिए
कयालु गरव नाथ तोइ
राधा उचित बात, कहय माधव दिन
गति गोविन्द पद मोइ ॥ (रास झुमरा ४)[2]

---

१. द्र० बलदेव उपाध्याय : भागवत-सम्प्रदाय, पृ० ५५० ।

२. द्र० श्रीयुत मेधी का लेख 'असम के ब्रजबुलि साहित्य का दार्शनिक स्वरूप'—सम्मेलन-पत्रिका, प्रयाग (भाग ३०, संख्या ६–७ तथा ११–१२; संवत् १९९९–२००० ।)

पञ्चम परिच्छेद

पश्चिमांचलीय साहित्य

(१) मराठी-साहित्य में राधा
(२) गुजराती-साहित्य में राधा

(१) मराठी साहित्य में राधा

भारतवर्ष के पश्चिम अंचल में दो प्रमुख साहित्य का प्राधान्य है—महाराष्ट्र में मराठी का तथा गुजरात में गुजराती का। इन दोनों साहित्यों में 'राधा' की स्थिति का विवेचन इस परिच्छेद में किया गया है। गुंजराती साहित्य में 'राधा' अपने पूर्ण वैभव के साथ विराजमान है; मराठी-साहित्य में भी उनकी स्थिति अवश्यमेव है। मराठी वैष्णव-पन्थ—वारकरी-सम्प्रदाय में कृष्ण् के साथ रुक्मिणी की प्रतिष्ठा है; परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यहाँ 'राधा' बाल-गोपाल के साथ नहीं विराजतीं। इन दोनों साहित्य में 'राधा' का यहाँ संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

महाराष्ट्र-प्रान्त प्राचीन काल से भागवत धर्म का अनुयायी है। १३वीं शती में वहाँ नाथ-सम्प्रदाय का प्रचार प्रचुर मात्रा में था और महाराष्ट्र के प्रख्यात सन्त ज्ञानदेव महाराज नाथ-सम्प्रदाय में ही दीक्षित हुए थे, परन्तु धीरे-धीरे इस सम्प्रदाय की स्वतन्त्र सत्ता जाती रही और यह वारकरी (अर्थात् भागवत) सम्प्रदाय में ही घुल-मिल गया। महाभाव या महानुभाव-पन्थ भी महाराष्ट्र में उदित होनेवाला कृष्णोपासक सम्प्रदाय है; परन्तु भागवत-सम्प्रदाय से इसके आचारों तथा विचारों में इतना पार्थक्य है कि यह वैदिक न होकर एक अवैदिक सम्प्रदाय के रूप में गृहीत हुआ और अनेक तथ्यों के कारण यह जनता का लोकप्रिय धर्म न बन सका। इन दोनों में अर्वाचीन, महाराष्ट्र का भागवत सम्प्रदाय 'वारकरी' के नाम से प्रख्यात है। महाराष्ट्र का यही लोकप्रिय तथा व्यापक

वैष्णव-सम्प्रदाय है, जिसका प्रभाव वहाँ के साहित्य के विकास पर प्रचुर मात्रा में पड़ा। भागवत होते हुए भी 'वारकरी' नाम का कारण उस देश के वैष्णव भक्तों के एक विशिष्ट आचार पर आधृत है। 'वारकरी' मराठी भाषा में साधारणतया यात्रा करनेवाले का संकेत करता है, (वारी—यात्रा, करी—करनेवाला); परन्तु धार्मिक दृष्टि से इसका विशिष्ट अर्थ होता है वह व्यक्ति, जो आषाढी तथा कार्त्तिकी शुक्ला एकादशी को पण्ढरपुर की यात्रा कर श्रीकृष्ण के प्रतीक विट्ठलजी का दर्शन-पूजन करता है। ये भक्तगण विट्ठल को प्रिय लगनेवाली तुलसी की माला धारण किया करते हैं और इसलिए वे 'मालकरी' नाम से भी संकेतित किये जाते हैं। मराठी के महनीय सन्त कवि ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम तथा एकनाथ इसी सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त वैष्णव थे।

यह पूर्णतया वैदिक सम्प्रदाय है और पंढरपुर में स्थित विठोवा ही इसके प्रधान उपास्य श्रीविग्रह हैं। विठोवा, विट्ठल तथा पाण्डुरंग—ये तीनों संज्ञाएँ एक ही देवता की हैं, जो पुण्डलीक नामक भक्त की मनोरथ-पूर्त्ति के लिए आज भी ईंट पर खड़े हैं। 'विठोवा' शब्द को मराठी पण्डित कन्नड़ भाषा का शब्द मानते हैं। 'विट्ठल' तो विष्णु का ही रूपान्तर माना गया है। विठोवा की पूजा के आरम्भ के विषय में पर्याप्त ऐतिहासिक छानबीन की गई है और इसका निष्कर्ष यही है कि इस मूर्त्ति की प्रतिष्ठा सप्तम-अष्टम शती के आसपास मानना कथमपि अनुचित नहीं माना जायगा। विट्ठल श्रीकृष्ण के ही प्रतीक हैं, परन्तु उनकी वगल में खड़ी मूर्ति रुक्मिणीजी की है (जो 'रुखमावाई' के नाम से मराठी में प्रसिद्ध हैं), राधा की नहीं। फलतः, विट्ठल की उपासना रुक्मिणी-कृष्ण की उपासना का प्रतिनिधित्व करती है, राधाकृष्ण की उपासना का नहीं। इस तथ्य का व्यापक प्रभाव महाराष्ट्र की उपासना-पद्धति तथा साहित्य पर पड़ा है। कहा जाता है कि महाराष्ट्र के सन्त भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से विनिर्गत उपदेशों को ही मान्यता प्रदान कर तदनुसार अपना जीवन-यापन करते हैं, उसके चरित को प्राधान्य नहीं देते। फलतः, महाराष्ट्र की कृष्णभक्ति में एक विचित्र संयम है, विलक्षण नियमन है, जो वृन्दावन के कृष्णपरक सम्प्रदायों में सर्वथा तो नहीं, परन्तु बहुशः दुर्लभ है। राधा-कृष्ण की उपासना के साथ जिस दिव्योन्माद का, विशृंखल आनन्दोल्लास का, परिचय गौडीय वैष्णव-समाज में हम पाते हैं—भक्तों के चरित्र में तथा वहाँ के बँगला-साहित्य में, वह महाराष्ट्रीय साहित्य में बहुत कम चित्रित किया गया है।

मराठी-साहित्य की यह वहिरंग झाँकी लेनेवाला आलोचक यही कहेगा कि इस साहित्य में मधुरा भक्ति ने अपना विलास प्रकट नहीं किया, कृष्ण-काव्यों के भीतर से राधा ने अपने प्रेम की गरिमा अभिव्यक्त नहीं की। अन्तरंग परीक्षण इन दोनों अनुमानों को भ्रान्त सिद्ध कर रहा है। मधुरा भक्ति का भव्य विलास मराठी साहित्य के आरम्भ-काल से अर्वाचीन काल तक उन्मीलित होता आया है तथा राधा के रूप की तथा हार्दिक भावनाओं की अभिव्यक्ति मराठी साहित्य में अपेक्षाकृत न्यून नहीं है। इन तथ्यों को पुष्ट करने के लिए आवश्यक प्रमाणों का यहाँ उपन्यास किया जा रहा है।

मराठी भाषा के आद्यकवि ज्ञानदेव महाराज (१२७५ ई०—१२९६ ई०) अध्यात्म-मार्ग के पुरस्कर्त्ता महनीय सन्त थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में मधुरा भक्ति का संकेत ही नहीं, प्रत्युत स्फुट वर्णन किया है। इन्होंने ज्ञानमार्ग के विविध तत्त्वों की व्याख्या को शृंगारिक दृष्टान्त की सहायता से हृदयंगम करने का बहुशः उद्योग किया है। गुरु-शिष्य के सम्बन्ध की अन्तरंगता दिखलाते समय इन्होंने वल्लभ में आसक्त विरहिणी का समर्पक उदाहरण प्रस्तुत किया है—

गुरु गृह जये देशीं। ते देशेंचि वसे मानसी।
विरहिणी का जैसी। वल्लभातें।
—१३।३७५ ओवी

परमेश्वर के साक्षात्कार करने पर साधक की स्थिरता तथा आनन्द की व्याख्या करते समय ज्ञानदेव ने कान्त से मिलने पर कामिनी का दृष्टान्त उपस्थित किया है—

घडतां महोदधी-सी। गंगा वेगु सांडी जैसी
कां कामिनी कान्ता पासी। स्थिर होय॥
—१८।१०८१

मधुरा भक्ति के प्रति ज्ञानदेव की महती आस्था थी, जिसका प्रकटन इन्होंने अपनी रचना में स्थान-स्थान पर किया है। एक स्थान पर वे कहते हैं—'अर्जुन तो भक्त....तो वल्लभा मी कान्त', अर्थात् हे अर्जुन, जिस प्रकार पति को पत्नी प्राणों से भी अधिक प्रिय होती है, उसी प्रकार वह भक्त भी मुझको प्राणों से भी बढ़कर प्रिय होता है। कई अभंगों में ज्ञानदेव ने भगवान् विट्ठल के प्रति अपनी विरह-दशा का निवेदन बड़े मार्मिक शब्दों में किया है, जिनमें मधुरा भक्ति का बड़ा चटकदार चित्र मिलता है—

"घन-गर्जना हो रही है, वायु बह रही है और मेरी विरह-दशा असहनीय हो गई है। अतः, संसार के तारक कृष्ण से मेरी भेंट कराइए...। वास्तव में, सुमनों की शय्या मुझे आग-जैसी जला रही है, अतः इसे शीघ्र बुझाइए। कोकिल की कूक के कारण मेरा आन्तरिक दुःख शान्त होने की अपेक्षा अधिक दाहक हो रहा है। मेरी ऐसी विचित्र दशा हो गई है कि शीशे में मुझे अपनी परछाई नहीं दिखाई देती। ओह!!! रुक्मिणी देवी के पति विट्ठल ने मुझे क्या-से-क्या कर दिया है।" उन्होंने अनेक अभंगों में भगवान् श्रीकृष्ण की सुन्दर मूर्त्ति का बड़ा ही मोहक चित्र खींचा है अभंग-सं० ८७६, ८७८ तथा ८८५ में श्रीकृष्ण से मिलने की तीव्र अभिलाषा की अभिव्यंजना की गई है। ज्ञानदेव ने निम्नलिखित अभंग में उस गोपी की दशा का वर्णन किया है, जो यमुना के तट पर पानी भरने गई थी, जिसका कृष्ण से साक्षात्कार हुआ था और भागने में जिसकी गगरी फूट गई थी—

काय साँगू तूंतें बाई काय साँगू तूंतें
जात भी होतें यमुने पाणिया
वातत भेंतत साँवला॥१॥
दोईवल तोपी मयुल पिछाची
खांद्यावली काँबला॥२॥

तेणें माझी केली तवाली
मग मी ते थून पलली ॥३॥
पलतां पलतां घसरुन पलली
दोईची घागल फुतली ॥४॥
—अभंग ६६४

ज्ञानदेव श्रीकृष्ण के विना अकेले में रात्रि के न बीतने की शिकायत एक प्रख्यात अभंग में करते हैं—

तुझ बीण एकला कृष्णा न गमे राती ॥

इस प्रकार, हम देखते हैं कि मराठी में मधुरा भक्ति का उदय ज्ञानदेव की कविता से होता है। राधा के नाम का अभाव यहाँ अवश्य है, परन्तु गोपियों की विरह-दशा, कृष्ण से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा और आतुरता, गोपीकृष्ण की ललित लीला आदि का वर्णन बड़ी ही मधुर तथा हृदयावर्जक भाषा में किया गया है।

सन्त नामदेव (सन् १२७०—१३५० ई०) की कविता में मधुरा भक्ति का अत्यधिक-विकास हमें उपलब्ध होता है। राम से मिलने के लिए उनके चित्त में वही व्याकुलता (नामदेव की भाषा में 'तालावेली') समाई हुई है, जिस प्रकार गाय को अपने बछड़े के विना होती है और मछली को पानी के विना होती है—

मोहि लागत तालाबेली
बछरे बिनु गाय अकेली।
पानीआ बिनु मीनु तलफै
ऐसे रामनामा बिनु बापुरो नामा ॥

भगवान् से मिलने की भक्त की अभिलाषा के वर्णनावसर पर स्वकीया-साध्वी पतिव्रता के आचरण और प्रेमाभिव्यंजना का बहुशः संकेत इन्होंने किया है। एक स्थल पर तो इनका कथन बड़ा ही चुभता हुआ है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार विषयी पुरुष परनारी से प्रेम कर तड़पता है, उसी प्रकार की तड़पन (तालावेली) मेरी भी तुम्हारे प्रति है—

जैसे विखै हेत पर नारी।
ऐसे नाम प्रीति मुरारी ॥

इनकी कविता में मधुरा भक्ति के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। इनकी उपासना का लक्ष्य यही प्रतीत होता है कि कामिनी का प्रेम जिस प्रकार कामी के प्रति होता है, वैसा ही प्रेम भक्त को भी भगवान् के प्रति करना चाहिए—

कामी पुरुख कामिनी पियारी।
ऐसी नामें प्रीति मुरारी ॥

तभी तो ये अपने को राम की बउरी बहू (बावली स्त्री) बनने तथा राम को रिझाने के लिए सिंगार करने का अपनी कविता में उल्लेख करते हैं—

मैं बउरी मेरा राम भरतार
रचि रचि ताकउ करऊ सिंगार ॥

नामदेव को अपने प्रिय से मिलते समय लोक-निन्दा का भय नहीं है। वे तो 'निसान वजाइ' (डंके की चोट) उनसे मिलना चाहते हैं। वे अपने को गोपियों के स्थान पर रखते हैं और उनके ही समान तीव्र अभिलाषा का भाव प्रकट करते हैं इस कविता में—

भले निंदऊ भले निंदऊ भले निंदऊ लोगू ।
तनु मनु राम मिआरे जोगू ।।
बादु बिबादु काहू सिउ न कीजै ।
रसना राम रसाइनु पीजै ।।
अब जिउ जानि ऐसी बनि आई ।
मिलऊ गुपाल नीसानु वजाई ।।
उसतुति निंदा करै नरू कोई ।
नामें श्रीरंगु मेतल सोई ।।

मधुरा भक्ति के इस प्रवीण उपासक ने सम्भवतः सर्वप्रथम मराठी में राधा का वर्णन प्रस्तुत किया। राधा की श्रीकृष्ण के प्रति मिलने की अभिलाषा तथा मिलने का मनोरम उल्लास इनकी कविता में वहुशः निर्दिष्ट है। 'श्रीकृष्ण के विरह में राधा को समस्त संसार ही साँवला नजर आता है' आदि राधा के स्नेहविषयक उद्‌गार इनके काव्यों में अधिकता से उपलब्ध होते हैं। इनकी दासी जनाबाई भी वड़ी ही कृष्णानुरागिणी साधिका थी। उसने भी राधा के विषय में पद लिखा है—

राधा आणि मुरारी। क्रीडा कुंजवनी करी ।।
राधा डुल्लत डुल्लत। आली निज भुवनांत ।।
सुमनाचे शेजेवरी। राधा आणितो मुरारी ।।
आवडीने विडे देत। दासी 'जनी' उभी तेथ ।।

इतना ही नहीं, कहीं-कहीं वह अपने को राधा ही समझती है और कहती है—

जनी म्हणे देवी मी झाले येसवा ।
निघाले केशवा घर तुझे ।।

जनी कहती है कि हे देव केशव, मैं वेश्या-जैसी वन गई हूँ और लोकलाज छोड़कर आपके घर में आ वसी हूँ। यह पद्य राधा के साथ तादात्म्य का पर्याप्त सूचक माना जा सकता है। मराठी के अन्य स्त्री-सन्तकवि जैसे कान्होपात्रा, वहिणा बाई, प्रेमावाई आदि की कविता में प्रेममय वर्णन है, परन्तु शुद्ध शृंगारी भावों की अभिव्यक्ति जितनी जनाबाई की कविता में होती है, उतनी अन्य स्त्री-कवियों की कविता में नहीं होती। इस विषय में जनावाई की अनुभूति विलक्षण है। जनावाई का ऊपर उद्धृत पद्य बड़े महत्त्व का है। इसमें उस अभिलाषा का संकेत किया गया है कि वह राधाकृष्ण के मिलन-प्रसंग का अपनी आँखों से देखने से ही पूर्णानन्द की प्राप्ति करता है, श्रीकृष्ण से साक्षात् मिलने की उसकी तनिक भी इच्छा नहीं होती। मराठी-साहित्य में नामदेव तथा जनावाई ने सर्वप्रथम राधा के विलास का वर्णन अपनी कविता में किया है। फलतः, ऐतिहासिक दृष्टि से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मराठी-साहित्य में राधा की लीला का प्रवेश १४वीं

शती के आरम्भ-काल में हो गया था। यह वही युग है, जब उमापतिधर मैथिली भाषा में पदावली की सृष्टि कर रहे थें।

एकनाथ, तुकाराम तथा रामदास की कविता में भी गोपी-तत्त्व की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यक्ति है। एकनाथ अपने भागवत में तथा तुकाराम ने अपने अभंगों में स्वयं विठोबा के भक्त होने के कारण गोपीकृष्ण की ललित केलि का वर्णन किया है। रामदासस्वामी की भक्ति मर्यादापुरुषोत्तम राम के ही प्रति विशेष थी, परन्तु उन्होंने भी श्रीकृष्ण की वृन्दावन-लीला की प्रशंसा में मधुर पदों का प्रणयन किया है। इस विषय को पुष्ट करने के लिए दो-एक दृष्टान्त नीचे दिये जाते हैं—

वेणु मंजुल गे माय वृन्दावनीं वो (ध्रुवम्)
कान्हु सांवला हरि गोवर्धनोद्धारी
रक्षीतसे नानापरी।
ऐकुनी मुरलीस तल्लीन झाली कैसी
पशु पक्षी जाहलीं पिशीं॥
'दासा' सुख देत से हा गोपाल वेले
आसनी शयनीं कृष्णभासें। (पद ११३५)

वृन्दावनीं सुन्दर ध्यानीं। वेणु वाजे रसिक वनीं।
ध्यानी मनीं कृष्ण चिंतनी॥
रागोद्धारक स्पष्ट उच्चार। सुरवरनर किन्नर।
चाकाटले पशु खेचर॥
लोकपाल गातो निवल। तुंबे जल, रोधे अनिल।
श्रोते जन होतीं व्याकुल॥
'दास' म्हणे कुशल जाणे। गायन कला अन्तरिं बाणे।
गुणी जन होती शहाणे॥
(पद ११३६)

सेना नाई (मराठी न्हावी) का यह राधाविषयक पद काफी प्राचीन है। यह सेना स्वामी रामानन्द के शिष्यों में अन्यतम माना जाता है। इसका एक पद सिक्खों के गुरु ग्रन्थसाहब में दिया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि 'सेना' की ख्याति सन्तों में रही है। इस पद में रामानन्द को रामभक्ति का पूर्ण ज्ञाता कहा गया है—

रामा भगति रामानन्द जानै, पूरन परमानन्द बखानै।

डॉ॰ रानाडे ने अपने ग्रन्थ (मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र) में इसका समय शाके १३६९ (=१४४७ सन्) निश्चित किया है। सेना ने निम्नलिखित पद में कृष्ण के विरह में राधा की आकुलता का वर्णन किया है—

'राधा' जाणवीत दूती। कामें व्यापिलें न गमे राती।
कां बा गोवळा न गमे निश्चिती।
माने बोधिली चित्तवृत्ती॥

मग दाखवा गे हरीसी।
ध्यान लागलें मानसीं ॥
त्या विण न गमे दिवस निशी।
डोला हृषिकेशी दावा मज ॥
धरिला गोपिकांनीं अंतरीं।
'सेना' म्हणे धन्य त्या नारी हो ॥

यह तो हुई सन्त-कवियों की वाणी का नमूना। पण्डित-कवियों ने भी अपने विविध काव्य में राधा का मधुर वर्णन प्रस्तुत किया है। इनमें अग्रणी हैं **वामन पण्डित** (१६०८-१६९५ ई०), जिन्होंने श्रीमद्भागवत के आधार पर प्रायः समग्र कृष्णचरित के ऊपर काव्य-रचना की है। उनके काव्य-संग्रह के प्रथम भाग में (१८९४ ई० में श्रीओक द्वारा सम्पादित तथा प्रकाशित) वेणुसुधा, रासक्रीडा, गोपीगीत, रुक्मिणी-पत्रिका, रुक्मिणी-विलास, तथा मुकुन्द-विलास का रोचक वर्णन है, तो द्वितीय भाग में (१८९६ ई० में प्रकाशित) राधाजी से सम्बद्ध राधाविलास, राधाभुजंग, नौकाक्रीडा, जलक्रीडा आदि लीलाओं का सुमधुर विन्यास है। मराठी के ये एक प्रमुख शृंगारी कवि माने जाते हैं, और इसलिए राधाकृष्ण के लीला-वर्णन के अवसर पर इन्होंने शृंगारिकता का सुभव्य प्रदर्शन किया है। एक आलोचक का तो यहाँतक कहना है कि इन्होंने राधाकृष्ण की प्रेम-लीलाओं का ऐसा अमर्यादित वर्णन किया है जो सुसंस्कृत मानस के पाठकों से पढ़ते नहीं बनता। यहाँ मधुरा भक्ति का भड़कीला और मादक चित्रण है, जो प्राचीन मराठी काव्य में अपना सानी नहीं रखता। परन्तु ध्यान देने की बात है कि ये आध्यात्मिक भावों को भी शृंगारिक वेष में प्रकट करने के अभ्यासी हैं। अतएव, शृंगारिक भावों के भीतर से वामन पण्डित की आध्यात्मिक भावना छलकती रहती है। राधा द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति अभिव्यक्त मधुर भावों के दो-एक दृष्टान्त नीचे दिये जाते हैं—

अहा हो गोविंदा ! वचनशर हे भग्नहृदया
करीते ये वाचे, न दिसति तुझ्या योग्य सदया
पदापाशीं आलों, त्यजुनि अबला सर्व विषयां
न आम्हा या योग्या अति कठिन गोष्ठी सविनया ॥

स्मरहुताशन हे तुमचे पती
विझवती म्हणशील रमापती
तरि तुझे पद हें जइँ देखिले
न तइं पासुनी ते प्रिय लेखिले
मुखसुधारस टाकुनि कां मना
मृग जली उपजे अजि कामना
म्हणुनि पाजुनिया अधरामृता
जिवविं, सत्वर अद्रिधरा ! मृता

श्रीधर कवि (सन् १६५८–१७२९ ई०) का 'हरिविजय' काव्य राधाकृष्ण की कमनीय केलियों का वर्णनपरक एक चमत्कारी काव्य है। इस काव्य के अष्टम अध्याय में राधा की कथा विस्तृत

रूप से प्रतिपादित की गई हैं। श्रीधर संस्कृत-भाषा में रचित एतद्विषयक ग्रन्थों से पूर्ण परिचय रखते हैं। पद्मपुराण, गीतगोविन्द तथा विल्वमंगल-रचित काव्य इनके काव्य के आधार हैं। १८वें अध्याय में श्रीकृष्ण के मथुरा जाने का दृश्य बड़ा ही करुणाजनक है। गोपियों के विरह का वर्णन श्रीधर ने बड़ी भावुकता के साथ किया है। इससे पूर्व के अध्याय (१७वें) में रास-लीला का विस्तृत साहित्यिक विवरण कवि की विमल प्रतिभा का द्योतक है। भ्रमरगीत का सुन्दर उपन्यास किया गया है। एक बात ध्यान देने की है कि शृंगारिक वर्णन के भीतर कवि की दृष्टि आध्यात्मिक तथ्य की ओर रहती है। इसलिए, इस मधुर काव्य में, वर्णनों में पर्याप्त संयम तथा नियमन है। श्रीधर के इस वर्णन पर दृष्टिपात कीजिए, जिसमें राधा-कृष्ण के लीला-प्रसंग में जीव के ब्रह्मानन्द-सागर में निमग्न होने की ओर यथेष्ट संकेत है—

तों राधिका ओसरीवरि। मंथनासी आरंभ करि॥
तों नेत्रीं तेखिला श्रीहरी। जलदवर्ण साजिरा॥
इकडे वेधले राधे चे नयन। विसरली गोरस मंथन॥
रित्या डेरांत रवी घालून। घुसलीं पूर्ण निजछंदे॥
श्रीहरीने मोहिले मन। ना ठवे देह गेह अभिमान॥
वृत्ती गेली मुरोन। ब्रह्मानन्द सागरीं॥
समरस झाली आत्मप्रकाशी। नाठवेचि दिवसनिशी॥
लवण मिलतां जलाशीं। परी तैसीच जाहली॥

—श्रीधर, हरिविजय, ६।१२०–२३

इसी प्रकार, मोरो पन्त (सन् १७२९–१७९५ ई०) ने भी अनेक मंजुल काव्यों का प्रणयन कर श्रीकृष्ण की कथा को महाराष्ट्र-प्रान्त में लोकप्रिय बनाया। आर्या इनका सुप्रसिद्ध छन्द है। आर्या मयूरपन्ताची। इसलिए, ये मराठी में आर्या के सम्राट् माने जाते हैं। इनका कृष्णविजय प्रख्यात कृष्णपरक महाकाव्य है, जिसमें भागवत के आधार पर श्रीकृष्ण का चरित आर्या में वर्णित है। इस विपुलकाय ग्रन्थ में ९० अध्याय तथा ३३६९ आर्याएँ हैं। भागवत के अध्यायों के अनुक्रम से २९–३३ अ० तक रासक्रीडा का सुन्दर वर्णन है। हरिवंश में भी श्रीकृष्णचरित्र का चित्रण है, परन्तु इनका मंत्रभागवत इस विषय में अप्रतिम है। इसके १०वें सर्ग में गोपियों द्वारा अक्रूर का उपालम्भ बड़ा ही मार्मिक और ओजस्वी है।

मराठी की स्त्री-कवियों ने भी राधा का चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया है। अनेक प्रसिद्ध मराठी सन्तों तथा कवियों ने हिंदी में भी कविता की है।[1] इन हिन्दी-पद्यों में राधा की ललित लीला, राधा की सुन्दर मूर्त्ति तथा श्रीकृष्ण के प्रति उसकी निश्छल प्रीति का विवरण बड़ी भावुकता के साथ किया गया मिलता है। जिन सन्त-कवियों की चर्चा ऊपर की

१. इसके लिए देखिए आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा रचित 'हिन्दी को मराठी सन्तों की देन' नामक शोधपूर्ण ग्रन्थ। ऊपर हिन्दी-कविताएँ इसी ग्रन्थ से उद्धृत की गई हैं। प्र० बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९५७ ई०।

गई है, उनके भी हिन्दी-पद मिलते हैं। यहाँ उनसे भिन्न दो-एक कवियों की कविताएँ दृष्टान्त-रूप से दी जाती हैं, जिससे मराठी सन्तों के राधाविषयक प्रेम का पूर्ण संकेत मिलता है---

देवनाथ महाराज (सन् १७५४–१८२१ ई०) ने हनुमान् जी के विशिष्ट भक्त होने पर भी राधाकृष्ण विषयक अनेक पदों की रचना की है। इन पदों में कवि का भक्ति प्रवण हृदय अपने पूर्ण वैभव के साथ उच्छलित होता है।

सुन्दर नंदनंदन प्यारे। दुःख दे गयो लोगन वा।
रास मंडल मों कोन अव नाचे गोपी कूं सब घेरे।
कोन मृदंग बजावे वीना, को रांगणी ताल सवारे॥
मोरा बालक कोन अब होवे, सावरे नन्द दुलारे।
'राधा' पीटत छतिया रोवत लोटत कहत पुकारे॥
जाय कदम पर लेकर बैठे कौन ये चीर मुरारे।
जसुमति सुं कहुँ कौन की वातां ले गयो प्रान हमारे॥
लोटत पोटत ग्वाल बाल सब कृष्णहि नाम उचारे।
देवनाथ प्रभुदयाल तुमने बिन मारे हम मारे॥

देवनाथ के शिष्य दयालनाथ (सन् १७८८---१८३६ ई०) भी राधा-कृष्ण की भक्ति में पगे हुए एक पहुँचे सन्त थे। इनकी हिन्दी वाणी में राधा-कृष्ण की प्रेम-सम्वन्धी लीलाओं का वर्णन वड़े ही चमत्कार तथा श्रद्धा के साथ किया गया है। श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी का कितना मोहक वर्णन इस पद में मिलता है---

तुम देखो भय्या, मुरली को बजवय्या। (ध्रुव)
मोर मुगुट की लटपट न्यारी। गरे सो लिपटी 'राधा' प्यारी।
कुंडल सोहबे वनवारी। देखे गोपी कन्हय्या॥
गरे मो सोहत है बनमाला। पीतांबर प्रभु नूपुरवाला।
रास रचे नाचे अलबेला। पकरत गोपिन की बहंय्या॥
झटपट खेलत चुम्बत कान्हा। छतिया छुवावत गावन तान।
जमुना तट में श्री भगवान। क्रीडत ब्रिज को वसवय्या॥
दयालू देवनाथ अलबेला। माथे ब्रिजनारी का मेला।
कुंजनबन मो करत किलोला। मुनि जन गावत जगसय्या॥

मराठी साहित्य में राधा-काव्य का यह अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन है। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि मराठी साहित्य में १४वीं शती से राधा की प्रतिष्ठा काव्य-जगत् में पूर्णरूपेण हो गई थी। नामदेव ऐसे काव्य के पुरस्कर्त्ता प्रतीत होते हैं और उनके संसर्ग से उनकी दासी जनावाई ने राधा का वड़ा ही शृंगारी वर्णन अपने पदों में प्रस्तुत किया है। इस युग से राधाकृष्ण की भक्ति का जो प्रवाह मराठी-साहित्य में चल पड़ा, वह अविरल गति से आज भी प्रवाहित होता है। परन्तु, एक वस्तु ध्यातव्य है कि राधाकृष्ण के इन प्रेमपूर्ण शृंगारी वर्णनों में अधिकतर पूर्ण संयम का निर्वाह किया

गया है तथा कहीं भी उच्छल अनियन्त्रित प्रेम की छटा नहीं है। मराठी में गोपियों के कृष्ण-प्रेम के अभिव्यंजनार्थ विरचित एक विशिष्ट प्रकार का काव्यरूप ही विद्यमान है, जो गौलण के नाम से प्रख्यात है। 'गौलण' का शब्दार्थ है ही 'ग्वालिन। फलतः, इस काव्यरूप का ग्वालिनों की प्रेमाभिव्यञ्जना के लिए प्रयुक्त होना स्वाभाविक ही है। कई सन्तों ने मन की रागात्मिका वृत्ति का नाम 'गौलण' रखा है, जो श्रीकृष्ण की वंशी की ध्वनि सुनकर उसीमें तन्मय हो जाती है। यही उसका आध्यात्मिकीकरण है। तुकाराम-जैसे विट्ठल भक्त सन्त की रचनाओं में 'गौलण' का प्रथम प्रवेश माना जाता है। उनका एक गौलण देखिए—

मैं भूली घर जानी बाट।
गोरस बेंचन आई हाट॥
कान्हरे मन मोहन लाल।
सब ही बिसरूं देखे गोपाल।
काहां पग डारूं देख आनेरा।
देखें तो सब वोहिन घेरा।
हुं तो थकित मेरे 'तुका'।
भागा रे मन सबका धोका॥

मराठी-साहित्य में मधुरा भक्ति का उदय साहित्य के प्रथम प्रकाश के साथ ही होता है तथा राधा का कृष्ण-काव्यों में प्रवेश थोड़े ही काल के अनन्तर होने लगता है। महाराष्ट्र का जनसाधारण रुक्मिणी-विट्ठल का उपासक है। फलतः, राधा ने उसकी उपासना में लोकप्रिय रूप से अपना प्रवेश नहीं पाया, परन्तु उसका साहित्य राधाकृष्ण की भक्ति-भावना से शून्य नहीं रहा। राधा की भावना विशुद्ध, संयत प्रेम के रूप में सर्वत्र स्वीकृत होने से उसमें वह अनियंत्रण तथा असंयम दृष्टिगोचर नहीं होता, जो उत्तर भारतीय कतिपय वैष्णव-सम्प्रदायों में कालान्तर में उपलब्ध होता है।

(२) गुजराती-साहित्य में राधा

गुजराती-साहित्य में वैष्णव-भक्ति का प्रभाव विशेष रूप से लक्षित होता है। आज तो श्रीवल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्त्तित पुष्टिमार्गी वैष्णव-सम्प्रदाय का यह एक बड़ा गढ़ है, परन्तु आचार्य वल्लभ के उदय के पूर्व भी कृष्ण-भक्ति का प्रभाव इस प्रदेश पर पड़ गया था। इसके अनेक पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। गुजरात का द्वारिका-धाम श्रीकृष्ण की लीला से सम्बद्ध प्रधान स्थान है। मथुरा के अनन्तर द्वारिका में ही श्रीकृष्ण के जीवन की अधिकांश लीलाएँ सम्पन्न हुई थीं। द्वारिकाधाम ही गुजराती भाषा के कवियों को सदा से स्फूर्त्ति और प्रेरणा प्रदान करता आया है और मध्ययुग में १५वीं शती से १७वीं शती तक यह प्रभाव अपने चरम उत्कर्ष पर था। इस तथ्य के अतिरिक्त इस घटना के लिए अनेक अन्य कारण भी विद्यमान हैं। गुजरात में श्रीमद्-भागवत पुराण का प्रभाव प्राचीन काल से ही लक्षित होता है। विक्रम की दसवीं शती में यह पुराण गुजरात में पहुँच चुका था तथा लोकप्रियता प्राप्त कर चुका था। मूलराज सोलंकी ने सिद्धपुर के ब्राह्मणों को ग्यारह सौ भागवत की प्रतियाँ दान में दी थीं,

ऐसा उल्लेख मिलता है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि दसवीं शती तक भागवत गुजरात में विश्रुत हो गया था। यही कारण है कि गुजराती में भागवत तथा भागवत से सम्बद्ध साहित्य का अनुवाद व्रजभाषा में अनुवाद होने से पहले ही हो गया था। इसी कारण भागवत के अनुवाद तथा उसके विषय को लेकर स्वतन्त्र रचना की ओर गुजराती के कवियों की प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्षित होती है।

भागवत के अनन्तर गीतगोविन्द का परिचय गुजरात के बहुत पहले हो गया था। गुजरात के एक शिलालेख में, जिसका समय १३४८ विक्रमी (१२९१ ईसवी) है, मंगल-श्लोक की तरह गीतगोविन्द का प्रख्यात पद्य **वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते** उल्लिखित किया गया है। यह उल्लेख नितान्त महत्त्वपूर्ण है और यह इस घटना का विशद सूचक है कि गीतगोविन्द अपने निर्माण के एक शताब्दी के भीतर ही भारत के पूर्वी अंचल से चलकर पश्चिमी अंचल तक पहुंच गया था। गीतगोविन्द की लोकप्रियता के अनेक दृष्टान्त पिछले परिच्छेद में दिये गये हैं। नरसी मेहता गीतगोविन्द से विशेष रूप से परिचित थे; इसका उल्लेख उनकी कविता में विशदता से किया गया मिलता है। अपनी एक कविता में उन्होंने व्रजगोपियों के अनन्तर जयदेव को ही अमृतरस का मर्मज्ञ बतलाया है—

> **सुणो तमे नारी अमे ब्रह्मचारी**
> **अमने ते कोई एक जाणो रे।**
> **वेद भेद लहे नही मारो**
> **सनकादिक नारद बखाणो रे।**
> **एक जाने छे व्रजनी गोपी**
> **के रस जयदेव पीधो रे॥**
> **—शृंगारमाला**

गुजराती का यह महान् वैष्णव कवि भागवत तथा जयदेव से ही अपनी मनोरमा रचना के लिए अदम्य स्फूर्त्ति तथा मंजुल प्रेरणा ग्रहण करता था। पुष्टिमार्ग का प्रभाव इसके ऊपर नगण्य-सा माना जाता है; पुष्टिमार्ग का यह उल्लेख भी विद्वानों की दृष्टि में प्रसिद्ध ही माना जाता है—

> **श्रीवल्लभ श्रीविट्ठल भूतल**
> **प्रगटी ने पुष्टि मारग तें विशद करशें।**

अन्य विद्वान् इसे प्रक्षिप्त न मानकर नरसी के ऊपर पुष्टिमार्ग का विपुल प्रभाव स्वीकार करते हैं। जो कुछ भी तथ्य हो, इतना तो निश्चित ही है कि गुजरात का वैष्णव-साहित्य भागवत तथा गीतगोविन्द से साक्षात् रूप से अपनी पुष्टि ग्रहण करता था। ध्यान देने की बात है कि गुजरात का यह प्राचीन वैष्णव-धर्म किसी सम्प्रदाय-विशेष से सम्बद्ध न होकर सामान्यतः निर्विशेष रूप में विद्यमान था। गुजरात के ऊपर साम्प्रदायिक वैष्णव भक्ति की छाप तो विट्ठलनाथजी के सतत उद्योग का परिणत परिणाम है।

गुजरात में पुष्टिमार्ग के प्रचार-प्रसार के निमित्त विट्ठलनाथ के विशेष उत्साह-प्रयास का विवरण वार्ता-ग्रन्थों में विशेषतः उपलब्ध होता है। इसके फलस्वरूप गुजराती-साहित्य पर पुष्टिमार्ग का प्रभाव वस्तुतः सत्रहवीं शती से पड़ना आरम्भ हुआ। उसके पहिले गुजरात का वैष्णव-धर्म, जैसा ऊपर कहा गया है, किसी भी विशिष्ट वैष्णव-सम्प्रदाय से सम्बन्ध नहीं रखता था। गुजराती-साहित्य पर वृन्दावन का तथा वृन्दावनी भक्ति का प्रभाव इस प्रकार कुछ पीछे पड़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है। उसके पूर्व तो मूल प्रेरणा का स्थान था द्वारका तथा स्फूर्त्ति का केन्द्र था भागवतपुराण और जयदेव का गीत-गोविन्द-काव्य। इसी प्रभाव के अन्तर्गत गुजराती के प्राचीन १५वीं तथा १६वीं शती के कवियों ने अपनी वैष्णव कविता का प्रणयन किया।

भागवत के अनुवाद

गुजराती भाषा में भागवत के अनुवाद व्रजभाषा में उस ग्रन्थ के अनुवादों की अपेक्षा कहीं अधिक हैं। ध्यान देने की बात है कि ये अनुवाद संस्कृत श्लोकों के अक्षरशः अनुवाद नहीं हैं; प्रत्युत कवि अपनी विवेचन-शक्ति से काम लेता है; कहीं तो वह कथानक को विस्तार देता है और कहीं वह उसे संकुचित करता है। श्रीकृष्ण की वृन्दावन-लीलाएँ इतनी सरस और मोहक हैं कि उनके प्रति गुजराती कवियों का आकर्षण स्वाभाविक है और इसीलिए इन लीलाओं का विस्तार भी उनकी कविता में लक्षित होता है। गुजराती में भागवतपुराण के जो अनेक अनुवाद उपलब्ध होते हैं, उनमें से महत्त्वपूर्ण उल्लेख ये हैं—(क) **कविवर भालण** (१४वीं शती का अन्तिम भाग)-रचित दशम स्कन्ध, जिसमें राधा से सम्बद्ध पद बहुलता से उपलब्ध होते हैं। (ख) **केशवदास** का कृष्णक्रीडा-काव्य (जिसका नाम गलती से कृष्णलीला-काव्य दिया गया है फार्बस गुजराती सभा के द्वारा प्रकाशित संस्करण में) भागवत के दशम स्कन्ध का ही सुललित अनुवाद है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल १५९२ विक्रमी, अर्थात् १५३५ ईसवी है। (ग) **रत्नेश्वर** (१७वीं शती) ने भागवत के दशम और एकादश स्कन्धों का जो अनुवाद प्रस्तुत किया है, वह भागवत के प्राचीनतम व्याख्या श्रीधरी को भी गतार्थ करता है। वह मूल के साथ-ही-साथ इस विश्रुत व्याख्या का भी अनुवाद प्रस्तुत करता है। दशम स्कन्ध की रचना का काल १७३९ विक्रमी (१६८२ ई०) तथा एकादश स्कन्ध का निर्माण-काल १७४० विक्रमी (=१६८३) है। यह अनुवाद गुजरात में **श्रीधरस्वामी**-रचित व्याख्या की लोकप्रियता का भी सूचक है। इस अनुवाद से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व विरचित **भीम कवि** की 'हरिलीला षोडश कला' **बोपदेव** की सुप्रसिद्ध रचना 'हरिलीला' के आधार पर है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल १५४१ विक्रमी (=१४८४ ईस्वी) है। (ङ) **प्रेमानन्द** (१७०० वि० =१६४३ ई०) का दशम स्कन्ध इनकी रचनाओं में मुख्य है। कवि की स्वीकारोक्ति (व्यासवाणी जाणी जथा, तेहवी प्राकृत जोड़ी कथा) से स्पष्ट पता चलता है कि इस ग्रन्थ की रचना भागवतपुराण के आधार पर की गई है, परन्तु उसे संस्कृत का अनुवाद मानना सरासर गलत है। कवि ने अपनी प्रतिभा के बल पर सर्वत्र नवीनता लाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है और एतन्निमित्त कृष्ण की

कथाओं को अन्य पुराणों से भी संगृहीत कर उनका निवेश यहाँ किया है। प्रेमानन्द ने इसकी रचना विशुद्ध भक्ति की भावना से प्रेरित होकर ही किया है; भौतिक लाभ की लिप्सा इसके पीछे नहीं है। कवि भागवत को समस्त ज्ञान का सार मानता है। फलतः, इस अनुपम प्रेम तथा ज्ञान को अपने पाठकों को वितरित करने की उदात्त कामना ही इस रचना के मूल में जागरूक है। कवि का वचन इस विषय में ध्यान देने योग्य है—

सकल शास्त्र निगमनुं तत्त्व। सर्व शिरोमणि श्री भागवत ॥
ते मध्ये सार छे दसम स्कन्ध। जोडुं हुं प्राकृत पदबन्ध ॥

रचना की शैली मुख्यतया आख्यान-पद्धति ही है, परन्तु यत्र-तत्र पदशैली का भी प्रयोग इसे रस-स्निग्ध बना रहा है। तथ्य यह है कि प्रेमानन्द गुजराती के सूरदास हैं। जिस प्रकार सूरदास की प्रतिभा श्रीव्रजनन्दन कृष्ण तथा व्रजेश्वरी राधा की कमनीय लीलाओं के कीर्त्तन में रमती थी, उसी प्रकार प्रेमानन्द का हृदय इन लीलाओं के वर्णन में उल्लसित होता था। दोनों ही कवियों के जीवन का लक्ष्य ही था—श्रीराधाकृष्ण की लीला में स्वयं रमना तथा अपनी कविता द्वारा दूसरों को रमाना। दोनों अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल हुए थे; यह प्रत्येक विज्ञ आलोचक की मान्य सम्मति है।

भागवत के इन अनुवादों के अतिरिक्त गुजराती कृष्ण-काव्य में मधुरा भक्ति का बड़ा ही भव्य उद्रेक उल्लसित होता है। गुजरात के वैष्णव कवि स्वभाव से ही श्रीराधा की ओर विशेष आकृष्ट हुए। फलतः, भागवत के दो मधुर प्रसंग रासलीला तथा भ्रमर-गीत गुजराती कवियों के लिए नितान्त रोचक और लोकप्रिय विषय थे। भ्रमरगीत के विषय को लेकर चतुर्भुज ने १५७६ विक्रमी (=१५२० ईस्वी) के आसपास **भ्रमरगीता** नामक अत्यन्त मनोहर काव्य का प्रणयन किया, जिसमें उद्धवजी का गोपियों के साथ बड़ा अन्तरंग वार्त्तालाप प्रस्तुत किया गया है। व्रेहेदेव नामक कवि की 'भ्रमरगीता' इसी विषय का वर्णन करती है। राधा के चित्रण में गुजराती कवियों की प्रतिभा बड़ी ही विशदता के साथ अग्रसर हुई है। वृन्दावन-लीला में राधा के साथ श्रीव्रजेश्वर की रासक्रीडा अपना विशेष महत्त्व रखती है और यह कम विस्मय का विषय नहीं है कि गुजरात के अनेक वैष्णव कवियों ने इस विषय में अपनी लेखनी चलाई है और बड़ी सफलता से चलाई है। नरसी मेहता (सन् १४१४–१४८१ ई०) की प्रतिभा ने इस विषय में अपना विशेष जौहर दिखलाया है। राधा तथा कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का आश्रय लेकर इस भक्त कवि ने अनेक काव्यों की रचना की है, जिनमें उनके हृदय का विमल उच्छ्वास, श्रीकृष्ण के प्रति विशुद्ध भक्ति तथा श्रीराधारानी के प्रति नैसर्गिक उमंग बड़े ही वैशद्य से अभिव्यक्त किये गये हैं। कविता कभी-कभी आकार में छोटी है, परन्तु माधुर्य-भावना की अभिव्यंजना बड़ी मार्मिकता से की गई है। नरसी मेहता के 'चातुरी छत्रीसी', चातुरी षोडशी, बाललीला, राससहस्रपदी तथा 'सुरत-संग्राम' काव्यों का सम्बन्ध श्रीराधाकृष्ण-केलि से नितान्त अन्तरंग है। 'चातुरी छत्रीसी' में दूती, कुंजविहार, राधाकृष्ण का रमण आदि विविध विषयों को लेकर प्रणय-चर्चा का वर्णन चातुरी के रूप में किया गया है, तो 'चातुरी षोडशी' के १६ पदों में राधाकृष्ण की क्रीडा का वर्णन एक व्यवस्थित आख्यान रूप में

प्रस्तुत किया गया है। राधा श्रीकृष्ण के साथ अपनी प्रणय-लीला का रोचक वर्णन अपनी अन्तरंग सखी ललिता से करती है—यही इस लघुकाय काव्य का वर्ण्य विषय है। 'सुरत-संग्राम' अपने अभिधान से ही राधाकृष्ण के सुरत-प्रसंग को संग्राम के रूपक में ढालकर प्रस्तुत करने की द्योतना कर रहा है। राधाकृष्ण का मिलन दूतों के माध्यम से सम्पन्न किया गया है। राधा की ओर से स्वयं नरसी दूत का कार्य करते हैं और श्रीकृष्ण की ओर से जयदेव। राधा के पक्ष की विजय होती है। समस्त रचना में बेआसी पद वर्त्तमान हैं। नरसी की 'रासहस्रपदी' नामक रचना का नामकरण नितान्त भ्रामक है। इसके नाम से तो पता चलता है कि इसमें रासविषयक हजार के लगभग पद होंगे तथा यह एक विस्तृत तथा विपुलकाव्य ग्रन्थ होगा; परन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। इसके पदों की संख्या के विषय में विद्वानों में मतभेद है। नरसिंह मेहताकृत काव्य-संग्रह में १८९ पद, के० एम्० मुंशी के अनुसार १२३ पद तथा के० का० शास्त्री के अनुसार ११३ पद निश्चित किये गये हैं। किसी भी गणना से पदों की संख्या दो सौ से ऊपर नहीं है। इस काव्य का विषय है रास का वर्णन, जो भागवत की रासपञ्चाध्यायी के ऊपर ही पूर्णतः आवृत किया गया है। श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का प्रसंग लेकर कविवर वासणदास ने (सं० १६०० विक्रमी) 'कृष्ण वृन्दावन राधारास' (या कृष्ण वृन्दावन राघवरास) नामक काव्य का प्रणयन किया, जो अभी अप्रकाशित है। यह समस्त रचना संस्कृत के 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द में है। कुल वृत्त १३५ हैं। इस काव्य में अनेक प्रसंगों को उठाकर कविता की गई है। अन्त में 'राधारंग' नामक प्रकरण इसे पूरा करता है। इस प्रकार, रास के प्रसंग में अन्य लीलाओं का विवरण होने पर भी काव्य की एकता तथा समग्रता में किसी प्रकार की हानि नहीं हुई है।

ऊपर राधाविषयक गुजरती काव्यों में १५वीं शती से लेकर १७वीं शती के प्रमुख काव्यों का उल्लेख किया गया है। इस विवरण से स्पष्ट है कि राधा का वर्णन गुजराती-साहित्य में पर्याप्तरूपेण विस्तृत है। गुजरात के प्रमुख कवि नरसी मेहता तथा मीराँबाई ने अपनी उदात्त प्रतिभा का उपयोग श्रीराधा के कमनीय सौंदर्य, व्रजनन्दन श्रीकृष्ण के प्रति उनके उज्ज्वल प्रेम तथा रासलीला के वर्णन में किया। प्रेमानन्द को भी इस कवियुग्म में जोड़ दें, तो गुजराती की यह कवित्रयी राधा-काव्य लिखने के विषय में इस भाषा के कवियों में अपनी तुलना नहीं रखती; यह हम निःसंकोच कह सकते हैं। श्रीरुक्मिणी तथा श्रीकृष्ण का प्रणय-प्रसंग भी गुजराती-साहित्य में बड़ा ही लोकप्रिय विषय रहा है। सोनीराम (१७वीं शती) का 'वसन्त-विलास'[१] इस तथ्य को प्रमाणित करनेवाला काव्य है। वसन्त के आगमन पर रुक्मिणी का कृष्ण के विरह में व्याकुल होना तथा अपने शोक का हार्दिक अभिव्यंजना करना इस काव्य का प्रधान लक्ष्य है। इसी नाम का तथा इसी विषय का वर्णनपरक 'वसन्त-विलास' इससे लगभग दो सौ वर्ष प्राचीन किसी अज्ञातनामा कवि की कृति है, जो वर्णन की सुगमता तथा आर्द्र भावों की

१. यह ग्रन्थ कान्तिलाल ब० व्यास द्वारा भूमिका तथा विस्तृत भाषाशास्त्रीय टिप्पणों के साथ सम्पादित किया गया है। प्र० श्री एन्० एम्० त्रिपाठी ऐण्ड कम्पनी, बम्बई, १९४२ ई०।

अभिव्यक्ति में नितान्त सरस तथा सफल रचना है। अन्य रचनाओं से भी इस विषय का परिचय मिलता है। परन्तु, गुजराती कवियों का नितान्त लोकप्रिय तथा हृदयावर्जक विषय रहा है राधा की विभिन्न स्नेहार्द्र प्रसंगों का कीर्त्तन, जिसमें मधुरा भक्ति का स्वाभाविक उद्गार पाठकों के हृदय को अपनी ओर स्वतः आकृष्ट करता है।

गुजराती के 'फागुकाव्य'[१] भी राधाकृष्ण के प्रणय-प्रसंग को बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त करते हैं। ऐसे काव्यों में नर्षाष का फागुकाव्य प्राचीन तथा अभिराम माना जाता है। इस काव्य में गोपाल कृष्ण की गोपियों तथा राधाजी के साथ कमनीय लीलाओं का, वसन्त के मोहक वर्णन के साथ-ही-साथ, सुन्दर विवरण दिया गया है। वसन्त ऋतु के आगमन होने पर श्रीकृष्ण गोपियों के साथ ललित केलि में आसक्त होते हैं, इस काव्य का यही वर्ण्य विषय है। कवि कहता है—

"गोपियाँ नृत्य आरम्भ करती हैं, डमरू बजाये जाते हैं; अपनी कमनीय कान्तिवाले शरीर को झुकाती हुई वेबिलकुल तालबद्ध नृत्य करती हैं। कृष्ण वंशी बजाता है।

"गोपियाँ अपने हाथों में कमल की नालें पकड़े रहती हैं, वे उन्हें अपने मस्तकों पर हिलाती हैं; प्रत्येक स्वर पर वे तालबद्ध हैं और कृष्ण वंशी बजाता है।

"जिस तरह चन्द्रमा ताराओं के समूह में शोभित होता है, उसी तरह मुकुन्द गोपियों में शोभित होता है। मनुष्यगण और इन्द्र प्रार्थना करते हुए उन्हें नमस्कार करते हैं और कृष्ण वंशी बजाता है।"

गुजराती-साहित्य के दो रत्न

मीराँबाई

गुजराती वैष्णव कवि-माला के सुमेरु का नाम है मीराँबाई। मीराँ के विषय में यह कम आश्चर्य का विषय नहीं है कि उनके गेय पदों की माधुरी की ख्याति समग्र उत्तर भारत के विभिन्न साहित्यों में एक समान वर्त्तमान है। गुजरात से बंगाल तक तथा पंजाब से महाराष्ट्र तक, अर्थात् समस्त आर्यभाषाभाषी भारतवर्ष में मीराँ के समान लोकप्रिय भक्त कवि दूसरा नहीं हुआ; यह बात हम निःसंकोच कह सकते हैं। तीन भाषा के साहित्य मीराँ को अपना कवि मानते हैं—राजस्थानी, व्रजभाषा तथा गुजराती। मीराँ का जन्म राजस्थान में जोधपुर राज्य के मेड़ताँ नामक स्थान में हुआ। उन्होंने भगवान् राधाकृष्ण की उपासना की वृन्दावन में तथा उनका अन्तिम काल बीता द्वारका में। फलतः, इन त्रिविध भाषाओं में उनके काव्य की उपलब्धि विशेष अचरज की बात नहीं। माधुर्य भक्ति का नैसर्गिक निदर्शन मिलता है महिला भक्त की भावना में। इस तथ्य को मीराँ ने अपने उदाहरण द्वारा पर्याप्त रूप से प्रमाणित कर दिया। भगवान् श्रीकृष्ण की प्रियतम रूप से उपासना तथा उपलब्धि किसी स्त्री-भक्त के द्वारा जितना सरल तथा स्वाभाविक है, उतना वह पुरुष-भक्त के द्वारा सहज नहीं। तमिल की आण्डाल, कर्नाटक की अक्क महादेवी तथा गुजरात की मीराँ ने पूर्वोक्त तथ्य को अपने जीवन की साधना से इतने सुचारु रूप से सिद्ध कर दिया है कि उसके निमित्त विशेष उपकरणों की आवश्यकता नहीं।

मीराँ की भक्ति-भावना का यह मार्मिक वैशिष्ट्य है कि वह राधा की दासी या

मंजरी बनकर श्रीकृष्ण के वरण के लिए अग्रसर नहीं होती (जैसा सामान्य रूप से अन्य कृष्ण-भक्तों में लक्षित होता है), प्रत्युत वह स्वयं अपने को 'राधा' का प्रतिनिधि मानती हैं। वह स्वयं राधारूपिणी हैं तथा इसी रूप में वृन्दावन की भक्त-मण्डली उसे सर्वदा ग्रहण करती आई है; इसका अनेक ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है। मीराँ के विषय में भक्तप्रवर श्रीनाभादासजी के ये वचन ध्यान देने योग्य हैं—

सहज गोपिका प्रेम प्रगटि कलिजुगहिं दिखायो।
निर अंकुस अति निडर रसिक जस रसना गायो॥
× × × ×
लोकलाज कुल शृंखला तजि मीरा गिरधरभजी।

इस छप्पय के प्रथम चरण में 'गोपिका' का एकवचन में प्रयोग से मीराँ को किसी विशिष्ट गोपिका के प्रेम की प्रकटकर्त्री बतलाया गया है, सामान्य गोपी के प्रेम की नहीं। और यह विशिष्ट गोपी श्रीराधा को छोड़कर और कौन हो सकती है, जिसे अपने संग में लेकर व्रजनन्दन ने समस्त गोपियों को छोड़ दिया था। डाकोर से उपलब्ध प्रति में यह पंक्ति आती है—

रास पूणो जणमियां माई राधिका अवतार।

जिसमें रास-पूर्णिमा को जन्म लेनेवाली मीराँ राधिकाजी का अवतार मानी गई है।[1] मीराँ की पदावली का विश्लेषण हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि मीराँ ने अपने को 'राधा' के रूप में ही चित्रित किया है और इसीलिए उनके पदों में प्रेम का इतना अमल-निरंजन रूप हमें मिलता है तथा भावों में इतनी अन्तरंगता, मार्मिकता तथा हृदयावर्जकता उपलब्ध होती है। मीराँ को निश्चय है कि वह प्रियतम उनका एक जन्म का साथी न होकर जन्म-जन्म का साथी है, जिसे वह दिन-रात कभी भूल नहीं सकती—

म्हारो जणम जणम से शाथी।
थाणे णा विशर्‌या दिण राती॥
थ्यां देख्यां बिण कड़ णा पडतां जाणे म्हारी छाती।
पड़ पड़ थारां रूप निहारां णिरख णिरख मदमाती॥

फलतः, व्रजनन्दन के प्रति राधा के समान गिरिधर नागर के प्रति मीराँ का प्रेम स्वाभाविक है।

श्यामसुन्दर के मथुरा-गमन के समय राधा की जो भावना संभाव्य है, उसका चित्रण मीराँ ने इस पद में किया है—

सांवड़िया म्हारो छाय रहा परदेश।
म्हारा बिछड़्या फेर न मिड्या भेज्यां णा एक शन्नेस॥
रतण आभूषण भूखण छाड्यां खोर कियां शर केस।
भगवां भेख धर्‌यां थे कारण ढूंढ्यां चार्‌यां देस।
मीरां के प्रभु स्याम मिड़ण बिण जीवण जणम अणेस॥

१. देखिए 'मीराँ-स्मृति-ग्रन्थ' में दिया गया पूरा पद, परिशिष्ट, पृ० १९, पद-संख्या ६७ (ख); प्र० कलकत्ता वंगीय हिन्दी-परिषद्, सं० २००६।

अर्थात्, वह साँवलिया परदेश में छा रहा है। उसने एक सामान्य सन्देशा भी नहीं भेजा। उसके विरह में मीराँ ने व्याकुल होकर चारों देशों को ढूंढ़ डाला, परन्तु वह मिलता नहीं। श्याम के विना जीवन तथा जन्म का अन्देशा हो गया है।

मीराँ के पदों में प्रेम की उत्सुकता, प्रियमिलन की आतुरता तथा प्रिय के पधारने की दृढ़ निष्ठा इतनी स्वाभाविकता से चित्रित मिलती है कि सहृदय का मनोमयूर नाच उठता है इस रंगीन तथा हार्दिक चित्रण से। जब से मीराँ ने सुन लिया है, 'हरि आवांगा आज' तब से प्रकृति का कण-कण यही पद पुकार रहा है। वह महल पर चढ़कर रास्ता देखती है और पूछती है कि हमारे महाराज कब पधारेंगे। धरती ने उनके स्वागत के लिए नवीन सुन्दर रूप धारण कर अपने को सजा रखा है। प्रकृति के भीतर व्याप्त अलोक-सामान्य प्रेम को परखनेवाली मीराँ आनन्द से गा उठती है—

सुण्यारी म्हाणे हरि आवांगा आज।
म्हैला चढ़-चढ़ जोवां सजणी, कब आवां महाराज।
दादुर मोर पपैया बोल्यां कोइड़ मधुरां साज॥
उमग्या इंद चहुं दिसि बरसां दामण छाड्यां ड़ाज।
धरती रूप नवां नवां धर्‌या इंद मिलण रे काज॥
मीरां के प्रभु गिरधर नागर कब मिड़श्यो महाराज॥

कृष्ण के विरह में विलखनेवाली राधा का यह चित्र किसे मुग्ध नहीं कर देता—

सजणी कब मिड़श्या पिव म्हारां।
चरण कवड़ गिरधर शुख देख्यां राख्यां णेणा णेरा॥
णिरखां म्हारो चाव घणेरा मुखड़ा देख्यां थारां।
ब्याकुड़ प्राण धरयां णा धीरज बेग हर्‌यां म्हा पीरां॥
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर थे बिण तपण घणेरा॥

मीराँ की अपने प्रियतम से विछुड़ने की वेदना का निवेदन इतना मार्मिक है कि उसे सुनकर पत्थर का भी कलेजा पिघल उठता है। मेरा नम्र निवेदन है कि व्रजेश्वरी राधा का प्रेम कितना उज्ज्वल तथा उनका आत्मनिवेदन कितना मार्मिक तथा हार्दिक था कि इसे समझने के लिए दो ऐतिहासिक व्यक्ति हमारे सामने हैं, जिन्होंने अपने जीवन में उस उदात्त राधाभाव की एक मधुर झाँकी प्रस्तुत की थी। एक तो हैं महाप्रभु चैतन्यदेव तथा दूसरी हैं मीराँबाई। इन दोनों भक्तों के जीवन में माधुर्यभाव की विशेष समता दृष्टिगोचर होती है, कहीं व्यक्त भाव से और कहीं अव्यक्त भाव से। मीराँ के जीवन-सर्वस्व ही थे श्रीनागर गिरधर, जिनके विरह में वह दिनरात आँसुओं की वर्षा करती थी और अन्त में उन्हीं के भौतिक श्रीविग्रह रणछोड़जी (द्वारका जी) के मन्दिर में मीराँ ने आत्म-निवेदन से स्निग्ध यह रसपेशल पद का गान किया था और उस विग्रह में लीन हो गई थी।

अब तो निबाह्याँ बाँह गह्याँ री ड़ाज।
असरण सरण कह्याँ गिरधारी पतित उधारण पाज।

भोसागर मंझधार अधारां राख्यां घणो णेवाज ॥
जुग जुग भीर हरां भगतां री दीस्यां मोच्छ अकाज ।
मीरां सरण गह्यां चरणां री ड़ाज राख्यां महाराज ॥

राधा भाव का यही चरम निदर्शन है—आत्मनिवेदन का सुन्दर उदाहरण है। मीराँ का जीवन इसी भावना से आद्यन्त ओत-प्रोत है।

नरसी मेहता

गुजराती-साहित्य में राधाकृष्ण की लीला का कीर्त्तन कर अमरता प्राप्त करनेवाले भक्त कवियों में नरसी मेहता (जो गुजराती में नरसिंह मेहता के नाम से ही प्रख्यात हैं) का स्थान बड़ा ही उच्च तथा उदात्त है। ईसा की १६वीं शती में गुजरात में भक्ति को नई प्रेरणा देनेवाले नरसी मेहता की अलौकिक भक्ति तथा भगवान् की विमल अनुकम्पा के भाजन होने की ख्याति देश-भर में बहुत ही शीघ्र फैल गई। इनके पिता तो थे वड़नगर के नागर ब्राह्मण, परन्तु नरसी का जन्म जूनागढ़ के पास तुलाजा नामक गाँव में हुआ था। पिता की मृत्यु इनके बाल्यकाल में ही हो गई। फलतः, साधु-सन्तों की संगति में बैठना तथा भगवान् की भक्ति-सुधा का पान करना इनके आरंभिक जीवन का मुख्य कार्य हो गया। बैठे-ठाले रहने के कारण अपनी उग्र स्वभाववाली भौजाई के कटुवचन तथा तीखी आलोचना सहने का इनका स्वभाव हो गया था; परन्तु एक बार उसके कड़ुवे वचनों से ये इतने मर्माहत हुए कि घर छोड़कर जंगल में चले गये और वहीं एक परित्यक्त शिव-मन्दिर की पूजा करने लगे। वहीं एक मन्दिर में इन्होंने सात दिनों तक गोपीनाथ की पूजा की। फलस्वरूप, भगवान् उन्हें अपने साथ गोलोक में ले गये, जहाँ पहुँचकर इन्होंने श्रीकृष्ण की रासलीला देखी और उनके जीवित सम्पर्क में आये। तब से इनकी जीवनधारा ही प्रवर्त्तित हो गई और नीच जाति के साथ भी कभी-कभी भगवान् के भजन तथा कीर्त्तन करने के कारण इन्हें अपनी जाति से च्युत होना पड़ा। तब इन्होंने बड़े विषाद के साथ यह पद गाया था—

निरधन ने नात नागरी, हरिन आपीश अवतार रे।

अर्थात्, हे भगवन्! अगले जन्म में न तो मुझे निर्धन बनाना और न नागर जाति में जन्म देना। परन्तु, समाज के तिरस्कार को इन्होंने वरदान माना और अपनी भक्ति-भावना के रंग को हमेशा चोखा बनाते गये।

इनकी श्रीकृष्णविषयक रचनाओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। श्रीराधा तथा कृष्ण के विषय में रचे गये इनके पदों की संख्या पर्याप्तरूपेण अधिक है। इनके ये पद सदियों तक जन-जन की जिह्वा पर चढ़े रहे। ये चैतन्य तथा मीराँ के समान श्रीकृष्ण को अपना जीवित स्वामी मानते थे तथा उनका विश्वास था कि वे भगवान् शंकर के साथ गोलोक में गये थे और वहीं राधाकृष्ण के नृत्य के समय इन्होंने मशाल दिखलाने का काम किया था।

इनके पदों का विषय ही है राधा तथा गोपियों का श्रीकृष्ण के साथ मिलन तथा विरह। इनका हृदय राधाकृष्ण की भक्ति से नितान्त ओत-प्रोत था, तथा उनकी लीला गाने में

नरसी अपने जीवन के प्रतिक्षण का व्यय करते थे। राधा की हार्द भावना की अभिव्यंजना में इनका एक स्थान पर कहना है कि मेरे प्रेमी ने बाँसुरी बजा दी है। अब मैं ऐसी व्याकुल हूँ। अब मैं उन्हें देखने का कौन-सा उपाय करूँ?

बाँसडली वाई मारे वहाले, मंदिर मां न रहे वाय रे।
व्याकुल थई ने वहालाने, जोवा शुं करुँ उपाय रे॥

राधा श्रीकृष्ण के संग मिली हैं। वह इस अवसर पर चन्द्रमा को लक्ष्य कर अपनी मनःकामना प्रकट कर रही हैं—'हे चन्द्र, आज दीपक की तरह न जलो। आज स्थिर हो जाओ। आज रात मेरा प्रेमी मेरे साथ है, सारी लज्जा समाप्त हो चुकी है......तुम अपनी किरणें फीकी न करो। देखो, मेरा प्रेमी मुझे देखकर मुस्कराता है......मेरे प्राणों के प्राण आज मुझसे मिले हैं—

दीपकड़ो लईश मारे चाँद लिया
स्थिर थई रहेजे आज।
वाहलोजी विलस्यो हुं साथे
लोपी सघली लाज॥
रखे जोत तुं झांखी करतो
पीउड़े मांड्युं हास्य।
प्राण नो प्राण ते आज
मुजने मल्यो॥

गुजराती राधा काव्य का वैशिष्ट्य

गुजराती कवियों के राधाकृष्ण-लीला के वर्णन में पर्याप्त भावप्रवणता का साक्षात्कार होता है। व्रजभाषा के मान्य कवियों के समान वे भी वात्सल्य तथा शृंगार की अभिव्यक्ति में विशेष सफल सिद्ध होते हैं। कृष्ण की बाललीला के चित्रण में उन्होंने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दक्षता का बड़ा ही शोभन परिचय दिया है। जब व्रजनन्दन के प्रेम-प्रांगण में अभिनव सुन्दरी राधा का अविर्भाव होता है, तब वे प्रेमी तथा प्रेमिका दोनों के हृदय में प्रवेश कर उनके भावों का अंकन इतनी अभिरामता के साथ करते हैं कि भावुक आलोचक सद्यः रीझ उठते हैं। उनके वर्णन में काव्यकला के संग में हृदय-पक्ष की अभिव्यंजना बड़ी मार्मिकता के साथ उपलब्ध होती है। वृन्दावन के कमनीय कुंजों में राधा तथा कृष्ण का प्रथम मिलन, उनकी प्रीति की क्रमिक उन्नति तथा रास के अवसर पर प्रेम की पराकाष्ठा और विविध लीलाओं का चित्रण उनकी प्रतिभा तथा अनुभूति का मनोरम सामञ्जस्य प्रस्तुत करता है। इन चित्रणों में इन कवियों का भक्तिमय हृदय उल्लासमय झाँकी दिखलाता है। काव्यकला और भक्ति-भावना—इन दोनों उपकरणों के मधुर सन्निवेश ने इन चित्रणों में अभूतपूर्व चमत्कार पैदा कर दिया है। यह तो मानी हुई बात है कि गुजराती के ये कवि पहिले भक्त थे और बाद में कवि। प्रथमतः वे भक्ति-रस से स्निग्ध हृदयवाले कृष्ण-भक्त थे और अनन्तर प्रतिभा के सहारे ऊँची उड़ान भरने-वाले भावुक कलावन्त। परन्तु, भूलना न होगा कि शृंगार की अभिव्यंजना कभी-कभी

इतनी विशद तथा निर्मल नहीं हो पाई है, जितनी आध्यात्मिक प्रेरणा-सम्पन्न कवियों से आशा की जाती है। व्रजभाषा के कवियों के द्वारा वर्णित प्रेम-पद्धति तथा रागात्मिका वृत्ति के विभिन्न अंग-उपांगों के साथ गुजराती कवियों द्वारा प्रस्तुत भाव-सम्पद् की तुलना करने पर व्रजभाषा के कवियों की कला विशेष रूप से उल्लसित होती है।

कृष्ण के प्रति राधारानी की प्रेमाभिव्यंजना के अनेक रुचिकर दृश्य नरसी मेहता की कविता में उपलब्ध होते हैं। नरसी की राधा के हृदय में कृष्ण की समीपता पाने की अभिलाषा तीव्रतर है। हार को गाढालिंगन में व्यवधान समझना उचित ही है और इसी-लिए वह कभी हार पहनने का विचार भी नहीं करती। ऐसी वस्तु को कौन धारण करे, जिससे प्रियतम के अंग के साथ गाढ़ मिलन सम्भव न हो। नरसी की राधा की भावुकता बड़ी ही उच्च कोटि की है—

पीयु मारी सेजडीनो शणगार
जोवण सींचण हार।
पीयुजी कारण हुं तो हार न धरती
जांणु रखे अंतर थाये॥
—नरसी

यह भावुकता तो सूर की राधा की भावुकता से कहीं अधिक तीव्र तथा स्वाभाविक है, जो अपने कंठ से पहने हुए हार को इसलिए उतारती है कि उसके रखने से व्रजनन्दन के साथ यथार्थतः मिलन नहीं हो सकता—

उतारति हैं कंठनि ते हार
हरिहरि मिलत होत है अन्तर
यह मन कियो विचार॥
—सूरसागर, पृ० २०६

कृष्ण के प्रति गोपियों की मनोदशा का वर्णन बड़ी भावुकता के साथ तथा सूक्ष्म दृष्टि से नरसी ने अपनी कविता में किया है। कोई गोपी कृष्ण की वंशी-ध्वनि से विह्वल होकर नाम बिना जाने ही श्याम-छवि पर अपना हृदय निछावर कर देती है, तो कोई कृष्ण की मुस्कान से विद्ध हो उठती है और नाना मंगलमय उपायों से उनका स्वागत करती है। गोपियों की उतावली तथा प्रेमरंग में आतुरता की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से की गई है।

राधा का विरह प्रकृति पर अपना विशेष प्रभाव डालता है। राधा के स्वर को सुनकर आधी रात में पक्षी जाग उठते हैं और यमुना भी डोलने लगती है; सूर्य देवता प्रकाश करने लगते हैं, कमल खिल उठते हैं और पद्मिनी भयभीत हो जाती है—

पंखी मात्र नहि पण पशु जागियां
सुणी स्वामिनी मुख वाण।
त्यां स्थिर जमणा लागी डोलवा,
स्वर थमो जलचरने जाण।

स्वर सुणियो सूरज देवता
पाला धाय करवा प्रकाश ।
स्वर सुणि रे कमल खीलियां,
उपज्यो पोयणी ने त्रास ॥
—नरसी मेहता-कृत काव्य-संग्रह, पृ० ६०

जो प्रकृति अन्य क्षणों में कृष्ण के साथ रमण करने की अभिलाषा राधा के मन में जाग्रत् करती है, वही विरह की दशा में राधा का वैराग्य उत्पन्न करती है—

चकचक करती चकलियुं आवे
जाणे वियोग तो भागे रे ।
खुश खुश खुश खीश कोली कहे छे
राधा ने रुडुं न लागे रे ॥
—न० मे० कृ० का० सं०, पृ० ६१

नरसी मेहता की निजी भक्ति-भावना 'गोपी भाव' शब्द के द्वारा प्रकट की जा सकती है। श्रीकृष्ण के प्रेम में आसक्त गोपियों की मनोदशा को उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से निरखा है। फलतः, उनकी कविता में ऐसे वर्णनों का बाहुल्य है जिसमें गोपियों के मानस को तरंगित करनेवाले भावों का मधुर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इस गोपी की दशा पर दृष्टिपात कीजिए, जो कृष्ण की वंशी-ध्वनि से ही विह्वल होकर विना नाम जाने ही अपने-आपको श्याम-छवि पर निछावर कर लेती है। वह नाम नहीं जानती; केवल उसकी श्यामल शोभा से परिचित है तथा उसके हाथ में रखी बाँसुरी की सुरीली तान से विद्ध हो उठी है—

नाम न जाणुं पण छे कालो ।
ओ जाये ओ जाये कोई पाछो, वालो ॥
छेलपणे छमकलो वहालो, शामलीये साइडुं लीधुं रे ।
मारगमां वांसलड़ी वाहतां, चित हरी ने लीधुं रे ॥
आलंगिन आप्युं वहाला अलवे, नाथ मन मान्युं तमशुं रे ।
नरसैयाचा स्वामी आपण रमिये अंतर टालो अमशुं रे ॥

प्रेमानन्द (१७०० ई०) के समय-निरूपण में गुजराती विद्वानों में अभी तक मतभेद भले ही हो, परन्तु इनकी रचना की उदात्तता, अलौकिक कल्पना और मानव-स्वभाव के निरीक्षण में अद्भुत शक्ति के विषय में मतभेद के लिए स्थान नहीं है। इनके 'दशम स्कन्ध' का उल्लेख पहिले किया गया है। 'रुक्मिणीहरण', भ्रमरगीत तथा सुदामाचरित—इन काव्यों में इनकी काव्य-शक्ति का सरस परिचय मिलता है। कवि अपने विषय के वर्णन में इतना आसक्त हो जाता है कि उसके लिए यह सारा विश्व ही राधाकृष्ण के विमल प्रेम का संदेशा सुनाता प्रतीत होता है। बाल गोपाल की लीलाओं के चित्रण में प्रेमानन्द की प्रतिभा विशेष स्फुरित होती है और इसलिए 'सूरदास' से इनकी तुलना बहुशः की जाती है। प्रीतमदास (१७७८ के आसपास) भी राधा-काव्य के प्रणेताओं में

नितान्त लोकप्रिय माने जाते हैं। इनकी कृष्ण-गीति मधुरभावापन्न होने से गुजरात की स्त्रियों में भी विशेष रूप से प्रख्यात है। वाँसुरी का यह उलाहना कितना सुन्दर तथा हृदयावर्जक है—

हे वांसलडी! वेरण थई लागी व्रजनी नारने।
तुं शोर करे, जात लडीं तारी ने, मन विचारने॥
तें एवडां कामण शां कीधां?
श्यामलीए मुखचुंबन लीधां
मन व्रज वासीनां हरी लीधां
हे वांसलडी............ ॥
तुने कोउ करो कृष्णे भाली
गौ नाद सूणी आवी चाली
तुं विश्वंभरने बहु वहाली।
हे वांसलडी.............. ॥
पूरत तुं कांई नथी लावी
उघाडे छोगे छे आवी
भगवान तणे मन बहु भावी
हे वांसलड़ी.............. ॥
ते व्रतव्रतादिक शुं कीधुं
राधा थकी मान अधिक लीधुं
तुने आलिंगन प्रभु ए दीधीं।
हे वांसलडी............... ॥

इस प्रकार, गुजराती साहित्य में 'राधा' का लीला-प्रसंग वड़े विस्तार के साथ वर्णित है और वह पर्याप्तरूरेण मोहक, मधुर तथा मनोहर है। कृष्ण की लीलाओं का विस्तार-वर्णन, बँगला के कविजनों के सदृश न होकर व्रजभाषा के कवियों की पद्धति पर है— कोमल, तथा हृदयवेधक। एक ही वात आलोचक को वेहद खटकती है और वह है राधा का सुरत-वर्णन। गुजराती कवियों ने इसका विशेष वर्णन किया है। यह वर्णन संग्राम के रूपक के भीतर किया गया है। परन्तु, कहीं-कहीं यह शृंगार की सीमा को पारकर बीभत्स की कोटि में अवतीर्ण हो गया है, जो वड़ा ही उत्तेजक प्रतीत होता है। राधा-कृष्ण दिव्य नायक-नायिका हैं। फलतः, उनकी प्रत्येक लीला मर्यादा के भीतर औचित्यपूर्ण होनी चाहिए। औचित्य की सीमा का तथा मर्यादा का उल्लंघन नितान्त अशोभन तथा अरुचिकर होता है। मेरी दृष्टि में गुजराती कवियों द्वारा वर्णित राधाकृष्ण-केलि का वर्णन व्रजभाषा के कवियों की पद्धति का अनुसरण करता है और मूल रस के उन्मीलन में पर्याप्त रूप से सफल है।

षष्ठ परिच्छेद

दक्षिणाञ्चलीय साहित्य

(१) तमिल-साहित्य में राधा
(२) कन्नड-साहित्य में राधा
(३) तेलुगु-साहित्य में राधा
(४) मलयालम-साहित्य में राधा

(१) तमिल-साहित्य में राधा

भारतवर्ष के दक्षिण अंचल का साहित्य द्राविड साहित्य के नाम से विख्यात है। 'द्रविड' शब्द मुख्यतया तमिल-भाषा के साहित्य के लिए सीमित किया जाता है, परन्तु विस्तृत रूप से यह द्राविड साहित्य अपने अन्तर्गत चार विभिन्न साहित्यों को अन्तर्भुक्त करता है, जो दक्षिण भारत में प्रादुर्भूत हुए। इन चारों विभिन्न भाषीय साहित्यों के नाम हैं—(१) तमिल-साहित्य, (२) तेलुगु-साहित्य, (३) कन्नड़-साहित्य तथा (४) मलयालम-साहित्य, जो क्रमशः तमिलनाडु, आन्ध्र-प्रांत, कर्नाटक-प्रांत और केरल-प्रांत में उत्पन्न हुए तथा त त् प्रांत के निवासियों द्वारा व्यवहृत, चर्चित तथा समादृत हैं। इन चारों में तमिल अत्यन्त प्राचीन माना जाता है और प्राचीनता तथा व्यापकता में गीर्वाण-वाणी संस्कृत के समान अंगीकृत किया जाता है। इसका विशाल प्राचीन साहित्य विस्मृति के गर्भ में चला गया है। अवशिष्ट प्राचीन साहित्य तृतीय 'कविसंघ' से सम्बद्ध माना जाता है और काल की दृष्टि से वह विक्रम की कई शताब्दियों पूर्व का माना जाता है। मलयालम (मलय=पर्वत तथा आलम=समुद्र; पर्वत तथा समुद्र के बीच का प्रांत) भाषा का साहित्य लगभग डेढ़ हजार वर्ष पुराना है। इन दोनों भाषाओं के साहित्य के बीच में आते हैं तेलुगु तथा कन्नड़-साहित्य। इन चारों साहित्यों में भक्ति-काव्यों की रचना प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। तमिल-साहित्य के ऊपर बौद्ध तथा जैनधर्म का प्रभाव भी आरम्भ में पड़ा था, परन्तु थोड़े ही दिनों में ब्राह्मण-धर्म का प्रचुर प्रचार उन धर्मों के उच्छेद का कारण बना। इन चारों साहित्यों के भक्तिमय काव्यों में 'राधा' के अस्तित्व तथा प्रभाव का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

हमने पूर्व परिच्छेदों में 'राधा' नाम की उत्पत्ति, काल तथा देश का संकेत यत्र-तत्र किया है। इस अभिधान का उदय उत्तर भारत में हुआ। प्राकृत साहित्य के विश्रुत काव्यग्रन्थ 'गाथासप्तशती' में तथा संस्कृत-साहित्य के प्रख्यात कथा-ग्रन्थ 'पञ्चतन्त्र' में श्रीकृष्ण चन्द्र की प्रेयसी, विशेष प्रियपात्री गोपी के लिए 'राधा' नाम का प्रथम प्रयोग उपलब्ध होता है। फलतः, इसके उदय का स्थल उत्तर भारत ही है। संस्कृत के द्वारा प्रभावित दक्षिण भारत के साहित्य में यह नाम कभी-कभी अपना अस्तित्व दिखलाता है; परन्तु जिसे हम 'विशुद्ध' द्रविड-साहित्य के नाम से पुकारते हैं, अर्थात् जो उत्तर भारत की ब्राह्मण-संस्कृति के प्रभाव-क्षेत्र से बिलकुल अछूता रहा है, उसमें न 'राधा' का नाम मिलता है और न तत्सम्बन्धी मधुर लीलाएँ ही उपलब्ध होती हैं। यह तथ्य तमिल-साहित्य पर सब प्रकार से लागू है। इसके प्राचीन साहित्य में 'मायोन' नाम से विष्णु अथवा तदवतार-भूत श्रीकृष्ण का संकेत अवश्य मिलता है, परन्तु उनकी प्रियतमा के रूप में 'राधा' का सर्वथा अभाव है। इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए संघकालीन साहित्य के प्राचीनतम लक्षण-ग्रन्थ 'तोलकाप्पियम्' तथा मधुर काव्य-ग्रन्थ 'परिपाडल' के विषय-विवेचन से परिचय आवश्यक है।

तोलकाप्पियम्

संघ-काल के विख्यात लक्षण-ग्रन्थ 'तोलकाप्पियम्' में व्याकरण के नियमों के अतिरिक्त धर्म तथा साहित्य से सम्बद्ध सामग्री का सद्भाव साहित्य की दृष्टि से भी उसे बहुत ही उपयोगी बनाता है। यह अपने युग का एक नितान्त विश्रुत तथा प्रामाणिक ग्रन्थ-रत्न है और इसका युग भी ईसवी-पूर्व चतुर्थ शती से कथमपि पीछे नहीं माना जाता, यद्यपि कई विद्वानों की मान्यता के अनुसार इसका समय ईसवी-पूर्व ३५०० वर्ष भी हो सकता है। इसके अनुसार तमिल देश की भूमि का पाँच वर्गों में विभाजन किया गया है और प्रत्येक भू-भाग से एक विशिष्ट देवता का सम्बन्ध इसके ग्रन्थकार को अभीष्ट है। मुल्लै (या वनभूमि) के आराध्य देव का नाम 'मायोन' है, जिसे प्रथम स्थान देकर गौरव प्रदान किया गया है। 'मायोन' का रूढिगत अर्थ है—नील मेघ के समान द्युतिवाले भगवान् और यह शब्द मेघ के सदृश नील वर्णवाले 'विष्णु' का द्योतक माना जाता है। तमिल देश के इस मुल्लै भाग में गोचारण का व्यवसाय करनेवाले अहीर लोग रहा करते थे, जिन्हें 'आयर' नाम से पुकारते हैं और इन अहीर लोगों के अत्यन्त प्रिय देवता थे श्रीविष्णु भगवान् के अवतार-रूप श्रीकृष्ण, जिनकी बाललीलाओं का सम्बन्ध वनभूमि से था। कृष्ण वनभूमि में गोचारण आदि व्यापार किया करते हैं। फलतः, 'आयर' लोगों के वे प्रिय तथा आराध्य देवता के रूप में सर्वत्र स्वीकृत किये गये हैं। तमिल लोग कृष्ण को 'कण्णन्' के नाम से पुकारते हैं, जो व्रजभाषा के 'कान्ह' या 'कन्हैया' के समान ही प्रीति-सूचक अभिधान है। केरल-प्रांत में भी कृष्ण इसी नाम से अभिहित किये जाते हैं, जैसा इस विख्यात लोकगीति में उनका अभिधान दिया गया है—

कण्णनां उण्णियै काणुमार आकणं
कारेलि वर्णने काणुमान आकणं।

इसका भावार्थ है कि ऐ मेरे प्यारे कृष्ण, मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा दर्शन करूँ। ऐ मेघ के समान साँवले कृष्ण, हे श्यामसुन्दर, मैं तुम्हारा दर्शन चाहता हूँ।

तमिल देश में इन कण्णन् की अनेक कथाएँ तथा लीलाएँ वर्णित हैं, जो नूतन हैं और उत्तर भारत में प्रचलित कथाओं से नितान्त पृथक् हैं। ये कथाएँ काव्य में वर्णित तथा नाटक-रूप में अभिनीत भी होती थीं। 'कण्णन्' की प्रेयसी है **नप्पिनै**, जिसका पाणि-ग्रहण करने के लिए अपने पराक्रम की द्योतना के निमित्त उन्हें उत्तेजित सात ऋषभों (बैलों) को दबाकर वश में करना पड़ा था। नप्पिनै के पाणिग्रहण की यह शर्त्त थी, जिसे पूरा कर कण्णन् ने अपना प्रभूत पराक्रम दिखलाकर उनके साथ विवाह किया था।

तमिल-भाषा के विद्वानों की दृष्टि में यह जो 'ऋषभ-वशीकरण' का सम्बन्ध नप्पिनै के पाणिग्रहण के साथ किया गया है, वह द्रविड देश की निजी कल्पना है; ऐसी मान्यता उस देश के विद्वानों में पाई जाती है; परन्तु यह मान्यता कृष्ण की भागवती कथाओं में भी उत्तर भारत में उपलब्ध होती है। भागवत के दशम स्कन्ध के ८३वें अध्याय में द्रौपदी तथा श्रीकृष्ण की पटरानियों के वार्त्तालाप का वर्णन है, जहाँ द्रौपदी ने उनसे कृष्ण भगवान् के साथ उनके पाणिग्रहण की बात पूछी है। सभी ने अपने विवाह के प्रसंग का विशिष्ट वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया है। **सत्या** नामक पटरानी ने अपने विवाह का विवरण देते हुए कहा—मेरे पिताजी ने मेरे स्वयम्वर में आये हुए राजाओं के बल-पौरुष की परीक्षा के लिए बड़े बलवान् और पराक्रमी, तीखे सींगवाले सात बैल रख छोड़े थे। उन बैलों ने बड़े-बड़े वीरों का घमंड चूर-चूर कर दिया था। उन्हें भगवान् ने खेल ही खेल में झपटकर पकड़ लिया, नाथ दिया और बाँध दिया; ठीक वैसे ही, जैसे छोटे-छोटे बच्चे बकरी के बच्चों को पकड़ लेते हैं। इस प्रकार भगवान् बल-पौरुष के द्वारा मुझे प्राप्त कर चतुरंगिणी सेना तथा दासियों के साथ द्वारका ले आये। मार्ग में जिन क्षत्रियों ने विघ्न डाला, उन्हें जीत भी लिया। मेरी यही अभिलाषा है कि मुझे इनकी सेवा का अवसर सदा-सर्वदा प्राप्त होता रहे—

> सप्तोक्षणोऽतिबलवीर्यसुतीक्ष्णशृङ्गान्
> पित्रा कृतान् क्षितिपवीर्यपरीक्षणाय ।
> तान् वीरदुर्मदहनस्तरसा निगृह्य
> क्रीडन् बबन्ध ह यथा शिशवोऽजतोकान् ॥
> य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरङ्गिणीम् ।
> पथि निर्जित्य राजन्यान् निन्ये तद्दास्यमस्तु मे ॥
>
> —भागवत, १०।८३।१३–१४

संघ-साहित्य से विदित होता है कि 'मायोन' अथवा 'तिरुमाल' की पूजा-अर्चा का प्रचार जनसाधारण में विशेष रूप से था; भागवत धर्म एवं अवतारवाद की प्रतिष्ठा, तथा विष्णु-नारायण-वासुदेव-कृष्ण का एकीकरण, ईसवी-पूर्व की शताब्दियों में तमिल देश में सम्पन्न हो गया था। इस युग के 'परिपाडल' नामक प्रख्यात काव्य की आलोचना से मायोन (मायावी विष्णु) के स्वरूप, पार्षद तथा पुण्य क्षेत्रों का पूर्णतः परिचय होता है।

'परिपाडल' में कभी ७० कविताओं के अस्तित्व का पता चलता है; परन्तु आज उसकी केवल २२ कविताएँ ही प्राप्त होती हैं, जिनमें ६ कविताओं में मायोन की भक्ति का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इन कविताओं के कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं, जिससे तमिल लोगों में विष्णु (तथा श्रीकृष्ण) के स्वरूप का परिचय हिन्दी-पाठकों को लग सकता है—"हे विष्णो, सहस्रफण शेषनाग तेरे मस्तक पर अलंकृत हैं; लक्ष्मी तुम्हारी छाती पर आसीन है। स्वच्छ शंख के तुल्य शरीर गजयुक्त पताका, हलायुध और **मुरली को धारण** किये तुम बलदेव के तुल्य हो।

"कमल के समान शरीर, नीलोत्पल के समान नेत्र, लक्ष्मी के आसन-योग्य वक्षःस्थल और उसमें शोभायमान कौस्तुभमणि और पीताम्बर को तुम धारण करते हो। गरुड को पताका में धारण करनेवाले तुम्हारी महिमा के गाने में वेद भी अवाक् हैं।

"लोहिताक्ष वासुदेव! श्यामाक्ष संकर्षण! सुवर्णकाय प्रद्युम्न! हरितदेही अनुरुद्ध! **गोप-वधुओं के साथ रासक्रीडा करते समय तुम बारम्बार दाँयें-बाँयें होते रहे।** घट-नृत्य के समय तुमने घट उठा लिया।········तुम सनातन पुरुष हो, विश्वराट् हो, क्रांतदर्शी कवि हो, गीता-शिखामणि हो, **वनमालाधारी हो**, शंख और पीतम्वरधारी लक्ष्मी-पति हो। हे चक्रधर, तुम्हारे चक्र की छाया में संसार सुखी है। तुम्हारा करुणा-कटाक्ष हमें प्राप्त हो।

"भक्तों के हृदय में भासित रूप ही तुम्हारा यथार्थ रूप है। नीलमणि के तुल्य सुरभित तुलसी-माला, सुवर्ण वर्ण का श्रीवत्स और नीलोत्पलवत् नेत्र को धारण किये हुए तुम अतीव मनोज्ञ मालूम पड़ते हो।····वट और **कदम्ब-वृक्ष**, नदी और पर्वत आदि स्थानों में विभिन्न रूपों में विद्यमान तुम अनेक नामधारी हो। भक्तों के भक्तिपूर्ण संपुट-करों में तुम शान्त रूप से आसीन हो। भक्ति में प्रेरित कर हमारे सुकृत्यों की रक्षा तुम ही करते हो। हम पर करुणा करो।"[१]

इस प्रशस्त स्तुति में मोटी रेखा से अंकित पदों को ध्यान से देखने पर आलोचक को स्पष्ट हो जाता है कि श्रीकृष्ण के स्वरूप के साथ जिन विशिष्ट चिह्नों का परिचय हम रखते हैं, वे सब यहाँ प्रस्तुत हैं। 'मायोन' के साथ मुरलीधारी, कदम्ब-वृक्ष के नीचे विहार करनेवाले, गोपियों के साथ रासक्रीडा में निरत रहनेवाले वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण का पूरा ऐक्य यहाँ सम्पादित होना इस तथ्य का स्पष्ट द्योतक है कि तमिल देश में ईसवी-पूर्व के काल में कृष्ण की वृन्दावनी लीला का परिचय पर्याप्त रूप से था।

अलवार लोगों का समय पंचम शती से नवम शती तक माना जाता है। इस युग में तो तमिल भक्तों का श्रीकृष्ण की विविध वृन्दावन-लीलाओं के साथ गाढ परिचय परिलक्षित होता है। सुप्रसिद्ध अलवार विष्णुचित्त तथा उनकी पोष्यपुत्री आण्डाल की कविता में

१. 'परिपाडल' के इन पद्यों का अनुवाद श्रीचन्द्रकान्त (हिन्दी-विद्यापीठ के, आगरा तमिल-भाषा के प्राध्यापक) ने किया है। उन्हीं के कतिपय अंश यहाँ उद्धृत हैं। द्रष्टव्य : हिन्दी-विद्यापीठ(आगरा) की पत्रिका 'भारतीय साहित्य', अप्रैल, १९५७ ई० की संख्या (वर्ष २; अंक २), पृ० १९–२२।

श्रीकृष्ण की नाना वृन्दावनी लीलाओं का वर्णन विशेष रूप से मिलता है। विष्णुचित्त की एक प्रख्यात कविता, अपने तमिल मूल तथा संस्कृत-अनुवाद के साथ, उद्धृत की जाती है, जिसका आशय है कि हे कृष्ण, तुमने नप्पिनै के साथ विवाह के निमित्त बैलों के साथ घोर युद्ध किया था, अपने शरीर की रक्षा पर विना ध्यान दिये ही तुम स्वच्छन्द चेष्टा किया करते हो; मथुरा की गलियों में कटु चेष्टा करते हुए तुमने मल्लों के साथ युद्ध किया था तथा अपने पाद-प्रहार से कंस को मार डाला था। ऐसे चरितवाले तथा सुवर्ण के समान स्पृहणीय शरीरवाले श्रीकृष्ण पुन्नागफूल को पहनने के लिए यहाँ आओ। यशोदा का वचन बालगोपाल से—

मूल तमिल—

एरु दुहलोडु पोरुदि एदु मुलोबाय काणनम्बि
करु दियती मैहल् शेय्दु कञ्जनैक्काल् कोडु पायन्दाय ।
तेरुविन्कण् तीमैहल् शेय्दु शिक्कन मल्लर्हलोडु
पोरु हुवरुहिन्न पोन्ने पुन्नै प्पूच्चूट्ट वाराय ॥

संस्कृतानुवाद—

युद्धं दारुणमातनन्थ वृषभैः गोत्रे विरक्तो निजे
स्वच्छन्दं च विचेष्टसे चरणतः कंसं प्रहृत्याहरः ।
रथ्यायां कटुचेष्टितानि कलयन् मल्लैः समं युद्धम—
प्याधायागत ! हेमरम्य ! शिरसा पुन्नागपुष्पं वह ॥

इस पद्य के आरम्भ में वृषभों के साथ दारुण युद्ध करने का जो उल्लेख किया गया है, वह नप्पिनै के विवाह से सम्बन्ध रखता है। फलतः, नप्पिनै तथा कण्णन् के पाणिग्रहण का प्रसंग अलवार-युग की एक नितान्त प्रख्यात घटना है। ऊपर हमने देखा है कि यह घटना संघ-साहित्य में भी बहुशः निर्दिष्ट होने से ईसवी-सन् के आरम्भ-काल से ही तमिल देश में प्रख्यात हो गई थी। अलवारों के युग में तो श्रीकृष्ण की भक्ति-धारा का बहुल प्रसार सर्वत्र तमिल देश में लक्षित होता है। फलतः, उसकी विपुल ख्याति के विषय में सन्देह करने का कोई स्थान नहीं है। पहले हमने आण्डाल के प्रख्यात काव्य-ग्रन्थ तिरुप्पावै में विशेष रूप से निर्दिष्ट नप्पिनै का प्रसंग उद्धृत किया है। वृन्दावन की गोपियाँ कात्यायनी का व्रत समाप्त कर श्रीकृष्ण को पति-रूप में वरण करने के लिए जाती हैं। ग्राम के वृद्ध लोग उन्हें इस काम से रोकते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि में कुमारियों का किसी पुरुष से एकान्त में मिलना सामाजिक मर्यादा का सर्वथा उल्लंघन है। परन्तु, गोपियाँ अपने प्रेम की मस्ती में झूमती जाती हैं; उन्हें किसी के उपदेश की क्या चिन्ता? परन्तु, अपने प्रियतम कृष्ण को नप्पिनै के साथ एकान्त में रतिक्रीडा में आसक्त पाकर वे हतोत्साह नहीं होतीं, प्रत्युत वे उससे किवाड़ खोलने के लिए आग्रह करती हैं। 'तिरुप्पावै' की १८वीं तथा १९वीं गाथाओं में गोपियाँ नीलादेवी (नप्पिनै) से किवाड़ खोलने की प्रार्थना करती हैं, जिससे वे अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के संग विहार-सौख्य भोगने का अवसर पा जायें। यह 'तिरुप्पावै' केवल अलौकिक प्रतिभा का द्योतक सामान्य काव्य-ग्रन्थ नहीं है,

प्रत्युत एक नितान्त सारगर्भित रहस्यमय भक्ति-ग्रन्थ है। इसीलिए, इसके गूढ़ार्थ ('स्वापदेशार्थ') को प्रकट करने के निमित्त वैष्णव आचार्यों ने अनेक भाष्य-ग्रन्थों का प्रणयन मणिप्रवाल-शैली में किया है।

पूर्वोक्त वर्णन का निष्कर्ष यही है कि तमिल देश को 'मायोन' के रूप में श्रीकृष्ण से तथा 'नप्पिनै' के रूप में उनकी प्रेयसी गोपी से परिचय ईसवी की आरंभिक शताब्दियों से है। नप्पिनै के विवाह के लिए सात वृषभों का वशीकरण, अपने ज्येष्ठ भ्राता बलराम के साथ 'कुरवै' नामक नृत्य करना, ग्वालों का प्रिय देवता होना, वनभूमि के साथ सम्बद्ध होना आदि घटनाएँ श्रीकृष्ण की वृन्दावन-लीला की स्मृति दिलाती हैं। एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। मुल्लै (वनभूमि) के देवता के रूप में 'मायोन' (विष्णु--श्रीकृष्ण) का उल्लेख तमिल-भाषा के प्राचीनतम तथा आदि ग्रन्थ 'तोलक्कापिप्यम्' में मिलता है। इस ग्रन्थ के काल के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। कोई-कोई तो इसका रचनाकाल विक्रम-पूर्व पाँच हजार वर्ष मानते हैं। परन्तु, अनेक विद्वान् इतनी दूर न जाकर इसे पाणिनि से पूर्व काल का व्याकरण-ग्रन्थ मानते हैं। यह ऐन्द्र व्याकरण के द्वारा प्रभावित माना जाता है, पाणिनीय व्याकरण के द्वारा नहीं। फलतः, चार सौ वर्ष ईसवी-पूर्व में इसके रचनाकाल मानने में विशेषज्ञों की बहुत सम्मति है। 'तोलक्काप्पियम्' का शब्दार्थ है—पुरातन काव्य (तोल=पुराना; काप्पिय=काव्य)। है तो यह मूलतः व्याकरण का लक्षण ग्रन्थ, परन्तु इसमें धर्म तथा नीति, आचार तथा व्यवहार का भी प्रसंगतः विवरण उपलब्ध होता है, जिससे यह तमिल लोगों की भक्ति-भावना और देवी-देवताओं के रूप जानने के लिए बहुत ही उपयोगी है। इस ग्रन्थ में उल्लिखित होने के कारण तमिल देश में 'मायोन' की उपासना की प्रभूत प्राचीनता उपलब्ध होती है।

तमिल-भाषा के साहित्य में 'राधा' का अभिधान नहीं मिलता। परन्तु, ऊपर वर्णित नप्पिनै को ही कृष्ण की प्रेयसी होने से राधा की प्रतिनिधि मानना न्याय्य प्रतीत होता है। इस विषय में आगरा-विश्वविद्यालय के अन्तर्गत स्थापित 'हिन्दी-विद्यापीठ' में तमिल-भाषा के प्राध्यापक श्री जे० पार्थसारथि के पत्र का एक अंश उद्धृत कर रहा हूँ जिसमें एक तमिल विद्वान् की दृष्टि में 'राधा' की सत्ता पर मननीय विचार संकलित है :—

"राधा का नाम द्रविड-साहित्य में है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर 'नहीं' में देना पड़ता है। यहाँ द्रविड-साहित्य से तमिल-साहित्य का अर्थ लिया जाता है और तमिल-साहित्य में राधा का नामोल्लेख नहीं मिलता है (सिवाय एक नामी आधुनिक कवि सुब्रह्मण्य भारती के गीतों में, जो प्रस्तुत विषय की दृष्टि से नगण्य है)।

दक्षिण में वैष्णव भक्ति का प्रारंभ द्राविड़ लोगों द्वारा की गई मुल्लै भूमि (वन) के देवता मायोन की उपासना मानी जाती है। मायोन शब्द का अर्थ 'श्याम रंगवाला' है और इस विषय पर मतभेद है कि ये मूलतः द्राविड़ देवता अथवा आर्य देवता माने जा सकते हैं। जो भी हो, तमिल-भूमि में इस देवता-संबंधी कई कथाएँ प्रचलन पाने लगीं, जिनके साथ उत्तर से (कदाचित् ईसवी-सन् के निकट) अन्यान्य कृष्ण-संबंधी कथाएँ भी आ मिलीं। इन कथाओं का मिश्रण अलवारों के समय तक, जो करीब ई० पाँचवीं सदी से प्रारंभ होता है,

पूर्णरूप से हो चुका था। अलवारों के गीतों में सामान्यतः और विशेषकर पेरियालवार के गीतों में उत्तर और दक्षिण की मिश्रित कथा-धारा का दर्शन होता है। तात्पर्य यह है कि उनमें उत्तर की कथाओं के साथ दक्षिण के भिन्न कथा-रूपों का भी व्यवहार लक्षित है। कण्णन् (जो कृष्ण का तमिल नाम है) का पूतना-संहार उनका देवकी-वसुदेव के पुत्र-रूप में जन्म लेना, यशोदा द्वारा पालन, गोचारण एवं गोवर्धन-गिरिधारण आदियों के साथ उनके सात ऋषभों का दमन करके 'वधू नप्पिन्नै' से परिणय एवं 'कुरवै' तथा 'कुड' नामक नृत्य करने का उल्लेख इन गीतों में मिलता है। पेरियालवार इन सबका वर्णन नहीं करते हैं, परन्तु अपने उपास्य विष्णु के संबोधनों में अथवा अन्य पात्रों की स्तुति में प्रासंगिक विशेषणों के रूप में विभिन्न अवतारों का तथा कथाओं का उल्लेख कर देते हैं।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि आलवारों के गीतों में भागवत पुराण में वर्णित घटनाओं का समावेश हुआ है, किंतु ये परम्परा द्वारा प्राप्त मानी जा सकती हैं, न कि भागवत पुराण के आधार पर। संभवतः, भागवत पुराण केवल उत्तर में प्रचलित कथा-भागों को लेकर अन्यत्र इस समय तक वन चुका था, पर दक्षिण उससे अछूता ही रहा। यह स्मरण रखने की बात है कि आचार्य रामानुज तथा मध्व ने भी अपने भाष्यादि ग्रंथों में भागवतपुराण के लिए स्थान नहीं दिया है। तमिल-भाषा में भागवतपुराण के अनुवाद भी कम उपलब्ध हैं और जो हैं वे अधिक उत्तरकालीन हैं। **चेववैच्चुडुवार** और **नेल्लिनगर वरदराजैयडगार**—इन दोनों के भागवत पुराणानुवाद, जो ई० सत्रहवीं सदी के हैं; स्पष्ट रूप से अधिक प्रभावशाली नहीं बने।

तमिल-साहित्य में केवल **नप्पिन्नै** ही कृष्ण की नायिका के रूप में प्रतिष्ठित है। **कण्णन्**-संबंधी तमिलनाडु की अपनी कहानियाँ पाँच-छह हैं, जिनमें प्रमुखता स्वतः नप्पिन्नै के प्रसंग को मिल जाती है। तमिल के प्राचीनतम व्याकरण-ग्रंथ तोलकाप्पियम् (जिसका काल ई० पू० चौथी सदी अथवा कम-से-कम ई० पू० दूसरी सदी निश्चित किया गया है) में 'मायोन' का नाम आया है। नप्पिन्नै का प्रथम उल्लेख ई० दूसरी सदी के माने जानेवाले **शिलप्पदिकारम्**, **मणिमेकलै**, **परिपाडल्** तथा **जीवकचिंतामणि** नामक काव्यों में हुआ है। इन ग्रंथों में नप्पिन्नै-संबंधी विषय का केवल प्रासंगिक उल्लेख होने से, हमें कथांशों को कई जगहों से इकट्ठा करना पड़ता है। ये आयर (गोप), कुल की थीं और इनको ऐसे वीर ही 'कन्याशुल्क' में प्राप्त कर सकते थे, जो सात ऋषभों का दमन करके उनपर सवार हो सकते थे। कण्णन् ने यह साहसी कृत्य कर दिखाके नप्पिन्नै का पाणि-ग्रहण किया।

शिलप्पदिकारम् में एक कुरवै (Kuravai) नामक नृत्य का विशद वर्णन है, जिसका थोड़ा परिचय मैं यहाँ दे रहा हूँ। इस नाट्य को **तुवरापति** (द्वारका) में श्रीकृष्ण ने अपने ज्येष्ठ बलराम तथा कङ्कण (चूड़ी) पहननेवाली नप्पिन्नै और अन्य गोपालाओं के साथ, वंदना करती हुई यशोदा के समक्ष पुष्परस से मण्डित खुली हुई रंगभूमि पर खेला। जब **मदुरै** नगर की सीमावर्त्ती अहीर-वस्ती में दुर्निमित्तों से शोक की लहर-सी फैल गई थी, तब गोपकुलवृद्धा **मादरि** ने जनकल्याण के हेतु इस कुरवै नृत्य के

अभिनीत करने का प्रबंध किया था। सात गोपबालाओं को सात स्वरों के क्रम से खड़ा करके प्रथम स्वर को मायवन (श्रीकृष्ण), पंचम स्वर को बलराम, दूसरे स्वर को नप्पिन्नै और शेष को अनुयायीगण कहकर पुकारा गया। यहाँ जानने योग्य है कि तमिल की अपनी पुरानी संगीत-पद्धति है, जिसमें स्वरों के नाम और उनके मेल से जनित रागों के सूक्ष्मतर भेद-प्रभेद किये गये हैं। द्वादश राशियों के अन्तर्गत ऋषभ, कटक, सिंह, तुला, धनुष, कुंभ, मीन, इन सातों स्थानों में व्यक्तियों को खड़ा करके नचाना एक पद्धति थी, दूसरी तुला, धनुष, कुंभ मीन ऋषभ, कटक, सिंह, इन सातों में व्यक्तियों को खड़ा करके नृत्य करवाना थी। दोनों को क्रमशः अपनाने से रोचक स्थान-परिवर्त्तन हो जाता है। इस प्रकार, स्वरक्रम तथा राशियों के अनुसार मंडलाकार में खड़े होकर उँगलियों से उँगलियाँ मिलाकर श्रीकृष्ण-लीला, रामावतार, वामनावतारादियों की स्तुति-रूप में भक्तिरस-भरे गीत अभिनेत्रियों ने गाया।

ई० दूसरी सदी की उक्त रचनाओं के वाद अलवार-संतों के गीतों में विशेष कर पेरिया-ल्वार, आण्डाल तथा तिरुमंगैयालवार की कृतियों में नप्पिनै का (अन्य कृष्ण-संवंधी कथाओं के साथ) उल्लेख है। इन कथाओं का अलग व्यवहार नहीं है, ये स्तुति करते समय भगवान् के विशेषणों के अंग-रूप वन जाती हैं। जैसे आण्डाल कहती है: (हे नप्पिनै देवी के नायक!) आलवार-संतों के काल के पश्चात्, यानी ई० नवीं सदी के वाद आचार्यों के टीका-ग्रंथों में यत्र-तत्र नप्पिन्नै का नाम आया है। रामानुज के पश्चात् पराशरभट्टर नामक प्रसिद्ध आचार्य ने नप्पिन्नै के संस्कृत नाम नीला का व्यवहार किया है।

केवल तमिल-साहित्य के आधार पर नप्पिन्नै के साथ राधा का नाम जोड़ने का काफी प्रमाण नहीं है। 'नप्पिन्नै' दक्षिणी राधा है—यह उक्ति मोटे तौर पर ही कही गई प्रतीत होती है। कुरवै नृत्य को रासलीला के समान कहाँतक मानना उचित है—यह भी विचार की वस्तु है।"—जे० पार्थसारथि (२२-१-६२ को लिखे पत्र में)

(२) कन्नड़-साहित्य में राधा

द्राविड़ी साहित्य-परम्परा में कन्नड़-साहित्य प्राचीनता की दृष्टि में तमिल-साहित्य से घटकर ही है। इस दक्षिणी अंचल में उस युग में जैनधर्म की प्रमुखता थी और यही कारण है कि कन्नड़-साहित्य का उदय ही होता है जैनमतावलम्वी ग्रन्थों के प्रणयन से। कर्नाटक-प्रान्त में लगभग चार शताब्दियों (९—१३वीं शती) तक जैनधर्म का प्रचार-प्रसार अपने चरम उत्कर्ष पर था। फलतः, इस भाषा के आरंभिक युग में जैनकवियों ने कन्नड़-साहित्य को अपनी धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए समर्थ माध्यम वनाया। उसके अनन्तर आरंभ होता है वीरशैवधर्म का अभ्युत्थान। इस शैव मत का प्रारंभ तो किया वसव नामक तेलगु-ब्राह्मण ने, परन्तु इसका प्रचार-क्षेत्र रहा कर्नाटक का ही प्रान्त। वही इसका गढ़ था। फलतः, वीरशैवमत का प्राकट्य कन्नडी साहित्य की एक प्रमुख घटना है। इस मत के सन्तों की सामान्य संज्ञा है शिवशरण और भगवान् शंकर के प्रति उनके भक्ति-पूरित उद्गार वचन के नाम से पुकारे जाते हैं। वीरशैवमत के अनेक सिद्धांत वेदानुयायी नहीं हैं। फलतः, इसकी प्रतिक्रिया के रूप में कर्नाटक में वैष्णव
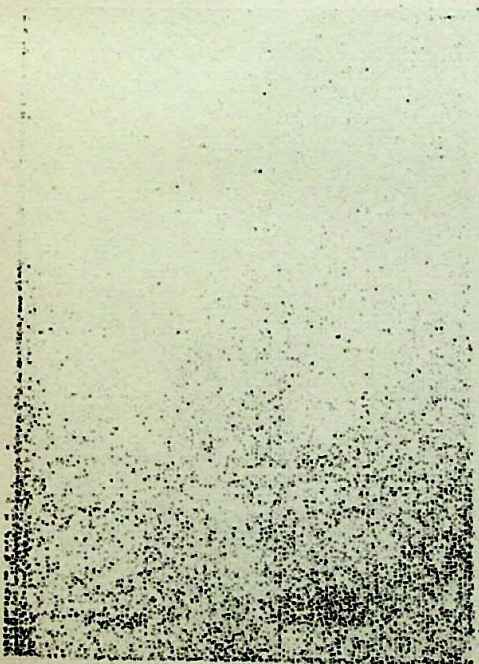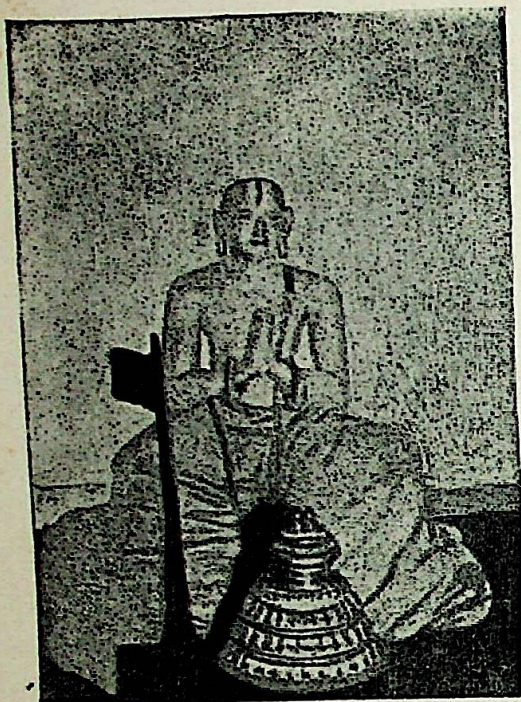
श्रीरंगम् की श्रीरामानुजाचार्य की मूर्त्ति
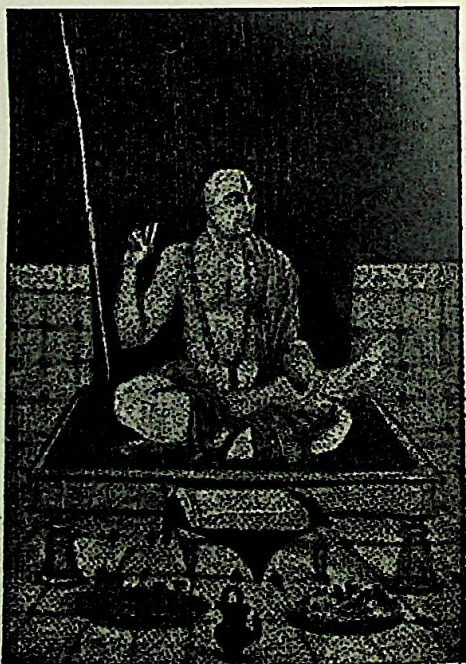
श्रीमध्वाचार्य

धर्म का उदय हुआ। इस धर्म के प्रधान पुरस्कर्त्ता इस प्रांत में मध्वाचार्य थे, जिनका जीवन तथा कार्य, उपदेश तथा प्रचार का मुख्य क्षेत्र यही दक्षिणी प्रान्त था।

मध्वाचार्य कर्नाटक-प्रांत के ही देदीप्यमान ओजस्वी वैष्णव आचार्य थे। यहाँ तुलुव देश के बेलिग्राम में मध्यगेह भट्ट नामक एक वेद-वेदांग-पारंगत ब्राह्मण के घर सन् ११९९ ई० में विजयादशमी को इनका जन्म हुआ था। पूर्णप्रज्ञ तथा आनन्दतीर्थ इन्हीं के नामान्तर हैं। इन्होंने अपने नाना ग्रन्थों द्वारा द्वैतमत की प्रतिष्ठा की तथा उडुपी में अपना प्रधान पीठस्थल प्रतिष्ठित किया। आनन्दतीर्थ वड़े ही कर्मनिष्ठ आचार्य थे। इनकी कर्मण्यता तथा अध्यवसाय का परिचय इसी वात से लग सकता है कि इन्होंने अपने मत के प्रचारार्थ प्रायः तीस ग्रन्थों का निर्माण किया, जिनमें गीताभाष्य, ब्राह्मणसूत्र-भाष्य, उपनिषद्-भाष्य, भागवततात्पर्यनिर्णय, गीतातात्पर्यनिर्णय आदि ग्रन्थों की प्रमुखता है। कन्नड़-भाषा के वैष्णव अनुयायी (सन्त या भक्त) सव मध्वाचार्य के अनुयायी हैं। वे इन्हें अपना आदि गुरु मानते हैं। पुरन्दरदास द्वारा इनकी स्तुति में रचित यह पद नितान्त भक्ति-पूरित है—

मध्व मुनि हैं गुरु मध्व मुनि हैं।
मध्वमुनि सबका उद्धारक हैं मध्वमुनि ॥
पहले हनुमन्त वनके श्रीराम के चरण।
कमल-रत बनके हो गए मोद में मगन ॥१॥
एणांक वंशाब्धि सोम क्षोणिपालक शिरोमणि।
हो श्रीहरि के प्राणाधिक प्रिय भक्तराज बना ॥२॥
अन्त में दृढ योगि बना अभी श्रीपुरंदर।
विठल वेद-व्यास का पटशिष्य बना ॥३॥

कन्नड़-साहित्य में वैष्णव भक्ति का दूसरा स्रोत है पंढरपुर के विट्ठल[1] की उपासना। पंढरपुर महाराष्ट्र का प्रमुख वैष्णवतीर्थ है। वहाँ पुण्डलीक भक्त की कामना पूर्ण करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ईंट के ऊपर खड़े हुए हैं। इस श्रीविग्रह का अपरनाम 'विट्ठल' या 'विठोवा' हैं, जिनमें 'विट्ठल' तो स्पष्टतः 'विष्णु' का विकृत रूप है। 'विठोवा' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है, परन्तु विद्वानों का वहुमत इसे कन्नड़-भाषा का शब्द मानने के पक्ष में हैं। महाराष्ट्र के सन्त लोग भी इसे कर्नाटक देश से लाई गई मूर्त्ति मानते थे। फलतः, डॉ० भण्डारकर का यह मत समीचीन प्रतीत होता है कि विट्ठल या विठोवा कानड़ी शब्द है। जो कुछ भी हो, विट्ठल को विष्णु के कृष्णावतार का वाल-रूप माना जाता है, जिनकी वगल में श्रीमती रुक्मणी महारानी विराजमान हैं। विट्ठल की उपासना केवल महाराष्ट्र तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत कन्नड़ तथा तेलगु-भाषाभाषी सन्तों के ऊपर भी इनका प्रभाव कम नहीं था। पंढरपुर में ही रहकर कन्नड़ी सन्त पुरंदरदास ने भक्तिरसामृत से मधुर भजनों का निर्माण किया। कर्नाटक के हरिदासों की

१. विट्ठल के विषय में देखिए आचार्य विनयमोहन शर्मा—हिन्दी को मराठी सन्तों की देन-(प्र०वि० रा० परिषद् पटना, १९५७) पृ० ७०–७२।

भक्ति इसी विट्ठल अथवा पाण्डुरंग के प्रति केन्द्रित थी। वे माध्वमत के अनुयायी थे और इस मत में दास्य-भक्ति ही भक्ति-भावों में प्रमुख स्थान रखती है। फलतः ये भक्त अपने को पांडुरंग के चरणारविन्द का प्रमुखतया सेवक समझते थे तथा उनकी कीर्त्ति तथा लीला गाने में अपने जीवन की चरितार्थता मानते थे। इन्हीं दोनों उपकरणों का सम्मिलित परिणाम है—कर्नाटक-प्रांत में वैष्णवी भक्ति का अभ्युदय तथ कन्नड़-साहित्य में वैष्णव-साहित्य का उदय। इस साहित्य में गोपी (तथा राधा) ने किस प्रकर अपनी अभिव्यक्ति पाई थी, इसका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

हरिदासों की परम्परा

कन्नड़-प्रांत के वैष्णव सन्त हरिदास के नाम से प्रख्यात हैं। इन हरिदासों का जीवन भगवत्परायण था; भगवान् का लीला-कीर्त्तन ही उनके जीवन का लक्ष्य था। जनता में पवित्रता, सदाचार तथा भक्ति का प्रचार ही उनके उद्योग का परिणत फल था। इन हरिदासों का एक अपना जीवन-दर्शन था, जो गोस्वामी तुलसीदास के द्वारा व्याख्यात भक्ति-दर्शन से भिन्न तथा पृथक् न था। हरिदासों का आरम्भ करनेवाले माध्वमत के प्रकांड तार्किक पण्डित **व्यासतीर्थ** या **व्यासराय** (१४४७ई०–१५३९ ई०) हैं, जो संस्कृत के मूर्धन्य द्वैतवादी ग्रन्थों के रचयिता होने के अतिरिक्त कन्नड़ के प्रदकर्त्ता भी हैं। ये वल्लभाचार्य तथा विद्यारण्य (शृंगारी मठ के तत्कालीन पीठाध्यक्ष अद्वैती आचार्य) के समकालीन ही न थे, प्रत्युत इनका उक्त आचार्यों के साथ व्यक्तिगत सम्वन्ध भी था, जो इनके व्यापक प्रभाव का द्योतक है। मायावाद के खण्डन में जहाँ इन्होंने संस्कृत में प्रौढ़ दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया, वहीं जनता में भक्ति-तत्त्व के प्रचार के लिए इन्होंने मातृभाषा कन्नड़ में सरस स्तोत्रों तथा सुभग पदों का भी निर्माण किया। कन्नड़ भक्तों की द्विविध परम्परा—**व्यासकूट** तथा **दासकूट**-के आरम्भ करने का श्रेय इन्हीं आचार्य **व्यासराय** या **व्यासतीर्थ** को है। इन्हीं के प्रमुख शिष्य थे **पुरन्दरदास** और **कनकदास**। ये दोनों भक्त कवि सूर-तुलसी से किंचित् पूर्ववर्त्ती हैं। पुरन्दरदास का काल १४८४ ई० से १५६४ ई० तक माना जाता है। इनके जन्मकाल के संवत् के विषय में विद्वानों में मतभेद है, परन्तु इतना प्रायः निश्चित है कि इनका जन्म सूरदास के जन्म से लगभग दस वर्ष पूर्व हुआ तथा इनकी मृत्यु तुलसीदास द्वारा 'रामचरितमानस' की रचना (१६३१ विक्रमी=१५७४ ईस्वी) से दस वर्ष पहिले ही हो चुकी थी। इस प्रकार, ये दोनों महनीय भक्त-कवियों के ज्येष्ठ समकालीन माने जा सकते हैं। इनके भजनों में कविता की माधुरी तथा संगीत की सुधा दोनों प्रवाहित होती हैं। इनके भजनों की संख्या चार हजार से कम नहीं है। ये भजन काव्य की दृष्टि से कोमल भावों के अभिव्यंजक तो हैं ही; साथ ही विभिन्न रागों में गाये जाने के कारण पुरन्दरदास की अलौकिक संगीतज्ञता के भी परिचायक हैं। कर्नाटकीय संगीत के ये मुकुटमणि माने जाते हैं, जिनसे तेलुगु के प्रख्यात संगीताचार्य **त्यागराय** ने स्फूर्त्ति तथा प्रेरणा प्राप्त की। कनकदास पुरन्दरदास के समकालीन भक्त कवि थे। इनकी प्रख्यात कृति **मोहनतरंगिणी** एक विशिष्ट वड़ा प्रवन्ध-काव्य है, जिसमें श्रीकृष्ण का भागवत-वर्णित चरित्र चित्रित किया गया है। काव्य की

दृष्टि से यह उत्तम कोटि में रखा जाता है, जिसकी शैली में सरसता की तथा भाषा में सुन्दर मुहावरों तथा लोकोक्तियों की छटा सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है ।

१६वीं शती में श्रीकृष्ण-काव्य का विशेष उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। कन्नड़-साहित्य में इस शती के पूर्वार्ध में चाटु विट्ठलनाथ ने कन्नड़ भाषा में भागवत का अनुवाद कर जनता के लिए कृष्ण-भक्ति का भांडार खोल दिया। भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति के विविध साधनों का, भक्ति की विमलता तथा उत्कृष्टता का, वर्णन कवि ने बड़ी सुबोध शैली में किया तथा जनता के हृदय को इधर आकृष्ट करने में अद्भुत क्षमता प्रदर्शित की। परन्तु, इस शती का सबसे अधिक लोकप्रिय काव्य है जैमिनिभारत, जिसके रचयिता लक्ष्मीश कन्नड़-साहित्य के प्रौढ भक्त कवि के रूप में जनसाधारण के हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित हैं। इस काव्य के प्रत्येक प्रसंग में कृष्ण की महिमा, कृष्ण का भक्तवात्सल्य, कृष्ण के महान् गुण के केन्द्र-बिन्दु के रूप में विद्यमान हैं । इन स्तुतियों में कवि का भक्तिपूरित हृदय इतनी स्वाभाविकता से अभिव्यक्त हुआ है कि पाठकों के हृदय में भगवद्भक्ति की सुधा-धारा प्रवाहित होने लगती है। कुमारव्यास का 'भारत' भी महाभारत के कतिपय अंशों का कोरा अनुवाद नहीं है, प्रत्युत इससे संस्कृत के नाना काव्यों में वर्णित तथा भारत में प्रचलित कृष्णकथा का सार यहाँ संगृहीत किया गया है। कृष्ण के प्रति कवि की भक्ति इतनी स्पष्ट तथा उदात्त है कि काव्य-दृष्टि से, युधिष्ठिर के नायक होने पर भी वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्ण ही इसके सच्चे नायक हैं । इस काव्य में श्रीकृष्ण-भक्ति अपनी चरम परिणति पर पहुँचती है।

१५वीं तथा १६वीं शतियों में निर्मित इन विशिष्ट काव्यों में श्रीकृष्ण तथा गोपियों की वही वृन्दावन-लीला अपने पूर्ण वैभव के साथ संक्षेप में चित्रित की गई है। ध्यान देने की बात है कि राधा का उल्लेख इन भक्ति-काव्यों में यत्रतत्र मिलता है, परन्तु एक सामान्य गोपी के रूप में ही, कृष्ण की प्रेयसी रूप में नहीं। परन्तु, गोपियों का ललित चरित्र सर्वत्र चित्रित किया गया है।

व्रजभाषा तथा कन्नड़-भाषा के कृष्ण-कवि

व्रजभाषा के कृष्ण-कवियों के साथ इनकी तुलना करने पर अनेक तथ्य प्रस्तुत होते हैं। व्रज-साहित्य का विस्तार जिन वैष्णव-सम्प्रदायों के प्रभाव से सम्पन्न हुआ, उनमें वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्य की उदात्त भावना प्रतिष्ठित थी, सामान्य रूप में नहीं, विशेष रूप में । फलतः, व्रजभाषा में इन भक्ति-भावों के अभिव्यंजक काव्यों का प्राचुर्य है । उधर कन्नड़-साहित्य में वैष्णव-भक्ति की धारा मध्वाचार्य के उपदेश में प्रवाहित होती है। मध्व द्वैतवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य थे, जिनके द्वारा भगवान् की प्राप्ति के हेतु दास्य-भक्ति का प्रामुख्य स्वीकृत किया गया है ।

फलतः, कन्नड़ में भक्ति-साहित्य का प्रामुख्य है दास्य-भाव की उपासना। दास्य-भक्ति की अभिव्यक्ति कन्नड़-साहित्य में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। वात्सल्य-भाव की कविता कन्नड़ में कम है, केवल पुरन्दरदास तथा कनकदास के कतिपय पदों में इस भाव का प्रकटीकरण उपलब्ध होता है। मातृ-हृदय की जैसी मनोरम अभिव्यक्ति व्रज-साहित्य में, विशेषतः सूरदास में,

हमें मिलती है, वैसी कन्नड़-साहित्य में देखने को नहीं मिलती। विष्णु के अवतारों में कृष्ण की लोकप्रियता अधिक है और उन्हीं के वर्णन में अधिक कविताएँ इस भाषा में उपलब्ध होती हैं। परन्तु, सख्य तथा माधुर्य-भावों की अभिव्यंजना करनेवाली कविता की इस साहित्य में बड़ी न्यूनता है। अभाव नहीं है, परन्तु प्राचुर्य भी नहीं। महनीय वैष्णव तथा शैव कवियों के काव्यों में इन भावों का प्राकट्य अवश्य है, परन्तु एतद्-विषयक पदों की संख्या पचास-साठ से ऊपर न होगी; विज्ञ आलोचकों की ऐसी ही सम्मति है।

कन्नड़-साहित्य में माधुर्यभाव की अभिव्यंजना की ओर यहाँ दृष्टिपात करना आवश्यक है। इस भाव की अभिव्यक्ति शैव तथा वैष्णव दोनों प्रकार की कविताओं में यत्र-तत्र उपलब्ध होती है। शिवशरण नामक वीरशैवमत के भक्तों की कतिपय रचनाएँ माधुर्य-भाव को स्पष्टतः प्रकट करती हैं। ये थे तो दास्यभाव के ही भक्त, परन्तु माधुर्य की भी अभिव्यक्ति इनके काव्यों में अवश्य मिलती है। इनके पद **वचन** कहलाते हैं। **अक्क महादेवी** नामक महिला-सन्त का वही स्थान कन्नड़-साहित्य में है, जो हिन्दी-साहित्य में मीराँबाई का। इनके सगे-सम्बन्धियों ने इनका विवाह **चेन्न मल्लिकार्जुन** (शिव का विशिष्ट विग्रह) के साथ कर दिया था और उन्हीं के विरह में इनकी अधिकांश कविताएँ मिलती हैं—माधुर्य-भक्ति से आमूल परिपूर्ण तथा स्निग्ध। इनकी कविता का एक निदर्शन यहाँ दिया जाता है। इनके एक पद का भाव इस प्रकार है[1]—

"हे चहचहानेवाले शुकवृन्द, क्या तुमने मेरे प्रियतम को देखा है? तार स्वर में गाने-वाले कोकिलो, क्या तुमने उन्हें देखा है? ऊपर उड़कर मँड़रानेवाले हे भौंरों, क्या तुमने देखा है? सरोवर पर खेलनेवाले हे हंसगण, क्या तुमने उन्हें देखा है? गिरि-कन्दरा में नाचनेवाले हे केकियों, क्या तुमने देखा है? तुम क्यों नहीं कहते—'चेन्न मल्लिकार्जुन' कहाँ हैं?"

इस भाव की तुलना हम भागवत की गोपियों के उन वचनों से कर सकते हैं, जो रास के समय अन्तर्धान होने पर श्रीकृष्ण के विरह में जंगल के पशु-पक्षियों से उन्होंने कृष्ण की प्राप्ति के विषय में पूछा था (भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय ३०)।

कन्नड़ के वैष्णव-साहित्य में कृष्ण-लीला के माधुर्य-व्यंजक पदों की न्यूनता है। श्रीकृष्ण के मुरली-वादन का प्रसंग केवल संकेतित ही किया गया है, विकसित नहीं हो पाया है। इसी प्रकार, रासलीला का भी संकेतमात्र है, उपबृंहण नहीं। 'राधा' का नाम यहाँ अवश्य मिलता है, परन्तु वह एक साधारण गोपी ही है। व्रज-साहित्य में बहुशः वर्णित कृष्ण-प्रेयसी के रूप में उसका आविर्भाव कन्नड़-साहित्य में नहीं है। श्रीपादराय ने भ्रमरगीत के विषय में कुछ गीत जरूर रचे हैं, परन्तु इन गीतों की संख्या कम है। गोपियों ने श्रीकृष्ण के साथ अपने मिलन का तथा उनके वियोग में अपने विरह का वर्णन बड़ी ही सुन्दर भाषा में किया है। इन गीतों के भाव बड़े ही अनूठे तथा हृदयावर्जक हैं। दोनों पक्षों की अभिव्यंजना में दो-चार पद यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

१. डॉ० हिरण्मय: **'हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन'**, पृ० २६८ पर अनूदित।

पुरन्दरदास ने गोपियों के विमल प्रेम की अभिव्यंजना अपने अनेक पदों में की है। ये पद मात्रा में थोड़े भले हों, पर इनमें इतनी स्वाभाविकता है, इतनी हृदयवेधकता है, चित्रण में इतनी नैसर्गिकता है कि ये माधुर्य-भाव की द्योतना में कृतकार्य समझे जा सकते हैं। सूरदास की तुलना में इन पदों की मात्रा अवश्य कम है, परन्तु अभिव्यंजना की शैली में भिन्नता नहीं है। गोपियों का श्रीकृष्ण के साथ एकान्त में प्रेमालाप, मिलन की उत्सुकता, विरहावस्था में वेदना की तीव्रता आदि भावों का प्रदर्शन इन मधुर गेय पदों में बड़ी सुन्दरता से किया गया है:

गोपी का वचन श्रीव्रजकुमार के प्रति—

अंचल छोड़ो रे श्रीहरि अंचल छोड़ो रे।
हाथ जोड़ विनय करती हूँ मेरा ॥
सासु देखेंगी श्वास ना लेने देंगी।
अंचल छोड़ो रे श्रीहरि अंचल छोड़ो रे ॥१॥
श्वसुर देखेगा तो प्राण लेगा मेरा।
अंचल छोड़ो रे श्रीहरि अंचल छोड़ो रे ॥२॥
पति देखेगा मेरी हत्या करेगा रे।
पुण्डरीकाक्ष पुरन्दर बिट्ठल तू अंचल छोड़ो ॥३॥

—श्रीपुरन्दरदास के भजन, पृ० ८५

श्रीकृष्ण के मधुर व्यवहार की एक झाँकी गोपी के इस गीत में देखिए। राधा व्रज-नन्दन के आसक्तिजन्य व्यवहार की सूचना अपनी किसी अन्तरंग सखी से दे रही है—

क्यों गोपाल बुलाता है, सखी री
संकेतों से बुलाता है मुझको ॥
आँखें मार बुलाता है सखी री
संकेतों से बुलाता है सखी री।
रूप लावण्य वर्णन कर अति मेरा
हार दिखा बुलाता है सखी री ॥१॥
मूगा दिखाकर मोती दिखाकर
एक शैय्या पर दिन के समय ही।
कामनाटक-रत देख करके मुझे
क्या कहेंगे मेरे 'वह' सखी री ॥२॥
बाहु-पाश में कसकर मुझको
बहिरंग में चुम्बन किया मेरा।
हृदय धड़कता मेरा सखी री
पुरन्दर बिट्ठल बुलाता है सखी री ॥३॥

—श्रीपुरन्दरदास के भजन, पृ० ८७

गोपी श्रीकृष्ण को बुलाती है। कहती है कि मेरे घर आने का यही उपयुक्त समय है—

(राग सौराष्ट्र । आदि ताल)

इसी समय तुम आओ

इसी समय रंग आओ रे
इसी समय कृष्ण आओ रे ।। टेक ।।
भाभी रत है लक्ष बत्ती में
तबतक वह कभी नहीं उठेगी ।
सास गई है पुराण सुनने
तबतक वह कभी न आवेगी ।।१।।
ससुर का मुझ में अविश्वास है
पति मेरा अति उदासीन है ।
जेठ मेरा आदर नहीं करता
इसी समय तुम आओ रे ।।२।।
माता पिता से आशा नहीं है
बालक पर भी ममता नहीं है ।
मंदर-घर भी पुरन्दर बिट्ठल
तुम आओ तो सेवा करूँगी ।।३।।

भला, ऐसे सुयोग से कभी वह चूकनेवाला है। झट वह चला आता है । श्रीकृष्ण राधा के घर में पहुँच जाते हैं तथा उनके साथ अपनी चुलबुलाहट दिखलाने लगते हैं। इसपर गोपी अपनी हार्दिक भावना प्रकट कर रही है और उन्हें शान्त रहने का अनुनय करती है। पुरन्दरदास का यह भजन नितान्त सुन्दर तथा हृदयावर्जक है । राधा अपना मनोभाव कृष्ण से प्रकट कर रही है[1]—

"हे कृष्ण, मैं तुम्हारे पैरों पर पड़ती हूँ। । तनिक शब्द मत करो। जो लोग सो रहे हैं, वे जग पड़ेंगे और उन्हें तुम्हारे यहाँ आने की खबर लग जायगी।"

हाथ पकड़कर खींचो नहीं, चूड़ियाँ बज जावेंगी ।
छाती पर से आँचल न हटाओ, कहीं गले के हार से आवाज निकलेगी ।
साड़ी खोलो नहीं, कहीं करधनी से शब्द निकलेगा ।
अधर रस पीओ मत, कहीं हमारे पति के मन में ईर्ष्या पैदा हो जावेगी ।
इधर-उधर की बातें क्यों करते हो? यह तो कुछ गाने का समय नहीं है।
यह तो पुरन्दर बिट्ठल की स्तुति करके पंथ में मिल जाने का समय है ।

'जैमिनिभारत' से श्रीकृष्ण की यह भव्य स्तुति भक्तों के हृदय का सर्वथा अनुरंजन करती है—

यौवनाश्व-कृत कृष्ण-स्तव—

कमल दल नयन कालिय मथन किसलयो-
पमचरण कोशपति सेव्य कुजहर कूर्म ।

---

१. आर० आर० दिवाकर: 'हरिभक्तिसुधे' (पृ० १३५) पर उद्धृत तथा पूर्वोक्त थीसिस में हिन्दी में अनूदित, पृ० २८१; पुरन्दरदास के भजन, पृ० ९१ ।

समसत्कपोल केयूरधर कैरव श्याम कोकनद गृहेय।
रमण कौस्तुभ शोभ कम्बु चक्रगदाब्ज
विमलतर कस्तूरिकातिलक कावुदेम्
दमितप्रभामूर्तियं नुति सलातनं हरिर्नेगविदं कृपयोडु ।।(५।८)

इस भव्य संस्कृतमयी स्तुति के केवल अन्तिम दो पद कन्नड़ के हैं, जिनका अर्थ है—'हे हरि, कृपया मेरी रक्षा कीजिए।'

ताम्रध्वज-कृत कृष्ण-स्तुति—

जय जय जगन्नाथ वर सुपर्णवरूथ।
जय जय रमाकान्त शमित दुरित ध्वान्त।
जय जय सुराधीश निगम निर्मल कोश
कोटि सूर्यप्रकाश।
जय जय ऋतुपाल तरुण तुलसी माल
जय जय क्षमापेन्द्र सकल सद्गुण सान्द्र
जय जय यदुराज भक्त सुमनोभुज
जय जय यदुराज भक्त सुमनोभुज
जय जय एनुर्तादिनु।
—सर्ग २६, पद्य ७०।।

इस ललित स्तुति में समस्त पद देववाणी के हैं। केवल अन्तिम पद (एनुर्तादिनु) कन्नड़-भाषा का है, जिसका अर्थ है—'वह कह रहा था।' इन सुन्दर स्तुतियों के अतिरिक्त इस मनोरम काव्य में श्रीकृष्ण की लीला का ललित वर्णन इतना शोभन तथा हृदयावर्जक है कि कर्नाटक का प्रत्येक जन इन्हें अपने हृदय का हार बनाये हुए है।

पुरन्दरदास के आराध्य गुरु **श्रीव्यासराय** ने अपने पदों में श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी का, गोपियों के उनके प्रति नैसर्गिक आकर्षण का तथा विमल अनुराग का जो चित्र खींचा है, वह अध्यात्म तथा साहित्य उभय दृष्टियों से अनुपम है। व्यासराय संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् तथा कठोर तार्किक थे, परन्तु इनकी कन्नड़-गीतों की मधुरिमा सचमुच आश्चर्यजनक है। दर्शन तथा साहित्य का अनुपम मेल किस सहृदय को अचंभित नहीं करता। मुरली के सौभाग्य पर गोपियों के मन में क्षोभ तथा ईर्ष्या उत्पन्न होती है। एक गोपी अपनी सखी को संबोधित करती कह रही है—

"मैं शपथ खाकर कहती हूँ कि मुझसे अब रहा नहीं जाता। चलें, उस कृष्ण से मिलें और अपनी आँखों का फल पावें, जो वेणु बजाते हुए गोपांगनाओं के साथ क्रीडा कर रहे हैं।

"सुनो री सखी, उस मुरली का भाग्य कितना महान् है। यह मुरली श्रीकृष्ण के अधरों का रसपान स्वयं कर रही है और कृष्ण की अत्यन्तप्रिय सखियों को भी उससे वंचित कर रही है।"

व्यासराय का राधा-विरहविषयक यह पद[1] कितना मार्मिक है। राधा का वचन सखी के प्रति—

"हे बहिन, वन में सर्वत्र चाँदनी छिटकी है, तो भी हमारे प्रिय कृष्ण नहीं आये।

"माघ मास बीत गया और वसन्त आया है; कोकिल और भौंरे गा रहे हैं; आम में बौर निकल आये हैं। हे बहिन, कृष्ण नहीं आये।

"स्नान के लिए गरम किया हुआ पानी ठंडा हो गया है; तैयार किया हुआ चमेली का हार मुरझा गया है; काम-पीडा बढ़ती ही जा रही है। तो भी कृष्ण नहीं आये।

"सजाया हुआ बिछौना मैला हो गया है; वदन पर लगाया चन्दन सूख गया है; छाती में बिजुली कौंध रही है; वासुदेव कृष्ण नहीं आये।"

निष्कर्ष—कन्नड़ के वैष्णव साहित्य में दास्य की ही सर्वतोभावेन प्रधानता के हेतु माधुर्य-भाव की पूर्णतः अभिव्यक्ति नहीं हो सकी है। श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के उत्कृष्ट प्रेम का सुन्दर विवरण यहाँ मिलता है, परन्तु उसके प्रतिपादक पदों की मात्रा थोड़ी है। विरह के वर्णन में भी मनोभावों का वह सूक्ष्म विश्लेषण यहाँ नहीं मिलता, जो सूरदास के पदों में पद-पद पर हमें आकृष्ट करता है। हम इतना ही कह सकते हैं कि कन्नड़ वैष्णव-साहित्य में भक्ति का एक प्रधान पक्ष होने के कारण माधुर्य-भाव की अभिव्यंजना उपेक्षित नहीं है; उसकी सत्ता है, परन्तु मात्रा थोड़ी ही है।[2]

इस प्रसंग में एक तथ्य की ओर आलोचकों का विशेष आग्रह है और वह है हरिदासों के काव्यों की आध्यात्मिकता। ये हरिदास श्रीकृष्ण के निःसन्देह अनुरागी भक्त हैं, परन्तु वे उनकी भौतिक लीला के भीतर आध्यात्मिकता की छटा सर्वदा देखा करते हैं। एक आलोचक का तो यहाँतक कहना है—"श्री पुरन्दरदास के भजनों में बिना राधा, जानकी और रुक्मिणी के मधुरा भाव है। मधुरा भाव का अर्थ है सती-पतिभाव। आत्मा सती है और परमात्मा पति है। भक्त सती है, और भगवान् पति है। श्रीपुरन्दरदास के भजनों में वात्सल्यभाव है, परन्तु यशोदा नहीं। इनके वात्सल्यभाव में आत्मा माता है, परमात्मा बालक है। भक्त माता है और भगवान् उसका बालक। यहाँ भजनों में भक्त की आत्मानुभूति है। कथा-निरूपण नहीं[3]।"

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कन्नड़ साहित्य में कृष्ण-कथा के इन पात्रों की सत्ता ही नहीं। है और विशेष रूप से है—विशेष कर कुमारव्यास के अप्रतिम काव्यग्रन्थ 'महाभारत' जैसे काव्य-ग्रन्थों में। कन्नड़-साहित्य में 'सन्त' तथा 'सन्त साहित्य' के लिए अनुभावी तथा अनुभावी-साहित्य का प्रयोग होता है। 'अनुभाव' का अर्थ है परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान या वास्तव साक्षात्कार। आलोचकों की दृष्टि में 'अनुभावी-साहित्य' में भक्ति का

---

१. हरिदासकीर्तनतरंगिणी, भाग ६, पृ० १९३ पर उद्धृत पद तथा उक्त थीसिस में अनूदित, पृ० २८२।

२. विशेष द्रष्टव्य : मिस्टिक टीचिंग्स ऑफ् दी हरिदासज ऑफ् कर्नाटक, ले० ए० पी० करमरकर, धारवाड़।

३. पुरन्दरदास के भजन, पृ० 'ग' (कुछ प्राथमिक शब्द)।

प्राधान्य है और तदितर काव्य-साहित्य में अन्य रसों का। राधा तथा गोपी व्रजनन्दन के साथ उभय साहित्य में प्रतिष्ठित हैं, अन्तर इतना ही है कि जहाँ काव्य-साहित्य में उनका मांसल भौतिक रूप अपेक्षित है, वहाँ अनुभावी-साहित्य में उनका अपार्थिव आध्यात्मिक स्वरूप ही अभीष्ट है। फलतः, गोपी तथा कृष्ण की लीला के माधुर्य-संवलित वर्णन की यहाँ सत्ता होने पर भी व्रजभाषा के काव्यों-जैसा प्रस्तार तथा विस्तार-वैभिन्न्य तथा वैशद्य लक्षित नहीं होता। दास्य-रति के उपासक भक्तों के काव्यों में माधुर्य-रति का इतना भी निर्वाह न्यून नहीं माना जा सकता।

(३) तेलुगु-साहित्य में राधा

तेलुगु-साहित्य में राधा तथा कृष्ण की शृंगारी लीलाओं का वर्णन बहुत कम पाया जाता है। अष्ट महिषियों के साथ कृष्ण के शृंगार का वर्णन खूब ही मिलता है, अर्थात् द्वारका-लीला की ओर आन्ध्र-कवियों की दृष्टि विशेष रूप से आकृष्ट है। इसीलिए, पारिजातहरण तथा रुक्मिणी-स्वयंवर से सम्बद्ध अनेक रचनाएँ लोकप्रिय हैं तथा इन विषयों के ऊपर कवियों का विशेष आग्रह रहा है। चैतन्य महाप्रभु के प्रवास से जिस माधुर्य-भक्ति ने उत्तरीय भारत को रससिक्त बनाया था, उसका प्रचार तथा व्याप्ति तेलुगु-साहित्य पर बहुत ही कम हुई है। परन्तु माधुर्य-भावना की मूल प्रेरणा इस साहित्य में कम नहीं है। भक्त अपने को नायिका समझता है और भगवान् को नायक रूप में देखता है; यह भावना इस साहित्य में है। परन्तु, इसके लिए श्रीकृष्ण का एकमात्र आश्रयण उचित नहीं माना जाता। कोई भी अभीष्ट देव इस कार्य के लिए उपयुक्त समझा जाता है।

१७वीं तथा १८वीं शती में सुदूर दक्षिण के तंजावूर (तंजोर) तथा मधुरा (मदुरा) के छोटे-छोटे शासक अपनी क्षुद्र शृंगार-वासना के कारण इस मधुर भक्ति को अपनाने लगे थे। उनका आदर्श श्रीकृष्ण का पवित्र निष्कलंक प्रेम न था, और न उनकी भक्ति थी श्रीव्रजनन्दन के चरणारविन्दों में। वे अपने आश्रित कवियों तथा वेश्याओं से अपने लिए कृष्ण जैसा आदर , सत्कार तथा प्रेम पाने के लिए आग्रह करते थे। वे इस प्रकार अपनी शृंगारी भावना की पूर्त्ति के लिए यह साहित्यिक आयोजना करते थे। इस युग की एक विख्यात रचना है—'राधिका सान्त्वनमु', जिसका प्रणयन 'मुद्दुपळनि' नामक एक वेश्या ने किया था। इसमें शृंगार रस अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर गया है। इससे कुछ अच्छा, संयत तथा सरस रचना है—'राधामाधवसंवादमु', जो प्रथम निर्दिष्ट रचना से पूर्ववर्त्ती है। दोनों में लगभग डेढ़ सौ वर्षों का अन्तर है। इसके प्रणेता का नाम था—**चिंतलपूडि एल्लानार्युडु**। इस प्रकार प्राचीन शिष्ट तेलुगु-साहित्य में 'राधा' का उल्लेख नहीं मिलता; परन्तु जानपद गेय पदों में तथा कीर्त्तनों में राधा, गोपी तथा कृष्ण के शृंगार का चित्रण पर्याप्त मात्रा में तेलुगु-साहित्य में मिलता ही है, परन्तु शिष्ट साहित्य में इस प्रकार की रचनाओं की कमी है ही।

महाकवि पोताना (१४०० ई०—१४७५ ई०)—रचित **आन्ध्रभागवतमु** श्रीमद्भागवत-पुराण का अनुक्रम पद्यानुवाद है, जिसमें संस्कृत का अक्षरशः अनुवाद बड़ी सरसता से

किया गया है। यह तेलुगु-वैष्णव-साहित्य की आदर्श रचना है, जो अनुवाद न होकर एक स्वतंत्र काव्य-ग्रन्थ है। शैली बड़ी ही सुन्दर, धारावाहिक तथा प्रसादमयी है। पोताना सन्त-कवि था—राजदरबारों के वातावरण से दूर रहकर निर्धन परन्तु, स्वच्छन्द जीवन बितानेवाला शारदा का भव्य पुजारी तथा व्रजनन्दन का चरणसेवक; सरस काव्य का स्रष्टा तथा जनजीवन में चेतना फूंकनेवाला महान् साधक। यह भागवत भक्ति रस से उतना ही स्निग्ध तथा पेशल है, जितना यह साहित्यिक चमत्कार से मण्डित है। इसमें कृष्ण की गोपियों के साथ केलि का सरस वर्णन है, परन्तु मूल भागवत के समान ही 'राधा' का यहाँ उल्लेख नहीं मिलता।

कृष्णदेव राय (१५०९ ई०—१५३० ई०) तक विजयनगर के अधीश्वर थे। उनकी सभा अष्ट दिग्गजों की काव्य-रचना के कारण तेलुगु-साहित्य में नितान्त प्रख्यात है। उन्होंने 'विष्णुचित्तीय' काव्य का प्रणयन कर तेलुगु-साहित्य में वैष्णव-भावनाओं के प्रसार का एक सरस माध्यम बनाया। उन्हीं की सभा के अन्यतम कवि तिम्मन्ना ने 'पारिजातहरण' का प्रणयन कर तेलगु-साहित्य में अमर कीर्ति स्थापित की। विज्ञ आलोचकों की दृष्टि में यह काव्य तेलुगु-भाषा की मधुरिमा का सूचक है तथा सुकुमार भावों की अभिव्यंजना में एकदम बेजोड़ है। तेलुगु-साहित्य में कृष्ण-काव्यों की एक रसमयी परम्परा रही है, जिसमें माधुर्य भाव की अभिव्यंजना की कमी नहीं है।

यहाँ हम 'आन्ध्र भागवत' से रासपंचाध्यायी के अन्तर्गत 'गोपीगीत' का मूल संस्कृत के साथ तेलुगु-अनुवाद दे रहे हैं, जिसके अनुशीलन से विज्ञ पाठक पोताना के इस विश्रुत काव्य की मधुरिमा से भलीभाँति परिचित हो सकता है। अनुवाद तेलुगु कविता का है, जो मूल संस्कृत से आश्चर्यजनक समता रखती है :

गोपिका-गीत– (श्रीमद्भागवत दशमस्कंध, ३१वाँ अध्याय)

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥१॥
कंद–नीवु जनिंचिन कतमुन, नो वल्लभ लक्ष्मि मंद नोप्पे नधिकमै ।
नीवेटंने प्राणमुलिडि, नीवाररसेदरु चूपु नीरूपंबुन् ॥१॥

हे वल्लभ! तुम्हारे जन्म के कारण व्रज की महिमा (वैकुण्ठ आदि लोकों से) बढ़ गई है। तुम्हारी गोपियाँ जिन्होंने तुम्हारे चरणों में ही अपने प्राण समर्पित कर रखे हैं, तुम्हें ढूंढ़ रही हैं। अतः उन्हें तुम अपने दिव्य स्वरूप के दर्शन कराओ।

शरदुदाशये साधु जात सत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा ।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥२॥
शारदकमलोदर रुचि, चोरक मगु चूपुवलन सुन्दर मिम्मुं ।
गोरि वेलयीनि दासुल, धीरत नोप्पिचुटिदि वधिंचुट गादे ॥२॥

हे सुंदरांग! हम तुम्हीं को चाहनेवाली तुम्हारी बिना मोल की दासी हैं। ऐसी

१. तेलगु की अन्य कविताओं के लिए द्रष्टव्य बलदेव उपाध्यायकृत 'भागवत सम्प्रदाय' पृ० ३७–३९।

हमें तुम शरत्कालीन कमल की कर्णिका के सौंदर्य को चुरानेवाले नेत्रों से आहत कर रहे हो। क्या नेत्रों से मारकर व्यर्था पहुँचाना वध नहीं है!

विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसाद्वर्षमारुताद्वैद्युतानलात्
वृषमयांत्मजाद्विश्वतोभयादृषम ते वयं रक्षिता मुहुः ॥३॥
विष जलंबु वलन विषधर दानवु, वलन रालवान वलन वह्नि ।
वलन नुन्नवानि वलननु रक्षिचि, कुसुमशरुनि बारिं गूलप द गुने ॥३॥

यमुनाजी के विषैले जल से अजगर के रूप में खानेवाले अघासुर से पाषाण-वर्षा, दावानल आदि अन्यान्य उत्पातों से लोगों की रक्षा कर अब कामदेव को सौंपकर हमलोगों का विनाश करना क्या तुम्हें उचित है?

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामात्मदृक् ।
विखनखार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥४॥
नीवु यशोद बिड्डड्वे नीरजनेत्रसमस्त जंतु चे
तोविदितात्मवीशुडवु तोल्लि विरिंचि दलंचि लोकर ।
क्षाविध मार्चरिपुमनि सन्नुति सेयग सत्कुलम्बुनन्
भूवलयंचु गाव निट्टु पुट्टिटति गादे मनोहराकृतिन् ॥४॥

हे पुंडरीकाक्ष! तुम केवल यशोदा-नंदन ही हो। नहीं, समस्त शरीरधारियों के हृदय में रहनेवाले साक्षी आत्मा हो, सर्वेश्वर हो। पूर्वकाल में ब्रह्मा ने विश्व की रक्षा करने के लिए प्रार्थना की थी। अतः, तुम भूमंडल की रक्षा करने के लिए यह मनोहर रूप धारण कर यदुवशं में अवतीर्ण हुए हो।

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ! ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥५॥
आ० चरण सेव कुलकु संसार भयमुनु, बापि श्रीकरंबु पट्टु गलिगि ।
कामदायि यैन करसरोजं बु मा, मस्तक मुल नुनिचि मनुवुमीश ॥५॥

हे प्राणेश्वर! जो लोग जन्म-मृत्यु-रूप संसार-भय से डरकर तुम्हारे चरणों की शरण ग्रहण करते हैं, उन्हें तुम्हारे कर-कमल अभय कर देते हैं। सबकी आशा-अभिलाषाओं को पूर्ण करनेवाला वही कर-कमल हमारे सिर पर रखकर हमारी रक्षा करो।

व्रजजनार्त्तिहन् वीरयोषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय ॥६॥
प्रणतदेहिनां पापकर्शनं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥७॥
गोवुल वेंट द्रिस्मरुचु गोलिचन वारल पाप संघमुल् ।
द्रोवग जालि श्रीदनरि दुष्ट भुजंग फणालतागुसं-
भावितमैन नी चरण पद्ममु चन्नुलमीद मोपि त-
द्भावज पुष्प भल्लभयबाघ हरिंपु वरिंपु माधवा ॥८॥

हे माधव! गौओं के पीछे-पीछे चलते हुए तुम्हारे चरण-कमल शरणागत प्राणियों

के सारे पापों को नष्ट करने में समर्थ हैं। उन्हीं शोभायुक्त चरण-कमलों से दुष्ट भुजंग की फण-लताओं का समादर किया गया, अर्थात् साँप के फणों पर रखा गया। ऐसे ही अपने चरण-कमल को हमारे वक्षःस्थल (स्तनाग्र) पर रखकर हमारे हृदय की भवबाधा को शांत कर दो और हमें स्वीकार करो।

मधुरया गिरा वल्गुवक्यिया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण ।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः ॥८॥
कं० बुध रंजनियुनु सूवतयु, मधुरयु नगु नीडु वाणि मर्रागचेनु नी ।
यधरामृत संसेवन, विधि नंगजतापमेल्ल विर्डिपिप गदे ॥८॥

तुम्हारी वाणी विद्वानों को संतोष देनेवाली है, उसका एक-एक शब्द मधुरातिमधुर है। अतः, हम तुम्हारी उसी वाणी का रसास्वादन करने की आकांक्षा रखती हैं। अब तुम अपना दिव्य अमृत-से मधुर अधर-रस (अमृत) पिलाकर हमारे कामज संताप को दूर करो।

कं० मगुवुलयेड़ नीक्रौर्यमु, दगुने निजभवत भीतिद मनुडवक्टा ।
तगदु भवद्दासुलकुनु नगु मोगमुंजूपि कावु नलिनदलाक्षा ॥

हे कमलनयन! तुम तो अपने भक्तों के भय-तापों का दमन करनेवाले हो। क्या अबलाजनों के प्रति तुम्हारी यह कठिनता उचित है! नहीं, हम तुम्हारी दासी-जन हैं। हमें अपने प्रसन्न मुख दिखाकर रक्षा करो।

मत्तेभ-घन लक्ष्मीयुत मै विनन् शुभदमै कामादिविध्वंसियै ।
सनकादि स्तुतमै निरन्तरतपस्सन्तप्त पुन्नागजी-
वनमै योप्पेडु नीकथामृतमु द्रावंगलगुने भूरिदा-
नतिरूढित्वमु लेनिवालकु मा नारी मनोहारका ॥
तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥९॥

हमारी जैसी अबलाजन के मन को हरण करनेवाले प्रभो! तुम्हारी कथा अमृत-स्वरूप है। श्रवण करनेवालों के लिए तो यह भूरि संपत्कर एवं परम कल्याणप्रद है। और, वह कामादि दुर्गुणों का विनाश करनेवाली है। सनकादि बड़े-बड़े ज्ञानियों ने उसकी स्तुति की है। निरंतर विरह-ताप से संतप्त जनों के लिए तो वह जीवन-सर्वस्व है। ऐसे तुम्हारे कथामृत का पान करना क्या उन्हें संभव है, जिनका स्वभाव विशेष दान-प्रवणता से रहित है।

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं विहरणं चते ध्यानमङ्गलम् ।
रहसि संविदो या हृदि स्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥१०॥
कं० नी नगवुलु नी चूड्कुलु, नी नाना विहरणमुलु नी ध्यानंबुल् ।
नी नर्मालापंबुलु, मानसमुल नाटि नेडु मगुडवु कृष्णा ॥१०॥

हे कृष्ण! तुम्हारी प्रेम-भरी हँसी और चितवन, तुम्हारा तरह-तरह की क्रीड़ाओं के साथ विहरण, तुम्हारा ध्यान तथा तुम्हारे नर्मालाप या एकान्त में हृदयस्पर्शी ठिठोलियाँ हमारे मन में प्ररूढ हो गईं, जो टालते न टलतीं।

चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून् नलिन सुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणाङ्कुरः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥११॥

आ० घोषभूमि वेडलि गोवुल मेपंग, नीरजाभमैन नी पदमुलु
गसवु शिलनु दाकि कडुनोच्चुनो यनि, कलगु मानसमुलु कमलनयन ॥११॥

हे कमलनयन! तुम्हारे चरण कमल से भी सुकोमल हैं। जब तुम गौओं को चराने के के लिए व्रज से निकलते हो, तब यह सोचकर कि तुम्हारे वे चरण तिनके और कंकड़ गड़ जाने से बहुत ही कष्ट पाते होंगे, हमारा मन बेचैन हो जाता है। हमें बड़ा दुःख होता है।

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम्।
घनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥१२॥

उ० मावटिवेल नीवु वन मध्यमु वेलवडि वच्चि गोष्पद-
प्रापित धूलिधूसरित भसित कुन्तलमै सरोरुहो-
द्दीपितमैन नी मोगमु धीरजनोत्तम माकु वेङ्क तो
जूपि मनंबुलन् मरुनि जूपुदुगादे क्रमक्रमं बुनन् ॥१२॥

हे धीरजनोत्तम! सायं समय जब तुम वन से घर लौटते हो, तब हम देखती हैं कि तुम्हारे मुखकमल पर नीली-नीली अलकें लटक रही हैं, जिनपर गौओं के खुर से उड़-उड़कर घनी धूल पड़ी हुई है। तुम अपने उद्दीपित मुख को हमें संतोषपूर्वक दिखा-दिखा कर हमारे मन में क्रमशः काम को उद्दीपित करते हो—प्रेम उत्पन्न करते हो।

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपङ्कजं शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥१३॥

आ० भक्तकामदंबु ब्रह्मसेवितमिला, मण्डनंबु दुःखमर्दनंबु।
भद्र कर मुनैन भवदंध्रियुगमु मा, युरमुलंदु रमण युनुपदगदे ॥१३॥

हे प्रियतम! तुम्हारे चरण-कमल भक्तों की समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करनेवाले हैं, ब्रह्म-सेवित हैं और पृथ्वी के तो वे भूषण ही हैं। सारे दुःखों को मिटानेवाले हैं और परम कल्याणप्रद हैं। तुम अपने वे चरण-द्वन्द्व हमारे वक्षःस्थल (स्तनों) पर रखो।

सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥१४॥

आ० सुरत वर्धनंबु शोकापहरणंबु, स्वरित वंशनालसंगतंबु।
नन्यरागजय मुनैन नी मधुराधरामृतमुन दाप मार्पुमीश ॥१४॥

प्रभो! तुम्हारा अधरामृत मिलन के सुख को बढ़ानेवाला है। वह विरहजन्य समस्त शोक-संताप को नष्ट कर देता है। यह गानेवाली बाँसुरी भली भाँति उसे चूमती रहती है। जिन्होंने एक बार उसे पी लिया, उन लोगों को फिर दूसरों की आसक्तियों का स्मरण भी नहीं होता। वही अधरामृत हमें पिलाकर हमारे हृदय-ताप को हरो।

अटति यद भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम् ॥१५॥

उ० नीवडवि बगल् दिरुग नीकुटिलालक लालितास्य मि-
च्छाविधि जूडकुन्न निमिषंबुलु माकु युगंबुलै चनुं ।
गावुन रात्रुलैन निनुं गन्नुल नोप्पडु जूडकुंड
लक्ष्मीवर ! रेप्पलड्डमुग जैसे निदेल विघात क्रूरुडै ॥१५॥

दिन के समय तुम वन में विहार करने के लिए चले जाते हो, तब घुँघराली अलकों से युक्त तुम्हारे परम सुन्दर मुखारविन्द को हम मन-भर नहीं देख पातीं। अतः, हमारे लिए एक-एक क्षण युग के समान हो जाता है। जब तुम सन्ध्या के समय लौटते हो, तब पलकें गिरती रहती हैं, जिससे रात को भी हम तुम्हें अच्छी तरह नहीं देख सकतीं। अतः हे लक्ष्मीवर ! न जाने क्रूर विधाता ने नेत्रों में उन पलकों को क्यों बनाया ?

पति सुतान्वयभ्रातृबान्धवा नतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ।
गतिविदस्तवोद्गीत मोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥१६॥

उ० अक्कट बंधुलुन् मगलु नन्नलु दम्मुलु बुत्रकादुलन्
नेक्कोनि रात्रि वोकुडन नी मृदुगीतरवंबु वीनुलन् ।
वेक्कस मैन वच्चितिमि वेगमे मोहमु नोंदि नाथनी
वेक्कड बोयितो येरुगमीक्रिय निर्दयु डेन्दु गलगुने ॥१६॥

अहो ! बंधु-बांधव, पति-पुत्र और भाइयों (छोटे-बड़े) के 'रात्रि का समय है, अकेले मत जाना', इस प्रकार साग्रह मना करने पर भी हम उनकी आज्ञाओं का उल्लंघन करके तुम्हारे मृदुमधुर वेणु-गान सुनकर तुम्हारे पास आई हैं। आकर शीघ्र ही मोहित हो गई हैं। हे नाथ ! तुम कहाँ अंतर्धान हो गये हो, पता नहीं। क्या कहीं इस प्रकार का निर्दय भी होता है !

रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।
बृहदुरःश्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः ॥१७॥

ते० मदनुडावंग नीवाडु मंतनंबुलु, नवरसालोकनं बगुनगुमोगंबु ।
कमलकिरवैनमहित वक्षःस्थलंबु, मा मनंबुल लोगोनि मरपे गृष्ण ॥१७॥

हे कृष्ण ! मदनोद्दीपक प्रेमभाव को जगानेवाली बातें, नव रसों को उड़ेलनेवाली प्रेम-भरी चितवन और वह विशाल वक्षःस्थल से हमारी ओर देखकर मुस्करा देनेवाला स्मित-वदन, जिसपर लक्ष्मी जी नित्य-निरंतर निवास करती हैं, इन सबने हमारे मन को आकृष्ट कर मोहित कर दिया।

व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् ।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजन हृद्रुजां यन्निषूदनम् ॥
यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः दधीमहि कर्क शेषु ।
तनाटवी मटसि तद् व्यथते न किंस्वत् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषांनः ॥

म० अरविंदं बुलकंटे गोमलमुलै यंदंबुलै युन्न नी
चरणं बुल् कठनं बुलै मोनयु मा चन्नुंगवल् मोपगा ।
नेरियं बोलु नटंचु बोक्कुदुमु नीयी कर्कशारण्य भू
परिसंचारमु कृष्णनी प्रियुलकुं त्राणव्यथं जेयदे ॥

तुम्हारे चरण कमल से भी सुकुमार एवं सुन्दर हैं। उन्हें हम अपने कठोर स्तनाग्र पर डरते-डरते रखती हुई सोचती हैं कि कहीं उन्हें चोट न लग जाय। हे कृष्ण! उन्हीं चरणों से तुम कर्कश घोर जंगल में घूम रहे हो। इसे देखकर तुम्हारी प्रियतमाओं के हृदय में व्यथा न होगी!

कं० कट्टा मन्मथु कोललु नेट्टन नो नाट बेगडि नी पादंबुल् ।
वट्टिकोनग वच्चिन ममु, न ट्टुउविनि डिंचि पोव नायमे कृष्णा ।।

अहो! कामदेव के वाण हमारे मन में गड़ गये हैं। हम भयभीत होकर तुम्हारे चरणों में शरण लेने आई हैं। हे कृष्ण, ऐसी शरणागता हमें वन-मध्य में छोड़कर छिप जाना तुम्हारे लिए क्या न्याय्य ह!

कं० हृदयेश्वर माहृदयमु, मृदुतरमुग जेसि तोल्लि मिक्किलि कड नी ।
हृदयमु कठिनमु चेसेनु , मदीय सौभाग्यमिट्टिमंदमु गलदे ।।

हे हृदयेश्वर! पहले हमारे हृदय को मृदुतर वनाया गया। उसी के प्रभाव से तुम्हारे प्रति आकृष्ट हुई। पश्चात् तुम्हारा मन कठिन हुआ। यह सब हमारा मंद भाग्य का ही प्रभाव है।

उ० क्रम्मि निशाचरुल् सुरनिकायमुलन् वडि दाकि वीक वा-
कम्मुल तेट्टेमुल् वरप नड्डमु वच्चि जयिंतु वंडु नि-
न्नम्मिन मुग्धलन् रहित नाथल नक्कट् नेडु रेंडुमू-
उम्मुल ये ट्टु काडेगव नड्डमु रा दगदे कृपानिधी ।।

सुना जाता है कि सुरासुर-संग्राम में जब असुरजन देवताओं पर आक्रमण कर अपने तीक्ष्ण शर-परंपरा से उन्हें मारने लगते हैं, तब तुम आकर असुरों को मारते हो और देवताओं को विजयी बनाते रहते हो। अहो, आज हम तुम्हारी शरण में आई हैं, अबोध और अनाथ हैं। ऐसी हमलोगों के ऊपर पंचशर कामदेव अकारण ही आक्रमण कर रहा है। हे कृपानिधे! ऐसे अवसर पर क्या तुम्हें बीच में आकर हम अनाथाओं की रक्षा करना उचित नहीं है!

(४) मलयालम-साहित्य में राधा

केरल देश में इस साहित्य का उदय और अभ्युदय सम्पन्न हुआ। कैरली साहित्य एक हजार वर्ष के कम पुराना नहीं है। इसकी प्राचीन काव्यधारा दो रूपों में प्रवाहित होती है—एक तो संस्कृत से प्रभावित तथा दूसरी विशुद्ध द्राविडी शैली से। पहिली शैली में संस्कृत का प्रभाव खूब देखा जा सकता है और दूसरी में ठेठ द्राविडी भाषा का रूप। पहिली शाखा को, जिसमें विभक्तान्त संस्कृत शब्द और केरल भाषा का शब्द मिलाकर प्रयुक्त किये जाते हैं, साहित्यशास्त्रज्ञ मणिप्रवाल कहते हैं। मणि तथा प्रवाल (मूंगा) के योग के समान ही इस शैली में निवद्ध साहित्य अपनी नैसर्गिक सुन्दरता से मण्डित रहता है। दूसरी शाखा को पाट्टु (गीत) के नाम से पुकारते हैं, जिसमें द्राविडी भाषा अमिश्रित रूप में प्रयुक्त की जाती है और जिसमें संस्कृत के शब्दों को द्राविड रूप में प्रवर्त्तित कर प्रयुक्त किया जाता है।

कैरली साहित्य अपने जन्म के समय से ही विष्णु-भक्ति से ओतप्रोत है। इस साहित्य में भक्तों के हृदय की पवित्र भावना अपनी विशुद्ध अभिव्यक्ति पाती है। इसके कारण की जिज्ञासा के अवसर पर आलोचक की दृष्टि केरल के दो प्रख्यात वैष्णवतीर्थों की ओर स्वतः आकृष्ट होती है, जहाँ से विष्णु-भक्ति की धारा केरल के चतुर्दिक् प्रवाहित होती थी तथा समग्र देश को भगवत्प्रेम से सिक्त बनाती थी। एक तो है दक्षिण केरल में 'पद्मनाभ' का मन्दिर और दूसरा है उत्तर केरल में 'गुरुवायूर' का देवालय। तिरु अनंत-पुरम्' (त्रावणकोर) के महाराज के कुलदेवता ही 'पद्मनाभ' हैं, जिनकी शेषशायी मूर्त्ति श्रीरंगम् के श्रीविग्रह के समान ही सुन्दर तथा प्रभावोत्पादक है। गुरुवायूर के मंदिर में बालकृष्ण की मुन्जुल मूर्त्ति विराजती है। केरल की स्थानीय किंवदन्ती तो यह है कि श्रीशंकराचार्य के उपास्यदेव ये ही गुरुवायूर मन्दिर के कृष्ण भगवान् थे। इन दो वैष्णवतीर्थों के प्रामुख्य के कारण केरल-प्रांत प्राचीन काल से वैष्णव धर्म का पोषक अखाड़ा रहा है। फलतः, कैरली साहित्य में कृष्ण-काव्यों की भव्य परम्परा मध्य युग की एक विशिष्ट उल्लेखनीय घटना है।

दूसरा कारण है—केरल में श्रीमद्भागवतपुराण की लोकप्रियता। यह पुराण कैरली जनता का बड़ा ही प्रिय तथा हृदयावर्जक ग्रन्थ के रूप में सर्वथा प्रतिष्ठा पाता आ रहा है। कैरली साहित्य के प्रख्यात कवि **एजुत्तच्छन्** के ये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—"पुराणों में सबसे उत्तम भागवत है। यद्यपि पद्मपुराण आदि उत्तम ग्रन्थ हैं, तो भी आत्मतत्त्व जानने का सरल मार्ग दूसरे ग्रन्थों की अपेक्षा इसमें विशद और भावात्मक ढंग से लिखा गया है। प्रत्येक मनुष्य का मुक्ति पाने का मार्ग व्यक्तिगत होता है। भागवत की यही विशेषता है कि इसमें सब प्रकार के मनुष्यों को सरल मार्ग से मुक्ति पाने के उपाय बताये गये हैं।" फलतः, भागवत की ओर, विशेषतः दशम स्कन्ध की ओर, यहाँ के भक्त कवियों की दृष्टि प्राचीन काल से स्वतः आकृष्ट रही है। यह आकर्षण साहित्य में भी प्रतिबिम्बित रहा है। और या तो दशम स्कन्ध का अक्षरशः अनुवाद कैरली काव्यों में किया गया है अथवा उसका आधार लेकर मौलिक कृष्ण-काव्यों का प्रणयन होता आया है। इन विकल्पों में दूसरा विकल्प ही बहुशः लक्षित होता है। १५वीं शती के कवियों ने इसमें वर्णित सरस कृष्ण-कथा का वर्णन सर्वप्रथम अपनी भाषा में बड़ी सफलता के साथ किया है।

कृष्ण-काव्य की कैरली परम्परा

अब कृष्ण-कथा को काव्यों में वर्णन करनेवाले दो चार मान्य कैरली कवियों से परिचय पाना नितान्त आवश्यक है। **निरणम** गाँव में रहने के कारण **निरणम कवि** के नाम से ख्याति पानेवाली कवि-मण्डली के मुख्य कवि **माधव पणिक्कर** ने 'भगवद्गीता' का अनुवाद अपनी भाषा में किया, जो भारतीय भाषाओं में प्रथम अनुवाद होने के गौरव को धारण कर रहा है। इनके भाई **शंकर पणिक्कर** ने **श्रीकृष्णविजय** तथा **भारतमाला** नामक उत्तम काव्यों में श्रीकृष्ण के यश का विशद वर्णन प्रस्तुत किया है। इन दोनों कवियों के भांजे **राम पणिक्कर** ने 'भागवत का दशम स्कन्ध' नामक काव्य-ग्रन्थ में इस महनीय पुराण की रसमयी कविता का प्रथम परिचय केरल-प्रांत की जनता को दिया। ये तीनों निरणम

कवि सन् १३७५ से १४७५ ईसवी के बीच आविर्भूत माने जाते हैं। १६वीं शती के पूर्वार्द्ध में उत्पन्न **चेरुश्शेरी नम्पूतिरि** का 'कृष्णगाथा'-काव्य अपने माधुर्य तथा भक्ति-भावना के कारण कैरली भक्ति-साहित्य में नितान्त शोभन तथा सरस माना जाता है। दशम स्कन्ध के ऊपर आश्रृत होने पर भी यह कवि की मौलिक रचना है—नितांत कोमल, सरस तथा सुन्दर। इनका 'भारतम्' भी प्रवाहमयी भाषा के हेतु, पीयूष के समान मधुर माना गया है। इस शती के महनीय कवि **रामानुजन् एजुत्तच्छन्** की प्रौढ मौलिक कृति 'भारतम्' पाण्डवों की युद्ध-गाथा से सम्बद्ध होने पर भी भगवान् श्रीकृष्ण के मथुरा तथा द्वारका-लीलाओं का मधुरतम निःस्यन्द है। अपनी पवित्रता तथा उदात्त भावना के कारण ही यह कवि 'विद्यागुरु' (एजुत्त=विद्या; अच्छन्=पिता) की उपाधि से मण्डित होकर सर्वत्र समादृत है। १६वीं शती के मध्य भाग में उत्पन्न **पून्तानम् नम्पूतिरि** के के अन्य भक्तिपरक रचनाओं में 'श्रीकृष्णकर्णामृतम्' इसीलिए विशेष प्रख्यात है कि इसमें कवि ने श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन विशेष तल्लीनता के साथ किया है। यह इतना मधुर और रसपेशल माना जाता है कि इसके पद्य प्रातःकाल भक्तों के द्वारा बड़ी ही श्रद्धा, भक्ति और प्रेम के साथ गाये जाते हैं। अपनी रस स्निग्धता के कारण ही यह कैरली भक्ति काव्यों की अग्रिम पंक्ति में स्थान पाने योग्य रचना है। आलोचकों की दृष्टि में यह कैरली काव्य बिल्वमंगलीय श्रीकृष्णकर्णामृत संस्कृत काव्य से भी, माधुर्य तथा पद-विन्यास की दृष्टि से, बढ़कर है। १८वीं शती के आरम्भ में उत्पन्न **कुंचन नंप्यार** की रचनाओं में दो काव्य नितान्त भक्तिरस से उद्वेलित हैं, जिनमें पहिला है 'श्रीकृष्णचरितं मणिप्रवालम्', जो बारह सर्गों में 'विभक्त कवि की बाल रचना है' और दूसरा है 'भागवतम् इरुपत्तिनालुवृत्तम् जो चौबीस सर्गों में विभक्त कवि की प्रौढ रचना होने के अतिरिक्त भगवान् श्रीकृष्ण के समग्र जीवन का व्यापक विवरण प्रस्तुत करता है। इनका जीवनकाल सन् १७०४ ई० से १७४८ ई० तक फैला हुआ है। इनका 'भगवद्दूतम्' नामक श्रीकृष्ण के दौत्य-कार्य के सम्बन्ध में निर्मित काव्य माधुर्य तथा लोक-प्रियता की दृष्टि से नितान्त गौरवशाली है।

केरल साहित्य के ये गौरव-कवि हैं। इनकी वाणी भगवान् श्रीकृष्ण की मधुर लीला के कीर्तन से नितान्त पवित्र है। कैरली जनता में भक्ति-रस को जागरूक करने में इन कवियों की मञ्जुल कविता जितनी क्रियाशील हुई है, उतनी कोई भी रचना नहीं। श्रीकृष्ण की वृन्दावन-लीला के वर्णन-प्रसंग में गोपियों की दिव्य प्रीति का वर्णन इन काव्यों में प्रभूत मात्रा में पाया जाता है। राधा के विमल प्रेम की झाँकी देखकर किस भावुक का हृदय रसस्निग्ध नहीं हो जाता।

कैरली तथा व्रजभाषा के कवियों का दृष्टि-भेद

कृष्ण के जीवन, लीला तथा शिक्षा का वर्णन व्रजभाषा तथा मलयालम उभय भाषा के कृष्ण-भक्त कवियों के सामने प्रधान लक्ष्य था, परन्तु दोनों की वर्णन शैली में, विषय के उपन्यास की रीति में पर्याप्त भेद दृष्टिगोचर होता है। व्रजभाषा के कृष्ण-भक्त कवियों ने मुक्तक-शैली को अपने काव्य के लिए उपयुक्त मार्ग अंगीकृत किया है। सूरदास

तथा परमानन्ददास की रचनाएँ मुक्तक-शैली में ही प्रणीत हैं। सूरसागर तथा परमानन्दसागर वर्ण्य विषय की दृष्टि से तथा वर्णन-रीति की दृष्टि से बहुशः एक समान हैं। भागवत के दशम स्कन्ध का बहुशः आश्रय होने पर भी इन काव्यों मे कल्पना का विलास हैं। गेयता की प्रमुखता होने के कारण ये पदशैली में निबद्ध किये गये हैं। कैरली कवियों ने भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं के कीर्तन के निमित्त वर्णनात्मक शैली को अपनाया है; फलतः उन्होंने प्रबन्ध-काव्यों का प्रणयन किया है। चेरुश्शेरी तथा पून्तानम् ने श्रीकृष्ण का कीर्त्तन प्रबन्ध-काव्यों के रूप में किया है। नंप्यार के दोनों कृष्ण-काव्य सर्गबन्धात्मक हैं। उनकी बाल-रचना 'श्रीकृष्णचरितं मणिप्रवालम्' बारह सर्गों में निबद्ध है तथा प्रौढ रचना 'भागवतम्' चौबीस सर्गों में समाप्त होता है। इस प्रकार, काव्य-रूप की भिन्नता के कारण श्रीकृष्ण के जीवन-चरित को दोनों ने भिन्न दृष्टियों से देखा है। व्रजभाषा के कवियों ने कृष्ण की बाल-लीला तथा लोकरंजक रूप को अपने काव्य का विषय बनाया है; उधर कैरली कवियों ने कृष्ण के सर्वांग जीवन के, उनकी मथुरा तथा द्वारका-लीलाओं के भी वर्णन को अपने कव्य का लक्ष्य बनाया है। केरल के कवियों ने कृष्ण के लोकरक्षक तथा लोकमंगल रूप के चित्रण में अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है। उनकी वृन्दावनी लीला ही इनकी काव्य-कला को सीमित करने के लिए पर्याप्त नहीं मानी गई है। पून्तानम् ने अपने एक प्रख्यात पद में श्रीकृष्ण के स्वरूप का चित्रण जिस प्रकार किया है, उससे उनकी भावना का पर्याप्त परिचय मिलता है। वे कहते हैं—

"श्रीकृष्ण वृन्दावन के लिए अलंकार, रिपु-समूह के लिए भयदाता, दूध-मक्खन और छाछ की चोरी करनेवाले, बड़े-बड़े पापों का नाश करनेवाले और वनिताओं के लिए अन्नदाता हैं। ऐसे आपके नूपुरों की ध्वनि मेरी मति का कलंक मिटाने की कृपा करे।"[१]

इससे यह न समझना चाहिए कि वृन्दावन-लीला के प्रति कैरली कवियों में उपेक्षा का भाव है। बात ऐसी नहीं है। ये कवि भी माधुर्य तथा सौन्दर्य के प्रति हार्दिक आकर्षण रखते हैं। इस प्रसंग में एक अज्ञातनामा करली कवि की यह उक्ति कितनी सरस-मधुर है। बाल गोपाल को लक्ष्य कर वह कवि कह रहा है—

"हे भगवन्, अपनी मनोमोहिनी वंशी बजाते हुए दौड़कर आइए। उछलते-कूदते, थिरकते, रागालाप करते, वंशी बजाते मेरे पास आइए। सिर पर मोरपंख लगाकर, उसपर माला रखकर, अपने साथियों के साथ खेलते हुए आइए। गोपियों के वस्त्र छीनकर वृक्ष पर बैठनेवाले हे भगवान्, मेरा दुःख दूर करने के लिए आप शीघ्र आइए।"[१]

परन्तु, दोनों कवियों की कल्पना में अन्तर अवश्य दृष्टिगोचर होता है। व्रजभाषा के कवियों की कविता में भावपक्ष का प्राधान्य सर्वत्र स्फुरित होता है; वात्सल्य तथा शृंगार के वर्णन-प्रसंग में इन कवियों का वर्णन बड़ा ही मार्मिक, हृदयावर्जक और मनोवैज्ञानिक है।

---

१. मूल मलयालम कविता का आस्वाद लेने के लिए उसे गाकर पढ़ने की आवश्यकता है। उसके लिए देखिए—डॉ० भास्करन नायर-रचित 'हिन्दी और मलयालम में कृष्ण-भक्ति-काव्य', दिल्ली, १९६० (पृ० १३१, टिप्पणी ३)।

ये उस परिस्थिति में अपने पात्रों के अन्तस्तल में प्रवेश कर भाव-गाम्भीर्य की स्वतः अनुभूति करते हैं। इसीलिए सूरदास, नन्ददास आदि वल्लभीय कवियों की वाणी मानव के अन्तस्तल सफल का चित्र खींचने तक अपने को सीमित करती है। उधर कैरली कवि समन्वय के विशेप पक्षपाती हैं। वे भावपक्ष के साथ लोकपक्ष के सामञ्जस्य तथा समन्वय प्रस्तुत करने में विशेप उत्साही प्रतीत होते हैं। वे कविताओं के रस-भाव, चरित्र-वर्णन के साथ उपदेशात्मक मुक्तकों के द्वारा अभिव्यक्त किये गये लोक-मर्यादा की रक्षा के भाव तथा नीति तथा नैतिकता का एकत्र समन्वय प्रस्तुत करने में विशेष जागरूक दृष्टिगोचर होते हैं। यही कारण है कि महाभारत की कथा के विषय में लिखते हुए वे श्रीकृष्ण के लोकमंगल चरित्र की अभिव्यंजना करने में कभी पराङ्मुख नहीं होते। दोनों कवियों के काव्यों का रसास्वादन करने के लिए इस दृष्टिभेद पर ध्यान देना नितान्त आवश्यक है।

कैरली कवियों ने भक्ति के पाँचों प्रकारों का निदर्शन अपने काव्यों में किया है, परन्तु दास्य-भाव की अपेक्षा माधुर्य-भाव के प्रति उनका आकर्पण बलवत्तर है। वृन्दावन की समस्त सौन्दर्यमयी ललित लीलाओं ने इन कवियों को अपनी ओर स्वतः आकृष्ट किया था। यहाँ वर्ण्य विपय के औचित्य के लिए गोपियों के साथ श्रीकृष्ण के प्रेम-रंग का संक्षिप्त विवरण ही प्रसंगवशात् उपादेय है।

कैरली कवियों ने गोपियों को परकीया नायिका के रूप में चित्रित किया है। फलतः, कृष्ण के साथ उनका मिलन एक स्वभावतः चिक्कण , निर्विघ्न व्यापार न होकर अनेक प्रतिबन्धों के कारण जटिल हो गया है। रास के लिए गोपियों का आह्वान मुरली-वादन से, भागवत की प्रथा के अनुसार, यहाँ भी आरम्भ होता है। मुरली-निनाद की विस्मय-जननी शक्ति का परिचय व्रजकवियों के समान कैरली कवियों ने भी दिया है। चेरुश्शेरी का कहना है—जब श्याम ने वंशी बजाई, तब वृन्दावन की गोपियाँ दूध दुहना और उबालना, बच्चों को लोरी सुनाकर सुलाना, बच्चों को दूध देना आदि नाना गृह-कार्यों में व्यस्त थीं। मुरली की मादक ध्वनि सुनते ही वे भगवान् श्रीकृष्ण से मिलने के लिए घर से बाहर निकल पड़ी—मन्त्रमुग्ध की तरह; जान पड़ता कि कोई जादू उन्हें अपनी ओर खींचे ले जा रहा है।

रास का वर्णन भागवत की रासपञ्चाध्यायी की ही घटनाओं के विन्यास में तथा भावों को स्फुरण में सर्वथा अनुकरण करता है। विस्तार तो विशेष नहीं है, परन्तु तल्लीनता की दृष्टि से यह कथमपि उपेक्षणीय नहीं है। कैरली कवियों ने श्रृंगार के उभय पक्ष का चित्रण अपने काव्यों में किया है, परन्तु 'भ्रमरगीत' का वर्णन व्रजभाषा के कवियों की अलौकिक प्रतिभा और विदग्धता का एक मञ्जुल विलास है; कैरली कवियों की रचनाओं में यह प्रसंग केवल संकेतित है, विस्तार पाने में समर्थ नहीं हुआ। रास के अवसर पर जब कृष्ण अन्तर्हित हो जाते हैं, तब गोपियों के हृदय में उठनेवाली विरह-भावना का चित्रण कैरली कवियों ने बड़ी मार्मिकता से किया है। चेरुश्शेरी ने गोपियों के विरह का वर्णन इस प्रसंग में बड़े ही भावोत्पादक शब्दों में किया है—

हे कृष्ण, आपकी हमारे लोगों के प्रति सहानुभूति कहाँ गई? जिस प्रकार चातक

घनश्याम की प्रतीक्षा करता रहता है, उसी प्रकार हम आपके दर्शन के लिए उत्कण्ठित रहती हैं। जल से अलग होकर जिस प्रकर मछलियाँ छटपटाती रहती हैं, वैसे ही हम भी आपके विना व्याकुल हैं। हम पर कृपा की वर्षा कीजिए। यदि हम में कोई कमी हो, तो उसे आप बता सकते हैं। आप हमें क्यों इस प्रकार अपार दुःख दे रहे हैं?

मूल में यह मलयालम गीत बड़ी मधुर तथा आवर्जक है—

कार वर्ण्णाः कण्णाः कटल बणर्णाः काणइओ
कारुण्य माण्डोरु कारवर्णने
एङङलिलुल्लोस कारुण्रु मिन्निपो
लेङडानुं पोयत्त रिञ्ञायो नी-
कार वर्ण्णन तन्नुटे मानस मिन्निनु
कारुण्य मिल्लाते यायितल्लो
चालेप्पर युमारा वक्कोल्लाते
अण्णन्नु मिन्नु कोण्डाकाशं नोक्कीट्टु
कण्णु नीरोलोल मेल्ले मेल्ले
केणु किट क्कुन्न वेजाम्पल पोलेयाम
वीणु मरुकुन्नु तेङङलय्यो
नीशेटु वेरायि पाज परम्पेरीट्टु
मिन्नुन्न मीनङलेन्न पोले ॥

—चेरुश्शेरी के 'कृष्णगाथा'-काव्य से

चेरुश्शेरी ने इस सुन्दर कृष्णगाथा-काव्य में रासलीला का मनोमोहक वर्णन किया है, विशेषकर श्रीकृष्ण को देखने के लिए आनेवाली देवाङ्गनाओं का। रास का प्रसंग ही इतना प्रभावोत्पादक है कि सुरवालाएँ भी उसे देखने के लिए सज-धजकर पधारती हैं। इस अवसर पर चेरुश्शेरी ने स्त्री-स्वभाव के सूक्ष्म निरीक्षण की का बड़ा ही सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत किया है।

रासक्रीडा के अवसर पर वेणु-निनाद के प्रभाव का यह अंकन भागवत की प्रसिद्ध सूक्तियों का स्मरण दिला रहा है। यह अज्ञातनामा कैरली कवि संस्कृत-वृत्त में अपने मधुर भावों की अभिव्यक्ति इस प्रकार कर रहा है—

आरोमल् केशवन् तन् मधुरिम तिरलुं
वेणुगीत प्रभावाल्
वारन्नानन्द मूर्च्छा तटवुमोरु
लता पादपानां कदम्बं।
वारं वारं प्रसूनाङ्कुर पुलकमणि
ञ्ञलंग मेङगुं मधूली
धारा वाष्पङ्ङलुं चेय्तट विधियिल
विलसी निश्चला नम्र शाखं।

इसका आशय यह है कि कदम्ब-वृक्ष ने प्यारे-दुलारे श्रीकृष्ण के मधुर वेणु-निनाद से प्रभावित होकर कलियों द्वारा अपना पुलक प्रकट किया और मधुरूपी आँसू बहाते हुए झुकी डालियों-सहित खड़ा रहा।

इस कैरली पद्य को पढ़कर भागवत का 'वेणुगीत' (१०।२१) विषयक यह पद्य हठात् स्मृति-पथ में आ जाता है—

गा गोपकै रनुवनं नयतोरुदार-
वेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥

—भागवत, १०।२१।१९

भागवत के इस प्रख्यात पद्य में उल्लिखित 'पुलकस्तरूणाम्' पद की मानों व्याख्या ही ऊपर उद्धृत मलयालम-पद्य में की गई है। इससे कवि की विमल प्रतिभा का विलास प्रकट होता है। कवि सचमुच उस विषय में अपनी तल्लीनता की गाढ अभिव्यक्ति करता हुआ प्रतीत होता है।

केरल के कवियों की दृष्टि भगवान् श्रीकृष्ण के स्निग्ध प्रसंग पर विशेष पड़ती दृष्टि-गोचर होती है। जहाँ वे गोपियों की विशुद्ध प्रीति, रासलीला के कृष्ण के साथ मधुर संयोग तथा विरह में वियोग का रसपेशल वर्णन प्रस्तुत करते हैं, वहीं वे रुक्मिणी-विवाह के प्रसंग को तथा सुदामा के वृत्तान्त को भूलते नहीं। तथ्य तो यह है कि श्रीकृष्ण की द्वारका-लीला के ये दोनों वृत्त कैरली कवियों का नितान्त प्रिय तथा आवर्जक विषय है, जिस पर उनकी प्रतिभा ने अपना अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। चेरुश्शेरी तथा कुंचन नंप्यार दोनों ने रुक्मिणी के स्वयंवर का बड़ा ही रोचक वृत्त उपस्थित किया है। मलयालम-भाषा के चंपू-काव्यों में 'रुक्मिणी-स्वयंवर चम्पू' तथा 'कुचेलवृत्त' की ख्याति विशेष है। व्रजभाषा के कवियों की प्रीति वृन्दावन-लीला से इतनी अधिक है कि उन्होंने इन दोनों वृत्तों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। कैरली कवि भागवत के रसिक मर्मज्ञ प्रतीत होते हैं। उनकी प्रीति इस भक्तिमय काव्य से पर्याप्तरूपेण घनी है, जिसका परिचय हमें पद-पद पर होता है। श्रीकृष्ण की भक्ति-भावना की छाप कैरली साहित्य पर इतनी गाढ़ी है कि आज भी इस साहित्य में राधा-माधव की केलि के कीर्त्तन में प्रतिभाशाली कवियों की काव्य-कला विलसित होती है। इस प्रसंग में मलयालम-भाषा के एक प्रख्यात कृष्ण-भक्त कवि की हिन्दी कविता की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया जाता है, जिसमें राधाकृष्ण की लीला का मधुर संकीर्त्तन आज भी श्रोताओं के मनोमयूर को आह्लादित करता है।

ये कैरली कवि गर्भ श्रीमान् हैं।[1] इनका वास्तविक नाम था **श्रीपद्मनाभदास वंचिपाल श्रीराम वर्मा कुलशेखर किरीटपति**, जो केरल के अन्तर्गत त्रिवेन्द्रम्-राज्य के महाराजा (सन् १८१३–१८४६ ई०) थे। ललित-कला, संगीत के विशेषज्ञ होने के

१. द्रष्टव्य : इनकी हिन्दी पदावली के लिए 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', भाग १६, संवत् १९९२, पृ० ३१९–३५४।

अतिरिक्त ये काव्य-कला के मर्मज्ञ थे। द्राविडी भाषाओं के पण्डित होने के अतिरिक्त संस्कृत और हिन्दी के ये विशेषरूपेण मर्मज्ञ थे। अपने कुलदेव पद्मनाभ की भक्ति में नितान्त आसक्त इस महाराजा ने अपने हार्दिक भावों को नाना भाषाओं में कमनीय काव्यों के द्वारा वर्णन किया है। हिन्दी के इन सरस पदों में माधुर्य तथा रसस्निग्धता का विलारा देखने ही योग्य है। केरली कृष्ण-काव्य की परम्परा आज भी अक्षुण्ण रूप से विराजमान है; इसके प्रदर्शनार्थ दो-एक पद नीचे दिये जाते हैं—

(भैरवी राग। आदिताल)

कृष्णचन्द्र राधामनमोहन मेरे मन मों विराजो जी
मोरपिछ कटि काछनी राजे
कर मुरली उर माल लासे।
फणिवर के पर निरत करत
प्रभु देव मुनीश्वर गगन बसे॥
हाथ जोड़ सब नागवधूजन
करें बिनती हरि चरणन से।
छोड़ो हमरे प्रीतम को हम
अंचल धोवें अंसुवन से॥
पदमनाम प्रभु फणि पर शायी
कब इन जायो चितवन से।
ऐसी लीला कोटि तुम्हारी
नहि कहि जावे कविजन से॥

एक दूसरे पद में वंशीवाले श्याम का वर्णन है—

बंसीवाले ने मन मोहा।
बोली बोले मीठी लागे
दर दर उमंग करावे ॥१॥
बेणुन बाजे तान गावे
निस-दिन गोपियाँ रिझावे ॥२॥
साँवरा रंग मोहिनी अंग
सुमरण तन की भुलावे ॥३॥
कालिंदी के तीर ठाढ़े
मोहन बांसुरी बजावे ॥४॥
पदमनाभ प्रभु दीनबन्धु
सुर नर चरण मनावे ॥५॥ बंसीवाले० ॥

इसी भाव की अभिव्यक्ति एक दूसरे पद में है—

करुणा निधान कुंज के बिहारी
तुमरी बंसी लाला मेरो मनोहारी ॥१॥

इस बंसी से सुर नर मुनि मोहे
मोह गई सारी व्रज की नारी ॥२॥
जब स्याम सुन्दर के तन देखी
जनम जनम के मैं संकट तारी ॥३॥
मोर मुकुट पीतांबर सोहे
कुंडल की छवि मैं बलिहारी ॥४॥
दशम स्कन्ध भागवत गावे
नख पर गोबरधन गिरिधारी ॥५॥
पदुमनाभ प्रभु फणि पर शायी
दनुज-कुल - हरण नाथ मुरारी ॥६॥

इन पदों में यत्र-तत्र यतिभंग अवश्य लक्षित होता है; परन्तु याद रखना चाहिए कि यह रचना है मलयालम-भाषाभाषी कवि की। और वह भी, आज से डेढ़ सौ वर्ष पहिले की, जब हिन्दी का राष्ट्रभाषा के रूप में न प्रचार था और न आजकल के समान शासन की ओर से उसके प्रबल प्रसार का उद्योग था। यह इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि केरल देश दक्षिण भारत में श्रीकृष्ण-भक्ति के प्रचार-प्रसार का एक प्रधान स्थल है। कैरली साहित्य में कृष्ण-भक्ति-काव्यों का प्राचुर्य तथा लोकप्रियता श्लाघनीय है। ऐसे काव्य में राधा के प्रेम-विलास की चर्चा नैसर्गिक है।

सप्तम परिच्छेद

मध्यमाञ्चलीय साहित्य में राधा

व्रज-साहित्य में राधा

(क) निम्बार्की साहित्य में राधा

(ख) राधावल्लभी साहित्य में राधा

(ग) अष्टछाप-साहित्य में राधा

व्रज-साहित्य में राधा

व्रजमण्डल में उदय लेनेवाले कृष्ण-भक्ति के उपासक सम्प्रदायों के अनुयायी वैष्णव-कवियों ने राधाकृष्ण के लीला-चिन्तन में अपनी प्रतिभा का वैभव पूरी शक्ति से दिखलाया है, जिसके कारण व्रजभाषा का साहित्य इतना उदात्त तथा उन्नत माना जाता है। अष्टछाप के कवियों की कमनीय रचनाओं से काव्य-रसिक बहुलता से परिचित ही हैं, परन्तु निम्बार्की कवियों तथा राधावल्लभी कवियों के काव्यों से सामान्य रसिक-वर्ग का परिचय उतना गम्भीर तथा विस्तृत नहीं है, जितना होना चाहिए। अष्टछापी कवियों के चाकचिक्य में निम्बार्की कवियों की काव्य-प्रतिभा कतिपय मात्रा में अभिभूत-सी प्रतीत होती है, परन्तु इन कवियों की अपनी एक काव्य शैली है, जिसकी रसस्निग्धता तथा भाव-गाम्भीर्य में किसी प्रकार का संशय आलोचक के मानस में नहीं है। राधावल्लभी कवियों का परिचय तो इन दोनों प्रकार के कवियों की अपेक्षा और भी कम है। परन्तु, इस सम्प्रदाय के कवियों में भी प्रतिभा का चमत्कार कम नहीं है। इनके काव्य अभी तक आलोचकों के गम्भीर अध्ययन की अपेक्षा रखते हैं। तीनों सम्प्रदायों के कवियों ने राधाकृष्ण की लीलाओं का, उनके अनुपम सौन्दर्य का, उनके धाम वृन्दावन की सुषमा का बड़ा ही रसग्राही वर्णन किया है। इनकी कविता में हृदय-पक्ष का प्राबल्य है, कलापक्ष की उपेक्षा नहीं है, परन्तु कला का उतना ही ग्रहण यहाँ किया गया है, जितना वह हृदय को स्निग्ध तथा तरंगित करने में समर्थ होती है। इन समस्त कवियों ने भक्ति-रसाप्लुत

हृदय से राधाकृष्ण की केलि का चिन्तन अपनी धार्मिक विशिष्टता को पुरःसर कर बड़ी मनोज्ञता के साथ किया है। इसीका एक सामान्य वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

व्रजभाषा में भागवत का अनुवाद

भागवत में निवद्ध श्रीकृष्ण-लीला को पाठकों के सामने उपस्थित करने का श्लाघनीय प्रयत्न मध्ययुगी अनेक कवियों ने अनुवाद या स्वतंत्र रूप में किया है। अधिकांश कवियों ने व्रजभाषा को ही इस कार्य के लिए अपनाया है। कभी अवधी का भी प्रयोग किया गया है। भागवत के इन अनुवादों में प्रधान काव्यों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

(१) **लालचदास** ने अपने दशम स्कन्ध के अनुवाद को 'हरिचरित्र' नाम दिया है। रचना-काल के सम्वन्ध में तीन समयसूचक उद्धरण प्राप्त होते हैं—विक्रमी १५२७, १५८७ तथा १५००। परन्तु, इन तीनों उल्लेखों में १५८७ वि० का निर्देश वहुशः प्राप्त होता है। ये उत्तरप्रदेश में स्थित रायवरेली जिला के निवासी थे। पूरा ग्रन्थ अवधी में दोहा-चौपाइयों के रूप में लिखा गया है। ध्यान देने की वात है कि यह 'हरिचरित्र' जायसी के 'पदमावत' तथा तुलसीदास के 'रामचरितमानस' से लगभग पचासों साल पूर्व की रचना है। प्रवन्ध-काव्य के रूप में कृष्णचरित का यह अवधी रूप उस परम्परा का जनक है, जिसमें तुलसी ने रामचरित का कीर्त्तन किया। पूरा ग्रन्थ ९५ अध्यायों में है और दशम स्कन्ध का अनुक्रमिक अनुवाद है। ४५वें अध्याय तक ग्रन्थ लालचदास का निर्माण है। अनन्तर उनके दिवंगत हो जाने पर १६७१ वि० में हस्तिनापुर-निवासी 'प्रह्लाद' कायस्थ के पुत्र आसानन्द ने इसे पूर्ण किया। इसमें कृष्ण का चरित भागवत महापुराण तथा ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के आधार पर वर्णित है। कवि ने पौराणिक कथा को आधार अवश्य वनाया है, किन्तु उसने मौलिक उद्भावना और साहित्यिक सहृदयता का पर्याप्त परिचय दिया है। ग्रन्थ प्राचीन अवधी भाषा तथा काव्यकला दोनों दृष्टियों से उपादेय है।[1]

(२) **चतुरदास** ने भागवत के एकादश स्कन्ध का पद्यानुवाद अपने गुरु सन्तदास की आज्ञा से १६०९ वि० (=१५५२ ईसवी) में प्रस्तुत किया। इसके लगभग तीस साल के अनन्तर (३) गोपीनाथ द्विज ने भागवत दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध का अनुवाद १६२९ वि० (=१५८२ ई०) में किया। वार्त्ता-ग्रन्थों का कथन है कि (४) नन्ददास ने तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के आदर्श पर श्रीकृष्ण का चरित्र दोहा–चौपाइयों में वर्णित करने के लिए 'दशम स्कन्ध भाषा' का प्रणयन किया, जो दशमस्कन्ध का प्रायः क्रमिक अनुवाद है। इस ग्रन्थ के २८ ही अध्याय मिलते हैं। २९वाँ अध्याय भी मिलता है, परन्तु इसे नन्ददास-रचित होने में सन्देह है। 'वार्त्ता' इस प्रकार इस ग्रन्थ को तुलसी के महनीय काव्य के आदर्श पर प्रणीत वतलाती है। यदि यह सत्य हो, तो इस ग्रन्थ का रचना-काल १६३१ वि० (=१५७४ ई०) के अनन्तर होना चाहिए। ये चारों अनुवाद १६वीं

१. सम्पादित अंश के लिए द्रष्टव्य 'परिषद्-पत्रिका', पटना, वर्ष १, अंक १, १९६१, पृ० ७४–८८।

शती की रचनाएँ हैं। अनुवाद की परम्परा १७वीं तथा १८वीं शती में अक्षुण्ण बनी रही। १७वीं शती के अनुवादों में प्रधान ये हैं—(५) भागवत-संक्षेप—श्रीलाल कवि द्वारा रचित; रचनाकाल १६७४ वि० (=१६२७ ई०),(६) भागवत दशम स्कन्ध—सबल श्याम रचित, र० का० १७२६ वि० (=१६६९ ई०), (७) भागवत दशम स्कन्ध—जगतनन्द-विरचित, र० का० १७३१ वि० (=१६७४ ई०); (८) हरिचरित्र (दशम स्कन्ध का अनुवाद)—भूपति कायस्थ-रचित, र० का० १७४४ वि० (=१६८७ ई०)। यह दशम स्कन्ध के समग्र ९० अध्यायों का बड़ा ही सुन्दर अनुवाद माना जाता है। भाषा तथा शैली सरल और शोभन है। (९) भागवत एकादश स्कन्ध—अनुवादक बालकृष्ण कवि, र० का० १८०४ वि० (=१७४७ ई०)। (१०) सम्पूर्ण भागवत भाषा—अनुवादक रसजानि वैष्णवदास[1], र० का० १८०७ वि० (=१७५० ई०)। इस लेखक की विशिष्टता ध्यान देने योग्य है। वैष्णवदास के पितामह प्रियादासजी थे, जो भक्तमाल के प्रसिद्ध टीकाकार हैं और जिनका उपनाम 'रसराजि' था। इनका उपनाम 'रसजानि' था, परन्तु हस्तलेखों की गड़बड़ी से कई लेखक इन दोनों को अलग-अलग ग्रन्थकार मानते हैं, जो ठीक नहीं है। वैष्णवदास का यह अनुवाद भी दोहा-चौपाइयों के रूप में था तथा समस्त भागवत के अनुवाद होने से यह परिमाण में भी कम नहीं था। ये चैतन्य-मत के अनुयायी लेखक थे, इसका उल्लेख इन्होंने अपने ग्रन्थों में किया है।[2]

इस प्रकार, भागवत के अनुवाद समय-समय पर व्रजभाषा में होते रहे। भागवत की विख्यात टीका श्रीधरी की भी प्रसिद्धि कम नहीं थी; क्योंकि इसके आधार पर व्रजभाषा गद्य में अनेक स्कन्धों का कथासार प्रस्तुत किया गया है। निष्कर्ष यह है कि व्रजभाषा के कवियों की अभिरुचि 'भागवत' की ओर, विशेषतः दशम स्कन्ध की ओर, विशेष रही। व्रजभाषा में भागवत की लोकप्रियता का यही कारण है।

विप्र नागरीदास : सम्पूर्ण भागवत

भागवत के व्रजभाषानुवादों में यह ग्रन्थ अपने कवित्व तथा काव्य-कला की दृष्टि से अनुपम माना जाना चाहिए। यह लेखक प्रख्यात भक्त-कवि नागरीदास से भिन्न और पृथक् है। ग्रन्थ के आदि-अन्त में इन्होंने अपने विषय में समस्त ज्ञातव्य ऐतिहासिक विषयों का संक्षिप्त निर्देश किया है। ये चरणदासी सम्प्रदाय के अनुयायी थे तथा महात्मा चरणदास के ५२ शिष्यों में अन्यतम थे। इसमें सन्देह नहीं, ये उच्चकोटि के साधक तथा

१. द्रष्टव्य : 'परिषद्-पत्रिका', वर्ष १, अंक २; १९६१, पटना, पृ० २८–३२।

२. रसिक भूप हरि रूप, श्री चैतन्य स्वरूप।
हृदय कूप अनुरूप रस, उभऱ्यौ बहै अनुप॥
(भागवत भाषा के प्रत्येक स्कन्ध के आदि में)
बन्दि कृष्ण चैतन्य चंद दुति करे अनन्द जो।
कहौं 'गीत गोबिन्द', सुने होय महानन्द सो।
(गीतगोविन्द भाषा के प्रारम्भ में)

प्रतिभाशाली कवि थे। इनके विशद पाण्डित्य का सूक्ष्म परिचय भागवत के इस अनुवाद से भली भाँति मिलता है। यह कोरा अनुवाद न होकर एक मौलिक साहित्यिक रचना है। कवि का सम्बन्ध राजस्थान के अलवर या राजगढ़ से अवश्य था। नरूखंडाधिपति जोरावर सिंह, तत्पुत्र मुहब्बत सिंह और उनके पुत्र राव राजा श्रीप्रतापसिंह के दीवान और प्रतिनिधि श्रीछाजूराम इनके आश्रयदाता थे, जिनका आदेश पाकर इन्होंने भागवत का यह सम्पूर्ण तथा सुरस अनुवाद प्रस्तुत किया। ग्रन्थ का आरंभ किया गया सं० १८३२ वैशाख सुदी तीज को (=१७७५ ई०)।[1] इसका हस्तलेख १८५८ संवत् का उपलब्ध होता है। इस प्रकार, ग्रन्थ की पूर्त्ति १७७५ ई० से १७८० ई० के बीच माननी चाहिए। इतना सुन्दर तथा सुरस अनुवाद शीघ्र प्रकाशन की अपेक्षा रखता है।[2]

राधा का सुभग रूप

राधा सौन्दर्य तथा माधुर्य की प्रतिमा है। आह्लादिनी शक्ति के रूप-चिन्तन में कवियों ने अपनी अलौकिक प्रतिभा का यथाशक्ति उपयोग किया है, परन्तु क्या शब्दों के माध्यम से उस श्रीविग्रह का तनिक भी आभास पाठकों को मिल सकता है? राधा के रूप की अभिव्यक्ति करने में कवियों ने कोई भी पक्ष छोड़ा नहीं—न कला-पक्ष को और न हृदय-पक्ष को। येन केन प्रकारेण उस अनुपम रूप की एक मधुर झाँकी प्रस्तुत करना ही उनका उद्देश्य है। उस अलौकिक छवि-अंकन के लिए हिन्दी-कवियों का प्रयत्न अन्य भाषा-भाषी कवियों के प्रयास से कथमपि घटकर नहीं है। यदि बँगला कवि गोविन्ददास का वह पद अपनी स्वाभाविक पद-मधुरिमा के लिए प्रख्यात है—

कुंचित केशिनि निरुपम वेशिनि
रस आवेशिनि भंगिनी रे।
अधर सुरंगिनि अंग तरंगिनि
संगिनि नव-नव रंगिनि रे।
सुन्दरी राधा आवति सुन्दरी
व्रज रमनी गण मुकुटमनी
कुंजर गामिनी मोतिमदसनी,
दामिनि चमक निहारिनि रे।
नब अनुरागिनि अखिल सुहासिनि
पंचम रागिनि मोहिनी रे।
रासविलासिनि हासविकासिनी
'गोविन्द दास' चित सोहिनी रे॥

---

१. संवत अष्टादस सु सत, पुनि बत्तीस प्रमान।
तृतिया सुदि वैशाख की, ग्रंथारम्भ सुमान॥

२. इस ग्रन्थ के आदि-अन्त के लिए देखिए—
'भारतीय साहित्य' (पत्रिका, जनवरी १९५६), पृ० ८८-९०; प्रकाशक—हिन्दी विद्यापीठ, आगरा-विश्वविद्यालय, आगरा।

तो, हिन्दी के मान्य कवि नन्ददास का यह पद्य अपने अर्थ-गाम्भीर्य के लिए उतना ही विख्यात होना चाहिए—

तेरे ही मनायबे तें नीकौ री लागत मान
तौं लौं रहि प्यारी जौं लौं लालहि लै आऊँ।
औरनु को हँसौहौं मुख, तेरी तौ रुखाई आली,
सोरह कला कौ पूरौ चंद बलि जाऊँ।
चलि न सकत उत, पग न परत इत तें
ऐसी शोभा छाँड़ि फिरि पाऊँ धौं न पाऊँ।
'नन्ददास' प्रभु दोनों विधि ही कठिन परी
देखिबौ करौं किधौं लालहिं दिखाऊँ॥

इस पद्य में श्रीराधारानी की रूपमाधुरी की अभिव्यक्ति अपने पूर्ण साहित्यिक बैभव के साथ विराजमान है। प्रसंग है राधा के मान का। मानवती राधा को बुलाने के लिए जब सखी स्वयं वहाँ कुंज में पधारती है, तब उनकी अलौकिक मुख-शोभा देखकर वह ठिठक जाती है। न पैर आगे बढ़ते हैं, न पैर पीछे ही लौटते हैं। ऐसी शोभा छोड़कर वह अन्यत्र जाना नहीं चाहती—ऐसा रूप फिर मिले या न मिले। उसकी स्थिति बड़ी विषम है। वह निश्चय नहीं कर पाती कि वह स्वयं देखा करे या व्रजनन्दन को बुलाकर दिखलावे। रूपमाधुरी की बड़ी सुन्दर अभिव्यंजना है इस पद्य में।

सूरदास की दृष्टि में राधा का रूप एक अद्भुत अनुपम बाग है, जिसका वर्णन रूपकातिशयोक्ति के सहारे कथमपि इस प्रख्यात पद में किया गया है—

अद्भुत एक अनुपम बाग।
जुगल कमल पर गज क्रीडत है, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरिपर सरवर सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसै ता ऊपर ताऊपर अमरित फल लाग॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव ता पर शुक पिक मृगमद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मणिधर नाग॥
(रूपकातिशयोक्ति)

निम्बार्की कवि घनानन्द ने कुंज के गर्भ से बाहर पधारनेवाली श्रीराधा की शोभा का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है इस पद में—

आवति चली कुंज गहबर तें कुँवरि राधिका रूपमढ़ी।
मोद-विनोद भरी मृदु मूरति का बिरंचि या घाट घढ़ी॥
बरनौं कहा गुराई मुख की अलक सँवरई संग बढ़ी।
बंक चितवनि सरल बान लौं उर इकसार दुसार कढ़ी॥
सहज मधुर मुसिकानि सलौनी मौन मोहिनी मंत्र पढ़ी।
अधर पानि पै निरखि घुर्‌यौ हिय उतरति क्यों जु घमेर चढ़ी॥

सुन री सखी घुटनि जियरा की तू ही एक उपाय-अड़ी ।
ज्याइ प्याइ रस 'आनन्द घन' को रसना चातक चोंप चढ़ी ।।
—घन आनन्द, पृ० ४६४ ।

राधा की रूप-माधुरी के वर्णन में कवि आदर्श रूप की कल्पना प्रस्तुत कर रहा है। आदर्श अंग-प्रत्यंग का सौष्ठव कितना रुचिर, कितना सुचिक्कण, कितना संगठित होना चाहिए, इसका पूरा विवरण हम ऊपर के विवरणों में पाते हैं। मेरे कहने का अभिप्राय है कि राधारानी रमणी-रूप का एक आदर्श प्रस्तुत करती हैं; कवि उस आदर्श तथा उत्कर्ष को अपनी कल्पना से छूना चाहता है। इसके निमित्त वह आलंकारिक भाषा का पूर्ण साहाय्य लेता है और वह हमारे सामने एक मनोरम शब्दचित्र खींचने में समर्थ होता है। जयदेव से घनानन्द तक हम उसी काव्य-सरणि का अनुसरण पाते हैं।

व्रजभाषा-काव्य का बँगला-काव्य से वैशिष्ट्य

बँगला तथा व्रजभाषा के कृष्ण-भक्त कवियों के काव्यों की तुलना से दोनों का पार्थक्य स्पष्टतः प्रतीत होता है । भक्ति के पाँचों प्रकारों में माधुर्य-भक्ति पर ही बंगाली भक्तों का आरम्भ से आग्रह रहा है । इस आग्रह के कारण शांत, वात्सल्य, दास्य तथा सख्य भक्ति के भावों का प्रदर्शन बँगला-काव्यों में बहुत ही कम मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। माधुर्य-भक्ति का तो यहाँ अपार पारावार ही लहराता उल्लसित होता है। हिन्दी-काव्य में श्रीकृष्ण के प्रति सख्य, दास्य, प्रपत्ति, आत्मसमर्पण आदि भावों के प्रदर्शन करनेवाले पदों की बड़ी संख्या उपलब्ध होती है। बँगला में ऐसी बात नहीं। जहाँ इन भावों का प्रदर्शन किया भी गया है, वहाँ वह श्रीकृष्ण के प्रति अधिक न होकर गौरांग महाप्रभु के ही प्रति मात्रा में अधिक है। ध्यान देने की बात है कि बँगला-काव्य में राधा की महिमा अखण्डित तथा सर्वोपरि विराजमान है। राधा ही व्रजनन्दन की एकमात्र सर्वाधिका प्राणोपमा प्रेयसी है। फलतः, राधा ही बँगला-काव्यों में प्रामुख्य धारण करती है। गोपियाँ तो राधा के इस सार्वभौम अधिकार के कारण मानों परिच्छिन्न तथा सर्वतः आवृत-सी हो गई हैं। राधा की अनन्तानन्त सखियों की कल्पना है। ये वस्तुतः राधा के ही कायव्यूह-रूप हैं, राधा के ही विमल प्रेममयी व्यक्तित्व का मानों अनन्त प्रसार हैं। परन्तु, व्रजभाषा के काव्यों में गोपियों की भी महत्ता है, राधा के व्यक्तित्व के चाकचिक्य में वे कवि-दृष्टि से ओझल नहीं हैं। गोपियों के प्रेम का वर्णन व्रजभाषा के कवियों ने भली भाँति किया है। राधा का व्यक्तित्व यहाँ भी विकसित हुआ है, परन्तु इतना नहीं कि वह गोपियों की सत्ता का ही उन्मूलन कर बैठे।

राधा के स्वरूप के विषय में भी पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। जयदेव ने जिस समय राधा का परकीया के रूप में चित्रण किया, उसी समय से मैथिली तथा बँगला में राधा इसी रूप में विराजती हैं। विद्यापति तथा चण्डीदास की राधा में हम परकीया लीला की ही प्रमुखता पाते हैं। चैतन्य-मत में राधा के विषय में निश्चित मत क्या था ? वह स्वकीया थीं या परकीया ? इस विषय में शास्त्रार्थ तथा मतभेद के लिए अवकाश होने पर भी यह तो निश्चित ही है कि चैतन्यमताश्रयी कवियों ने उन्हें परकीया के रूप

में ही चित्रित किया है, परन्तु ब्रजभाषा के कवियों की दृष्टि में राधा परम स्वकीया थीं और इसी रूप में उनका चित्रण भी सर्वत्र किया गया है।

यह तथ्य प्रत्येक वृन्दावनी वैष्णव-सम्प्रदाय के विषय में समझना चाहिए। सूरदास ने रास आरम्भ होने के पहिले अनेक पदों में श्रीकृष्णचन्द्र का राधाजी के साथ विवाह सम्पन्न होने का वर्णन किया है और बड़े विस्तार (पद १०७२–१०७८) तथा लगन के साथ किया है। नन्ददासजी ने भी इसी प्रकार श्यामा-श्याम के मंगलमय परिणय का विवरण दिया है और उनका 'श्याम सगाई' नामक काव्य, जो वस्तुतः एक लम्बा पद ही है, इसी विषय का रोचक वर्णन प्रस्तुत करता है—

देखि दोउन कौ प्रेम जु कीरति मन मुसुकाई;
जोरी जुग जुग जियौ, विधाता भली बनाई।
सखी कहँ जुरि विप्र सो पुहुपन तें बनमाल;
राधे के कर छ्वाइ कैं उरमेली नंदलाल।
बात अच्छी बनी॥

निम्बार्क तथा राधावल्लभी मतों में राधा के स्वकीय रूप का विशद संकेत पूर्व परिच्छेदों में किया गया है। फलतः, इन सम्प्रदायों में 'राधा' का स्वकीया-भाव ही परिनिष्ठित भाव है।

तात्पर्य यह है कि ब्रजभाषा का कृष्ण-काव्य बँगला-काव्यों की अपेक्षा भक्ति के विविध रूपों के चित्रण के कारण पर्याप्तरूपेण व्यापक है। बँगला का कवि राधा-माधव के शृंगार-विलास पर ही विशेष आग्रह दिखलाता है; क्योंकि बंगाल में जयदेव से आजतक साहित्य और धर्म में कृष्ण की युगल लीला का प्राधान्य है; ब्रज के अष्टछापी कवियों में वात्सल्य-लीला की प्रमुखता है। केवल राधावल्लभी तथा निम्बार्की कवियों ने राधामाधव के लीलाप्रसंग में शृंगार रस का विशद चित्रण किया है। इसका कारण है इन सम्प्रदायों की विशिष्ट भाव-पद्धति। वल्लभाचार्य के आराध्यदेव हैं बालगोपाल, परन्तु निम्बार्क तथा हित-हरिवंश के उपास्य हैं शृंगार-गोपाल। पुष्टिमार्ग में जहाँ ब्रजलीला का प्रामुख्य है, वहाँ उक्त तदितर दोनों मार्गों में निकुंज-लीला का प्राधान्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से पर्यालोचन करने पर आचार्य निम्बार्क राधा-माधव की युगल उपासना के प्रथम प्रवर्त्तक माने गये हैं।

(क) निम्बार्की कवियों की राधा

निम्बार्की कवियों में राधाकृष्ण की ललित लीला के विशद वर्णन प्रस्तुत करने का आग्रह नैसर्गिक है। आचार्य निम्बार्क युगल उपासना को अग्रसर करनेवाले प्रथम वैष्णव आचार्य प्रतीत होते हैं। उनके तथा उनके साक्षात् शिष्यों के ग्रन्थों के अनुशीलन से इस तथ्य की पुष्टि होती है। आचार्य ने अपने 'दशश्लोकी'[1] में सम्प्रदाय के लिए ध्येय तथा आराध्य राधाकृष्ण के युगलस्वरूप का ही निर्धारण कर दिया है। उनका कथन है कि श्री निकुंजविहारी युगलतत्त्व का उपासना पूर्व-परम्परागत है, जिसका उपदेश सम्प्रदाय के आद्य प्रवर्त्तक सनन्दन मुनियों ने नारदजी को दिया था। अतएव, सखी-सहचरी-

---

१. उपासनीयं नितरां जनैः सदा प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं श्रीनारदायाखिलतत्त्वसाक्षिणे॥ —दशश्लोकी, श्लोक ६।

भाव से ही युगल की सेवा करना, मधुर उज्ज्वल रस की उपासना इस सम्प्रदाय की मुख्य पद्धति है। आचार्य के साक्षात् शिष्य औदुम्बराचार्य की रचना से ज्ञात होता है कि निम्बार्क से पूर्व यह युगलोपासना अत्यन्त गुप्त थी और उन्होंने ही इस उपासना का प्रवर्त्तन किया। औदुम्बराचार्य गुरु के मत के समर्थन में कहते हैं—

"जिस प्रकार पवन के झकोरों से जल में चंचल तरंग दृष्टिगोचर होती हैं, वे जल से भिन्न दीखती हुई भी वस्तुतः जलरूप होती हैं, उसी प्रकार राधाकृष्ण युगल तत्त्व हैं। इनका वियोग किसी काल में नहीं होता। साधन की कठिनता के कारण विरले ही लोग इसे जानते हैं। व्रजवासियों के लिए यही आराध्य पद्धति है।"[1]

इतना ही नहीं, राधा की श्रीकृष्ण के साथ अर्चा बनाकर पूजा-विधान का उपदेश निम्बार्क-सम्प्रदाय में अत्यन्त प्राचीन काल से है। दोनों में भेद मानना भी नितान्त अनुचित अपराध माना गया है।[2]

निम्बार्की कवियों ने इसी युगल तत्त्व का उन्मीलन अपने भाषा-काव्यों में बड़ी सुन्दरता से किया है। राधा-कृष्ण का नित्य विहार ही उपास्य तत्त्व है। निकुंज-लीला कुंजलीला से नितान्त भिन्न, पृथक् अथच विशेषतः गोप्य रहस्य है। फलतः, इस नित्य विहार में, नित नूतन 'शृंगार' में न मान का स्थान है और न विरह का। इसमें राधा के न मान-भंजन का प्रसंग है और न व्रजनन्दन नन्दकिशोर से विरह का। एक अखण्ड पूर्ण शृंगार का साम्राज्य है इन निम्बार्की काव्यों में। विषय की दृष्टि से बहुशः संकुचित और संकीर्ण होने पर भी कोमल वर्णन का खूब प्रसंग उपस्थित होता है। सुकुमार पद-रचना का मानों इन्हें वरदान मिला है। श्रीभट्टजी के 'युगलशतक' तथा हरि-व्यासजी के 'महावाणी' का अनुशीलन किसी भी आलोचक के हृदय में अपनी मधुर स्मृति निरन्तर बनाये रहता है।

'युगलशतक' में दास्य तथा वात्सल्य रस के चित्रण का भी प्रसंग आया है, परन्तु 'महावाणी' तो विशुद्ध नित्यविहार का मञ्जुल काव्य है, जिसमें केलि के नाना स्वरूपों के दिग्दर्शन के साथ-ही-साथ शृंगार के पवित्रतम रूप का हमें दर्शन मिलता है। तथ्य तो यह है कि इस आध्यात्मिक शृंगार के राज्य में पार्थिव कामना का कहीं एक लेश भी नहीं है। जहाँ की प्रत्येक वस्तु पवित्र प्रेम के आलोक से उद्भासित है, वहाँ कामान्धकार की एक कणिका भी क्या आविर्भूत हो सकती है? नहीं, कभी नहीं। निकुंज-लीला का यह सरस वर्णन इन भक्त कवियों की अनुभूति पर आधृत है। लीलापुरुषोत्तम की अनुकम्पा से ही इस विमल तत्त्व का उदय भक्तिरसाप्लुत हृदय में हुआ करता है; उस अनुभव को वाणी का रूप देकर इन कवियों ने भावुक भक्तों तथा रसिक आलोचकों पर जो कृपा की है, वह वर्णनातीत है। पदों का माधुर्य, अर्थ की गम्भीरता तथा हृदय का आवर्जन इन पदों में अपनी पूर्ण विभूति के साथ उद्भासित होता है।

---

१. 'निम्बार्कविक्रान्ति' नामक ग्रन्थ, श्लोक १७०।

२. विशेष द्रष्टव्य : श्रीव्रजवल्लभशरण जी का सुचिन्तित लेख 'उज्ज्वल रस-उपासना और निम्बार्क-सम्प्रदाय', भारतीय साहित्य, वर्ष ५, अंक १–२; पृ० १५७–१८० (१९६१)।

श्रीभट्टजी के द्वारा वर्णित यह उपासना इस मत का परम आदर्श है—

सन्तो सेव्य हमारे प्रिय प्यारे वृन्दा विपिन विलासी ।
नन्द नन्दन वृषभानुनन्दिनी चरण अनन्य उपासी ॥
मत्त प्रणयवश सदा एक रस विविध निकुंज उपासी ।
जै श्रीभट्ट जुगल बंशीवट सेवत मूरति सब सुखरासी ॥

इनकी रचना मात्रा में न्यून होने पर भी गुणों की गरिमा से सतत उद्भासित है। राधा-कृष्ण के दर्पण में मुख-निरीक्षण का यह वर्णन नितान्त रोचक, सरस तथा हृदयग्राही है—

सुकर मुकुर निरखत दोऊ, मुख ससि नैन चकोर।
गौर स्याम अभिराम अति, छबि न फबी कछु थोर॥
गौर स्याम अभिराम विराजैं ।
अति उमंग अँगअँग भरे रँग, सुकर मुकुर निरखत नहिं त्याजैं ॥
गंड-सो-गंड बाहु ग्रीवा मिलि, प्रतिबिम्बित तन उपमा लाजैं ।
नैनन्चकोर बिलोकि बदन-ससि, आनँद सिन्धु मगन भये भ्राजैं ॥
नील निचोल, पीत पटके तट, मोंहन मुकुट मनोहर राजैं ।
घटा छटा आखण्डल कोदँड, दोउ तन एक देस छबि छाजैं ॥
गावत सहित मिलत गति प्यारी, मोहन मुख मुरली सुर बाजैं ।
'श्रीभट' अटकि परे दंपति दृग, मूरति मनहुं एकहि साजैं ॥

इस वर्णन को कोई कुशल चित्रकार अपनी तूलिका से पट पर बड़ी सरलता से अंकित कर सकता है। इस वर्णन में चमत्कार है, हृदय का मधुर आकर्षण है। काव्य के दोनों पक्षों का सुन्दर सामञ्जस्य है।

श्रीभट्टजी के शिष्य हरिव्यासदेवजी का प्रौढ काव्य 'महावाणी' तो निकुंजलीला का महाकाव्य है—एकदम सरस, प्रौढ, अन्तरंग अनुभूति से उद्भासित तथा भाव-तारल्य से तरलायित। इनकी दृष्टि में राधाकृष्ण की अभिन्नता, निकुंजलीला में अपृथक्ता जल और तरंगों के स्वरूप तथा स्वभाव के समान हैं—सदा एक साथ मिला हुआ, अभिन्न रूप—

जल तरंग ज्यौं नैन में वारे रहे समोय ।
प्रेम पयोधि परे दोऊ पल न्यारे नहि होंय ॥
प्रेम पयोधि परे दोउ प्यारे निकसत नाहिंन कबहूँ रैन दिन ।
जल-तरंग नैनन तारे ज्यों न्यारे होत न जतन करौ किन ॥
मिले हैं भाव ते भाग सुहाग भरे अनुराग छबीले छिन छिन ।
'श्रीहरिप्रिया' लागे लगदोऊ निमिष न रहेंगे इन ये ये इन बिन ॥

इनकी कविता में भाव तथा शब्द के सौन्दर्य के साथ ही नाद-सौन्दर्य का विधान बड़ी सफ़लता के साथ किया गया है। तथ्य यह है कि कवि उस अध्यात्म-भूमि तक पहुँच जाता है, जो समस्त भावों, समग्र रसों तथा सम्पूर्ण कल्पनाओं की उद्गम-

स्थली है। फलत:, दिव्य भावों का सर्वत्र उदय तथा नाद-सौन्दर्य का सुखद विधान आलोचक की दृष्टि में कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं है। रसमंजरी श्रीराधिकाजी के रूप-माधुरी के वर्णन से दो एक पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

जँ श्रीराधा रसिकरसमंजरि प्रिय सिर मौर
रहसि रसिकिनीं सखी सब, वृन्दावन रस ठौर
जयति जँ राधिका रसिक रसमंजरी
रसिक सिर-मौर मोहन बिराजैं
रसिकिनी रहसि रसधाँम वृन्दाविपिन
रसिक रस-रसी सहचरि समाजैं
नित्य नव नायिका, नित्य सुखदायिका
नित्य नव कुंज में नित्य राजैं
नित्य नव केलि नव नित्य नायक नवल
नित्य नव निपुणता भव्य भ्राजैं ॥

इस सुभग पद में शब्दों का कोमल विन्यास तथा पदों की मधुर शय्या सचमुच देखने योग्य है।

इसी सम्प्रदाय के रूपरसिकदेवजी ने 'नित्यविहारपदावली' में निकुंजलीला का ही सरस वर्णन किया हैं। ये हरिव्यासजी के प्रधान शिष्यों में अन्यतम थे। इनकी काव्य-कला भी नितांत श्लाघनीय तथा सरस मंजुल है। श्यामघन की यह शोभा कितनी मनोमोहक है—

स्याँम घन, उमँगि उमँगि इत आवैं।
क्रीट मुकुट कुंडल पीताम्बर, मनु दामिनि दरसावैं ॥
मोतिन माल लसत उर ऊपर, मनु बग पाँति लखावैं।
मुरली-गरज मनोहर धुनि सुनि सुवन मोर सचुपावैं ॥
हम पर कृपा करी हरि मानों नीर-नेह-झर लावैं।
'रूपरसिक' यह शोभा निरखत, तन-मन-नैंन सिरावैं ॥

इस सम्प्रदाय के अन्य कवियों के काव्यों में रस की अभिव्यंजना पूरी मात्रा में लक्षित होती हैं। महाकवि बिहारी तथा घनानन्द भी इसी सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त थे। बिहारी ने अपनी सतसई का आरम्भ ही राधा नागरी की स्तुति से किया है। घनानन्द तो व्रजभाषा के प्रवीण नेही कवि के रूप में विख्यात ही हैं। उनकी शृंगारी कविताएँ पर्याप्तरूपेण प्रख्यात हैं, परन्तु उनका सरस हृदय भक्तिमयी कविताओं की रचना में स्वतः उच्छलित होता है। उनका शृंगार पार्थिव प्रेम का अभिव्यंजक न होकर अपार्थिव प्रेम का द्योतक हैं। इन्होंने वृन्दावन, यमुना, राधा और गोवर्धन के विषय में स्वतन्त्र लघुकाय काव्यों का प्रणयन किया है। इस विषय में इनकी सर्वांग-सुन्दर रचना हैं पदावली, जिसमें एक हजार से ऊपर पदों का सुन्दर संग्रह किया गया है।

भक्तिरसामृत से भींगे आनन्दघन के हृदय में 'राधा' ही सर्वदा विराजती थीं—भीतर तथा बाहर और राधा के अतिरिक्त उनके जीवन का आधार भी अन्य कुछ न था। कितनी तन्मयता है इस पद में—

राधा राधा रटि राधा राधा रटि
मेरी रसना रसीली भई।
ज्यौं ही ज्यौं पीवति या रस कौं
त्यौं त्यौं प्यास नई।
व्रजजीवनि की परम सजीवनि
सो निज जीवन जानि लई।
'आनँदघन' उमंग-झर लाग्यौ
ह्वै रही नाम मई॥

—घनआनन्द, पृ० ४४६; पद-सं० ५००

घनानन्द ने अपने जीवन का आधार इस सवैया में कितनी सुन्दरता से निर्दिष्ट किया है—

अलि जौ बिधना व्रजबास न देतौ, न नेह को गेह हियो करतौ।
अरु रूप-ठगी अँखिया रचतौ, नहीं रूखियै दीठि सौं लै भरतौ॥
कहितौ लखि नन्द को छैल छबीलो सु क्यों कोऊ प्रेम फँदा-परतौं।
दुख कौ लौं सहौं घुटि कैसे रहौं भयौ भाकसी देखें बिना घर तौ॥

यह राधा का वचन श्रीव्रजनन्दन के वियोग में अपनी प्रिय सखी से है। श्रीनन्दकिशोर के दर्शनोपरान्त राधाजी की मनोवृत्ति का यह चित्रण बड़ी भावुकता के साथ किया गया है। वह किस प्रकार कृष्णमयी हो गई, इसका विशद विवेचन इस सुभग पद्य में किया गया है—

जब तें निहारे इन आँखिन सुजान प्यारे,
तब तें गही है उर आन देखिबे की आन।
रस-भीजे बैननि लुभाय कै रचे हैं तहीं
मधु मकरंद सुधा नावौ न सुनत कान॥
प्रानप्यारी ज्यारी घन आनन्द गुननि कथा,
रसना रसीली निसि बासर करत गान।
अंग अंग मेरे उनहीं के संग रंग रँगे
मन-सिंघासन पै विराजै तिन ही को ध्यान॥

—सुजानहित, कवित्त १०१

घनानन्द ने अपने अनेक काव्यों में राधाजी के स्वरूप का, उनके अलौकिक प्रेम का तथा व्रजनन्दन में उनकी तीव्र आसक्ति का मधुर वर्णन उपस्थित किया है। 'प्रियाप्रसाद' (ग्रन्थावली, पृ० २७७–२७९) का तो वर्ण्य विषय ही यही है। राधा तथा कृष्ण का प्रिया-प्रियतम के मधुर मिलन में अद्वैत रूप ही निम्बार्क-मत में अभीष्ट है।

निकुंजलीला में प्रिया-प्रियतम का इतना ऐक्य सम्पन्न हो जाता है कि दोनों का पार्थक्य रहता ही नहीं; दोनों एक ही मधुर रस के आलम्बन तथा विषय परस्पर होते रहते हैं। राधा में प्रेम तथा नेम दोनों का अद्‌भुत अकथनीय मिश्रण तथा सामञ्जस्य उपस्थित होता है, जिसे कोई साधक कह नहीं सकता। कवि का कथन है कि राधा का यह निकुंज-रस 'अपरस' है—स्पर्श से बाहर है, जिसे कोई अपनी कल्पना से छू नहीं सकता—

या राधा को रस अपरस है।
रस मूरति को परम परस है॥
× ×
राधा रमन रमन हूँ राधा।
एकमेक ह्वै रहै अबाधा॥

इस एकत्व की कल्पना उस संस्कृत-पद्य की स्मृति दिलाती है, जिसमें व्रजनन्दन अपने तथा राधा के विषय में 'अस्मद्' (मैं) तथा युष्मद् (तू) शब्द के प्रयोग को ही अन्याय्य और अनुचित बतलाते हैं—

प्रेयांस्तेऽहं त्वमपि च मम प्रेयसीति प्रवादः
त्वं मे प्राणा अहमपि च तवास्मीति हन्त प्रलापः।
त्वं मे ते स्यामहमिति च यत् तच्च नो साधु राधे
व्याहारे नौ नहि समुचितो युष्मदस्मत्प्रयोगः॥

यह प्रेम की पराकाष्ठा का एक सामान्य संकेत है, जिसकी रस-माधुरी प्रिया-प्रियतम को एकत्व-सूत्र में बाँधती है और जिसमें मैं-तू, अहं-त्वम् की भावना सर्वथा लुप्त हो जाती है।[1]

व्रजभाषा-प्रवीण आनन्दघन राधाकृष्ण के प्रेम को इस विश्व में आदर्श प्रेम मानते हैं, जिसका एक कण पाकर भौतिक तथा पार्थिव प्रेम उच्छलित तथा उल्लसित होता है। राधाकृष्ण का प्रेम साधारण वस्तु न होकर अवारपार पारावार है, जिसमें ज्ञान को प्रवेश करने की क्षमता नहीं। राधाकृष्ण के इस महाभाव का बड़ा ही गम्भीर वर्णन घनानन्द ने किया है—

प्रेम को महोदधि अपार हेरि कै विचार
बापुरो हहरि वार ही तें फिरि आयौ है।
ताही एकरस ह्वै विवस अवगाहैं दोऊ
नेही हरि-राधा जिन्हैं देखें सरसायौ है।

---

१. निम्बार्क-सम्प्रदाय का व्रजभाषा-साहित्य अभी तक पूर्णतः प्रकाशित नहीं हुआ है, परन्तु जितना भी हुआ है, उतना बड़ा ही सरस-मंजुल है। इस सम्प्रदाय के काव्य-साहित्य का विशिष्ट विवेचन अपेक्षित है। इस दिशा में श्रीवैदेहीशरणजी-लिखित 'श्रीनिम्बार्क-माधुरी' नितान्त प्रशंसनीय उद्योग है। श्रीविश्वनाथप्रसाद मिश्र का 'घनआनन्द' (वाणी-वितान, काशी, सं० २००९) कवि के परिचय तथा ग्रन्थावली का पूरा रूप प्रस्तुत करता है। चुनी हुई रचनाओं के लिए देखिए पोद्दार-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ३७९–३९४ (प्रकाशक—अखिलभारतीय व्रजसाहित्य-मण्डल, मथुरा, संवत् २०१०)।

ताकी कोऊ तरल तरंग-संग छूट्यौ कन
पूरि लोकलोकनि उमगि उफनायौ है ।
सोई घन आनँद सुजान लागि हेत होत
ऐसे मथि मन पै स्वरूप ठहरायौ है ।।

प्रेम का महोदधि इतना अपार है कि उसका पार जाना तो दूर रहा, बेचारा (ज्ञान) दीन होकर इसी तट से लौट आता है। प्रेमार्णव ज्ञान की दृष्टि से अमेय है, अज्ञेय है। राधा-माधव दोनों एकरस होकर, प्रेम से विवश होकर इस प्रेम-समुद्र में अवगाहन करते हैं। चन्द्रमा को देखकर समुद्र के समान यह स्नेह-समुद्र राधाकृष्ण को देखकर उल्लास से उफनता है। उस प्रेम-समुद्र की तरंग के संग से छूटा हुआ कण भी इतना विशाल है कि वह लोक-लोकों को पूरी तरह से भर देने पर स्वयं उमगता तथा उफनाता है। इस कण की विशालता तो परखिए। है तो वह कण, क्षुद्र अंशमात्र, परन्तु उसमें लोकों को भरने की क्षमता है। उतने पर भी वह समाप्त नहीं होता, प्रत्युत और भी अधिक उल्लसित होता रहता है। लौकिक प्रेम इसी प्रेम-महार्णव का एक कणिका-मात्र है। राधाकृष्ण के नित्य दिव्य प्रेम की यह बड़ी मञ्जुल मूर्त्ति है, जो मन को मथकर निश्चित की गई है। राधा-माधव के दिव्य प्रेम की यह झाँकी बड़ी ही सुन्दर तथा यथार्थ है। भक्तों के लिए यही परमतत्त्व है—लहराता हुआ राधाकृष्ण का प्रेम-महोदधि ।

घनानन्द की दृष्टि में आदर्श प्रेम की पहिचान मीन-पतंग-दशा की परीक्षा से नहीं हो सकती। जल से बिछुड़ने पर अपने प्रिय प्राणों को न्योछावर करनेवाला मीन तथा दीपक की लौ पर अपना जान देनेवाला पतंग सामान्यतया आदर्श प्रेमी माने जाते हैं, परन्तु घनानन्द की दृष्टि से इन दोनों का प्रेम न्यून कोटि का ही है। उदात्त प्रेम की कसौटी कोई दूसरी ही होती है। कवि के तर्क पर ध्यान दीजिए—

मरिबो बिसराम गनै वह तौ, यह बापुरो मीत तज्यौ तरसै ।
वह रूपछटा न निहारि सकै, यह तेज तवै चितवै बरसै ।।
घन आनन्द कौन अनोखी दसा मति आवरी बावरी ह्वै थरसै ।
बिछुरें–मिलें मीन-पतंग दशा कहा मो जियकी गति को परसै ।।

प्रेमी साधक के चित्त की गति का बड़ा ही सजीला वर्णन है इस छन्द में। घनानन्द की दृष्टि में मीन और पतंग की साधना मनुष्य की संयोग-वियोग-साधना का स्पर्श भी नहीं कर सकती। कारण स्पष्ट है। मीन तो प्रिय से वियुक्त होने पर मरण में ही विश्रांति लेता है, परन्तु मनुष्य प्रिय से वियुक्त होने पर सदा तरसता रहता है। मनुष्य के प्रेम से समता करने की क्षमता पतंग में भी कहाँ ? वह रूप की छटा को निहार नहीं सकता; दीप की लौ में पतंग अपने को जला डालता है और इस प्रकार प्रियतम की रूपच्छटा को वह देख नहीं सकता, परन्तु मनुष्य भक्त की दशा कैसी ? वह उतावला नहीं होता। । वह रूप की छटा से तपता रहता है। उसे देखता रहता है और आँसू बहाता रहता है। तेज में तपने और आँसू बरसाने से स्पष्ट है कि उसे प्रेम की पीडा असीम तथा दुःसह होती है और उसकी वेदना दीपशिखा में जलने से विश्रान्ति पानेवाले

पतंग की वेदना से कहीं अधिक असहनीय है। फलतः, ये दोनों आदर्श साधारण जगत् में प्रेम के उत्कर्ष की सूचना के निमित्त भले ही स्वीकार किये जायँ, परन्तु आदर्श प्रेमी मानव के सामने ये दोनों आदर्श हीन कोटि के हैं। ध्यान देने की बात है कि इन दोनों में से एक भारतीय प्रेम-पद्धति का आदर्श है, तो दूसरा फारसी प्रेम-पद्धति का प्रतीक है। घनानन्द की दृष्टि में गोपी-प्रेम इन दोनों की अपेक्षा कहीं अधिक गम्भीर और उदात्त है। गोपियाँ न तो मीन के समान श्रीकृष्ण के वियोग में मरण को श्रेयस्कर समझती हैं और न पतंग के समान श्रीकृष्ण की रूपच्छटा में जल-भुन जाना पसन्द करती हैं। घनानन्द का यही आदर्श है--गोपीप्रेम !

घनानन्द की दृष्टि में श्रीकृष्ण की कृपा ही भक्तों को उनसे मिलाने का मुख्य साधन है। 'कृपाकंद' का वर्ण्य विषय ही यही है—भगवत्कृपा। विरही बेचारों की पुकार मौन में ही होती है। देखने से बात उल्टी-सी लगती है, परन्तु है सोलहो आने सच्ची। इन बेचारों की मौन पुकार को सुननेवाला ही विश्व में कौन है सिवाय हरि के? हरि के नेत्रों में 'कृपा' के कान लगे रहते हैं। वे पुकार सुनते ही नहीं, बल्कि भक्तों के दुःखों को दूर करने के लिए 'कृपा' भी करते हैं। इसीलिए भक्तों को, गोपियों को दुःखों से मुक्त करने की क्षमता व्रजकिशोर में ही है—

पहिचानैं हरि कौन
मोसे अनपहिचान कों।
त्यों पुकार मधि-मौन
कृपा-कान मधि-नैन ज्यों॥

घनानन्द राधाजी के परमप्रेमी साधक थे। इसका पता इनकी रचनाओं से भली भाँति लगता है। इनकी उपासना सखी-सम्प्रदाय की थी। राधाजी ने ही इनका नाम 'बहुगुनी' रखा था; इसका निर्देश इन्होंने स्वयं अनेक स्थलों पर किया है। इनकी दृष्टि में राधा-माधव का प्रेम ही आदर्श प्रेम है। जो साधक इस प्रेम में राधाकृष्ण के नित्य विहार में चेरी बनने का सौभाग्य पाता है, उसीका जीवन धन्य होता है। उस प्रेमी की 'रहिनि' का वर्णन इन्होंने बड़ी स्वाभाविकता से किया है—

निरखि सुजान प्यारे रावरो रुचिर रूप,
बावरौ भयौ है मन मेरो न सिखै सुनै।
मति अति छाकी गति वाकी रटि रस भीजि,
रीझि की उझिल घन आनन्द रह्यौ उनै।

व्रजनन्दन के सुभग रूप को देखकर गोपियों की मनोदशा का यह चित्रण कितना स्वाभाविक तथा मोहक है—

रूप चमूप सज्यौ दल देखि भज्यौ तजि देसहि धीर मवासी।
नैन मिले उरके पुर पैठत, लाज लुटी न छुटी तिनकासी॥
प्रेम दुहाई फिरी 'घनआनँद' बाँधि लिए कुल नेम गुढासी।
रीझि सुजान सची पटरानी बची बुधि बापुरी ह्वै करि दासी॥—सुजानहित, छन्द ४८

नित्यविहार के निम्बार्की कवि होने पर भी घनानन्द ने विरह का प्रेम की सिद्धि के लिए बड़ा ही गम्भीर तथा व्यापक वर्णन किया है। हिन्दी-साहित्य में विरह का इतना मार्मिक कवि खोजने पर ही मिल सकता है। वे राधा-माधव के अनन्य उपासक थे; उन्हें विमल प्रेम की मूर्त्ति मानते थे। उन्हीं की कृपा से भक्त अपने मनोरथ के चरम उत्कर्ष पर पहुँच सकता है; यही उनकी मान्यता थी। राधारानी की प्रशंसा में इनके सैकड़ों पद 'पदावली' में विद्यमान हैं।

> पियको परस रस तें ही पायौ।
> सुनि राधे ! अनुरागमंजरी उरजनि बीच दुरायौ।
> इनकी फूल फैल परी नखसिख डहडहौ मुख सुख सदन सुहायौ।
> व्रजमोहन 'आनँदघन' रीझन घमड़ि घमड़ि रमडि रमडि सरसायौ॥
> —पदावली, पद ५३४

प्रिय नन्दनन्दन का स्पर्श और रस राधा को ही प्राप्त हुए हैं। वह अनुरागमंजरी राधा के नख-शिख तक फैलती-फूलती है। उनका मुख प्रिय रस के सुख का सदन है। वह आनन्द का घन राधा के आसपास घुमड़ता रहता है।

राधा के दिव्य रूप की झाँकी 'नाममाधुरी' तथा 'प्रियाप्रसाद' में बड़ी सरसता से मिलती है। राधा के शास्त्रोल्लिखित समग्र गुणों का उपन्यास घनानन्द ने बहुशः किया है।[1] तथ्य तो यह है कि अबतक हम घनानन्द को पार्थिव प्रेम का जो कवि समझते आते रहे हैं, वह उनका वास्तव रूप नहीं है। वे यथार्थतः राधाकृष्ण के चरणारविन्द-मधु के सरस मधुप हैं; उनका जीवन ही राधा की विमल भक्ति से आकण्ठ स्निग्ध है।

(ख) राधावल्लभीय काव्य में राधा

राधावल्लभीय कवियों का सुर व्रजभाषा के अन्य साम्प्रदायिक कवियों के सुर से इतना विलक्षण है कि उनके एक पद के श्रवण-मात्र से ही आलोचक की हृत्तन्त्री निनादित हो उठती है और उसे समझते देर नहीं लगती कि वह अब भावराज्य से आगे बढ़कर रस-राज्य में विचरण कर रहा है। इन कवियों का सिद्धांत-पक्ष है—राधा-माधव की निकुंज-लीला तथा नित्यविहार। इसी की सरस अभिव्यंजना में इन कवियों ने अद्भुत प्रतिभा, गम्भीर मनोविज्ञान तथा स्निग्ध रसपेशल वर्णन का चमत्कारी परिचय दिया है। नित्य-विहार के भीतर मानस-प्रवेश कर उसका कल्पना-प्रसूत वर्णन भी महाकवि का ही काम है, जिसके लिए कवि-प्रतिभा के संग में भक्ति-भावुकता की नितान्त अपेक्षा रहती है। जिसके हृदय को माधुर्य-भक्ति की भावना ने सरस नहीं बनाया है, क्या उसकी लेखनी से इतनी मञ्जुल कविता का उद्भव हो सकता है ? चाहे वह कितना भी काव्यकला में निपुण क्यों भी न हो। इन कवियों के हृदय को सरस्वती ने दोनों प्रकार की सरसता से स्निग्ध बनाया है—काव्य की सरसता से तथा भक्ति की सरसता से। यही कारण है कि राधावल्लभीय कवियों की कविता इतनी मंजुल, सरस तथा हृदयावर्जक है। नित्य-

---

१. इन गुणों के उदाहरण के लिए देखिए डॉ॰ मनोहरलाल गौड़-प्रणीत 'घनानन्द तथा स्वच्छन्द काव्यधारा', पृ॰ ४११–४१३ (प्रकाशक, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, सं॰ २०१५)।

विहार का वर्णन पहुँचा हुआ रसिक ही कर सकता है। फलतः, इन रसिक कवियों की वाणी निकुंजविहारी के नित्यविहार के रसस्निग्ध वर्णन में नितान्त सफल हुई हैं; इसे हम निःसंकोच स्वीकार करते हैं।

राधावल्लभीय कवियों में तीन कवियों को हम विशेष प्रख्यात मानते हैं—हित-हरिवंश, हरिराम व्यास तथा ध्रुवदास। हितहरिवंश तो निःसन्देह व्रजभाषा के प्रथम कोटि के कवि हैं, जिनकी प्रतिभा से परिचय अभी तक हिंदी के विद्वानों को भी नहीं है। उनकी रचना परिमाण में जितनी स्वल्प है, रसस्निग्धता में वह उतनी ही अधिक है। इनके दो-तीन पदों से ही उनकी विलक्षण भावुकता का परिचय किसी भी रसिक को हुए विना न रहेगा। स्थानाभाव के कारण इतने से ही यहाँ सन्तोष करना होगा।

श्रीहितहरिवंश के द्वारा यह नित्यविहार का वर्णन कितना समर्पक है। सुन्दर निकुंज में शारदी पूर्णिमा को राधा-कृष्ण का मिलन हुआ; शीतल मन्द सुगन्ध पवन बह रहा था; कोमल किसलय-दलों से शय्या तैयार की गई थी। मानवती राधिका उस पर बैठी हुई है। श्रीकृष्ण चाटु वचनों के द्वारा उनके मान का भंजन कर रहे हैं तथा नित्यविहार का उपक्रम कर रहे हैं। यह पद, अर्थ तथा शब्द दोनों दृष्टियों से अनुपम है। रसात्मक अर्थ तथा संगीतात्मक पद, दोनों का अपूर्व मिलन इस पद की गेयता तथा चमत्कार को समधिक बढ़ा रहा है—

मंजुल कल कुंजदेश, राधा हरि विशद वेश
राका नभ कुमुद बन्धु, शरद यामिनी।
श्यामल दुति कनक अंग, विहरत मिलि एक संग
नीरद मणि नील मध्य लसत दामिनी॥
अरुण पीत नव दुकूल, अनुपम अनुराग मूल,
सौरभ युत शीत अनिल मन्द गामिनी।
किसलय दल रचित शैन, बोलत पिय चाटु बैन,
मान सहित प्रतिपद प्रतिकूल कामिनी॥
मोहन मन मथत मार, परसत कुच नीवि हार,
वेपथु युत नेति नेति वदति भामिनी।
नर वाहन प्रभु सुकेलि, बहु विधि भर भरत केलि,
सौरत रसरूप नदी जगत पावनी॥

—हितचौरासी, पद-संख्या ११

ऐसे विहार के वर्णन के लिए कवि को उच्च कोटि का साधक होना चाहिए और रति-भाव के चित्रण में बड़ी ही संयत भाषा का प्रयोग करना चाहिए। इसीलिए, यह प्रसंग दुधारी तलवार है, जिसका प्रयोग बड़ी सावधानी से करना होता है। कहना न होगा कि हित-हरिवंश की वाणी में ऐसा ही मधुमय संयम है। प्रातःकाल राधाकृष्ण केलिकुंज से बाहर निकल रहे हैं। दोनों उनींदे नयन से उठ पड़े हैं। चलते समय नींद के कारण पैर डगमगा रहे हैं। बाल शिथिल है। अपने नखचन्द्रों से एक दूसरे के वस्त्र के अंचल का

स्पर्श करते हैं। अधर क्षत-विक्षत हैं तथा गंड-मंडल काजल से मंडित हैं। ललाट पर तिलक कुछ थोड़ा-सा बच गया हैं। केश की राशि तथा अँगुलियों के द्वारा रोके जाने पर भी अरुण नयन छिपते नहीं हैं—वे भ्रमर के समान चोर हैं। ये लाल नेत्र गोप्य सुरत-विहार को प्रकट कर देते हैं। हितहरिवंशजी का कहना है कि सुरत-समुद्र के झकझोर के कारण आज दोनों में अपने तन-मन को सँभालने की शक्ति नहीं रही। सुरतोत्तर प्रातः-कालीन दृश्य का संयत भाषा में वर्णन कवि की निरीक्षण शक्ति को प्रकट कर रही है—

> आजु बन राजत जुगल किशोर।
> नन्दनन्दन वृषभानु नन्दिनी उठे उनींदे भोर॥
> डगमगात पग परत, शिथिल गति, परसत नख शशि छोर।
> दशन बसन खंडित, मषि मंडित, गंड तिलक कछु थोर॥
> दुरत न कच करजन के रोकैं अरुन नैंन अलि चोर।
> 'हित हरिवंश' सँभार न तन मन सुरत-समुद्र-झकोर॥
>
> —हितचौरासी, प० सं० ३३

किशोरी राधा के वर्णन में कवि ने अपनी शक्ति का खूब परिचय दिया है—

> नागरता की राशि किशोरी
> नव नागर कुल मौलि साँवरौ, परबस कियौ चितै मुख मोरी
> रूप रुचिर अंग-अंग माधुरी बिनु भूषण भूषित ब्रजगोरी।
> छिन छिन कुशल सुधंग अंग में कोक कमल रस सिन्धु झकोरी।
> चंचल रसिक मधुप मोहन मन राखै कनक कमल कुच कोरी।
> प्रीतम नैन जुगल खंजन खग बाँधै विविध निबन्धन डोरी।
> अवनी उदर नाभि सरसी में मनों कछुक मादिक मधु घोरी।
> 'हितहरिवंश' पिबत सुन्दर बर सींव सुदृढ़ निगमन की तोरी॥
>
> —हितचौरासी प० सं० ८२

प्राचीन उपमानों का सहारा लेने पर भी रूप के वर्णन में तथा सौन्दर्य की अभिव्यंजना में पर्याप्त नवीनता है। अन्यत्र भी इस विषय का विन्यास है।

सुन्दरी राधा के चित्रण में कवि ने अपनी प्रतिभा की बड़ी सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की है। राधा के स्वरूप का विवेचन श्रीहितहरिवंशजी अपने दोनों ग्रन्थों 'राधासुधानिधि' तथा 'हितचतुरासी' में बड़ी विशदता के साथ किया है। राधा के सौन्दर्य के वर्णन में कवि की वाणी मौन धारण करती है। राधा का सुन्दर रूप देखिए—

> वैदग्ध्यसिन्धुरनुरागरसैकसिन्धुः
> वात्सल्यसिन्धुरतिसान्द्रकृपैकसिन्धुः।
> लावण्यसिन्धुरमृतच्छविरूपसिन्धुः
> श्रीराधिका स्फुरतु मे हृदि केलिसिन्धुः॥
>
> —रा० सु० नि०, श्लोक १७

राधा के नखशिख का यह वर्णन कवि की अलौकिक प्रतिभा की एक दिव्य झाँकी प्रस्तुत करता है, जिसमें अलंकारों का रुचिर सन्निवेश बड़ा ही भव्य तथा हृदयावर्जक है—

ब्रज नवतरुनि-कदम्ब-मुकुट-मणि स्यामा आजु बनी ।
नख सिख लौं अँग-अंग माधुरी मोहे स्याम धनी ।
यों राजत कबरी गूँथित कच, कनक कंज बदनी ।
चिकुर चन्द्रिकनि बीच अर्ध बिधु मानो ग्रसत फनी ॥
सौभाग्यरस सिर स्रवत पनारी, पिय सीमंत ठनी ।
भृकुटि कामकोदंड, नैन सर कज्जल रेख अनी ॥
तरल तिलक ताटंक गंड पर, नासा जलज मनी ।
दसन कुंद सरसाधर पल्लव प्रीतम मन समनी ॥
चिबुक मध्य अति चारु सहज सखि ! साँवल बिन्दु कनी ।
प्रीतम प्राण रतन संपुट कुच कंचुकी कसिब तनी ॥
भुज मृनाल बलहरत बलय जुत परस सरस स्रवनी ।
स्याम सीस तरु मनौ मिडवारी रची रुचित खनी ॥
नाभि गँभीर, मीन मोहन मन खेलन कौं हृदनी ।
कृस कटि, पृथु नितम्ब किंकिनि-व्रत कदलि खंभ जघनी ॥
पद अंबुज जावक जुत भूषन प्रीतम उर अवनी ।
नव नव भाय बिलोमि भाम इव बिहरत बरकरनी ॥
'हित हरिवंस' प्रसंसित स्यामा कीरत विरदघनी ।
गावत स्रवनन सुनत सुखाकर विश्व दुरित-दमनी ॥

हरिराम व्यासजी भी इस सम्प्रदाय के एक विशिष्ट प्रतिभाशाली कवि हैं, जिन्होंने व्रजमाधुरी पर रीझकर घर से नाता तोड़ा और श्यामसुन्दर से अपना मन जोड़ा। सन् १५१० ई० में इनका जन्म मध्यभारत के प्रसिद्ध नगर ओड़छा में हुआ था। इनकी कविता का वर्ण्य वही है—वृन्दावनरास, राधा-माधव का नित्य विहार। इनका वर्णन इन्होंने बड़ी सजीव भाषा में किया है। रास का यह वर्णन कितना सुन्दर, समर्पक और सरस है—

छबीली वृन्दावन कौ रास।
जापर राधा मोहन विहरत, उपजत सरस विलास ।
जीवन मूरि कर्पूरि धूरी जहाँ, उड़नि चहूँ दिसि वास ॥
जल थल कमल मंडली विगसत अलि मकरन्द निवास ।
कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि खग मृग तजत न पास ॥
तान बान सुरजान विमोहित चंद सहित आकास ।
सुख सोभा रस रूप प्रीति गुन अंगनि रंग सुहास ।
दोऊ रीझि परसपर भेटत छाँह निरखि बलि व्यास ॥

राधाकृष्ण के सहज प्रेम का वर्णन व्यासजी ने इस पद में बड़ी सुन्दरता से किया है—

राधा माधव सहज सनेही।

सहज रूप गुन सहज लाड़िले, एक प्राण द्वै देही ॥
सहज माधुरी अंग-अंग प्रति सहज रची बन गेही ।
'व्यास' सहज जोरी सों मन मेरे सहज प्रीति कर लेही ॥

नवनिकुंज में व्रजकिशोर के साथ में निमग्न राधा का यह चित्र बड़ा ही सुन्दर है। शरीर को सजानेवाली वस्तुओं का एकत्र विन्यास अत्यन्त रमणीय है। कवि राधा के बाह्य सौन्दर्य का वर्णन बड़ी श्रद्धा के साथ कर रहा है। स्वामिनीजी का यह रूप व्यासजी के काव्य-कौशल के प्रदर्शन के लिए पर्याप्त माना जाना चाहिए—

आज बनी वृषभानु दुलारी ।
नव निकुंज बिहरत प्रीतम संग, मन्द पवन चाँदिनी उज्यारी ॥
भूसन भूसित अंग सुपेसल, नील वसन तन झूमक सारी ।
चिमुर चन्द्रवनि चंपकली गुही, सिर सीमंत सुकंत सँवारी ॥
तरुवनि कुम कुम नखनि महावर, पद मृगपद चूरा चौधारी ।
नखसिख सुन्दरता की सीवां 'व्यास' स्वामिनी जय पिय-प्यारी ॥

ध्रुवदासजी इस सम्प्रदाय के एक विशिष्ट कवि हैं। उनकी साहित्यिक रचनाएँ विपुल हैं तथा अत्यन्त महत्त्वशालिनी हैं। सिद्धान्त के पदों के अतिरिक्त (जो संख्या में पर्याप्तरूपेण अधिक हैं) इन्होंने राधाकृष्ण की नित्यलीला का विवरण भी बड़े विस्तार से दिया है। काव्य में सौंदर्य की कमी नहीं है। इनकी रचना पद-शैली में न होकर कवित्त-शैली में ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। सवैया तथा घनाक्षरी ध्रुवदासजी के प्रिय छन्द प्रतीत होते हैं। इनकी रचनाओं में कलापक्ष का अवलम्बन बड़ी सुन्दरता से किया गया है। एक-दो दृष्टान्त यहाँ पर्याप्त होंगे।

राधाजी की सुकुमारता का वर्णन ध्रुवदासजी ने अलंकारों की सफल योजना तथा अर्थ-व्यंजना के सहयोग से बड़े ही रमणीय रूप में चित्रित किया है—

डीठिहू कौ भार जानि देखत न डीठि भरि
ऐसी सुकुमारी नैन प्रान हूँ ते प्यारी है।
माधुरी सहज कछु कहत न बनि आवै
नेकु ही के चितवत चकित विहारी है ॥
कौन भाँति सुख की अनूप कान्ति सरसाति,
करत विचार तऊ जात न विचारी है।
'हित ध्रुव' मन पर्‌यौ रूप के भँवर माँझ,
नेह बस भये सुधि देह की विसारी है ॥

राधावल्लभ-सम्प्रदाय में प्रेम को नित्य मिलन की स्थिति में ही पूर्ण माना गया है। उसमें पल-भर भी विरह नहीं होता। इस तथ्य को ध्रुवदासजी ने अनेक छन्दों में प्रतिपादित किया, जिनमें एक कवित्त यहाँ उद्धृत किया जाता है—

मधुर तें मधुर अनूप तें अनूप अति,
रसिन कौ रस सब सुखन कौ सार री।

विलास कौ विलास निज प्रेम की है राजै सदा,
राजै एक छत दिन विमल विहार री॥
छिन-छिन त्रिषित चकित रूप-माधुरी में
भूले-सेई रहैं कछु आवै न विचार री।
भ्रमहूँ कौ विरह कहत जहाँ उर आवै
ऐसे है रँगीले 'ध्रुव' तन सुकुमार री॥

राधाकृष्ण के मिलन-जन्य आत्मविभोर की स्थिति का वर्णन शृंगारिक भावना के साथ इस कवित्त में किया गया है। दोनों के मिलन का दृश्य बड़ी ही सजीवता से कवि ने यहाँ उपस्थित किया है—

नवल रंगीले लाल, रस में रसीले अति,
छबि सौं छबीले दोऊ उर धुरि लागे हैं।
नैननि सों नैन-कोर मुख मुख रहैं जोर,
रुचि कौ न ओर-छोर, ऐसे अनुरागे हैं॥
परै रूप-सिन्धु माँझ, जानत न भोर साँझ,
अंग-अंग मैन रंग, मोद मद पागे हैं।
'हित ध्रुव' विलसत तृपित न होत कँहू
जद्यपि लडैती लाल सब निशि जागे हैं॥

इस प्रकार, इन राधावल्लभी भक्त-कवियों के, राधामाधव के नित्यविहार के वर्णन में जितनी विशुद्ध दृष्टि दिखलाई पड़ती है, उतनी अन्यत्र दृष्टिपथ में नहीं आती। बात है भी बड़ी टेढ़ी। एक तो शृंगारिक विहार का वर्णन, उस पर वह राधा-कृष्ण जैसे दिव्य नायक-नायिका का। सचमुच कवि के हृदय में विमल संयम, गहरी दृष्टि तथा वास्तविक प्रतिभा का विलास जबतक नहीं रहेगा, तबतक नित्यविहार का वर्णन के द्वारा पूरा निर्वाह करना नितान्त कठिन व्यापार है। इसी कठिनाई के कारण इस रसमार्ग के अनुयायी कवियों की गणना अंगुलियों पर की जा सकती है।

(ग) अष्टछापी काव्य में राधा

अष्टछाप के कवियों में युगल उपासना को भी अपने काव्यों में महत्त्व प्रदान किया है। ऊपर निवेदन किया गया है कि युगल उपासक की दृष्टि में राधा-माधव की अलौकिक जोड़ी सर्वदा प्रेमासक्ति में आबद्ध रहती है तथा भक्त गोपी-भाव से उस लीला का आस्वादन करता है। उस लीला में स्वतः सम्मिलित होने की न उसमें क्षमता है और न अभिलाषा ही। राधावल्लभी तथा निम्बार्की कवियों ने इस भाव का विशेष रूप से वर्णन किया है। दार्शनिक दृष्टि के विचार से 'युगल उपासना' इन सम्प्रदायों का अन्तरंग रहस्य है, वल्लभ-सम्प्रदाय में ऐसी बात नहीं। प्रतीत होता है कि निम्बार्की कवियों का प्रभाव इस विषय में अष्टछापी कवियों पर पड़ा है, जो ऐसी उपासना का उद्गम-हेतु माना जा सकता है। युगल उपासना के पद अष्टछाप के प्रायः समग्र कवियों ने लिखे हैं, जिनमें से एक-दो यहाँ जाते हैं।

व्रजनन्दन के संग में विराजनेवाली भी वृषभानुकिशोरी का अभिराम रूप सूरदास के एक पद में इस प्रकार अभिव्यक्त हो रहा है—

सँग राजति वृषभानुकुमारी।
कुंज सदन कुसुमनि सेज्या पर दम्पति शोभा भारी॥
आलस भरे मगन रस दोऊ अंग-अंग प्रति जोहत।
मनहुँ गौर श्याम कैरव शशि उत्तम बैठे सन्मुख सोहत॥
कुंज भवन राधा मनमोहन चहूँ पास व्रजनारी।
सूर रहीं लोचन इकटक करि डारति तन मन वारी॥

परमानन्ददास भी इस युगल छवि के निरखने में आसक्त हैं—

आज बनी दम्पति बर जोरी।
साँवर गौर वरन रूपनिधि नन्दकिशोर वृषभानुकिशोरी॥
एक शीश पचरंग चूनरी, एक सीस अद्‌भुत पटखोरी।
मृगमद तिलक एक के माँथे, एक माँथे सोहे मृदु रोरी॥
नख-शिख उभय भाँति भूषन छबि रितु बसंत खेलत मिलि होरी।
अतिसै-रंग बढ्यो 'परमानन्द' प्रीति परस्पर नाहि न थोरी॥

कुम्भनदासजी की काव्यकला इस विषय में किसी से कम नहीं है। वे भी पुकार रहे हैं—

बनी राधा गिरधर की जोरी।
मनहुँ परस्पर कोटि मदन रति की सुन्दरता चोरी॥
नौतन स्याम नन्दनन्दन वृषभानुसुता नव गोरी।
मनहुँ परस्पर बदन चन्द को पिबत चकोर चकोरी॥
'कुम्भनदास' प्रभु रसिक लाल वहु विधिवर रसिकनि निहोरी।
मनहुँ परस्पर बढ्यो रंग अति उपजी प्रीति न थोरी॥

एक दूसरे पद में कुम्भनदासजी ने राधा का कृष्ण के संग मिलन का एक बड़ा ही हृदयग्राही चित्र प्रस्तुत किया है—

रसिकिनी रस में रहति गड़ी।
कनक बेलि वृषभानु नन्दिनी स्याम तमाल चढ़ी॥
बिहरत लाल संग राधा के, कौनें भाँति गढ़ी।
'कुंभनदास' लाल गिरिधर सँग रतिरसकेलि पढ़ी॥

रस ही राधारानी का जीवन है। रस में आकण्ठ मग्न रहने पर भी राधा को रसरास, तथा रासेश्वर को छोड़कर और कोई वस्तु अच्छी ही नहीं लगती। उसमें ऐसी कौन-सी चातुरी, कला और रमणीयता है कि गिरिधरलाल, सकलकलाप्रवीण श्यामसुन्दर उसके प्रेमपाश में बँधे हुए हैं। राधा लाल गिरिधर के चित्त पर ऐसी चढ़ी हुई है, जैसे श्याम तमाल का आश्रय लेकर कनक-वेलि उससे लिपट गई हो। प्रेम के चटसार में साथ पढ़नेवाले (सहाध्यायी) राधा और कृष्ण के हृदय में रतिरंग-उमंग होना स्वाभाविक ही है।

राधा के कमनीय कलेवर का तथा रूप-लावण्य ते मण्डित श्यामसुन्दर के श्रीविग्रह

का एकत्र तादात्म्य हो गया है गाढ़ आलिंगन में; इस तादात्म्य का चित्रण कृष्णदास ने बड़ी सुन्दरता से किया है इस सुन्दर पद में—

देखौ भाई, मानों कसौटी कसी।
कनकबेलि वृषभानुनन्दिनी गिरिधर उर जु बसी॥
मानौं स्याम तमाल कलेवर सुन्दर अँग मालती घुसी।
चंचलता तजि कै सौदामिनि जलधर अंग बसी॥
तेरौ बदन सुढार सुधानिधि विधि कौनैं भाँति गसी।
'कृष्णदास' सुमेरु सिधु तें सुरसरि धरनि धँसी॥

घनश्याम के साथ रासलीला में आलिंगित होनेवाली राधा की तुलना उस सौदामिनी से करना उचित ही है, जो अपनी चंचलता छोड़कर जलधर के अंग में जा वसी है। वह उस मालती के समान है, जो नील तमाल के शरीर पर उगी शोभा पाती हो। इन पदों की साहित्यिक कल्पना के भीतर राधाकृष्ण का दार्शनिक रूप भी स्पष्ट रूप से संकेतित हो रहा है। राधा और कृष्ण देखने में दो तत्त्व प्रतीत होते हैं, परन्तु वे हैं वस्तुतः एक ही अभिन्न तत्त्व। नित्य वृन्दावन में नित्यविहार करनेवाले राधाकृष्ण की यह युगल जोड़ी शक्ति से मण्डित शक्तिमान् के परस्पर संश्लिष्ट रूप के मञ्जुल सामरस्य का प्रतीक है। अष्टछाप के कवियों की यही मौलिक धारणा है।

नन्ददास का राधा-तत्त्व

अष्टछाप के कवियों में नन्ददासजी का राधाकृष्ण के आध्यात्मिक रूप के वर्णन के प्रति विशेष अभिरुचि दृष्टिगोचर होती है। 'रासपंचाध्यायी' के विषय में उन्होंने दो काव्यों का निर्माण अपनी इसी अभिरुचि की अभिव्यंजना के निमित्त किया। 'रासपंचाध्यायी' तो भागवत की रासपंचाध्यायी के पाँचों अध्यायों (भागवत, दशम स्कन्ध, अ० २९–३३) का अविकल अनुवाद ही दोहा-चौपाइयों के रूप में है। सिद्धान्त का यहाँ संकेतमात्र ही है। परन्तु, 'सिद्धांतपंचाध्यायी' तो राधाकृष्ण, रास तथा व्रज के आध्यात्मिक स्वरूप के विवेचन से आद्यन्त ओतप्रोत है। आध्यात्मिक विवेचन ही इसका मुख्य तात्पर्य है; अन्यथा एक वार वर्णित विषय के पुनर्वर्णन की आवश्यकता ही क्या थी? तथ्य यह है कि नन्ददास की दृष्टि नितान्त आध्यात्मिक है और उस दृष्टि के उपयोग से रासलीला का रहस्य अपने पूर्ण वैभव तथा अलौकिकता के साथ साधकों के सामने उन्मीलित होता है। वैष्णव सिद्धान्तों का इतना सांग विवेचन अन्य अष्टछापी कवियों में नितांत दुर्लभ है। स्वयं सूरदासजी ने राधाकृष्ण की लीला का रहस्य अपने काव्यों में यत्र-तत्र संकेतित मात्र कर दिया है। इस विषय में सिद्धांत के प्रतिपादन को लक्ष्य कर देखने से नन्ददास अष्टछाप में अवश्य ही अग्रणी प्रतीत होते हैं।

'सिद्धांतपंचाध्यायी' के अनुशीलन से श्रीकृष्ण तथा गोपिका का स्वरूप अपनी आध्यात्मिक विभूति के साथ बड़ी शोभनता से अभिव्यक्त होता है। श्रीकृष्ण साक्षात् नारायण हैं—अपार रूप-गुण-कर्म से सम्पन्न। वेद-पुराण आदि समस्त विद्याएँ जिनकी श्वास-मात्र हैं और जिनकी आज्ञा से माया जगत् का सर्जन, पालन और तिरोधान करती है एवं जिनका स्वरूप

जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति से परे प्रकाशित होता है, वही श्रीकृष्ण हैं। उन्होंने भक्तों को रसानुभूति कराने के लिए ही व्रज में अवतार धारण किया। व्रज में श्रीकृष्ण अनावृत परम ब्रह्म, परमात्मा तथा स्वामी हैं—

कृष्ण अनावृत परमब्रह्म परमातम स्वामी।

गोपियों को नन्ददास आध्यात्मिक दृष्टि से 'भगवान् की शक्तियाँ' मानते हैं। रास के समय व्रज की सुन्दरियों से घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्ण उसी प्रकार शोभित होते थे, जिस प्रकार परमात्मा अनेक शक्तियों से आवृत होकर उद्भासित होता है—

पुनि व्रजसुंदरि सँग मिलि सोहैं सुन्दर वर यौं।
अनेक शक्ति करि आवृत सोहैं परमातम ज्यौं॥

—सिद्धान्तपंचाध्यायी, रोला १०५

जिस प्रकार कोई महान् उपासक ज्ञानादिकों से सुशोभित होता है, उसी प्रकार रस से आप्लुत गोपी मनमोहन से मिलकर शोभित होती थी—

पुनि जस परम उपासक ज्ञानादिक करि सोहैं।
यों रसवोपी गोपी मिलि मनमोहन मोहैं॥

—सि० पं०, रोला १०६

गोपियों का मार्ग विशुद्ध प्रेम का मार्ग था—विधि-निषेध से नितान्त विहीन तथा लोकाचार से एकान्त उदात्त। उनकी अनन्यता, तल्लीनता और एकनिष्ठा की कितनी प्रशंसा की जाय? जिन्होंने संसार की माया, मोह तथा ममता को तिलाञ्जलि देकर विशुद्ध हृदय से भगवान् श्रीव्रजनन्दन को प्राप्त किया था। इन गोपियों का रूप कोई पार्थिव प्रेम से संवलित न था, प्रत्युत वे पंचभूतों के प्रभाव से मुक्त शुद्ध प्रेमस्वरूपिणी थीं। वे तो संसार को प्रकाश देनेवाली ज्योति-रूप थीं।[१] वेद की आज्ञा है धर्म, अर्थ तथा काम के सम्पादन की, परन्तु इन व्रजवालाओं ने इस आज्ञा की भी अवहेलना कर अपने को आसक्त कर दिया था।[२] उनका एक ही ध्येय था—भगवान् श्रीनन्दनन्दन का नैसर्गिक प्रेम पाना ही उनके जीवन का चरम लक्ष्य था। भगवान् की मुरली 'शब्दब्रह्ममयी' थी, और यही कारण है कि उसने गोपियों के हृदय को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था। मुरली के अलोकसामान्य आकर्षण का यही रहस्य है। नन्ददास की सम्मति में रासपंचाध्यायी कोई 'शृंगारकथा' नहीं है, प्रत्युत यह निवृत्ति के मार्ग को उद्घाटित करती है। फलतः, वे नितान्त मूढ हैं, जो भगवान् की इस दिव्य लीला में शृंगार का आभास पाते हैं। भगवान् श्यामसुन्दर का स्पर्श पाकर

---

१. शुद्ध प्रेम मय रूप पंच भूतन तें न्यारी
तिनहिं कहा कोउ कहैं ज्योति सी जग उजियारी॥
—रासपंचाध्यायी।

२. धर्म, अर्थ अरु काम कर्म यह निगम निदेसा
सब परिहरि हरि भजन भईं करि बड़ उपदेसा॥
—सिद्धान्तपंचाध्यायी।

गोपियों को आनन्द का असीम सुख प्राप्त हुआ। इसकी तुलना तो संसारी जनों के उस सुख से की जा सकती है, जिसे भगवान् के भक्त परमहंस लोगों के मिलने से प्राप्त करते हैं।[1] गोपियाँ भगवान् के मिलने पर सब कुछ भूल गईं—अपने को, अपने संबंधियों को, अपने संसार को; जिस प्रकार तुरीय अवस्था प्राप्त करने पर साधक जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति होनेवाले अनुभवों को सदा भूल जाता है।[2]

सिद्धान्त का प्रश्न है। जब कृष्ण एक क्षण के लिए भी व्रज को छोड़कर बाहर नहीं जाते, तब उनका विरह कैसा? और, उस विरह में वेदना कैसी? नन्ददास की सम्मति में राधा और कृष्ण का मिलन नित्य होता है और वृन्दावन में ही होता है। नित्य मिलन के समान यह वृन्दावन भी नित्य है। वियोग की दशा का उपन्यास तो प्रेम की वृद्धि, समृद्धि तथा परिपूर्त्ति के लिए किया है। नन्ददासजी ने इस प्रसंग में एक लौकिक उदाहरण देकर विषय सुगम-सुबोध बनाया है। मधुर वस्तु के निरन्तर सेवन से, रोज-रोज मिसरी खाने से, एक प्रकार से माधुर्य से विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। तब बीच में अन्य रस जैसे कटु, अम्ल, तिक्त आदि का सेवन रुचि को बढ़ाता है।[3] संयोग में वियोग की कल्पना भी इसी तात्पर्य से की गई है। व्रज में कृष्ण का विरह भ्रान्ति का सूचक है, कोई वह परमार्थ नहीं। गोपियों का व्रजनन्दन से विरह क्या कोई विरह है? इसे तो प्रेम का उच्छलन कहना चाहिए, जब प्रेम अपने पूर्ण रूप में विकसित और उच्छलित हो उठता है और उस आनन्द की मस्ती में, सुख के उत्कर्ष में जीव इतर दुःखों को विसार देता है—

कृष्ण विरह नहिं विरह प्रेम-उच्छलन कहावै।
निपट परम सुखरूप इतर सब दुख बिसरावै॥
—सि० पं०, रोला ७०

विरह के भेद

नन्ददास ने व्रज-विरह को चार प्रकारों में विभक्त किया है अपने 'विरहमंजरी' नामक काव्य में, जो उनकी मौलिक सूझ का नितान्त द्योतक है। इन भेदों के नाम हैं-

---

१. साँवरे पिय कर परस पाइ सब सुखित भईं यौं
परमहंस भागवत मिलत संसारी जन ज्यौं॥
—सि० पं०, रोला १००।

२. जैसे जागत स्वप्न सुअवस्था में सब
तुरिय अवस्था पाइ जाइ सब भूलि गईं तब॥
—सि० पं०, रोला १०१।

३. मधुर वस्तु ज्यों खात निरंतर सुख तौ भारी
बीचि बीचि कटु अम्ल तिक्त अतिसय रुचिकारी।
ज्यों पटु पुट के दिए निपट ही रसहिं परै रंग
तैसेहि रंचक विरह प्रेम के पुंज बढ़त अंग॥
—रासपंचाध्यायी, अ० २, छन्द १–२।

प्रत्यक्ष, पलकान्तर, वनान्तर तथा देशान्तर। इनमें से अन्तिम दो भेदों का अन्तर्भाव रीति-ग्रन्थों में वर्णित प्रवास-वियोग में किया जा सकता है, परन्तु आदिम दो भेद तो एकदम नवीन हैं तथा नन्ददास की अपनी उपज हैं। इनमें न मान का भाव है और न पूर्वराग का; परन्तु विरह के रूप में अवश्य उपन्यस्त हैं। प्रत्यक्ष विरह तो मिलन होने के समय विरह की कल्पना में है। पलकान्तर विरह तव होता है, जव वरावर टकटकी लगाकर प्रिय के दर्शन करने में पलक के गिरने से उसका दर्शन रुक जाता है। और, इसी क्षणिक विरह से प्रेमी व्याकुल हो उठता है। विरह की यह कल्पना मेरी दृष्टि में रूपगोस्वामी द्वारा व्याख्यात 'प्रेमवैचित्त्य' का ही नामान्तर है। प्रिय के सन्निधान में भी वियोग-भावना तथा देखने में पलक-मात्र अन्तर पड़ जाने पर भी विरह का उदय भावुक भक्त के हृदय की कल्पनाएँ हैं, जिन्हें वास्तव में न मानकर काल्पनिक ही मानना न्याय्य होगा। नन्ददास प्रेम के प्रवीण पारखी प्रतीत होते हैं। प्रेम की इस विचित्र चाल का वर्णन कितना सच्चा और साथ-ही-साथ कितना विलक्षण है--

भूत छिपे, मदिरा पिये, सब काहू सुधि होय।
प्रेम सुधारस जो पिये, तिंहि सुधि रहे न कोय॥

ऊपर विरह के भेद का सम्वन्ध व्रजलीला से ही है, साधारण मानव से इनका कोई भी सम्वन्ध नहीं है। तथ्य यह है कि यह विरह लौकिक विरह की छाया से दूर रहकर अपना अस्तित्व धारण करता है। इसमें दिव्यता है, अलौकिकता है तथा विलक्षणता है। सामान्य दृष्टि से यह उन्माद-कोटि में आता है, परन्तु वृन्दावन की छाया में इसका पूर्ण साम्राज्य है। यह भक्तों के भावुक हृदय के द्वारा गम्य वस्तु है, एकान्त गोप्य तथा गोपनीय। नन्ददासजी ने इस विचित्र विरह-दशा की उद्भावना अपनी 'विरहमंजरी' में कर अपनी अलौकिक सूझ का परिचय दिया है।

नन्दकिशोर की व्रजलीला की प्रधान नायिका है राधारानी। राधा के सुभग सलोने रूप की झाँकी प्रस्तुत करने में नन्ददासजी भी अष्टछापी कवि से पीछे नहीं हैं। राधा परम स्वकीया है। राधा तथा कृष्ण के विवाह का बड़ा ही सजीला वर्णन 'पदावली' में मिलता है। राधा के विशुद्ध प्रेम की अभिव्यंजना नाना रूपों में कवि ने की है। व्रजलीला के समस्त रूपों का वड़ा ही चटकीला वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है। नन्ददास की कविता में प्रसाद गुण अपने पूरे उत्कर्ष पर दृष्टिगोचर होता है। भाषा सरस तथा मधुर है। स्वाभाविकता मानों यहाँ पूरे वैभव के संग विराजती है।

इस दूती की वचन-चातुरी पर ध्यान दीजिए। राधा को वह मनाने गई है, परन्तु राधा मानती ही नहीं; इसपर यह बड़ी स्वाभाविक उक्ति है —

तेरोई मान न घटचौ आली री
छटि जु गई रजनी।
बोलन लागे ठौर ठौर तमचूर
तुंहि नहि बोली री पिकबैनी॥

कमल-कली विकसी, तुहिं न तनक हँसी
कौन टेव करी मृग-सावक-नैनी।
नंददास प्रभु को नेह देखि हाँसी आवै,
वे बैठे री रचि रचि सैनी॥

प्रकृति तथा नायिका के व्यवहार में वैषम्य की कल्पना कितनी सुन्दरता से यहाँ की गई है। भावों में स्वाभाविकता है और भावुकों को अपने वश में करने की इनमें अदभुत क्षमता है।

नन्ददास की दूती राधा को मनाने के लिए कुंज में जाती है और वह कितने चतुर शब्दों में अपने भावों को प्रकट करती है तथा राधा को श्रीकृष्ण से मिलने के लिए उत्सुक बना रही है। इसमें व्रजनन्दन के 'त्रिभंगी' तथा 'श्याम' होने के कारण की कैसी सुन्दर छानबीन है। काल की कल्पना सापेक्षिकी है और वह वक्ता की चित्तवृत्ति के ऊपर आधृत रहती है; इस तथ्य का प्रकाशन पद्य के अन्तिम चरण में किस शोभनता से किया गया है—

तेरी भौंह की मरोर तें ललित त्रिभंगी भए
अंजन दै चितए तवै भये स्याम, वाम री।
तेरी मुसकनि हिये दामिनी सी कौंधि जात,
दीन ह्वै ह्वै जात राधे आधो लीने नाम री॥
ज्यों ही ज्यों नचावै बाल, त्योंही त्योंही नाचै लाल,
अब तौ मया करि चलि निकुंज सुखधाम री।
'नंददास' प्रभु तुम बोलौ तौ बुलाई लेहुँ
उनको तौ कलप वीतैं, तेरे घरी जाम री॥

—नंददासग्रंथावली, पद, ७२, पृ० ३५०

राधा के पूर्वानुराग का यह ललित वर्णन कितना हृदयावर्जक है—

कृष्ण नाम जब तें स्रवन सुन्यौ री आली
भूली री भवन हौं तो बावरी भई री।
भरि भरि आवैं नैन चितहूँ न परै चैन,
मुखहू न आवै बैन, तनकी दशा कछु और भई री॥
जेतक नेम धरम किए री मैं वहु विधि,
अंग अंग भई हौं तौ स्रवन मई री।
'नन्ददास' जाके नाम सुनत ऐसी गति
माधुरी मूरति है धौं कैसी दई री॥

—वही, पृ० ३४५

इस पद्य में श्रीकृष्ण के नाम-श्रवण से उत्पन्न चित्तवृत्ति के विविध परिणाम का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है। नाम की ऐसी माधुरी है, तो मूर्त्ति की कैसी माधुरी होगी।

परमानन्ददास की राधा

परमानन्ददास काव्य-प्रतिभा के धनी थे। अष्टछाप के कवियों में केवल सूरदास से उनका स्थान द्वितीय कोटि का माना जा सकता है। उनका 'परमानन्दसागर' विषय-क्रम की दृष्टि से 'सूरसागर' का ही रूपान्तर है, जो अपनी भावव्यंजना, काव्य-सौष्ठव, तथा कला के उपकरण छन्द, राग तथा अलंकार के साथ-साथ स्वभावोक्ति के सहज माधुर्य-गुण में लिपटा साफ़-सुथरी भाषा का परिचायक है। इस पदावली में राधारानी अपनी रूपच्छटा तथा निर्मल प्रेम-माधुरी के संग पूरे वैभव के साथ विराजती हैं।

राधा की शोभा के वर्णन में कवि की प्रतिभा इस प्रकार अपना विलास दिखाती है—

> **अँमृत निचोइ कियौ इक ठौर।**
> **तेरौ वदन सँवारि सुधानिधि, ता दिन विधना रची न और॥**
> **सुनि राधे का उपमा दीजै, स्याँम मनोहर भए चकोर।**
> **सादर पियत, मुदित तोहि देखत, तपत काम उर नंद किशोर॥**
> **कोन कोन अंग करौं निरूपन गुन औ सीवें रूप की रासि।**
> **'परमानन्द' स्वामी मन बाँध्यौ, लोचन वचन प्रेम की फाँसि॥**

राधा के वदन-चन्द्र की रचना कर ब्रह्मा ने उस दिन किसी अन्य वस्तु का निर्माण ही नहीं किया। उन्होंने अमृत को निचोड़कर एक स्थान पर रख दिया और वही है राधारानी का वदन-सुधाकर। इस उक्ति का सहज मिठास देखने ही योग्य है।

श्रीव्रजकिशोर से प्रेम करने पर राधा की दशा ही विचित्र हो गई है। उस दिन से उनकी आँखों ने नींद का सुख नहीं उठाया; चित्त सदा चाक पर चढ़े के समान डोलता रहता है। वह अपनी यह दशा किससे कहे? दशा में वेदना इतनी तीव्र है कि उसे ठीक-ठीक प्रकट ही नहीं किया जा सकता। भला गूँगा बालक अपने हृदय की पीड़ा कभी प्रकट कर सकता है। वह उसे अपने तन से और अपने मन से सहता-रहता है। राधा की भी ठीक यही दशा है —

> **जब ते प्रीति स्याँम सों कीन्हीं।**
> **ता दिन ते मेरे इन नैनन, नेंकहु नींद न लीन्हीं॥**
> **सदा रहत चित चाक चढ्यौ सौ, और कछू न सुहाइ।**
> **मन में रहे उपाइ मिलन कौ, यहै बिचारत जाइ॥**
> **'परमानन्द' ये पीर प्रेम की काहू सों नहिं कहिएँ।**
> **जैसे बिथा मूक बालक की, अपने तन मन सहिएँ॥**

राधा की सखी वदरिया को व्रज पर दौड़ने से वरज रही है। दूर रहो और अपने घर लौट जाओ। किशोरीजी इस समय दुःख से विकल है। जिसकी जोड़ी बिछुड़ गई है, वह वेचारा प्राणी कैसे जी सकता है? इन वचनों से स्वाभाविकता के साथ कितना सहज भोलापन वरस रहा है—

> **बदरिया, तू कित ब्रज पै दौरी।**
> **असलेँन साल सलाँमन लागी, बिधनाँ लिखौ बिछौरी॥**

रहौ, जु रहौ, जाहु घर अपने, दुख पावत है किसोरी।
परमानंन्द प्रभु सो क्यों जीवै, जाकी बिछुरी जोरी।।

वह मधुर पद, जिसे सुनकर आचार्य श्रीवल्लभाचार्य को तीन दिनों तक देहानुसन्धान नहीं रहा, राधा-माधव के विरह का नितान्त सुन्दर चित्रण है। राधा के विरह में माधव के हार्दिक भावों की सरस मंजुल अभिव्यक्ति कितने सुभग पदों में उपन्यस्त है–

हरि, तेरी लीला की सुधि आवै।
कमलनैन मनमोहन मूरति, मन-मन चित्र बनावै।।
एक बार जिहि मिलत मया करि, सो कैसें विसरावै।
मुख मुसिकाँनि, बंक अवलोकंन, चाल मनोहर भावै।।
कबहूँ निविड तिमिर आलिंगत, कबहूँ पिक सुर गावै।
कबहूँ नैन मूंदि अंतरगत, मनिमाला पँहरावै।
'परमानन्द' प्रभु स्याँम ध्याँन करि ऐसे बिरह गँमावै।।

सूरदास की राधा

सूरदास ने श्रीराधिका के चित्रण में, भगवान् व्रजनन्दन के प्रति उनके विमल स्नेह तथा उनके वियोग में अरुन्तुद विरह के वर्णन में अपनी निर्मल प्रतिभा का विलास दिखलाया है। सूर के सामने राधा-कृष्ण के लीला-प्रसंग का एक व्यापक क्षेत्र खुला था, बड़ी विशाल क्रीडास्थली का आविर्भाव हुआ था, जिसका कोना-कोना उन्होंने अपने प्रातिभ चक्षुओं से निरीक्षण किया था। फल यह है कि विविध दशाओं में राधा के मनोभावों का—स्नेह की विभिन्न भावना-भूमि का जितना सुचारु सरस तथा सुरस वर्णन सूर ने उपस्थित किया है, उतना व्यापक तथा मोहक वर्णन अन्य किसी भी भाषाभाषी कृष्णकवि के द्वारा चित्रित नहीं किया गया है; इसे हम आग्रहपूर्वक विना सन्देह के कह सकते हैं। श्रीकृष्ण के साथ राधा का मिलन उनके जीवन की एक आकस्मिक घटना न होकर एक चिरपरिचित घटना है, परन्तु उस घटना में नित्य-नूतन अभिरामता है; सन्तत वर्धमान सौन्दर्यासक्ति है; निर्मल अभिव्यज्यमान प्रेम का मधुर प्रसार है। जीवन के प्रत्येक वय में राधा व्रजनन्दन के संसर्ग में आती है। वह वाल्यकाल से ही वालक-सुलभ चपलता के साथ श्रीकृष्ण के संग खेल-कूद में सम्मिलित होती है; रास के अवसर पर वह व्रजनन्दन के संग रास में प्रवृत्त होकर अनुपम आनन्द का विस्तार करती है, अक्रूर के आगमन तथा मथुरा गमन के अवसर पर राधा विरह-वेदना से नितान्त व्याकुल हो उठती है; उद्धवजी के पधारने पर वह अपने निर्मल निरंजन स्नेह की भव्य झाँकी प्रस्तुत कर उस ज्ञाननिधि के हृदय को वरवस अपनी ओर आकृष्ट करती है; व्रजनन्दन के विरह में वह अपने दुःखमय जीवन को प्राणप्यारे के कल्याण के लिए धारण करती है। कुरुक्षेत्र के तीर्थ में कृष्ण के निमन्त्रण पर वह गोप-गोपियों के साथ पधार कर अपने जीवन की अन्तिम अभिलाषा को पूरी करती है। फलतः, राधा के जीवन का प्रत्येक क्षण श्रीकृष्ण के चिन्तन में व्यतीत होता है। जागते और सोते कृष्ण ही राधा के सर्वस्व हैं;

बाल्यकाल से आरम्भ कर जीवन के अन्तिम क्षण तक सूरदास ने राधा के भावों को अपने प्रातिभ नेत्रों से निरखा है और उनकी अपनी प्रतिभामयी वाणी से उन्हें अभिव्यक्त किया है। 'सूरसागर' में इतने विभिन्न प्रसंग उपस्थित किये गये हैं कि राधा के मानस-पटल पर अंकित होनेवाले नाना भावों का समीप से देखने का तथा शाब्दिक अभिव्यक्ति देने का अपूर्व अवसर महाकवि सूरदास को प्राप्त था, जिसे प्रकट करने में उन्होंने अपनी अद्‌भुत प्रतिभा का आलोक दिखलाया। इसीलिए, मेरा कहना है कि सूरदास की राधा एक समग्र नारी है, जिसकी तुलना अन्यत्र दुर्लभ है; वह वृन्दावन की कुंजों में विचरनेवाली प्रेम-रस से आप्लुत गोपिका है जिसका जीवन व्रजनन्दन में केन्द्रित है—उनके कल्याण-साधन में, उनके आनन्दोल्लास में तथा उनकी रसमाधुरी के संवर्धन में। सूर की राधा लौकिकता तथा अलौकिकता की, प्रेम तथा संन्यास की, स्नेह के वैमल्य की तथा प्रीति के उच्छ्‌वास की, एक निर्मल लीलास्थली है; इसमें सन्देह का लेश भी नहीं है। इस तथ्य की अभिव्यक्ति के लिए दो-चार पद यहाँ दिये जाते हैं।

सूरदास के राधा-विरह में इतनी स्वाभाविकता है कि उससे हृदय मसोसकर रह जाता है। उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता की गंध भी नहीं है। गोपियों का भोलापन उनके वचनों में इतनी रुचिरता से अभिव्यक्त होता है कि उनके विरह की टीस सहृदयों के हृदय को बेंधती है। गोपियाँ कृष्ण को नन्दवावा के यहाँ पहुनई के लिए बुलाती हैं, जिससे उन्हें देखने की साध पूरी हो; कौन जाने कब प्राण निकल जायँ और यह शूल हृदय में ही धँसा रह जाय—

बारक जाइयौ मिलि माधौ।
को जानै तन छूटि जाइगौ, सूल रहै जिय साधौ॥
पहुनैहुँ नन्द बवा के आवहु, देखि लेउँ पल आधौ।
मिलैंही मैं बिपरीत करी विधि होत दरस कौ बाधौ॥
सो सुख सिव सनकादि न पावत जो सुख गोपिन लाधौ।
सूरदास राधा बिलपति है, हरि कौ रूप अगाधौ॥

—पदसंख्या ३८५०

राधा अपनी सखी से कृष्ण के गाँव का नाम तथा संकेत पूछती है, जिसके उत्तर में वह भोलेपन से नाम-धाम का पता वतलाती है। इस संकेत-निर्देशन में कितना भोलापन बरस रहा है—

देखि सखी उत है वह गाऊँ।
जहाँ बसत नंदलाल हमारे, मोहन मथुरा नाउँ॥

राधा के विरह का प्रभाव प्रकृति को अछूता नहीं छोड़ता। वह कमनीय यमुना विरह के कारण काली पड़ गई है। परन्तु, राधा पूछती है कि मथुरा की प्रकृति वृन्दावन से भिन्न है क्या? उधर मेघ का गरजना, बिजली का कौंधना, दादुर का बोलना—पावस में शृंगार के प्रकृत उद्दीपन—विद्यमान नहीं है क्या? जिससे कृष्ण का हृदय इस विरह में

भी पीडित नहीं होता और न वे हमसे मिलने का ही प्रयास करते हैं—इस विषय में गोपियों के तर्क देखने लायक हैं—

किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि।
किधौं हरि हरषि इन्द्र हठि बरजै, दादुर खाए शेषनि॥
किधौं उहि देस बगनि मग छाँड़ै, घरनिन बूंद प्रवेसनि।
चातक मोर कोकिला उँहि बन बधिकनि बधे बिसेसनि॥

इस तर्क के भीतर गोपियों का कोमल हृदय झाँकता प्रतीत होता है।

'जबतैं बिछुरैं कुंजविहारी' (पद ३८७५) में कृष्ण के वियोग में राधा की दीन दशा का बड़ा ही भव्य वर्णन है। भारतीय प्रेम-पद्धति के समग्र प्रतीकों का उपयोग यहाँ किया गया है। उद्धवजी के पत्र लाने पर व्रज में उसे कोई पढ़नेवाला ही नहीं मिलता, जिससे उसका सन्देश समझा जाय, बूझा जाय। इस विषय में गोपियों की की उक्ति बड़ी मार्मिक है—

कोउ व्रज बाँचत नाहिन पाती
कत लिखि-लिखि पठवत नँदनन्दन
कठिन विरह की काँती।
नैन सजल कागद अति कोमल,
कर अँगुरी अति ताती।
परसैं जरैं बिलोकैं भीजैं,
दुहूँ भाँति दुख छाती॥

अत्यन्त कोमल कागज पर संदेश लिखा गया है। उसे देख नैनों से आँसू अविरल बहते जाते हैं। फलतः, पाती को उन आँखों से देखने पर वह भींज जाती है। हाथ की उँगली विरह के मारे अत्यन्त गरम हो गई है। फलतः, उस उँगली से छूने पर जल उठती है। ऐसी दुविधा में पाती का संदेश कैसे जाना जाय? भाव तथा कल्पना का मधुर संयोग है इस स्थल पर—

सुनि री सखि, दसा यह मेरी।
जब तें मिलें श्यामघन सुन्दर संगहि फिरत भई जनु चेरी।
नीके दरस देत नहि मोको अंगन प्रति अनंग की टेरी।
चपला ते अति ही चंचलता दसन दमक चकचौंध घनेरी॥
चमकत अंग, पीतपट चमकत, चमकति माला मोतिन केरी।
'सूर' समुझि विधना की करनी अति रस करति सौंह मुंह तेरी॥

श्रीकृष्ण के साथ प्रथम मिलन के अनन्तर राधा के भावों का चित्रण इस पद में किया गया है। व्रजनन्दन का शरीर इतना सुन्दर, इतना चमकीला तथा चटकीला है कि राधा की आँखें चकाचौंध हो जाती हैं। पूरे रूप के देखने का आनन्द ही नहीं मिलता—

राधेहि मिलेहु प्रतीति न आवति।
यदपि नाथ विधुवदन विलोकति दरसन को सुख पावति॥

भरि भरि लोचन रूप परमनिधि उर में आनि दुरावति ।
विरह विकल मति दृष्टि दुहुँ दिसि सचि सरधा ज्यों धावति ।।
चितवत चकित रहति चित अन्तर नैन निमेष न लावति ।
सपनों आहि कि सत्य ईश बुद्धि वितर्क बनावति ।।
कबहुँक करति विचारि कौन हौं को हरि केहि यह भावति ।
सूर प्रेम की बात अटपटी मन तरंग उपजावति ।

श्रीकृष्ण के साथ मिलने पर भी राधा के हृदय में विश्वास नहीं होता। वह एक क्षण में मिलन के आनन्द का उपयोग करती है, परन्तु तुरन्त ही दूसरे क्षण में वह विरह-वेदना से व्याकुल हो उठती है। वह चकित होकर इतने प्रेम से देखती रहती है कि नेत्रों की पलकें नहीं गिरतीं। उसे पता ही नहीं चलता कि वे सब घटनाएँ सत्य हैं या स्वन। मिलन के समय इस प्रकार की तीव्र विरह भावना साहित्य की भाषा में 'प्रेमवैचित्ति' कहलाती है।

नाथ अनाथन की सुधि लीजै ।
गोपी गाइ ग्वाल गोसुत सब दिन मलीन दीनहिं दिन छीजै ।।
नैन सजल धारा बाढी अति बूड़त ब्रज किन कर गहि लीजै ।
इतनी बिनती सुनहु हमारी, बारकहूँ पतिया लिखि दीजै ।।
चरन कमल दरसन नव नौका करुनासिन्धु जगत जस लीजै ।
सूरदास प्रभु आस मिलन की एक बार आवन ब्रज कीजै ।।

राधा श्रीकृष्ण से ब्रज में एक वार आने की प्रार्थना करती है—हम अनाथों की सुधि लीजिए। गोपियों के नेत्रों से इतनी जलधारा का उद्गम हो गया है कि समग्र ब्रज ही डूब रहा है। जबतक दर्शन-रूपी नई नौका वहाँ नहीं आवेगी, ब्रज का कल्याण नहीं हो सकता—

रहति रैन दिन हरि हरि हरि रट ।
चितवत इकटक मग चकोर लौं जबतें तुम बिछुरे नागर नट ।।
भरि भरि नैन नीर ढारति है सजल करति अति कंचुकी के पट ।
मनहुँ विरह को ज्वर ता लगि लियो नेम प्रेम शिव शीश सहस घट ।।
जैसे यव के अंगु ओस कन प्रान रहत ऐसे अवधिहि के तट ।
'सूरदास' प्रभु मिलौ कृपा करि जे दिन कहे तेउ आए निकट ।।

श्रीकृष्ण से लौटकर आने की प्रार्थना कितने सरस शब्दों में यहाँ किया गया है—भगवन्, आपके लौट आने की अवधि के दिन निकट आ गये, तब तो जैसे जौ के अंग पर ओस का कण झलकता रहता है—अब गिरा, तब गिरा; वैसे ही प्राण हमारे शरीर में हैं—अब गये, तब गये। अब भी तो पधारिए। कितनी करुण प्रार्थना है राधा की ब्रजनन्दन के लौट आने के लिए।

भागवत का अनुसरण कर सूरदास ने भी राधा तथा गोपियों को श्रीकृष्णचन्द्र से कुरुक्षेत्र के तीर्थ में अन्तिम भेंट कराई है। इतने दिनों के दीर्घ प्रवास तथा तीव्र विरह के बाद इस मिलन में कितना सुख है, कितना मनोमोहक आकर्षण है; इसका वर्णन किन शब्दों में

किया जाय? यह सम्मेलन कृष्ण की दो प्रियतमाओं–रुक्मिणी और राधा– का प्रथम समागम है। फलतः, दोनों को कौतुकाक्रान्त होना स्वाभाविक है; परन्तु राधा की लालसा कृष्ण के दर्शन की ही है। कौतुक और जिज्ञासा का उदय रुक्मिणी के हृदय में ही जगता है। वह श्रीकृष्ण से पूछती है—इन गोपियों में तुम्हारे बालापन की जोड़ी राधा कौन-सी है? इसके उत्तर में व्रजनन्दन का उत्तर अनुराग से भरा हुआ है। यह पूरा प्रसंग राधा का प्रथमतः रुक्मिणी से और तदनन्तर श्रीकृष्ण से भेंट बड़ा ही सरस तथा मर्मस्पर्शी है—

बूझति हैं रुकमिनी पिय इनमैं को वृषभानुकिशोरी।
नकु हमैं दिखरावहु अपनी बालापन की जोरी॥
परम चतुर जिन्ह कीन्हें मोहन, अल्प वैस ही थारी।
बारे तें जिनि इहैं पढ़ायै, बुधिबल कल विधि चारी॥
जाके गुन गनि ग्रंथित माला, कबहुँ न उर तैं छोरी।
मनसा सुमिरन, रूप ध्यान उर, दृष्टि न इत-उत मोरी॥
वह लखि जुवति वृन्द में ठाढ़ी, नील वसन तन गोरी।
सूरदास मेरौ मन वाकौ, चितवन बंक हर्यौरी॥

—पद ४६०४

रुक्मिणी तथा राधा की भेंट का वर्णन सूरदास इन सरस शब्दों में कर रहे हैं—

रुकमिनी राधा ऐसें भेंटी।
जैसें बहुत दिनन की बिछुरी, एक बाप की बेटी॥
एक सुभाव एक बय दोऊ, दोऊ हरि कौं प्यारी।
एक प्रान मन एक दुहुनि को तन करि दीसति न्यारी॥
निज मंदिर लै गई रुक्मिनी, पहुनाई विधि ठानी।
सूरदास प्रभु तहँ पग धारे, जहँ दोऊ ठकुरानी॥

—पद ४६०६

माधव के साथ राधा का मिलन बड़ा ही संयत, हृदयावर्जक तथा मनोमोहक है। सूरदास ने इस अवसर पर अपनी विमल प्रतिभा का विलास दिखलाया है—

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई॥
माधव राधा के रंग राँचे, राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरन्तर, रसना करि सो कहि न गई॥
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहि अंतर, यह कहि कै उन व्रज पठई।
'सूरदास' प्रभु राधा माधव व्रजविहार नित नई-नई॥

—पद ४६१०

राधा-माधव के मिलन की यही अन्तिम झाँकी है। दोनों के नित्य निरन्तर विद्यमान प्रेम का वर्णन रसना बेचारी नहीं कर सकती। राधा-माधव में कोई अन्तर

नहीं। एक ही तत्त्व के ये दो रूप हैं। इन दोनों का व्रजविहार नित्य नूतन है—सर्वदा ही नवीनता से मण्डित है।

इस प्रकार, चर्म-चक्षुओं से विहीन, परन्तु प्रातिभ चक्षुओं से मण्डित अन्धे सूरदास ने राधा-माधव की नित-नूतन सरस-सुभग केलि-लीला का जो वर्णन किया है, वह नितान्त उदात्त तथा मधुर है। सच तो यह है कि सूरसागर राधाकृष्ण की लीला का महाकाव्य है—अपने क्षेत्र में अप्रतिम, गम्भीर तथा विशाल, स्निग्ध तथा मधुर। मेरी दृष्टि में भाषा के कृष्ण-काव्यों में इतना सांगोपांग अथवा लीलाप्रधान दूसरा महाकाव्य नहीं है।

उपसंहार

मध्ययुगीय भक्ति-साहित्य में राधाकृष्ण की मंजुल मूर्त्ति प्रतिष्ठित है। वह युग ही भक्ति के अभ्युदय का महनीय युग था, जिसमें उत्तर से दक्षिण तक और पूरब से पश्चिम तक भक्तिरस की निर्मल धारा ने जनमानस को स्निग्ध, रसपेशल तथा रसाप्लुत बना दिया। इस युग की कविता का सर्वाधिक महत्त्वशाली आधार था श्रीमद्-भागवत पुराण और उसमें भी उसका दशम स्कन्ध। समग्र भारतीय साहित्य में कृष्णकाव्य की अभिव्यक्ति मुख्यतः दो काव्य-रूपों में हुई—प्रबन्ध-काव्य तथा गीति-काव्य। और, इन दोनों में प्रेरणा-शक्ति का महनीय स्रोत भागवत ही था। परन्तु, कवियों के रुचिभेद से आग्रह के स्थल भिन्न-भिन्न थे। माथुरलीला तथा द्वारिका-लीला की अपेक्षा वृन्दावन-लीला का ही प्रामुख्य था; परन्तु इस लीला के भी भीतर रस-सम्पत्ति की दृष्टि से भिन्न-भिन्न स्थल थे। भगवान् श्रीकृष्ण के समग्र जीवन को चित्रित करने की ओर व्रज-भाषा, गुजराती तथा मलयालम के कवियों की विशेष अभिरुचि दृष्टिगोचर होती है। मलयालम के कवि चेरुश्शेरी तथा पून्तानम् ने श्रीकृष्ण के समस्त जीवन को चित्रित कर उन्हें एक लोकोपकारक तथा दुष्टसंहारक रूप में ही विशेषतः देखने का प्रयत्न किया है, परन्तु व्रजभाषा तथा गुजराती भाषाओं के कवियों ने समस्त जीवन की एक झाँकी प्रस्तुत करते हुए भी वृन्दावन-लीला पर अपना विशेष प्रेम तथा अनुराग प्रकट किया है। व्रज के दोनों प्रख्यात अष्टछापी कवि सूरदास और नन्ददास ने बालकृष्ण की लीलाओं का वर्णन बड़े ही क्रमिक ढंग से किया है। गुजराती कवियों में यही प्रवृत्ति लक्षित होती है। मीराँ, नरसी तथा प्रेमानन्द के काव्यों में माधुर्य-भाव अपने विमल रूप में जिस प्रकार विराजता है, उसी प्रकार वह श्रीभट्ट, सूर तथा हितहरिवंश की कविता में भी अपनी मधुर झाँकी प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि रास तथा भ्रमरगीत इन दोनों साहित्यों में बड़े ही लोकप्रिय विषय रहे हैं। व्रज-साहित्य में सूरदास तथा नन्ददास का भ्रमरगीत अपनी भावुकता के लिए नितान्त प्रख्यात, लोकप्रिय तथा भावुक काव्य है, परन्तु गुजराती में तो यह इससे कहीं अधिक लोकप्रिय रहा है और वहाँ के मान्य कवियों ने अपने काव्यों में इस विषय का मनोमोहक वर्णन करने में अपनी अलोक-सामान्य प्रतिभा का उपयोग किया है।

भारतीय साहित्य में राधाकृष्ण-काव्यों के ऊपर एक विहंगम दृष्टि डालने पर कई नवीन तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं। द्राविड साहित्य में दास्य-भाव की

प्रधानता है; विशेषतः तेलुगु और कन्नड़-भाषाओं के साहित्य में। अलवारों के काव्यों में माधुर्य-भाव की मधुरिमा है और वही मधुरिमा कैरली साहित्य के कृष्ण-कवियों में भी विराजती है। द्राविड साहित्य में राधा का नाम नहीं उपलब्ध होता। वहाँ रुक्मिणी तथा सत्यभामा ही श्रीकृष्ण की प्रियतमाओं में अन्यतम मानी जाती हैं। राधा का परकीया-भाव ही इस अनुल्लेख का मुख्य हेतु प्रतीत होता है। परन्तु, इन साहित्यों में राधा न होने पर भी उनके प्रेम की विमल छटा विद्यमान है। यहाँ के भक्त-कवि गोपियों के साथ व्रजनन्दन की मधुर लीला के संकीर्त्तन में अपने को धन्य मानते हैं।

उत्तर भारत के साहित्य में 'राधा' का अस्तित्व ही नहीं है, प्रत्युत वह अपने पूर्ण वैभव तथा विलास के साथ यहाँ विराजती है। परन्तु, राधा-काव्यों का तौलनिक अनुशीलन अवान्तर प्रभेदों के प्रकटीकरण में समर्थ है। बँगला-साहित्य में माधुर्य का आधिपत्य है और उससे प्रभावित उत्कल-साहित्य में भी राधा-काव्यों में माधुर्य का महनीय प्रामुख्य है। इनकी तुलना में व्रज-साहित्य लीला-वर्णन के प्रसंग में विशेष व्यापक कहा जायगा। व्रज-साहित्य के लिए यह गौरव की बात है कि कृष्ण-भक्ति के विविध भावों की अशेष अभिव्यक्ति यहाँ उपलब्ध होती है। सूरदास ने वात्सल्य तथा सख्य-भावों के प्रसंग में माधुर्य को नहीं भुलाया है। वे तो वस्तुतः वात्सल्य और श्रृंगार के कवि हैं। दास्य का प्राबल्य है तुलसी के काव्यों में, तो माधुर्य अपने विमलरूप में विलसित होता है निम्बार्की कवि (यथा श्रीभट्ट, हरिव्यास, घनानंद आदि) तथा राधावल्लभी कवि, (हितहरिवंश, ध्रुवदास आदि) की कोमल कविता में। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि लीला की दृष्टि से अष्टछाप के कवि व्रजलीला के ही चिन्तन में अनुरक्त हैं, तो निम्बार्की तथा राधावल्लभी कवि निकुंजलीला के कवि हैं। फलतः, प्रथम प्रकार के कवियों में संयोग के संग-ही-संग विरह का भी वर्णन अपना विशिष्ट स्थान रखता है, परन्तु दूसरे प्रकार के नित्यविहारवाले कवियों में विरह की छाया भी नहीं दीखती, विरह की तो बात ही न्यारी है। निकुंजलीला में जहाँ राधारानी के संग में व्रजनन्दन का नित्यविहार ही सदा-सर्वदा जागरित रहता है, वहाँ विरह कहाँ? वहाँ वियोग कल्पना से अतीत की वस्तु है। फलतः, व्रजसाहित्य में राधारानी की समस्त लीलाओं की पूर्ण अभिव्यक्ति हृदय-पक्ष तथा कला-पक्ष दोनों पक्षों को लक्ष्य कर बड़े विस्तार के साथ उपलब्ध होती है।

पवित्र प्रेम की पूर्णतम प्रतिमा का ही अभिधान है राधा। राधा एक आदर्श है; राधा विमल प्रीति की प्रतिनिधि देवी है, जिसके जीवन का लक्ष्य ही है व्रजनन्दन की सेवा; वह आह्लादिनी शक्ति है, जो कृष्ण को भी आह्लादित करती है तथा उनके भीतर विद्यमान सौन्दर्य और माधुर्य का आस्वाद उन्हें ही कराती है। वह निर्मल दर्पण है, जिसमें प्रतिबिम्बित अपने रूप को देखकर वह नन्दकिशोर अपने सौन्दर्य को समझने में समर्थ होता है। वह ऐसी विमल प्रेमिका है, जिसे अपने प्रियतम से पृथग्भाव की भी कल्पना असम्भव है। सखियों ने राधा के प्रेम-परीक्षण के निमित्त जब नन्दकिशोर के वामाचरण की बात कही थी, तब राधा का यह उत्तर उसके हृदय के गम्भीर प्रेमभाव की विशद स्फूर्ति करता है। राधा कहती है कि ऐ सखी, वह श्यामसुन्दर मेरे वाम (प्रतिकूल)

याँ दक्षिण (अनुकूल) हैं, इसकी मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं। मेरी तो कामना इतनी ही है कि वे चलें, जीवित रहें, चाहे उनका मेरे प्रति जो कुछ भी भाव हो। उनकी तीव्र उपेक्षा भी मेरे लिए नगण्य है। वह मेरा प्रियतम श्वास की भाँति है, जो अपने आने-जाने से जीवों को जिलाता ही है, चाहे वह बायें चले या दायें चले। श्वास का चलना ही प्राणी के जीवन की पहिचान है। कृष्ण का चलना ही राधा के जीवन का सर्वस्व है—

सखि हे चरतु यथेष्टं
वामो वा दक्षिणो वाऽस्तु।
श्वास इव प्रेयान् मे
गतागतैर्जीवत्येव ॥

कृष्ण-काव्य की परम्परा

कृष्ण-लीला के साथ माधुर्य रति का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। मधुरा रति का भक्ति-शास्त्र में वर्णन उतना प्राचीन भले ही न हो, परन्तु इसका संकेत तो प्राचीन ग्रन्थों में स्पष्टतः उपलब्ध होता है। श्रीमद्भागवत के कई स्थलों पर इस रति का निर्देश पाया जाता है। श्रीकपिलदेवजी ने अपनी माता देवहूति से भगवद्भक्तों के विषय में जो कथन किया है, वह भक्ति-भावना के विभिन्न प्रस्थानों की व्यापकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उक्ति है। भागवत का कथन (३।२५।३८) ध्यान देने योग्य है, जिसमें कहा गया है कि जिनका एकमात्र मैं ही प्रिय, आत्मा, पुत्र, मित्र, गुरु, सुहृद्, दैव तथा इष्ट हूँ, वे मेरे ही आश्रय में रहनेवाले भक्तजन शांतिमय वैकुण्ठधाम में पहुँचकर किसी प्रकार भी इन दिव्य भोगों से रहित नहीं होते और न उन्हें मेरा कालचक्र ही ग्रस्त कर सकता है।

न कर्हिचिन् मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥
—भागवत, ३।२५।३८

इस पद्य में भागवत भक्तों की श्रेणी की ओर संकेत कर रहा है। इन श्रेणियों की गणना के विषय में टीकाकारों में मतैक्य नहीं है। श्रीवल्लभाचार्य ने अपनी सुबोधिनी में विषय, देह, पुत्र-पित्रादि, गुरु, सम्बन्धी, इष्ट, देवता और काम—ये आठ स्थान माने हैं। श्रीजीवगोस्वामी ने 'दैवमिष्टम्' को एक मानकर सात भाव के उदाहरण दिये हैं— (१) प्रिय भाव से भजनेवालों में श्री, लक्ष्मी आदि; (२) आत्मभाव से सनकादि; (३) पुत्र-भाव से देवहूति आदि; (४) सखाभाव से श्रीदामा आदि, (५) गुरुभाव से प्रह्लाद आदि; (६) सुहृद्भाव से पाण्डव आदि और (७) दैव-इष्टभाव से भजनेवालों में उद्धव का उदाहरण दिया है। परन्तु, भागवत के सर्वप्राचीन टीकाकार श्रीधरस्वामी ने यहाँ केवल पाँच ही भावों का उल्लेख माना है और तदनुसार पाँच ही उदाहरण दिये हैं। इन्हीं के अनुसार राधारमणदास गोस्वामी, श्रीवीरराघवाचार्य तथा श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने भी कपिलजी के

इस कथन में केवल पाँच ही रसों का संकेत स्वीकार किया है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने 'प्रिय' शब्द से प्रेयसीगण के भाव की पुष्टि मानी है, 'आत्मा' शब्द से शांतरस की, 'सुत' शब्द से वात्सल्य की, 'सखा' शब्द से सख्य-भाव की और गुरु, सुहृद्, दैव तथा इष्ट इन चार शब्दों से दास्य-भक्ति की पुष्टि स्वीकार की है। उन्होंने निम्नांकित नारायण-व्यूहस्तव के एक उदाहरण द्वारा इन पाँचों रसों की प्राचीनता भी अभिव्यक्त की है—

पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृपितृवन् मित्रवद् हरिम्।

परन्तु, मधुरा रति का उल्लेख तथा संकेत इससे भी प्राचीनतर है। इसका संकेत भगवद्गीता के इस प्रसिद्ध पद्य में भी उपलब्ध होता है—

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधायकायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥
—गीता, ११।४४॥

इस श्लोक में अर्जुन श्रीकृष्ण से अपने अपराध के क्षमापन के निमित्त प्रार्थना कर रहे हैं कि जिस प्रकार पुत्र का अपराध पिता क्षमा करता है, सखा का अपराध सखा क्षमा करता है और प्रिया का अपराध प्रिय क्षमा करता है, उसी प्रकार आपको भी मेरे अपराधों को क्षमा करना सर्वथा उचित है। इस पद्य के उत्तरार्ध में तीन प्रधान भक्ति-भावों का क्रमिक महत्त्व की दृष्टि से विशद संकेत है—दास्य-भाव का (पितेव पुत्रस्य), सख्य-भाव का (सखेव सख्युः), तथा माधुर्य-भाव का (प्रियः प्रियायाः)।[1] इस प्रकार, मेरी दृष्टि में गीता मधुरा रति का केवल संकेत ही नहीं करती, प्रत्युत उसे भावों में सर्वाधिक महत्त्वशाली भी मानती है। इस भाव के वैदिक स्वरूप का स्पष्ट निर्देश ऋग्वेद के प्रख्यात अपालासूक्त में भी उपलब्ध होता है, जिसका उपबृंहण प्रस्तुत ग्रन्थ के आरंभिक परिच्छेद में ही किया गया है।

श्रीकृष्ण की मधुर लीला साहित्य के माध्यम से कब अभिव्यक्त होने लगी? इसका उत्तर इदमित्थं रूप से देना जरा कठिन है; परन्तु कृष्ण की जीवन-लीला की अभिव्यक्ति साहित्य के क्षेत्र में पर्याप्तरूपेण प्राचीन है। संस्कृत का प्रथम ज्ञात महाकाव्य (**जाम्बवतीविजय**) कृष्णचरित से सम्बद्ध है, संस्कृत का प्रथम अभिनीत नाटक (**कंसवध**) कृष्ण के शौर्य का उत्कर्ष दिखलाता है और संस्कृत का सर्वाधिक मधुर गीतिकाव्य (**गीत-गोविन्द**) राधामाधव की केलि का प्रतिपादक काव्य है। फलतः, संस्कृत के तीनों काव्यरूपों के माध्यम से कृष्ण-काव्य प्राचीन काल से अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है। जाम्बवती-विजय (या पातालविजय) पाणिनि के द्वारा प्रणीत संस्कृत का प्रथम महाकाव्य है,

१. यह निर्देश शंकराचार्य के भाष्य के अनुसार है। ज्ञानमार्गी होने पर भी आचार्य की दृष्टि में यहाँ मधुरा रति का संकेत मिलता है, परन्तु भक्ति-मार्गी रामानुज की दृष्टि 'प्रियः प्रियाया' व्याख्या से सन्तुष्ट होकर इसके भीतर उपलब्ध गम्भीर संकेत की ओर अग्रसर नहीं होती; यह कम आश्चर्य की बात नहीं है!!!

जो परिमाण में काफी बड़ा है और जो कृष्ण की अष्ट महिषियों में अन्यतम जाम्बवती के परिणय की मनोरम कथा प्रस्तुत करता है। कंसवध के अभिनय के प्रकार का वर्णन पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में किया है कि किस प्रकार कृष्ण के पक्षवाले पात्रों का चेहरा लाल रँग से रँगा जाता था और कंस के पक्षवाले पात्रों का चेहरा काले रँग से। **गीतगोविन्द** का गौरवमय साहित्यिक रूप तो सर्वथा प्रसिद्ध है।

ध्यान देने की बात है कि कालिदास भी कृष्ण की मधुर लीला से अवश्यमेव परिचित प्रतीत होते हैं। 'वर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेशस्य विष्णोः' (मेघदूत) में व्रजनन्दन के मयूर-पिच्छ से सुसज्जित रूप की सुस्पष्ट झाँकी ही नहीं है, प्रत्युत उनके विष्णु के अवतार होने का भी अभ्रान्त उल्लेख है। कालिदास 'राधा' से परिचित नहीं प्रतीत होते, परन्तु श्रीकृष्ण की गोपी-लीला से उनका परिचय निःसन्दिग्ध है। फलतः, गोपी-लीला में आधुनिकता देखना नितान्त अनुचित है। इन्दुमती के स्वयंवर के उपलक्ष्य में कालिदास ने जिस प्रकार वृन्दावन और गोवर्धन पर्वत का उल्लेख किया है, उससे सिद्ध होता है कि गोपियों के साथ कृष्ण की प्रेमलीला की कहानी उनके युग में अवश्यमेव प्रचलित थी।

सुनन्दा शूरसेन देश के राजा सुषेण के पास इन्दुमती को ले जाकर उनके गुणों का वर्णन करती है—हे सुन्दरी, इस युवक को पति-रूप में वरण करो और उस वृन्दावन में, जो कुबेर के चैत्ररथ उद्यान से किसी प्रकार भी कम नहीं है, कोमल पत्तों से आच्छादित पुष्पशय्या पर अपने यौवन की शोभा को सफल बनाओ।[1] इतना ही नहीं; वर्षा में गोवर्धन की रमणीय गुफाओं में जलकणों से सिक्त सुगन्ध-युक्त शिलाओं पर बैठकर मयूरों का नाच देखो।[2] यह वर्णन स्पष्ट ही कवि की मनोरम कल्पना का प्रसाद है। कालिदास अपने प्रातिभ चक्षुओं से व्रजनन्दन के गोपी-विहार को यहाँ साक्षात्कार करते हैं और इस मधुर विहार का स्पष्ट संकेत इन पद्यों में उपलब्ध होता है।

लोक-साहित्य में प्रथमतः आविर्भूत होकर राधा का आविर्भाव जब शिष्ट (संस्कृत) साहित्य में होता है, तब उनकी लीला को प्रकट करने के लिए दोनों प्रकार की रचनाएँ होने लगती हैं—श्रव्य तथा दृश्य। श्रव्य काव्यों के अन्तर्गत सर्वाधिक प्राचीन तथा प्रमुख है जयदेव का गीतगोविन्द (१२वीं शती), जिसके प्रभाव का विवरण ऊपर के परिच्छेदों में विस्तार से किया गया है। इसी युग में राधा दृश्य-काव्य का विषय बनने में गौरव धारण करती है। भेज्जल कवि का 'राधा-विप्रलम्भ' तथा किसी अज्ञात कवि का

---

१. सम्भाव्य भर्त्तारममुं युवानं मृदु-प्रवलोत्तर-पुष्पशय्ये।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः॥
—रघुवंश, षष्ठ सर्ग।

२. अध्यास्य चाम्भः पृषतोक्षितानि
शैलेयगन्धीनि शिलातलानि।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं
कान्तासु गोवर्धन-कन्दरासु॥
—तत्रैव।

'रामा-राधा' ऐसे ही दृश्य काव्य हैं, जो विभिन्न नाट्यग्रन्थों में निर्दिष्ट होने से नामशेष रह गये हैं, परन्तु जिनके वर्ण्य विषय की कल्पना इन नामों के आधार पर की जा सकती है। इनमें से 'राधाविप्रलम्भ' का उल्लेख रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र की सम्मिलित रचना 'नाट्य-दर्पण' में मिलता है[1] तथा 'रामाराधा' का निर्देश शारदातनय के 'भावप्रकाशन'[2] में एक श्लोक के साथ उपलब्ध होता है।

१२वीं शती में सेनवंशीय राजाओं के समय में विशेषतः लक्ष्मणसेन के राजत्व-काल में राधा-काव्य की विशेष रचना हुई; इसकी ओर हमने पिछले परिच्छेद में आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया है। जयदेव के समकालीन उमापतिधर ने सेनवंशीय विजय-सेन की प्रख्यात (देवपाड़ा) प्रशस्ति की ही रचना नहीं की, प्रत्युत भगवान् श्रीव्रजनन्दन की लीला का भी अपनी कविता में मधुर संकीर्तन किया था। चैतन्यदेव ने राधा को श्रीकृष्ण की अपेक्षा विशेष महत्त्व दिया। इसका पूर्वाभास उमापतिधर के इस प्रसिद्ध पद्य में मिलता है—

रत्नच्छायास्फुरितजलधौ मन्दिरे द्वारकाया
रुक्मिण्यापि प्रबलपुलकोद्भेदमालिङ्गितस्य।
विश्वं पायान् मसृणयमुनातीरवानीरकुञ्जे
राधाकेलीभरपरिमलध्यानमूर्च्छा मुरारेः॥

—पद्यावली तथा सदुक्तिकर्णामृत में उद्धृत

प्रायः तीन सौ वर्ष पूर्व किसी कवि ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया—

रत्नाकर भासे सागे द्वारावती पुरी
नाना रत्नमय अति शोभा मनोहारी
तथि अति उच्च दीप्त मंदिर सुठान
नाना जे विचित्र मानिक्य निरमान
से रत्नेर कान्त्ये किंवा प्रतिबिम्बे करि
नाना चित्रमय हए समुद्र माधुरी
से मंदिर माझे चित्र शय्या विरचित
अबि विलसये कृष्ण रुक्मिणी सहित
आलिंगने प्रबल पुलक अंगे हय
तथापि कृष्णेर चित्ते नहे सुखोदय
शीतल यमुना तीर वानीर कुंजे ते
राधाकेलि भर परिमल स्मरणे ते
कान्ता आलिंगित सेर शय्यार उपरि
स्पन्दन विहीन मूर्च्छापन से मुरारि

---

१. द्रष्टव्य: हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० १९७, दिल्ली, १९६०।

२. द्रष्टव्य: भावप्रकाशन, पृ० २७८, बड़ोदा सं० सी० में प्रकाशित—किमेषा कौमुदी किंवा लावण्यसरसी सखे। इत्यादि रामाराधायां संशयः कृष्णभाषिते॥

'उमापतिधर' नामा कविर वचने
सेइ मूर्च्छा करु विश्व जीवन रक्षने ।।

इन्हीं संस्कृत कृष्ण-काव्यों की छाया लेकर तथा प्रेरणा प्राप्त कर भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों के कवियों ने अपने भाषा-काव्यों में जो रसनिःस्यन्दिनी प्रवाहित की है, वह माधुर्य की दृष्टि, सुषमा की दृष्टि, शाब्दिक कोमलता तथा आर्थिक सौन्दर्य की दृष्टि से नितान्त स्पृहणीय वस्तु है। इन काव्यों के भीतर से राधारानी का जो अनुपम सौन्दर्य स्फुटित होता है, वह अतुलनीय है; जो रस-निर्भर हृदय छलकता है, वह कमनीय है; जो प्रेम-माधुरी अभिव्यक्त होती है, वह इस लोक की वस्तु न होकर किसी दूर देश से प्रवहमाण संगीत-ध्वनि के समान हृदयग्राही है। तथ्य यह है कि व्रजेश्वरी राधारानी अपने क्षेत्र में अनुपम हैं; ऐसी दिव्यनारी साहित्य के माध्यम से न प्रकट हुई और न होनेवाली है। दिव्य दम्पती की तुलना करना भी नितान्त अनुचित है, अक्षम्य अपराध है।

आधुनिक लोकगीतों में भी राधा का विमल प्रेम साकार रूप में दृष्टिगोचर होता है। राधा तथा कृष्ण का यथार्थ स्वरूप शास्त्रीय विवेचन का विषय न होकर सामान्य जनता के लिए उदात्त प्रेम तथा विशुद्ध प्रीति का प्रतिनिधि बन गया है। बंगाल के एक कवि ने दोनों के रूप का अत्यन्त चमत्कारी वर्णन अपनी इस प्रख्यात कविता में किया है। कृष्ण तथा राधा के बीच उत्कर्ष का प्रसंग चल रहा है कि दोनों में श्रेष्ठता किसकी? इसी विषय को लेकर कृष्ण-भक्त शुक तथा राधा-भक्त सारिका में द्वन्द्व चल रहा है, जिसमें शुक कृष्ण के माहात्म्य का वर्णन करता है, तो सारिका राधा की महिमा का प्रतिपादन करती है—

शुक बले आमार कृष्ण मदन मोहन
सारी बले आमार राधा बामे यतक्षण
नेले शुधूई मदन
शुक बले आमार कृष्ण गिरि धरे छिलो
सारी बले आमार राधा शक्ति संचारिलो
ने ले पारबो केनो
शुक बले आमार कृष्णेर माथा मयूर पाखा
सारी बले आमार राधार नामटि ताते लेखा
ए ये याय गो देखा
शुक बले आमार कृष्णेर चूडा बामे हेले
सारी बले आमार राधार चरण पाबे बले
चूड़ा ताइते हेले
शुक बले आमार कृष्ण यशोदार जीवन
सारी बले आमार राधा जीवनेर जीवन
नेले शून्य जीवन
शुक बले आमार कृष्ण जगत् चिन्तामणि

सारी बले आमार राधा प्रेमप्रदायिनी
से तोमार कृष्ण जानी
शुक बले आमार कृष्णेर बाँशी करे गान
सारी बले सत्य बटे, बले राधार नाम
नेले मिछाई गान
शुक बले आमार कृष्ण जगतेर गुरु
सारी बले आमार राधा वाञ्छा कल्पतरु
नेले के कार गुरु
शुक बले आमार कृष्ण प्रेमेर भिखारी
सारी बले आमार राधा लहरी लहरी
प्रेमेर ढेउ किशोरी
शुक बले आमार कृष्णेर कदम तलाय थाना
सारी बले आमार राधा करे आनागोना
नेले येत ना जाना
शुक बले आमार कृष्ण जगतेरि कालो
सारी बले आमार राधा रूपे जगत आलो
नेले आँधार कालो
शुक बले आमार कृष्णेर श्रीराधिका दासी
सारी बले सत्य बटे, साक्षी आछे बाँशी
नेले हतो काशीवासी
शुक बले आमार कृष्ण करे बरिषण
सारी बले आमार राधा स्थगित पवन
से ये स्थिर पवन
शुक बले आमार कृष्ण जगतेर प्राण
सारी बले आमार राधा जीवन करे दान
थाके कि आपन प्राण

इस लोकप्रिय कृष्ण-गीतिका में बड़े ही चमत्कारी ढंग से राधा की महिमा का उत्कर्ष कृष्ण की अपेक्षा दिखलाया गया है। कृष्ण भी एक मान्य तथा विशिष्ट व्यक्ति हैं, परन्तु उनके समग्र गुणों की जीवनी-शक्ति राधा ही है। कृष्ण के आते ही जगत् में अन्धकार फैल जाता है, परन्तु राधा उस जगत् में प्रकाश फैलाती है। फलतः, राधा बड़ी है कृष्ण से।

× × × ×

राधा का जीवन प्रेमदर्शन पर विस्तृत भाष्य है। ज्ञानी तथा प्रेमी का यही तो पार्थक्य है। ज्ञानी में 'स्व' की प्रधानता रहती है और प्रेमी में 'पर' की प्रमुखता। आत्मा का ज्ञान ही ब्रह्म का ज्ञान है। ब्रह्म की अनुभूति के लिए 'स्व' की अनुभूति आवश्यक है। किसी दर्पण के प्रतिबिम्ब को अलंकृत करने के लिए बिम्ब को अलंकृत

करने की आवश्यकता होती है। दर्पण में यदि आपका मुख प्रतिबिम्बित हो रहा है और यदि आप उसे अलंकृत करना चाहते हैं, तो उस प्रतिबिम्ब को सुसज्जित करने से कुछ नहीं होता। अपने मुख को पुष्पमाला तथा मुकुट से शोभित कीजिए, वह प्रतिबिम्ब स्वतः शोभित तथा अलंकृत हो जायगा। ब्रह्मज्ञान की यही प्रक्रिया है—'आत्मनोऽनुभवेन ब्रह्मणोऽनुभवः।' परन्तु प्रेम का पन्थ ही निराला है। प्रेमी के ऊपर अपने पूर्ण प्रेम को निछावर कर देने पर वह प्रेम अपने ऊपर भी उद्भासित हो उठता है। राधा आह्लादिनी शक्ति है। वह अपना प्रेम कृष्ण को समर्पित करती है। वही प्रेम राधा को भी उद्भासित करता है। भगवान् को यदि भक्त अपना प्रेम तथा अनुराग समर्पित कर देता है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उस प्रेम का ह्रास हो गया। फलतः, वह प्रेम लौटकर भक्त के पास आता है। भगवान् भी भक्त से प्रेम करते हैं। राधा उस प्रेम को दोनों को जो बाँटती है, वह दोनों का माध्यम है। आह्लादिनी शक्तिरूपा राधा का यही कार्य है। वह आनन्दरूपिणी होकर व्रजकिशोर को भी आनन्दित करती है। अपने शरीर से प्रेम के इच्छुक जनों का मुख्य कर्त्तव्य है कि वे भगवान् के चरणों में अपना समग्र प्रेम उड़ेल डालें। भगवान् वह प्रेम उनके ऊपर परावर्त्तित कर देते हैं। 'स्व' को प्रेमपात्र बनाने की अभिलाषा हो, तो 'पर' को प्रेम का पात्र बनाइए। विश्वास रखिए, वह श्यामसुन्दर आपके प्रेम को शतगुणित करके आपके ऊपर डाल देगा। प्रेम-मार्ग की यही तो रीति है, यही तो विचित्र पन्था है। इस तथ्य की ओर परम भक्त प्रह्लादजी ने भागवत के एक बड़े ही मञ्जुल तथा यथार्थता-सम्पन्न श्लोक में स्पष्टतः संकेत किया है—

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः॥

—भागवत, ७।९।११

आशय है कि वह सर्वशक्तिमान् प्रभु अपने स्वरूप के साक्षात्कार से ही परिपूर्ण हैं। उन्हें अपने लिए क्षुद्र अज्ञानी पुरुषों से पूजा ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे करुणावश होकर ही भोले भक्तों के हित के लिए उनके द्वारा की गई पूजा स्वीकार कर लेते हैं। जैसे अपने मुख का सौन्दर्य दर्पण में दीखनेवाले प्रतिबिम्ब को भी सुन्दर बना देता है, वैसे ही भक्त भगवान् के प्रति जो-जो सम्मान प्रकट करता है, वह उसे ही प्राप्त होता है। भक्ति-शास्त्र का यही रहस्य इन कतिपय शब्दों में संपिण्डित है—

यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं॥
तच्चात्मने..

प्रेम की भी यही दशा है। भगवान् के प्रति किया गया प्रेम भक्त को ही प्राप्त हो जाता है। राधा का जीवन-सर्वस्व ही व्रजनन्दन हैं—समस्त दिव्य प्रेम के आधार तथा उज्ज्वल रस के आलम्बन; परन्तु उसी रस से राधा भी अनुप्राणित होती है। वह अपने हृदय के समस्त भाव व्रजनन्दन में ही केन्द्रित कर देती है। इतने से ही उसका जीवन

धन्य हो जाता है। वह प्रेम शतगुणित होकर राधा को ही प्राप्त होता है। राधा के प्रेमोल्लास का यही रहस्य है।

मुरली-निनाद

भगवान् श्रीकृष्ण आह्लादिनी राधा के इस दिव्य आनन्द को जनसाधारण में प्रेम-वश वितरण किया करते हैं और प्रेम-वितरण का यह माध्यम ही है वंशी-निनाद। इसीलिए, वंशी निनाद में संसार को मोहने की, आत्मपरवश बनाने की अद्भुत क्षमता है। वंशी-ध्वनि की महिमा का वर्णन करता हुआ कोई भक्त पते की बातें कर रहा है—

ध्यानं बलात् परमहंसकुलस्य भिन्दन्
निन्दन् सुधामधुरिमाणमधीरधर्मा।
कन्दर्पशासनधुरां मुहुरेव तन्वन्
वंशीध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य॥

यह वंशी आखिर गाती क्या है? भागवत का कथन है—'जगौ कलं वामदशां मनोहरम्।' इस वेणुगीत से 'क्लीं' पद की सिद्धि होती है। 'कल'=क+ल=क्ल। इसमें वामदृक् यानी चतुर्थ स्वर ईकार-संयुक्त कर देने पर 'क्ली' पद बनता है। यह 'मनोहर' है, अर्थात् मन के अधिष्ठाता चन्द्र को अथवा चन्द्रबिन्दु को हरण करता है। इन चारों अक्षरों के संयोग से बनता है 'क्लीं' पद, जो तन्त्रशास्त्र के अनुसार काम का बीज है। मुरली-ध्वनि यही कामबीज है। यह काम भगवत्काम है और इसलिए साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। इस बीज का माहात्म्य है सांसारिक प्रपंच से साधकों के चित्त को आकृष्ट कर, मोह-ममता का निरास कर भगवान् के दिव्य प्रेम की ओर उन्मुख करना। भगवान् की यह वंशीध्वनि तो नित्य होने से सदा ही बजती रहती है, परन्तु-कितने सौभाग्यशाली इसे सुनते, समझते तथा उधर आकृष्ट होते हैं? भगवान् का सृष्टि-संकल्प ही कामबीज है। यही नादस्वरूप है। पंचभूतों की उत्पत्ति इसी से होती है—

ककारो नायकः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
ईकारः प्रकृती राधा महाभावस्वरूपिणी॥
लश्चानन्दात्मकः प्रेम सुखं च परिकीर्त्तितम्।
चुम्बनाश्लेषमाधुर्यं बिन्दुनादं समीरितम्॥

"ककार सच्चिदानन्दविग्रह नायक श्रीकृष्ण हैं। ईकार महाभावस्वरूपा प्रकृति श्रीराधा हैं। लकार इन नायक-नायिका के मिलनात्मक प्रेम-सुख का आनन्दात्मक निर्देश है और नादबिन्दु इस माधुर्य-रस को परिस्फुटित करनेवाला होता है।"

कृष्ण-राधा का यह परस्पर मिलन दिव्य है, नित्य है। यह आत्मरमण है (आत्मारामोऽप्यरीरमत्) यह अपने ही स्वरूप में सच्चिदानन्द भगवान् की लीला है। इस लीला का विकास क्लीं रूप मुरली निनाद से होता है। यह मुरली-नाद स्वयं सच्चिदानन्द-विग्रह है—ब्रह्मरूप है और नादब्रह्म है।[1]

---

१. द्रष्टव्य : हनुमानप्रसाद पोद्दार-रचित 'श्रीराधामाधवचिन्तन', पृ० ६३१-३२ (प्रकाशक गीता प्रेस, गोरखपुर, १९६१)।

राधा-कृष्ण में किसी प्रकार का वैभिन्न्य नहीं है। वे वस्तुतः एक ही हैं, परन्तु लीला के आस्वाद के निमित्त दो रूपों में अवतीर्ण हुए हैं। दोनों सच्चिदानन्दविग्रह हैं—एकरस, पूर्ण तथा परात्पर। एक यदि रासेश्वर है, तो दूसरी रासेश्वरी हैं। उसमें न कोई स्त्री है, न पुरुष। केवल लीलाविलास है। दोनों ही कामगन्धशून्य सच्चिदानन्द भगवद्विग्रह हैं। शुक्र-शोणित-जन्य, कर्मजनित और पंचभूत-निर्मित देह इनके नहीं हैं। सभी कुछ चिद्घन है। राधा और कृष्ण की यह नित्य आनन्दमयी लीला नित्य वृन्दावन में सदा सर्वदा निरन्तर चलती रहती है। इसमें न कभी विराम है और न विश्राम। श्रीवृन्दावन का यह चिन्मय रस है; जहाँ प्रकाश ही प्रकाश है और जहाँ निरन्तर उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती रहती है—रूप में, रस में, सौंदर्य में, लीला में, प्रेम में तथा आनन्द में सर्वत्र, सर्वदा तथा सर्वथा। इस निकुंज-लीला में मंजरी के रूप में प्रवेश पाने का भी अधिकार उच्चभावापन्न साधक को ही है। वही लक्ष्य है, जिधर भक्तिशास्त्र का समुज्ज्वल संकेत हैं तथा जो उपनिषद्-ज्ञान का चरम अवसान है। इस चिद्घन आनन्द-रसामृत मूर्त्ति की लीला के चिन्तन से, श्रवण से, मनन से तथा निदिध्यासन से भगवद्धाम की प्राप्ति का बहुत निर्देश भारतीय साधना-जगत् की निजी सम्पत्ति है। इस दुर्गम दुर्बोध तत्त्व को रसमयी प्रक्रिया से सुगम सुबोध बनाना ही भारतीय साहित्य का चरम तात्पर्य है। इस मधुर तत्त्व के साक्षात्कार में ही मानव-जीवन का चरम अवसान है—

माधुरी अधर बिम्ब दामिनी दसन दुति
गौर श्याम अंग की तरंग मन लहु रे।
वंशीवट तीर वीर सीतल समीर मन्द
राधिका गोविन्द संग वृन्दावन रहु रे॥
रेशम की डोरी द्रुम डारि हिंडोर दोऊ
झोंक के बँटायबे को छोर तुहू गहु रे।
'ललित किशोरी' सुन राधिका गुपाल धुनि
जो पै सुख लूटो चहै राधाकृष्ण कहु रे॥

परिशिष्ट खण्ड

(१) अपाला की कथा
(२) जगज्जननी श्रीराधा

(१) अपाला की कथा

'अपाला' की कथा का उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रन्थों में किया गया है। यहाँ बृहद्देवता (६/९९–१०६) तथा सायण-भाष्य से यह कथा उद्धृत की जा रही है—

अपालाऽत्रिसुता त्वासीत् कन्या त्वग्दोषिणी पुरा ।
तामिन्द्रश्चकमे दृष्ट्वा विजने पितुराश्रये ॥९९॥
तपसा बुबुधे सा तु सर्वमिन्द्रचिकीर्षितम् ।
उदकुम्भं समादाय अपामर्थे जगाम सा ॥१००॥
दृष्ट्वा सोममपामन्ते तुष्टावर्चा वने तु तम् ।
'कन्या वा'[1] इति चैतस्यामेषोऽर्थः कथितस्ततः ॥१०१॥
सा सुषाव मुखे सोमं सुत्वेन्द्रं चाजुहाव तम् ।
असौ य एषीत्यनया[2] अपालाऽदाच्य तन्मुखात् ॥१०२॥
अपूपांश्चैव सक्तूंश्च भक्षयित्वा शतक्रतुः ।
ऋग्भिस्तुष्टाव सा चैनं जगादैनं तृचेन तु ॥१०३॥
सुलोमामनवद्याङ्गीं कुरु मां शक्र सुत्वचम् ।
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा प्रीतस्तेन पुरन्दरः ॥१०४॥

---

१. 'कन्या वा' इत्यृक्, ८।९१।१ ।
२. असौ य एषीति ऋक्, ८।९१।२ ।

रथच्छिद्रेण[1] तामिन्द्रः शकटस्य युगस्य च ।
प्रक्षिप्य निश्चकर्ष त्रिः सुत्वक् सा तु ततोऽभवत् ॥१०५॥
तस्यास्त्वचि व्यपेतायां सर्वस्यां शल्यकोऽभवत् ।
उत्तरा त्वमवद् गोधा कृकलासस्त्वगुत्तमा ॥१०६॥

सायण ने इस सूक्त के भाष्य के आरम्भ में यह कथा दी है। वह अक्षरशः यहाँ उद्धृत की जाती है—

पुरा किलात्रिसुता अपाला ब्रह्मवादिनी केनचित् कारणेन त्वग्दोषदुष्टा सती, अतएव दुर्भगेति भर्त्रा परित्यक्ता, पितुराश्रमे त्वग्दोषपरिहाराय चिरकालम् इन्द्रमधिकृत्य तपस्तेपे। सा कदाचिद् 'इन्द्रस्य सोमः प्रियकरो भवति। तमिन्द्राय दास्यामि' इति बुद्ध्या नदीतीरं प्रत्यागमत्। सा तत्र स्नात्वा पथि सोममलभत। तमादाय गृहं प्रत्यागच्छन्ती मार्ग एव तं चखाद। तद्भक्षणकाले दन्तघर्षणजातशब्दं ग्राव्णां सोमाभिषवध्वनिरिति तदानीमेवेन्द्रः समागमत्। आगत्य ताम् उवाच—किमत्र ग्रावाणो ऽभिषुण्वन्तीति। सा प्रत्यूचे अत्रिकन्या स्नानार्थमागत्य सोमं दृष्ट्वा तं भक्षयति। तद्भक्षणजो ध्वनिरेव, न तु ग्राव्णां सोमाभिषवध्वनिरिति। तथा प्रत्युक्त इन्द्रः पराङावर्त्तत। यान्तमिन्द्रं सा पुनरब्रवीत्—'किमर्थं निवर्त्तसे, त्वं तु सोमपानाय गृहं गृहं प्रत्यागच्छसि। इदानीमत्रापि मम दंष्ट्राभ्यामभिषुतं सोमं पिब धानादींश्च भक्षय इति। सा एवमनाद्रियमाणा सतीन्द्रं पुनरप्याह। अत्रागतं त्वामिन्द्रं न जानामि, त्वयि गृहमागते बहुमानं करिष्यामीत्युक्त्वाऽत्र समागतः इन्द्र एव नान्य इति निश्चित्य स्वास्ये निहितं सोममाह— 'हे इन्दो! त्वमागताय इन्द्राय पूर्वं शनैः ततः शनकैः क्षिप्रं परिस्रुव' इति। तत इन्द्रस्तां कामयित्वा तस्या आस्ये एव दंष्ट्राभिषुतं सोममपात्। तत इन्द्रेण सोमे पीते सति त्वग्दोषादहं भर्त्रा परित्यक्ता। इदानीमिन्द्रेण साङ्गता' इत्यपालायाम् उक्तायाम् इन्द्रस्तां व्याजहार। किं कामयसे? तदहं करिष्यामीत्युक्ते सति सा वरमचीकमत। 'मम पितुः शिरो रोमवर्जितं, तस्योषरं क्षेत्रं फलादिरहितं, मम गुह्यस्थानमप्यरोमशम्। एतानि रोमफलादियुक्तानि कुरु' इत्यपालायाम् उक्तायां तत् पितृशिरःस्थितां खलतिमपहाय क्षेत्रं च फलादियुक्तं कृत्वा तस्याः त्वग्दोषपरिहाराय स्वकीये रथच्छिद्रे शकटस्य युगस्य च छिद्रे एतां तां त्रिवारं निश्चकर्ष। तस्याः पूर्वाभिहितायास्त्वक् शल्यको द्वितीया गोधा तृतीया कृकलासोऽभूत्। तत इन्द्रस्तमपालां सूर्यसदृशत्वचमकरोदिति। इत्यैतिहासिकी कथा। एतच्च शाट्यायनब्राह्मणे स्पष्टमुक्तम्॥

द्या द्विवेदी ने अपनी 'नीतिमञ्जरी' इस कथा से यह शिक्षा निकाली है कि यज्ञ के द्वारा संसार सार्थक किया जा सकता है—

सोमं सुत्वात्र संसारं सारं कुर्वीत तत्त्ववित् ।
यथासीत् सुत्वचाऽपाला दत्त्वेन्द्राय मुखच्युतम् ॥

—नीतिमञ्जरी, पद्य १३० (काशी-संस्करण, पृ० २७८, १९३३)

इसी कथा का एक रोचक वृत्तान्त यहाँ उद्धृत किया जा रहा है, जिसे इन पंक्तियों के लेखक ने अपने ग्रन्थ 'वैदिक कहानियाँ' में संगृहीत किया है।

मेरा नाम अपाला है। मैं महर्षि अत्रि की पुत्री हूँ। मेरे माता-पिता की बड़ी

१. खे रथस्य खेऽनसः इत्यृक्, ८।९१।७ ।

अभिलाषा थी कि उनके सूने घर को सन्तान का जन्म सनाथ करे। घर-भर में विषाद की एक गहरी रेखा छाई रहती थी। मेरे जन्म होते ही उस आश्रम में प्रसन्नता की सरिता बहने लगी, हर्ष का दीपक जल उठा, जिससे कोना-कोना प्रकाश से उद्भासित हो गया। मेरा शैशव ऋषि-बालकों के संग में बीता। मेरे बाल्यावस्था में प्रवेश करते ही पितृदेव के चित्त को चिन्ता ने घर किया, जब उन्होंने मेरे सुन्दर शरीर पर श्वित्र (श्वेत कुष्ठ) के छोटे-छोटे छींटे देखे। हाय! रमणीय रूप को इन श्वित्र के उजले चिह्नों ने सदा के लिए कलंकित कर डाला। पिताजी ने अपनी शक्ति-भर इन्हें दूर करने का अश्रान्त परिश्रम किया तथा निपुण वैद्यों के अचूक अनुलेपनों का प्रयोग किया, परन्तु फल एकदम उल्टा हुआ। ओषधि के प्रयोगों के साथ-साथ विपरीत अनुपात से हमारी व्याधि बढ़ने लगी, छोटे-छोटे छींटे बड़े धब्बों के समान दीख पड़ने लगे। अन्ततोगत्वा मेरे पिता ने औषध का प्रयोग बिलकुल छोड़ दिया।

मेरे बाह्य शरीर को निर्दोष बनाने में अक्षम बन पितृदेव ने मेरी शिक्षा-दीक्षा की ओर दृष्टि फेरी। लगे वे प्रेम से पढ़ाने। आश्रम का पवित्र वायुमण्डल, ऋषि-बालकों का निश्छल सहवास, पिता की अलौकिक अध्यापन-निपुणता—सबने मिलकर मेरे अध्ययन में पर्याप्त सहायता दी। विद्या-ग्रहण मेरे जीवन का एकमात्र व्रत बन गया। धीरे-धीरे मैंने समग्र वेद-वेदांगों का प्रगाढ़ अध्ययन किया। मेरे मुख से देववाणी की धारा उसी प्रकार विशुद्ध रूप से निकलती, जिस प्रकार सप्तसिन्धु-मण्डल की पवित्रतम नदी सरस्वती का विमल प्रवाह। मुझ सुकुमारी बालिका के कोकिल-विनिन्दित कण्ठ से जब वैदिक मन्त्रों की ध्वनि निकलती, तब उस रम्य तपोवन में कोकिल की कूक कर्कश लगती, मयूरी की ललित केका भेकी के स्वर के समान वैमनस्य उत्पन्न करती। मेरी शास्त्रचिन्ता को श्रवण कर मुनिजन मेरी गाढ़ वैदुषी का परिचय पाकर आश्चर्य से विस्मित हो उठते।

धीरे-धीरे उस आश्रम में वसन्त के मंगलमय प्रभात का उदय हुआ। हरी-भरी लतिकाएँ पुष्पभार से लदी आनन्द में झूमने लगीं और सहकार का आश्रय लेकर अपने को सनाथ, अपने जीवन को कृतकृत्य बनाने लगीं। ठीक उसी समय मेरे जीवन में भी यौवन का उदय हुआ। बाल्यकाल की चपलता मिट चली और उसके स्थान पर गम्भीरता ने अपना आसन जमाया। पिता ने मेरे इस शारीरिक परिवर्त्तन को देखा और वे मेरे लिए एक उपयुक्त गुणी पात्र की खोज में लग गये। अनुरूप वर के मिलने में देर न लगी। उचित अवसर पर मेरे विवाह की तैयारियाँ होने लगीं।

आश्रम का एक सहकार-कुंज वैवाहिक विधि के अनुष्ठान के लिए चुन लिया गया। वेदी बनाई गई। ऋत्विजों ने विधिवत् जव-तिल का हवन किया। हविर्गन्ध से आश्रम का वायुमण्डल एक विचित्र पवित्रता का अनुभव करने लगा। उसी कुंज में मैंने पहले-पहल अपने पतिदेव को देखा—गठीला बदन, उन्नत ललाट, माथे पर त्रिपुंड्र की भव्य रेखाएँ, विनय की साक्षात् मूर्त्ति, विद्या के अभिराम आगार। मेरी तथा उनकी आँखें चार होते ही मैंने लज्जा-मिश्रित आदर का बोध किया। लज्जा के मारे मेरी आँखें आप-से-आप नीचे हो गईं, परन्तु स्त्रीत्व की मर्यादा बनाये रखने के लिए मेरा ललाट अब भी ऊँचा बना रहा। उनकी लजीली आँखों में थी यौवन-सुलभ कौतुक-भाव से मिश्रित

गाम्भीर्य-मुद्रा। उपस्थित ऋषि-मण्डली के सामने पूज्यपाद पितृदेव ने अग्नि को साक्षी देकर मेरा तथा उनका पाणिग्रहण करा दिया। मुझे बिलकुल याद है कि अग्नि की प्रदक्षिणा करते समय उतावली के कारण उनका उत्तरीय वस्त्र किञ्चित् स्खलित हुआ था तथा मेरे 'ओपश' (केशपाश) में गुँथी हुई जुही की माला शिथिल-बन्धन होकर धरातल शायिनी हुई थी।

मेरे लिए पतिगृह में भी किसी प्रकार का नियन्त्रण न था। पितृगृह के समान मुझे यहाँ भी स्वातन्त्र्य की शान्ति विराजती मिली। वृद्ध सास तथा ससुर की सेवा में मेरे जीवन की धारा कृतार्थता के किनारे का आश्रय लेकर चारु रूप से वहने लगी। परन्तु, गुलाव के फूल में काँटों के समान इस सुखद स्वच्छन्द जीवन के भीतर एक वस्तु मेरे हृदय में कसकने लगी। वह थी मेरे शरीर पर श्वित्र के छींटों की ज्वलन्त सत्ता! प्रिय कृशाश्व मुझे नितान्त कोमल भाव से प्रेम करते थे, परन्तु धीरे-धीरे इन श्वित्र के सफेद चिह्नों ने उनके हृदय में मेरे प्रति काला धव्वा पैदा करने का काम किया। अव वे नितान्त उदासीनता की मूर्त्ति वने वैराग्य में मग्न दीख पड़ते। आश्रम की सजीवता नष्ट हो चली, निर्जीवता का काला परदा सर्वत्र पड़ा रहता, वाहर आश्रम के वृक्षों पर और भीतर कृशाश्व के हृदय पर। मैंने वहुत दिनों तक इस उपेक्षा भाव को विष घूंट की भाँति पी लिया, परन्तु सहनशीलता की भी एक सीमा होती है। जव यह तिरस्कार उस सूक्ष्म रेखा को पार कर गया, जो मित्रता तथा उदासीनता के भावों को अलग किया करती है, तव मुझसे न रहा गया। मेरे भीतर जीवन्त स्त्रीत्व की मर्यादा इस व्यापार के कारण क्षुब्ध हो उठी। अपाला के अन्तस्तल में छिपा भारतीय ललना का नारीत्व अपना गौरव तथा महत्त्व प्रकट करने के लिए पैर से कुचली गई फूत्कार करनेवाली नागिन के समान अपने दुर्धर्ष रूप को दिखलाने के लिए व्यग्र हो उठा। इस उग्र रूप को देख एक वार कृशाश्व त्रास से काँप उठे।

० ० ०

'भगवन्, आपके इस उपेक्षाभाव को मैं कवतक अपनी छाती पर ढोती फिरूँगी'—मैंने एक दिन आवेश में आकर पूछा?

'मेरा उपेक्षाभाव?'—चौंककर कृशाश्व ने कहा।

'हाँ, प्रेम की मस्ती में मैंने अभी तक इस गूढ उदासीनता के भाव को नहीं समझा था; प्रेम के नेत्रों ने सव वस्तुओं के ऊपर एक मोहक सरसता ही देखी थी, परन्तु शनैः-शनैः स्नेह की परिणति होने पर तथा वाह्य आडम्वर के स्वतः न्यून होने पर मुझे आपके चरित्र में उपेक्षा की काली रेखा स्पष्ट दीख रही है। क्या इस परिवर्त्तन का रहस्य मेरे त्वग्दोष में अन्तर्हित है?'—मैंने पूछा।

स्वीकृति की सूचना देते हुए कृशाश्व ने दुःख-भरे शब्दों में कहना आरम्भ किया—'मेरे अन्तस्तल में प्रेम तथा वासना का घोर द्वन्द्व छिड़ा हुआ है। प्रेम कहता है कि अपने जीवन को प्रेमवेदी पर समर्पण करनेवाली ब्रह्मवादिनी अपाला दिव्य नारी है, परन्तु रूप की वासना कहती है कि त्वग्दोष से इसका शरीर इतना लांछित हो गया है कि नेत्रों में रूप से वैराग्य उत्पन्न करने का यह प्रधान साधन वन गया है। उसमें न तो है रूप की

माधुरी, न लावण्य की चकाचौंध । दूसरा शरीर है कुरूपता का महान् आगार, सौन्दर्य का विराट् विभ्राट् । अबतक मैं वासना की बात अनसुनी कर प्रेम के कथन को सुनता आया था, परन्तु इस द्वन्द्व युद्ध से मेरा हृदय इतना विदीर्ण हो रहा है कि झीने कपड़े से ढके हुए घाव के समान इस कुरूपता को मैं अधिक देर तक छिपा नहीं सकता।'

कृशाश्व के इन अन्यायपूर्ण वचनों को सुनकर मेरे हृदय में आग-सी लग गई। शरविद्ध दुर्दान्त सिंहनी के गर्जन के समान मेरे मुख से क्रुद्ध शब्दों का कर्कश प्रवाह आप-से-आप प्रवाहित होने लगा—

'पुरुष के हाथों स्त्री-जाति की इतनी भर्त्सना ! प्रेम की वेदी पर अपना सर्वस्व अर्पण करनेवाली नारी की इतनी धर्षणा ! कामना से कलुषित पुरुष द्वारा इस प्रकार नारी के हृदय-कुसुम का कुचला जाना ! अन्याय !! घोर अन्याय !!! हे भगवन्, स्त्री-जाति के भावप्रवण, सात्त्विक भाव से वासित, विमल हृदय को पुरुष-जाति कब समझेगी ? कब आदर करना सीखेगी ? नारी-जीवन है स्वार्थ-त्याग की पराकाष्ठा का उज्ज्वल उदाहरण ! स्त्री का हृदय है कोमल करुणा तथा विशुद्ध मैत्री की पारमिता का भव्य भाण्डार !! चिन्ता तथा विषाद की, दुःख तथा अवहेलना की विपुल राशि को अपनी छाती पर ढोती हुई स्त्री-जाति अपने क्षुद्र स्वार्थ की सिद्धि के लिए कभी अग्रसर नहीं होती। परन्तु पुरुषों की करतूत ? हा ! किन शब्दों में कही जाय ? वे रूप के लोभी, बाह्य आडम्बर के प्रेमी, क्षणभंगुर चकाचौंध के अभिलाषी बनकर स्त्री के कोमल हृदय को ठुकरा देते हैं। आत्मश्लाघा मैं नहीं करती, परन्तु वेद-वेदांगों का मैंने गाढ अध्ययन किया है, गुरु-कृपा से सरस काव्य की माधुरी चखने का मुझे अवसर मिला है । मुझ जैसा उन्नत मस्तिष्क तथा सरस हृदय का मणि-कांचन योग नितान्त विरल है । परन्तु, भाग्य का उपहास ! केवल एक गुण के न रहने से मेरी ऐसी दुर्दशा हो रही है। चन्द्रमा की विपुल गुणावली के बीच कलंक की कालिमा डूब जाती है, परन्तु मुझ अपाला की विशाल गुणराशि के बीच श्वित्र के सफेद भी धब्बे नहीं डूब जाते ।' इतना कहते-कहते मेरे क्रोधरक्त नेत्रों से लाल चिनगारियाँ निकलने लगीं।

प्रतारित नारी के ये क्षोभ-भरे शब्द सुनकर कृशाश्व एक बार ही स्तब्ध हो उठे। अपने मूक संकेतों से ही उन्होंने अपने हृदय के अस्वीकार को प्रकट किया। उस दृश्य से मैं विचलित हो उठी। मैंने इस आश्रम का परित्याग कर दिया। अपने पिता के तपोवन में आने के अतिरिक्त मेरे पास कोई दूसरा उपाय न रहा। सबल पुरुष के सामने अबला ने अपनी पराजय स्वीकार की।

अत्रि के आश्रम में आज प्रभात का समय सुहावना नहीं प्रतीत होता। उषा प्राची-क्षितिज पर आई; उसने प्रतारित रमणी के क्रोध-भरे नेत्रों की आभा के समान अपने रश्मिजाल को सर्वत्र बिखेर दिया, फिर भी आश्रम की मलिनता दूर न हुई। परित्यक्ता अपाला को देखकर मेरे माता-पिता के विषाद-भरे हृदय की सहानुभूति से आश्रम के सजीव तथा निर्जीव सभी पदार्थों में एक विचित्र उदासी छाई हुई थी। भगवान् सविता की किरणें झाँकने लगीं। परन्तु, मानसिक आलस्य के साथ-साथ शारीरिक अलसता तनिक भी दूर न हुई।

परन्तु, मेरा अजीब हाल था। मुझमें न तो विषाद की छाया थी और न आलस्य की रेखा। पैर-तले रौंदी गई साँपिनी जिस प्रकार अपनी फणा दिखलाती है, ठीक उसी प्रकार इस परित्याग के क्षोभ से मैं नारी के सच्चे रूप को दिखलाने में तुल गई। त्वग्दोष के निवारण के लिए भौतिक उपायों को अकिञ्चित्कर जानकर मैंने आध्यात्मिक उपायों की उपयोगिता की जाँच करने का निश्चय किया।

शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलताओं के दूर करने का, कलुषित प्रवृत्तियों के जला डालने का, सबसे प्रबल साधन है तपस्या। तपस्या की आग के आगे कितने ही क्षुद्र मानव-भाव क्षण-भर में जल-भुनकर राख बन जाते हैं। तपाये गये काञ्चन की भाँति तपस्या के अनल में तप्त मानव-हृदय खरा निकलता है, द्विगुणित चमक से चमक उठता है। मैंने भी इस उपाय का आश्रय लिया है। वृत्रहन्ता मघवा की उपासना में मैंने अपना समय बिताना आरम्भ किया। प्रातःकाल होते ही मैं समिधा से दहकते अग्निकुण्ड में होम करती और अनन्तर इन्द्र की पूजा तथा जप में संलग्न हो जाती। कुशासन पर आसन जमाई हुई मेरी अभ्यर्थना उषा की सुनहली किरणें करतीं। प्रभात का मन्द समीर मेरे शरीर में नवीन उत्साह, नई शक्ति का संचार करता। मध्याह्न का प्रचण्ड उष्णांशु मेरे पञ्चाग्निसाधन में पञ्चम अग्नि का काम करता। संध्या की लालिमा मेरे ललाट के उन्नत फलक पर लावण्य के साथ ललित केलियों का विस्तार करती। रजनी के अन्धकार की कालिमा मुझे चिरकाल तक कालिमा के तरंगित समुद्र में डुबाये रखती। प्राची के ललाट पर तिलक के समान विद्योतमान सुधाकर की किरणें मेरे शरीर पर अमृत-सिंचन का काम करतीं। दिन के बाद रातें बीततीं और रातों के बाद दिन निकल जाते। देखते-देखते अनेक वर्ष आये और चले गये। परन्तु, अभी तक भगवान् वज्रपाणि के साक्षात्कार की अभिलाषा मेरे हृदय से नहीं गई।

मैं जानती थी कि इन्द्र की प्रसन्नता का सबसे बड़ा साधन है सोमरस का दान। गोदुग्ध से मिश्रित सोमरस के चषकों के पीने से मघवा के मन में जितना प्रमोद का संचार होता है, उतना किसी वस्तु से नहीं। आशुगामी अश्वों तथा वेग से बहनेवाले वातों के समान सोम के घूँट इन्द्र के हृदय को ऊपर उछाल देते हैं। सोमपान की मस्ती में वज्रपाणि प्रबलतम दानवों का संहार कर अपने भक्तों के कल्याण-साधन करते हैं। परन्तु, सोम कहाँ मिले ? वह तो मूजवान् पर्वत पर उगने वाली ओषधि इधर दुष्प्राप्य-सी है। विचार आया, देखूँ, शायद दैवानुग्रह से कहीं इधर ही प्राप्य हो जाय। मैंने सन्ध्या के समय अपनी कलशी उठाई और जल भरने के लिए सरोवर को प्रस्थान किया। जल भरकर ज्योंही मैं लौटी, मेरी दृष्टि रास्ते में लगी लता-विशेष पर पड़ी। ऊपर गगन-मण्डल में भगवान् सोम अपनी सोलहों कलाओं से चमक रहे थे। सोम के प्रकाश में मुझे सोम को पहचानते विलम्ब न लगा। झट मैंने उस लता को तोड़ लिया और उसके स्वाद की माधुरी चखने के लिए मैंने उसे अपने दाँतों से चर्वण करना शुरू किया। दन्तघर्षण का घोष सुनकर इन्द्र स्वयं उपस्थित

हो गये। उन्होंने समझा कि अभिषव-कार्य (चुलाने) में लगनेवाले शिल्प-खण्डों का यह शब्द है। मैंने देखते ही अपने उपास्य देव को पहचान लिया।

इन्द्र ने मुझसे पूछा—'तुमने तो सोमरस देने की प्रतिज्ञा की थी?'

'हाँ, परन्तु मिठास विना जाने मैं सोम का पान कैसे कराती? इसलिए मैं स्वयं उसका स्वाद ले रही हूँ।'

'तथास्तु'—इन्द्र जाने लगे।

'भगवन्, आप भक्तों के घर आवाहन किये जाने पर स्वयं पहुँच जाते हैं। आइए, मैं आपका स्वागत यहीं करूँ।' अपने दाँतों से घर्षित सोम की बूँदों को लक्ष्य कर मैंने उनसे कहा—'आप धीरे-धीरे प्रवाहित होइए, जिससे भगवान् इन्द्र के पीने में किसी प्रकार का क्लेश न हो।'

मघवा ने सोमरस का पान किया। भगवान् ने प्रसाद ग्रहण किया। भक्त की कामना-वल्ली लहलहा उठी।

'वर माँगो'—इन्द्र की प्रसन्नता वैखरी के रूप में प्रकट हुई।

'भगवन्, मेरे वृद्ध पिता के खल्वाट शिर पर बाल उग जायँ।'

'तथास्तु। दूसरा वर?'

'मेरे पिता के ऊसर खेत फल-सम्पन्न हो जायँ।

'एवमस्तु। तीसरा वर?'

'देवादिदेव, यदि आपका इतना प्रसाद है तो इस दासी अपाला का त्वग्दोष आमूल विनष्ट हो जाय।'

'बहुत ठीक। मेरी उपासिका का मनोरथ-तरु अवश्य पुष्पित तथा फलसमन्वित होगा।'

इतना कहकर इन्द्र ने मुझे अपने हाथों से पकड़ लिया और अपने रथ के छेद से तथा युग के छेद से तीन बार मेरे शरीर को खींचकर बाहर निकाला। मेरे पहले चाम से उत्पन्न हुए शल्यक (साही), दूसरे से गोधा (गोह) और तीसले से कृकलास (गिरगिट)। इस प्रकार मेरे शरीर के तीन आवरण छँटकर निकल गये। त्वग्दोष जड़मूल से जाता रहा। इन्द्र की कृपा से मेरा शरीर सूर्य के समान चमकने लगा। मेरे ऊपर दृष्टि डालनेवाले व्यक्ति के नेत्रों में चकाचौंध छा गया। जो देखता आश्चर्य करता। सबला नारी के तपोबल को देखकर संसार अकस्मात् स्तब्ध हो गया।

आज मेरे नवीन जीवन का मंगलमय प्रभात था। उषा की पीली किरणों ने आश्रम के प्रांगण में पीली चादर बिछाकर मेरा स्वागत किया। मेरे प्रियतम कृशाश्व मेरी इस कांचनकाया को देखकर कुछ हतप्रतिभ-से हो उठे। उन्हें स्वप्न में भी ध्यान न था कि मेरे शरीर में इस प्रकार परिवर्त्तन संघटित होगा। नारी की शक्ति का अवलोकन कर उनका हृदय आनन्द से गद्‌गद हो उठा। मुझे आलिंगन करते समय उनके नेत्रों से गोल-गोल आँसुओं की बूँदें मेरे कपोलों पर गिर पड़ीं। उनके करुणापूर्ण कोमल हृदय को देखकर मैं चमत्कृत हो उठी और अपने नारी-जीवन को सफल मानकर मेरा शरीर हर्ष से रोमाञ्चित हो उठा।

(२) जगज्जननी श्रीराधा[1]

१. गोलोक में आविर्भाव

कल्प का आरम्भ है। आदिपुरुष श्रीकृष्णचन्द्र गोलोक के सुरम्य रासमण्डल में विराजित हैं। चिदानन्दमय कल्पवृक्षों की श्रेणी रासस्थली की परिक्रमा कर रही है। वह वेदी सुविस्तीर्ण, मण्डलाकृति, समतल एवं सुस्निग्ध है। चन्दन, अगरु, कस्तूरी, कुंकुम बिखेरकर इसका संस्कार किया गया है। दधि, लाजा, शुक्लधान्य, दूर्वादल—इन मंगल-द्रव्यों से वेदी परिव्याप्त है। दिव्य कदली-स्तम्भ चारों ओर लगे हैं; उन स्तम्भों पर पट्टसूत्र में ग्रथित चन्दन-पल्लवों से निर्मित वंदनवार बँधा है। रत्नसार-निर्मित तीन कोटि मण्डपों से परिवेष्टित वेदी की शोभा अपरिसीम है। रत्नप्रदीपों की ज्योति, सौरभमय विविध कुसुमों का सुवास, दिव्य धूप से निस्सरित सुगन्धित धूमराशि, शृंगार-विलास की अगणित सामग्री, सुसज्जित शयन-पर्यंकों की पङ्क्ति—इन सबके अन्तराल से गोलोकविहारी का अनन्त ऐश्वर्य झाँक रहा है, झाँककर देख रहा है—आज अभिनय आरम्भ होने का समय हुआ या नहीं? अभिनय के दर्शक चतुर्भुज श्रीनारायण, पञ्चवक्त्र महेश्वर, चतुर्मुख ब्रह्मा, सर्वसाक्षी धर्म, वागधिष्ठात्री सरस्वती, ऐश्वर्य-अधिदेवी महालक्ष्मी, जगज्जननी दुर्गा, जपमालिनी सावित्री—ये सभी तो रंगमंच पर आ गये हैं, लीलासूत्रधार श्रीगोविन्द भी उपस्थित हैं; पर सूत्रधार के प्राणसूत्र जिनके हाथ हैं, वे अभी नहीं आयी हैं। देववृन्द आश्चर्य-विस्फारित नेत्रों से मञ्च—रासमण्डल की ओर देखने लगते हैं।

किन्तु, अब विलम्ब नहीं। देवों ने देखा—गोलोकविहारी श्रीगोविन्द श्रीकृष्णचन्द्र के वामपार्श्व में एक कम्पन-सा हुआ, नहीं-नहीं, ओह! एक कन्या का आविर्भाव हुआ है; अतीत, वर्त्तमान, भविष्य का समस्त सौन्दर्य पुञ्जी-भूत होकर सामने आ गया है। आयु सोलह वर्ष की है; सुकोमलतम अंग यौवन-भार से दबे जा रहे हैं; बन्धुजीवपुष्प-जैसे अरुण अधर हैं; उज्ज्वल दशनों की शोभा के आगे मुक्तापंक्ति की अमित शोभा तुच्छ, हेय बन जा रही है; शरत्कालीन कोटि राका-चन्द्रों का सौंदर्य मुख पर नाच रहा है; ओह! उस सुन्दर सीमन्त (माँग) की शोभा वर्णन करने का सामर्थ्य किसमें है? चारु पंकज-लोचनों का सौन्दर्य कौन बताये? सुठाम नासा, सुन्दर-चन्दन-चित्रित गण्डयुगल—इनकी तुलना किससे करें? कर्ण-युगल रत्नभूषित हैं; मणिमाला, हीरक-कण्ठहार, रत्नकेयूर, रत्नकंकण—इनसे श्रीअंगों पर एक किरणजाल फैला है; भाल पर सिन्दूर-बिन्दु कितना मनोहर है। मालतीमाला-विभूषित, सुसंस्कृत केशपाश, उनमें सुगन्धित कबरी-भार की

---

१. 'कल्याण' के सम्पादक श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार (भाईजी) के विशेष सम्मान्य बाबा चक्रधरजी द्वारा लिखित यह सुन्दर लेख वर्षों पहले 'कल्याण' (जनवरी, १९४८) में प्रकाशित हुआ था। बाबा सन्त होते हुए भी एक रसिक साहित्यिक हैं। लेख श्रद्धा तथा सत्कार का प्रतीक तो है ही; साथ-ही-साथ पुराण तथा साहित्य में राधा के साहित्यिक जीवन का पूर्णतः परिचायक भी है। जगज्जननी राधा के समस्त जीवन की झाँकी प्रस्तुत करनेवाला यह निबन्ध पाठकों का ज्ञान-वर्द्धन करेगा, इसी विचार से यह यहाँ साभार उद्धृत किया जाता है। —ले०

सुषमा कैसी निराली है। स्थलपद्मों की शोभा तो सिमटकर इन युगल चरण-तलों में आ गई है, चरण-विन्यास हंस को लज्जित कर रहा है; अनेक आभरणों से विभूषित श्रीअंगों से सौन्दर्य की सरिता प्रवाहित हो रही है। रूपधर्षित हुए देववृन्द इस सौन्दर्य को देखते ही रह जाते हैं।

श्रीकृष्णचन्द्र के वामपार्श्व से आविर्भूत यह कन्या, यह सुन्दरी ही श्रीराधा हैं। 'राधा' नाम इसलिए हुआ कि 'रास'-मण्डल में प्रकट हुईं तथा प्रकट होते ही पुष्पचयन कर श्रीकृष्णचन्द्र के चरणों में अर्घ्य समर्पित करने के लिए 'धावित' हुईं—दौड़ीं—

रासे सम्भूय गोलोके सा दधाव हरेः पुरः।
तेन राधा समाख्याता पुराविद्‌भिर्द्विजोत्तम ॥

—ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, ब्र० खं०

अथवा

कृष्णेन आराध्यत इति राधा।
कृष्णं समाराधयति सदेति राधिका ॥

—राधिकोपनिषद्

'श्रीकृष्ण इनकी नित्य आराधना करते हैं, इसलिए इनका नाम राधा है और श्रीकृष्ण की ये सदा सम्यक् रूप से आराधना करती हैं, इसलिए राधिका नाम से प्रसिद्ध हुई हैं।'

स एवायं पुरुषः स्वयमेव समाराधनतत्परोऽभूत्। तस्मात् स्वयमेव समाराधनमकरोत् ॥ अतो लोके वेदे श्रीराधा गीयते। ..अनादिरयं पुरुष एक एवास्ति ॥ तदेवं रूपं द्विधा विधाय समाराधनतत्परोऽभूत्। तस्मात् तां राधां रसिकानन्दां वेदविदो वदन्ति।

—सामरहस्योपनिषद्

'वही पुरुष स्वयं ही अपने-आपकी आराधना करने के लिए तत्पर हुआ। आराधना की इच्छा होने के कारण उस पुरुष ने अपने-आप ही अपने-आपकी आराधना की। इसीलिए, लोक एवं वेद में श्रीराधा प्रसिद्ध हुई। वह अनादि पुरुष तो एक ही है। किंतु अनादिकाल से ही वह अपने को दो रूपों में बनाकर अपनी आराधना के लिए तत्पर हुआ है, इसीलिए वेदज्ञ श्रीराधा को रसिकानन्दरूपा (रसराज की आनन्दमूर्त्ति) बतलाते हैं।

अथवा—

राधेत्येवं च संसिद्धा राकारो दानवाचकः।
धा निर्वाणां च तद्दात्री तेन राधा प्रकीर्त्तिता ॥

—ब्रह्मवैवर्त्त पु०, कृ० खं०

'राधा' नाम इस प्रकार सिद्ध हुआ—राकार दानवाचक है एवं 'धा' निर्वाण का बोधक है। ये निर्वाण का दान करती है, इसीलिए 'राधा' नाम से कीर्त्तित हुई हैं।

अस्तु; परमात्मा श्रीकृष्ण की प्राणाधिष्ठात्री देवी श्रीराधा का श्रीकृष्ण के प्राणों से ही आविर्भाव हुआ। ये श्रीकृष्णचन्द्र को अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी हैं।

प्राणाधिष्ठातृदेवी सा कृष्णस्य परमात्मनः ।
आविर्बभूव प्राणेभ्यः प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥—ब्र० वै० पु०, ब्र० खं०

उसी समय इन्हीं श्रीराधा के लोमकूपों से लक्षकोटि गोप-सुन्दरियाँ प्रकट हुईं। वास्तव में तो यह आविर्भाव की लीला प्रपञ्च की दृष्टि से ही हुई। अन्यथा प्रलय, सर्जन, फिर संहार, फिर सृष्टि—इस प्रवाह से उस पार श्रीराधा की , राधाकान्त की लीला, उनका नित्य निकुंजविहार तो अनादिकाल से सपरिकर नित्य दो रूपों में प्रतिष्ठित रह-कर चल रहा है एवं अनन्त काल तक चलता रहेगा। प्रलय की छाया उसे छू नहीं सकती, सर्जन का कम्पन उसे उद्वेलित नहीं कर सकता। श्रीराधा का यह आविर्भाव तो प्रपञ्चगत कतिपय बड़भागी ऋषियों की चित्तभूमि पर कल्प के आरम्भ में उस लीला का उन्मेष किस क्रम से हुआ, इसका एक निदर्शन-मात्र है।

२. प्रपंच में अवतरण की भूमिका

गोलोकेश्वर! नाथ! मेरे प्रियतम! तुमने गोलोक की मर्यादा भंग की है! —नेत्रों में अश्रु भरकर रोष-कम्पित कण्ठ से श्रीराधा ने गोलोकविहारी से कहा तथा कहकर मौन हो गईं। श्रीकृष्णचन्द्र ने जान लिया—मेरे विरजा-विहार की घटना से प्रिया के हृदय में दुर्जय मान का सञ्चार हो गया है तथा इस मान से निर्गत शत-सहस्र आनन्द की धाराओं में अवगाहन कर गोलोकविहारी रासेश्वरी श्रीराधा को मनाने चलते हैं।

श्रीकृष्णचन्द्र की ह्लादिनी शक्ति महाभावस्वरूपा श्रीराधा की मानलीला, मान-रहस्य प्राकृत मन में समा ही नहीं सकता। इसे तो प्रेम-विभावित चित्त ही ग्रहण करता है। अनन्त जन्मार्जित साधना के फलस्वरूप चित्त में यह वासना, यह इच्छा उत्पन्न होती है कि श्रीकृष्ण को मुझसे सुख मिले। इस इच्छा का ही नाम प्रेम है, किंतु यह इच्छा प्राकृत मन की वृत्ति नहीं है। यह तो उपासना से निर्मल हुए मन में जब श्रीकृष्ण की स्वरूप-शक्ति ह्लादिनीप्रधान शुद्ध सत्त्व का आविर्भाव होता है, मन इस शुद्ध सत्त्व से मिलकर तद्रूप हो जाता है, प्रज्वलित अग्नि में पड़े लोह-पिण्ड की भाँति शुद्ध सत्त्व मन के अणु-अणु में उदित हो जाता है—उस समय उत्पन्न होती है। यह इच्छा—यह प्रेम ही प्राणी का परम पुरुषार्थ है। यह प्रेम गाढ होता हुआ, उत्कर्ष की ओर बढ़ता हुआ, क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग के रूप में वर्णित होता है। इस अनुराग की चरम परिणति को 'भाव' कहते हैं। भाव का ऊर्ध्वतर स्तर महाभाव है। इस महा-भाव की उच्चतम घनीभूत मूर्त्ति श्रीराधा हैं। यह महाभाव-महासागर कितना अनन्त—अपरिसीम है, एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्र को ही सुख पहुँचाने की कितनी कैसी-कैसी उत्ताल तरंगें इसमें उठती हैं एक-एक तरंग श्रृंगाररसराजमूर्त्ति श्रीकृष्ण के लिए कितना परमानन्द का सर्जन करती है, इसका यत्किञ्चित् अनुमान प्रेममसृण मन में ही सम्भव है। श्रीकृष्ण मनाते हैं और श्रीराधा नहीं मानतीं, उस समय अनन्तरूप श्रीकृष्ण के हृदय में जो सहस्र-सहस्र आनन्दधाराएँ बहने लगती हैं, उनका परिचय बड़े सौभाग्य से ही मिलता है तथा परिचय मिलने पर ही यह प्रत्यक्ष होता है कि इस मान में स्वार्थमूलक घृणित कुटिलता की तो गन्ध भी नहीं है, यह तो सर्वथा श्रीकृष्णसुखेच्छामयी प्रीति की ही एक वैचित्ती है।

अस्तु; गोलोकविहारी श्रीकृष्णचन्द्र के मनाने पर भी श्रीराधा का कोप आज शांत नहीं होता। समीप में अवस्थित सुशीला, शशिकला, यमुना, माधवी, रति आदि सैंतीस वयस्याओं पर एक आतंक-सा छा जाता है; उन्होंने गोलोकविहारिणी का यह रूप आज ही देखा है। वहीं पर खड़ा-खड़ा गोलोक का एक गोप सुदामा भी देख रहा है। अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया भी श्रीराधा का यह भाव देख रही हैं; किंतु योगमाया केवल रस ही नहीं ले रही हैं, साथ-ही-साथ लीला-मञ्च की यवनिका भी उठाती जा रही हैं। वे सोचती हैं—उस सुदूर लीला की पृष्ठभूमि यहीं निर्मित होगी, युग-युग से निर्धारित क्रम यही है बस, यह विचार आते ही वे गोलोकविहारी एवं गोलोकविहारिणी श्रीराधा के सम्मुख श्वेतवाराहकल्प की अट्ठाईसवीं चतुर्युगी के द्वापरकालीन चित्रपट सामने रख देती हैं। उसी पट में असुरों के भार से धरा का पीडित होना, ब्रह्मा को अपनी करुण कहानी सुनाना, ब्रह्मा की तथा देवताओं की पुरुषोत्तम से धरा-भारहरण की प्रार्थना करना, गोलोक-विहारी पुरुषोत्तम का स्वयं अवतरित होने का वचन देना, अवतरित होना, श्रीराधा का भी भारतवर्ष में प्रकट होना, इस प्रकार प्रकट लीला का पूरा विवरण अंकित था। पट की ओर श्रीराधा ने, राधारमण ने देखा या नहीं—कहा नहीं जा सकता, किंतु योगमाया को यवनिका-सूत्र खींच देने की आज्ञा तो मिल गई। वे पर्दा हटा देती हैं और सुदामा गोप का अभिनय प्रारम्भ होता है, गोलोकविहारिणी श्रीराधा की परमानन्ददायिनी लीला का प्रापञ्चिक जगत् में प्रकाशित होने का उपक्रम होने लगता है।

श्रीराधा का यह मान सुदामा गोप के लिए असह्य हो जाता है, वह कटु शब्दों में गोलोकविहारिणी की भर्त्सना करने लगता है। श्रीराधा और भी कुपित हो उठती हैं। कोप अन्तर में सीमित न रहकर वाग्वज्र के रूप में बाहर निकल पड़ता है। रोष में भरी श्रीराधा बोल उठती हैं—'सुदाम! मुझे शिक्षा देने आये हो? मेरे तप्त हृदय को और भी संतप्त करने आये हो? यह तो असुर का कार्य है; फिर असुर ही क्यों नहीं बन जाते? जाओ, सचमुच असुरयोनि में ही कुछ देर घूमते रहो।' सुदामा गोप काँप उठता है, पर साथ ही क्रोध से नेत्र जलने लगते हैं। वह कह उठता है—'गोलोकेश्वरि! तुममें सामर्थ्य है, तुमने इस वाग्वज्र से मुझे नीचे गिरा दिया! ओह! और कोई दुःख नहीं, किंतु श्रीकृष्णचन्द्र से तुमने मेरा क्षणिक वियोग करा दिया, मेरे प्राणों की सम्पत्ति तुमने ले ली। देवि! श्रीकृष्ण-वियोग के दुःख का अनुभव तुम्हें नहीं है; इसीलिए यह दुःख तुमने मुझे दिया है। तो जाओ, देवि! जाओ, एक बार तुम भी श्रीकृष्ण-वियोग का दुःख अनुभव करो। सुदूर द्वापर में गोलोकविहारी के लिए देववृन्द प्रतीक्षा करेंगे, इनका अवतरण होगा; उसी समय गोपकन्या के रूप में भारतवर्ष में तुम भी अव-तरित हो जाओ। गोपसुन्दरियों के रूप में तुम्हारी ये सखियाँ भी अवतरित हो जायँगी, तुम्हारी चिरसंगिनी रहेंगी, पर श्रीकृष्ण एक शत वर्षों के लिए तुमसे अलग हो जायँगे। सौ मानव-वर्ष श्रीकृष्ण-वियोग का दुःख अनुभव करो; स्वयं अनुभव कर लो—प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र का वियोग-दुःख कोटि-कोटि नरक-यन्त्रणाओं से भी अधिक भीषण होता है!' यह कहते-कहते सुदामा के नेत्रों से अश्रुप्रवाह बह चलता है; गोलोकविहारिणी श्रीराधा

के एवं श्रीकृष्णचन्द्र के चरणों में प्रणाम करके वह चलने के लिए उद्यत होता है, किंतु विह्वल हुई श्रीराधा क्रन्दन कर उठती है—

वत्स ! क्व यासीत्युच्चार्य पुत्रविच्छेदकातरा ।

—ब्र० वै० पु०, प्र० खं०

—पुत्रविच्छेद के भय से कातर हुई पुकारने लगती हैं—'वत्स ! कहाँ जा रहे हो ?'

श्रीकृष्णचन्द्र सान्त्वना देने लगते हैं—'रासेश्वरि ! प्राणप्रिये ! कृपामयि ! यह शाप नहीं, आपके आवरण में यह तो विश्व के प्रति तुम्हारा दिया हुआ वरदान है। इसी निमित्त से हरिवल्लभा वृन्दा का तुलसी-रूप में भारतवर्ष में प्राकट्य होगा, इसी निमित्त से भारतवर्ष के आकाश में तुम्हारी विधि हरि-हर-वन्दित चरणनखचन्द्रिका चमक उठेगी। उस ज्योत्स्ना से भारतवर्ष में मधुर लीला-रस की वह सनातन स्रोतस्विनी प्रवाहित होगी, जिसमें अवगाहन कर प्रपञ्च के जीव अनन्तकाल तक शीतल, कृतकृत्य होते रहेंगे; तुम्हारे मोहन महाभाव[1] की तरङ्गिणी में डूबकर मैं भी कृतार्थ होऊँगा। सुदामा तो गोलोक का है, गोलोक में ही लौटकर प्रपञ्च में क्रीडा करके आ जायगा, तुम्हारा धन तुम्हें ही मिलेगा। प्राणेश्वरि ! तुम व्याकुल मत हो।' गोलोकविहारी अपनी प्रिया को हृदय से लगाकर पीताम्बर से नेत्र पोंछने लगे।

इस प्रकार, रासेश्वरी श्रीराधा के भारतवर्ष में अवतरित होने की भूमिका बनी; उनके नित्य रास की, नित्य निकुञ्ज-लीला की एक झाँकी जगत् में प्रकाशित होने की प्रस्तावना पूरी हुई।

३. अवतरण

नृगपुत्र राजा सुचन्द्र का एवं पितरों की मानसी कन्या सुचन्द्रपत्नी कलावती का पुनर्जन्म हुआ। सुचन्द्र तो वृषभानु गोप के रूप में उत्पन्न हुए एवं कलावती कीर्त्तिदा गोपी के रूप में। यथासमय दोनों का विवाह होकर पुनर्मिलन हुआ। एक तो राजा सुचन्द्र हरि के अंश से उत्पन्न हुए थे; उसपर उन्होंने पत्नी-सहित दिव्य द्वादश वर्षों तक तप करके ब्रह्मा को संतुष्ट किया था। इसीलिए, कमलयोनि ने ही यह वर दिया था—'द्वापर के अन्त में स्वयं श्रीराधा तुम दोनों की पुत्री बनेगी।' उस वर की सिद्धि के लिए ही सुचन्द्र वृषभानु गोप बने हैं। इन्हीं वृषभानु में, इनके जन्म के समय, सूर्य का भी आवेश हो गया; क्योंकि सूर्य ने तपस्या कर श्रीकृष्णचन्द्र से एक कन्या-रत्न की याचना की थी तथा श्रीकृष्ण ने संतुष्ट होकर 'तथास्तु' कहा था। इसके अतिरिक्त नित्य-लीला के वृषभानु एवं कीर्त्तिदा—ये दोनों भी इन्हीं वृषभानु गोप एवं कीर्त्तिदामें समाविष्ट हो गये; क्योंकि स्वयं गोलोकविहारिणी राधा का अवतरण होने जा रहा है। अस्तु; इस प्रकार योगमाया ने द्वापर के अन्त में रासेश्वरी के लिए उपयुक्त क्षेत्र की रचना कर दी।

---

१. प्रेम की चरम परिणति महाभाव की दो अवस्थाएँ होती हैं—एक संयोग की, दूसरी वियोग की। संयोग के समय यह महाभाव 'मोदन' नाम से कहा जाता है तथा विरह के समय 'मोहन' नाम से।

धीरे-धीरे वह निर्दिष्ट समय भी आ पहुँचा। वृषभानु-व्रज की गोपसुन्दरियों ने एक दिन अकस्मात् देखा—कीर्त्तिदा रानी के अंग पीले हो गये हैं; गर्भ के अन्य लक्षण भी स्पष्ट परिलक्षित हो रहे हैं, फिर तो उनके हर्ष का पार नहीं। कानों-कान यह समाचार वृषभानु-व्रज में सुख-स्रोत बनकर फैलने लगा। सभी उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा करने लगे।

वह मुहूर्त्त आया। भाद्रपद की शुक्ला अष्टमी है; चन्द्रवासर है, मध्याह्न है। कीर्त्तिदा रानी रत्नपर्यंक पर विराजित हैं। एक घड़ी पूर्व से प्रसव का आभास-सा मिलने लगा है। वृद्ध गोपिकाएँ उन्हें घेरे बैठी हैं। इस समय आकाश मेघाच्छन्न हो रहा है। सहसा प्रसूति-गृह में एक ज्योति फैल जाती है—इतनी तीव्र ज्योति कि सबके नेत्र निमीलित हो गये। इसी समय कीर्त्तिदा रानी ने प्रसव किया। प्रसव में केवल वायु निकला; इतने दिन उदर तो वायु से ही पूर्ण था। किंतु, इसके पूर्व कि कीर्त्तिदा रानी एवं अन्य गोपिकाएँ आँख खोलकर देखें, उसी वायु-कम्पन के स्थान पर एक बालिका प्रकट हो गई। सूतिकागार उस बालिका के लावण्य से प्लावित होने लगा। गोपसुन्दरियों के नेत्र खुले, उन्होंने देखा—शत-सहस्र शरच्चन्द्रों की कान्ति लिये एक बालिका कीर्त्तिदा के सामने पड़ी है, कीर्त्तिदा रानी ने प्रसव किया है। कीर्त्तिदा रानी को यह प्रतीत हुआ—मेरे द्वारा सद्यःप्रसूत इस कन्या के अंगों में मानों किसी दिव्यातिदिव्य शतमूली-प्रसून की आभा भरी हो, अथवा रक्तवर्ण की तडिल्लहरी ही बालिका-रूप में परिणत हो गई हो। आनन्दविवशा कीर्त्तिदा रानी कुछ बोलना चाहती हैं, पर बोल नहीं पातीं। मन-ही-मन दो लक्ष गोदानों का संकल्प करती हैं। गोपियों ने गवाक्ष-रन्ध्र से झाँककर देखा—चारों ओर दिव्य पुष्पों का ढेर लगा हुआ है। वास्तव में ही देव-वृन्द ऊपर से नन्दनकानन-जात प्रफुल्ल कुसुमों की वर्षा कर रहे थे। मानों पावस में ही शरद् का विकास हो गया हो—इस प्रकार नदियों की धारा निर्मल हो गई, आकाश-पथ की वह मेघमाला न जाने कहाँ विलीन हो गई और दिशाएँ प्रसन्न हो उठीं! शीतल मन्द पवन, अरविन्द-सौरभ का विस्तार करते हुए प्रवाहित हो चला—मानों राधा-यश-सौरभ दुकूल में लिये राजेश्वरी के आगमन की सूचना देते हुए वह पवन घर-घर फिर रहा हो, पर आनन्दवश बेसुध होने के कारण उसकी गति धीमी पड़ गई हो। पुरवासियों के आनन्द का तो कहना ही क्या है—

महारास पूरन प्रगट्यो आनि ।
अति फूलीं घर-घर ब्रजनारी राधा प्रगटी जानि ॥
धाईं मंगल साज सबै लै महा महोच्छव मानि ।
आईं घर वृषभानु गोप के, श्रीफल सोहति पानि ॥
कीरति बदन सुधानिधि देख्यौ सुन्दर रूप बखानि ।
नाचत गावत दै करतारी, होत न हरष अघानि ॥
देत असीस सीस चरननि धरि, सदा रहौ सुखदानि ।
रस की निधि ब्रजरसिक राय सौं करौ सफल दुखहानि ॥

× × ×

आज रावल में जय-जयकार !
प्रगट भई वृषभानु गोप कैं श्रीराधा अवतार ॥
गृह-गृह ते सब चलीं बेग दै गावत मंगलचार ।
प्रगट भई त्रिभुवन की शोभा रूप रासि सुखसार ॥
निरतत गावत करत बधाई भीर भई अति द्वार ।
परमानन्द वृषभानुनंदिनी जोरी नंद दुलार ॥

संयोग की वात! आज ही कुछ देर पहले से करभाजन, शृंगी, गर्ग एवं दुर्वासा—चारों वहाँ आये हुए हैं। गोपों की प्रार्थना पर वृषभानु को आनन्द में निमग्न करते हुए वे श्रीराधा के ग्रह-नक्षत्र का निर्णय कर रहे हैं—

कर भाजन शृंगी जु गर्गमुनि लगन नछत बल सोध री ।
भए अचरज ग्रह देखि परस्पर कहत सवन प्रतिबोध री ॥
सुदि भादौं सुभ मास, अष्टमी अनुराधा के सोध री ।
प्रीति जोग, बंल बालव करनैं, लगन धनुष बरबोध री ॥

वालिका का नाम रखा गया–'राधा'। 'राधिका' नाम वृषभानु एवं कीर्त्तिदा दोनों ने मिलकर रखा—लोहितवर्ण विद्युत्-लहरी-सी अंगप्रभा होने के कारण। राधा—राधिका नाम जगत् में विख्यात हुआ।

चकार नाम तस्यास्तु भानुः कीर्त्तिदयान्वितः ।
रक्तविद्युत्प्रभा देवी धत्ते यस्मात् शुचिस्मिते ।
तस्मात्तु राधिका नाम सर्वलोकेषु गीयते ॥

—राधातन्त्र

गोलोकविहारी श्रीकृष्णचन्द्र के जन्मोत्सव पर जो रसधारा प्रसरित हुई, वह द्विगुणित परिमाण में रासेश्वरी के जन्म पर उमड़ चली।

जो रस नंद भवन में उमग्यौ, तातैं दूनों होत री ।

राधा-सुधा-धारा में स्थावर-जंगम सभी वह चले—

सुर मुनि नाग धरनि जंगम कौं आनन्द अति सुख देत री ।
ससि खंजन बिद्रुम सुक केहरि, तिनहिं छीन बल लेत री ॥
सूरदास हर बसौ निरन्तर राधा माधौ जोरि री ।
यह छबि निरखि-निरखि सचुपावैं, पुनि डारैं तृन तोरि री ।

इस प्रकार अयोनिसम्भवा श्रीराधा भूतल पर श्रीवृषभानु एवं कीर्त्तिदा रानी की पुत्री के रूप में प्रकट हुईं।

४. देवर्षि को दर्शन

वीणा की झनकार पर हरि-गुण-गान करते हुए देवर्षि नारद व्रज में घूम रहे हैं। कुछ देर पहले व्रजेश्वर नन्द के घर गये थे। वहाँ नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के उन्होंने दर्शन किये। दर्शन करने पर मन में आया—जब स्वयं गोलोकविहारी श्रीकृष्णचन्द्र भूतल पर अवतरित हुए हैं, तब गोलोकेश्वरी श्रीराधा भी कहीं-न-कहीं गोपी-रूप में अवश्य

आई हैं। उन्हीं श्रीराधा को ढूँढ़ते हुए देवर्षि व्रज के प्रत्येक गृह के सामने ठहर-ठहरकर आगे बढ़ते जा रहे हैं। देवर्षि का दिव्य ज्ञान कुण्ठित हो गया है, सर्वज्ञ नारद को श्री राधा का अनुसंधान नहीं मिल रहा है; मानों योगमाया देवर्षि को निमित्त बनाकर राधा-दर्शन की यह साधना जगत् को बता रही हों—पहले श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन होते हैं, उनके दर्शनों से श्रीराधा के दर्शन की इच्छा जाग्रत् होती है; फिर श्रीराधा को पाने के लिए व्याकुल होकर व्रज की गलियों में भटकना पड़ता है। अस्तु; घूमते हुए देवर्षि वृषभानु-प्रासाद के सामने आकर खड़े हो जाते हैं। वह विशाल मन्दिर देवर्षि को मानों अपनी ओर आकृष्ट कर रहा हो। देवर्षि भीतर प्रवेश कर जाते हैं। वृषभानु गोप की दृष्टि उनपर पड़ती है। वे दौड़कर नारद के चरणों में लोट जाते हैं।

विधिवत् पाद्य-अर्घ्य से पूजा करके देवर्षि को प्रसन्न अनुभव कर वृषभानु गोप अपने सुन्दर पुत्र श्रीदाम को गोद में उठा लाते हैं, लाकर मुनि के चरणों में डाल देते हैं। बालक का स्पर्श होते ही मुनि के नेत्रों में स्नेहाश्रु भर आता है; उत्तरीय से अपनी आँखें पोंछकर उसे उठाकर वे हृदय से लगा लेते हैं तथा गद्गद कण्ठ से बालक का भविष्य बतलाते हैं—'वृषभानु! सुनो, तुम्हारा यह पुत्र नन्दनन्दन का, बलराम का प्रिय सखा होगा।'

तो क्या रासेश्वरी श्रीराधा यहाँ भी नहीं हैं? वृषभानु उन्हें तो लाया नहीं? यह सोचकर निराश-से हुए देवर्षि चलने को उद्यत हुए। उसी समय वृषभानु ने कहा—'भगवन्! मेरी एक पुत्री है; सुन्दर तो वह इतनी है, मानों सौन्दर्य की खानि कोई देवपत्नी इस रूप में उतर आई हो। पर आश्चर्य यह है कि वह अपनी आँखें सदा निमीलित रखती है; हमलोगों की बातें भी उसके कानों में प्रवेश नहीं करतीं, उन्मादिनी-सी दीखती है। इसलिए हे भगवत्तम! श्रीचरणों में मेरी यह प्रार्थना है कि एक बार अपनी सुप्रसन्न दृष्टि उस बालिका पर भी डालकर उसे प्रकृतिस्थ कर दें।'

आश्चर्य में भरे नारद वृषभानु के पीछे-पीछे अन्तःपुर में चले जाते हैं। जाकर देखा—स्वर्णनिर्मित सजीव सुन्दरतम प्रतिमा-सी एक बालिका भूमि पर लोट रही है। देखते ही नारद का धैर्य जाता रहा; अपने को वे किसी प्रकार भी संवरण न कर सके; वे दौड़े तथा बालिका को उठाकर उन्होंने अंक में ले लिया। एक परमानन्द-सिन्धु की लहरें देवर्षि को लपेट लेती हैं, उनके प्राणों में अननुभूतपूर्व एक अद्भुत प्रेम का सञ्चार हो जाता है, वे बालिका को क्रोड में धारण किये मूर्च्छित हो जाते हैं। दो घड़ी के लिए तो उनकी यह दशा है, मानों उनका शरीर एक शिलाखण्ड हो। दो घड़ी के पश्चात् जाकर कहीं बाह्यज्ञान होता है तथा बालिका का अप्रतिम सौन्दर्य निहारकर विस्मय की सीमा नहीं रहती। वे मन-ही मन सोचने लगते हैं—'ओह! ऐसे सौन्दर्य के दर्शन मुझे तो कभी नहीं हुए। मेरी अबाध गति है, सभी लोकों में स्वच्छन्द विचरता हूँ; ब्रह्मलोक, रुद्रलोक, इन्द्रलोक—इनमें कहीं भी इस शोभासागर का एक बिन्दु भी मैंने नहीं देखा; महामाया भगवती शैलेन्द्रनन्दिनी के दर्शन मैंने किये हैं, उनका सौन्दर्य चराचर-मोहन है; किन्तु इतनी सुन्दर तो वे भी नहीं! लक्ष्मी, सरस्वती, कान्ति, विद्या आदि सुन्दरियाँ तो इस सौन्दर्यपुञ्ज की छाया भी नहीं छू पातीं। विष्णु के

हर-विमोहन उस मोहिनी रूप को भी मैंने देखा है, पर इस अतुल रूप की तुलना में वह भी नहीं। बालिका को देखते ही श्रीगोविन्द-चरणाम्बुज में मेरी जैसी प्रीति उमड़ी, वैसी आज कहीं भी नहीं हुई। बस, बस, यही श्रीराधा हैं; निश्चय ही यही श्रीरासेश्वरी हैं। देवर्षि का अन्तर्हृदय आलोकित हो उठा।

'वृषभानु! कुछ क्षण के लिए तुम बाहर चले जाओ; बालिका के सम्बन्ध में कुछ करना चाहता हूँ—गद्‌गद कण्ठ से देवर्षि ने धीरे-धीरे कहा। सरलमति वृषभानु देवर्षि को प्रणाम कर बाहर चले आये। एकान्त पाकर नारद ने श्रीराधिका-स्तवन आरंभ किया—'देवि! महायोगमयि! महाप्रभामयि! मायेश्वरि! मेरे महान् सौभाग्य में न जाने किन अनन्त शुभ कर्मों से रचित सौभाग्य का फल देने तुम मेरे दृष्टिपथ में उतर आई हो। देवि! ये तुम्हारे दिव्य अंग अत्यन्त मोहन हैं। ओह! इन मधुर अंगों से माधुर्य का निर्झर झर रहा है। इस मधुरिमा का एक कण ही उस महाद्‌भुत रसानन्द-सिन्धु का सर्जन कर रहा है, जिसमें अनन्त भक्त अनन्त कालतक स्नान करते रहेंगे। देवि! तुम्हारे इन निमीलित नेत्रों से भी सुख की वर्षा हो रही है, वह सुख बरस रहा है—जो नित्य नवीन है। मैं अनुभव कर रहा हूँ, तुम्हारे अन्तर्देश में सुख का समुद्र लहरा रहा है; उसीकी लहरें नेत्रों पर, तुम्हारे इस प्रसन्न सौम्य, मधुर मुख-मण्डल पर नाच रही हैं।'

देवर्षि की वाणी काँप रही है, पर स्तवन करते ही जा रहे हैं—

तत्त्वं विशुद्धसत्त्वासु शक्तिर्विद्यात्मिका परा ।
परमानन्दसन्दोहं दधती वैष्णवं परम् ॥
कलयाऽऽश्चर्यविभवे ब्रह्मरुद्रादिदुर्गमे ।
योगीन्द्राणां ध्यानपथं न त्वं स्पृशसि कर्हिचित् ॥
इच्छाशक्तिर्ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिस्तवेशितुः ।
तवांशमात्रमित्येवं मनीषा मे प्रवर्त्तते ॥
आनन्दरूपिणी शक्तिस्त्वमीश्वरि न संशयः ।
त्वया च क्रीडते कृष्णो नूनं वृन्दावने वने ॥
कौमारेणैव रूपेण त्वं विश्वस्य च मोहिनी ।
तारुण्यवयसा स्पृष्टं कीदृक्ते रूपमद्‌भुतम् ॥

—पद्म पु०, पा० खं०

'देवि! तुम्हीं ब्रह्म हो; सच्चिदानन्द ब्रह्म के सत्-अंश में स्थित सन्धिनी शक्ति की चरम परिणति—विशुद्ध तत्त्व तुम्हीं हो; विशुद्ध सत्त्वमयी तुम में ही चिदंश की संवित् शक्ति, संवित् की चरम परिणति विद्यात्मिका परा शक्ति—ज्ञानशक्ति का भी निवास है; तुम्हीं आनन्दांश की ह्लादिनी शक्ति, ह्लादिनी की भी चरम परिणति महाभावरूपिणी हो; आश्चर्यवैभवमयि! तुम्हारी एक कला का भी ज्ञान ब्रह्म-रुद्र तक के लिए कठिन है, फिर योगीन्द्रों के ध्यान-पथ में तो तुम आ ही कैसे सकती हो। मेरी बुद्धि तो यह कह रही है कि इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति—ये सभी तुम ईश्वरी के अंशमात्र हैं।

''श्रीकृष्णचन्द्र की आनन्दरूपिणी शक्ति तुम्हीं हो, तुम्हीं उनकी प्राणेश्वरी हो—इसमें कोई संशय नहीं; तुम्हारे ही साथ निश्चय श्रीकृष्णचन्द्र वृन्दावन में क्रीडा करते हैं। ओह देवि ! जब तुम्हारा कौमार रूप ही ऐसा विश्वविमोहन है, तव वह तरुण रूप कितना विलक्षण होगा।'

कहते-कहते नारद का कण्ठ रुद्ध होने लगता है। प्राणों में श्रीराधा के तरुण-रूप को देखने की प्रवल उत्कण्ठा भर जाती है। वे वहीं पर टँगे मणि-पालने पर श्रीराधा को लिटा देते हैं तथा उनकी ओर देखते हुए वारम्वार प्रणाम करने लगते हैं, तरुण-रूप से दर्शन देने के लिए प्रार्थना करते हैं। नारद के अन्तर्हृदय में मानों कोई कह देता है—'देवर्षि ! श्रीकृष्ण की वन्दना करो, तभी श्रीकृष्णप्रियतमा के नेत्र तुम्हारी ओर फिरेंगे।' देवर्षि श्रीकृष्णचन्द्र की जय-जयकार कर उठते हैं—

जय कृष्ण मनोहारिन् जय वृन्दावनप्रिय।
जय भ्रूभङ्गललित जय वेणुरवाकुल ॥
जय बर्हकृत्तोत्तंस जय गोपीविमोहिन।
जय कुङ्कुमलिप्ताङ्ग जय रत्नविभूषिण ॥

—पद्म पु०, पा० खं०

वस, इसी समय दृश्य वदल जाता है। मणि-पालने पर विराजती वृपुभानुकुमारी अन्तर्हित हो जाती हैं तथा नारद के सामने किशोरी श्रीराधा का आविर्भाव हो जाता है। इतना ही नहीं, दिव्य भूषण-वसन से सज्जित अगणित सखियाँ भी वहाँ प्रकट हो जाती हैं, श्रीराधा को घेर लेती हैं। वह रूप ! वह सौंदर्य ! नारद के नेत्र निमेषशून्य एवं अंग निश्चेष्ट हो जाते हैं, मानों नारद सचमुच अन्तिम अवस्था में जा पहुँचे हों।

राधाचरणाम्बु-कणिका का स्पर्श कराकर एक सखी देवर्षि को चैतन्य करती है और कहती है—'मुनिवर्य!' अनन्त सौभाग्य से श्रीराधा के दर्शन तुम्हें हुए हैं। महाभागवतों को भी इनके दर्शन दुर्लभ हैं। देखो, ये अब तुम्हारे सामने से फिर अन्तर्हित हो जायँगी, प्रदक्षिणा करके नमस्कार कर लो। जाओ। गिरिराज-परिसर में, कुसुमसरोवर के तट पर एक अशोकलता फूल रही है, उसके सौरभ से वृन्दावन सुवासित हो रहा है, वहाँ उसके नीचे हम सब को अर्द्धरात्रि के समय देख पाओगे.....।'

श्रीराधा का वह कैशोर रूप अन्तर्हित हो गया। वाल्यरूप से रत्न-पालने पर वे पुनः प्रकट हो गईं।

द्वार पर खड़े वृषभानु प्रतीक्षा कर रहे थे। जय-जयकार की ध्वनि सुनकर आश्चर्य कर रहे थे। अश्रुपूरित कण्ठ से देवर्षि ने पुकारा, वे भीतर आ गये। देवर्षि वोले—'वृषभानु ! इस वालिका का यही स्वभाव है; देवताओं का सामर्थ्य नहीं कि वे इसका स्वभाव वदल दें। किंतु, तुम्हारे भाग्य की सीमा नहीं; जिस गृह में तुम्हारी पुत्री के चरण-चिह्न अंकित हैं, वहाँ लक्ष्मी-सहित नारायण, समस्त देव नित्य निवास करते हैं।' यह कहकर स्खलित गति से नारद चल पड़ते हैं। वीणा में राधा यशोगान की लहरी भरते, आँसू वहाते हुए वे अशोकवन की ओर चले गये।

× × ×

उसी दिन कीर्त्तिदा रानी की गोद में पुत्री को देखकर प्रेमविवश हुए वृषभानु लाड़ लड़ाने लगे। नारद के गान का इतना-सा अंश वृषभानु के कान में प्रवेश कर गया था 'जय कृष्ण मनोहारिन् !' जानकर नहीं, लाड़ लड़ाते समय यों ही उनके मुख से निकल गया—'जय कृष्ण मनोहारिन् !' बस, भानुकुमारी श्रीराधा आँखें खोलकर देखने लगीं। वृषभानु के हर्ष का पार नहीं, कीर्त्तिदा आनन्द में निमग्न हो गईं; उन्हें तो पुत्री को प्रकृतिस्थ करने का मन्त्र प्राप्त हो गया। इसके पूर्व जब-जब नन्दगेहिनी यशोदा कीर्त्तिदा से मिलने आई हैं, तब-तब भानुकुमारी ने आँखें खोल-खोलकर देखा है।

५. श्रीकृष्णचन्द्र-मिलन

अचानक काली घटाएँ घिर आती हैं। भाण्डीर-वन में अन्धकार छा जाता है। वायु बड़े वेग से बहने लगती है। तरु-लताएँ काँप उठती हैं। कदम्ब तमालपत्र छिन्न हो-होकर गिरने लगते हैं। ऐसे समय इसी वन में एक वट के नीचे व्रजेश्वर नन्द श्रीकृष्णचन्द्र को गोद में लिये खड़े हैं। उन्हें चिन्ता हो रही है कि श्रीकृष्ण की रक्षा कैसे हो।

गोपों का गोचारण निरीक्षण करने वे आ रहे थे। श्रीकृष्णचन्द्र साथ चलने के लिए मचल गये; किसी प्रकार नहीं माने, रोने लगे। इसीलिए, वे उन्हें साथ ले आये थे। यहाँ वन में आने पर गोरक्षकों को तो उन्होंने दूसरे वन की गायें एकत्र कर वहीं ले आने के लिए भेज दिया, स्वयं उन गायों की सँभाल के लिए खड़े रहे। इतने में यह झंझावात प्रारम्भ हो गया। कोई गोरक्षक भी नहीं कि उसे गायें सँभालकर वे भवन की ओर जायँ तथा यों ही गायों को छोड़ भी दें तो जायँ कैसे ? बड़ी-बड़ी बूँदें जो आरम्भ हो गई हैं। अतः, कोई भी उपाय न देखकर व्रजेश्वर एकान्त मन से नारायण का स्मरण करने लगते हैं।

मानों, कोटि सूर्य एक साथ उदय हुए हों, इस प्रकार दिशाएँ उद्भासित हो जाती हैं तथा झंझावात तो न जाने कहाँ चला गया। नन्दराय आँखें खोलकर देखते हैं—सामने एक बालिका खड़ी है। 'हैं—हैं ! वृषभानुकुमारी ! तू यहाँ इस समय कैसे आई, बेटी, व्रजेश्वर ने अचकचाकर कहा। किंतु, दूसरे ही क्षण अन्तर्हृदय में एक दिव्य ज्ञान का उन्मेष होने लगता है, मौन होकर ये वृषभानुनन्दिनी की ओर देखने लगते हैं—कोटि चन्द्रों की द्युति मुखमण्डल पर झलमल-झलमल कर रही है; नीलवसन-भूषित अंग है; अंगों पर काञ्ची, कंकण, हार, अंगद, अंगुरीयक, मंजीर यथास्थान सुशोभित हैं; चञ्चल कर्णकुण्डल तथा दिव्यातिदिव्य रत्नचूडामणि से किरणें झर रही हैं; अंगों के तेज का तो कहना ही क्या है, भानुकुमारी की अंगप्रभा से ही वन आलोकित हुआ है। नन्दराय को गर्ग की वे बातें भी स्मरण हो आईं; पुत्र के नामकरण-संस्कार के पूर्व गर्ग ने एकान्त में वृषभानुपुत्री की महिमा, श्रीराधातत्त्व की बात बतलाई थी; पर उस समय तो नन्दराय सुन रहे थे और साथ-ही-साथ भूलते जा रहे थे; इस समय उन सबकी स्मृति हो आई, सबका रहस्य सामने आ गया। अंजलि बाँधकर नन्दराय ने श्रीराधा को प्रणाम किया और बोले—देवि ! मैं जान गया, पुरुषोत्तम श्रीहरि की तुम प्राणेश्वरी हो एवं मेरी गोद

में तुम्हारे प्राणनाथ स्वयं पुरुषोत्तम श्रीहरि ही विराजित हैं। लो, देवि! ले जाओ; अपने प्राणेश्वर को साथ ले जाओ। किंतु....।' नन्द कुछ रुक-से गये; श्रीकृष्णचन्द्र के भीति-विजडित नयनों की ओर उनकी दृष्टि चली गई थी। क्षणभर बाद बोले—'किंतु देवि! यह बालक तो आखिर मेरा पुत्र ही है न! इसे मुझे ही लौटा देना।'—नन्दराय ने श्रीकृष्णचन्द्र को श्रीराधा के हस्तकमलों पर रख दिया। श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्र को गोद में लिये गहन वन में प्रविष्ट हो गईं।

वृन्दावन की भूमि पर गोलोक का दिव्य रासमण्डल प्रकट होता है। श्रीराधा नन्द-पुत्र को लिये उसी मण्डप में चली आती हैं। सहसा नन्दपुत्र श्रीराधा की गोद से अन्त-हित हो जाते हैं। वृषभानुनन्दिनी विस्मित होकर सोचने लगती हैं—नन्दराय ने जिस बालक को सौंपा था, वह कहाँ चला गया? इतने में गोलोकविहारी नित्य कैशोरमूर्त्ति श्रीकृष्णचन्द्र दीख पड़ते हैं। अपने प्रियतम को देखकर वृषभानुनन्दिनी का हृदय भर आता है, प्रेमावेश से वे विह्वल हो जाती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र कहने लगते हैं—'प्रिये! गोलोक की वे बातें भूल गई हैं या अब भी स्मरण हैं? मुझे भी भूल गई क्या? मैं तो तुम्हें नहीं भूला। तुम्हें भूल जाऊँ, यह मेरे लिए असम्भव है। मेरे प्राणों की रानी! तुमसे अधिक प्रिय मेरे पास कुछ हो, तब तो तुम्हें भूलूँ। तुम्हीं बताओ, प्राणों से अधिक प्यारी वस्तु को कोई कैसे भूल सकता है? प्राणाधिके! मेरे जीवन की समस्त साध एकमात्र तुम्हीं हो। किंतु, यह भी कहना नहीं बनता; क्योंकि वास्तव में हम-तुम दो हैं ही नहीं; जो तुम हो, वही मैं हूँ; जो मैं हूँ, वही तुम हो; यह ध्रुव सत्य है—हम दोनों में भेद है ही नहीं। जिस प्रकार दुग्ध में धवलता है, अग्नि में दाहिका शक्ति है, पृथ्वी में गन्ध है, उसी प्रकार हम दोनों का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। सृष्टि के उस पार ही नहीं, सृष्टि के समय भी मेरी विश्वरचना का उपादान बनकर तुम मेरे साथ ही रहती हो; तुम यदि न रहो, तो फिर मैं सृष्टि-रचना करने में कभी समर्थ न हो सकूँ। कुम्भकार मृत्तिका के बिना घट की रचना कैसे करे? स्वर्णकार सुवर्ण के न होने पर स्वर्ण-कुण्डल का निर्माण कैसे करे? तुम सृष्टि की आधारभूता हो, तो मैं उसका अच्युत बीजरूप हूँ। ..सौन्दर्य-मयि! जिस समय योग से मैं सर्वबीजस्वरूप हूँ, उस समय तुम भी शक्तिरूपिणी समस्त स्त्रीरूपधारिणी हो। ..अलग दीखने पर भी शक्ति, बुद्धि, ज्ञान, तेज—इनकी दृष्टि से भी हम तुम सर्वथा समान हैं। ..किंतु, यह सब होकर भी, यह तत्त्वज्ञान मुझमें नित्य वर्त्तमान रहने पर भी मेरे प्राण तो तुम्हारे लिए नित्य व्याकुल रहते हैं। प्राणाधिके! तुम्हें देखकर, तुम्हें पाकर रससिन्धु में निमग्न हो जाऊँ—इसमें तो कहना ही क्या है; तुम्हारा नाम भी मुझे कितना प्रिय है, यह कैसे बताऊँ? सुनो, जिस समय किसी के मुख से केवल 'रा' सुन लेता हूँ, उस समय आनन्द में भरकर अपने कोष की बहुमूल्य सम्पत्ति—मेरी भक्ति—मेरा प्रेम—मैं उसे दे देता हूँ; फिर भी मन में भयभीत होता हूँ कि मैं तो इसकी वञ्चना कर रहा हूँ, 'रा' उच्चारण का उचित पुरस्कार तो मैं इसे दे नहीं सका; तथा जिस समय वह 'धा' का उच्चारण करता है, उस समय यह देखकर कि वह मेरी प्रिया का नाम ले रहा है, मैं उसके पीछे-पीछे चल पड़ता हूँ, केवल नाम-श्रवण के लोभ से;

यह 'राधा' नाम मेरे कानों में तुम्हारी स्मृति की सुधा-धारा बहा देता है; मेरे प्राण शीतल, रसमय हो जाते हैं—

त्वं मे प्राणाधिका राधे प्रेयसी च वरानने।
यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नावयोर्ध्रुवम्॥
यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति।
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि सन्ततम्॥
विना मृदा घटं कर्त्तुं विना स्वर्णेन कुण्डलम्।
कुलालः स्वर्णकारश्च न हि शक्तः कदाचन॥
तथा त्वया विना सृष्टिमहं कर्त्तुं न च क्षमः।
सृष्टेराधारभूता त्वं बीजरूपोऽहमच्युतः॥

× × ×

सर्वं बीजस्वरूपोऽहं सदा योगेन सुन्दरि।
त्वं च शक्तिस्वरूपा च सर्वस्त्रीरूपधारिणी॥

× × ×

शक्त्या बुद्धया च ज्ञानेन मया तुल्या वरानने।
'रा' शब्दं कुर्वतस्त्रस्तो ददामि भक्तिमुत्तमाम्।
'धा' शब्दं कुर्वतः पश्चाद्यामि श्रवणलोभतः॥

—ब्र० वै० पु०, कृ० खं०

इस प्रकार, रसिकेश्वर राधानाथ अपनी प्रिया को अतीत की स्मृति दिलाकर, स्वरूप की स्मृति कराकर, उन्हीं के नाम की सुधा से उनको सिक्त कर प्रियतमा श्रीराधा का आनन्दवर्द्धन करने लगते हैं। राधा-भावसिन्धु में भी तरंगें उठने लगती हैं, भाव के आवर्त्त बन जाते हैं; आवर्त्त राधानाथ को रस के अतल तल में डुबाने ही जा रहे थे कि उसी समय माला-कमण्डलु धारण किये जगद्विधाता चतुर्मुख ब्रह्मा आकाश से नीचे उतर आते हैं; राधा-राधानाथ के चरणों में वन्दना करते हैं। पुष्करतीर्थ में साठ हजार वर्षों तक विधाता ने श्रीकृष्णचन्द्र की आराधना की थी, राधाचरणारविन्द-दर्शन का वर प्राप्त किया था। उसी वर की पूर्त्ति के लिए एवं राधानाथ की मनोहारिणी लीला में एक छोटा-सा अभिनय करने के लिए योगमाया-प्रेरित वे ठीक उपयुक्त समय पर आये हैं। अस्तु;

भक्तिनतमस्तक, पुलकितांग, साश्रुनेत्र हुए विधाता बड़ी देर तक तो रासेश्वर की स्तुति करते रहे। फिर, रासेश्वरी के समीप गये। अपने जटा-जाल से श्रीराधा के युगल चरणों की रेणु-कणिका उतारी, रेणुकण से अपने सिर का अभिषेक किया; पश्चात् कमण्डलु-जल से चरण-प्रक्षालन करने लगे। यह करके फिर श्रीकृष्णप्रिया का स्तवन आरम्भ किया। न जाने कितने समय तक करते रहे। अन्त में, राधा-मुखारविन्द से युगल पादपद्मों में अचला भक्ति का वर पाकर धैर्य हुआ। अब उस लीला का कार्य सम्पन्न करने चले।

श्रीराधा एवं राधानाथ को प्रणामकर दोनों के बीच में विधाता अग्नि प्रज्वलित करते हैं। अग्नि में विधिवत् हवन करते हैं। फिर, विधाता के द्वारा बताये हुए विधान से स्वयं

रासेश्वर हवन करते हैं। इसके पश्चात् रासेश्वरी, रासेश्वर दोनों ही सात बार अग्नि-प्रदक्षिणा करते हैं, अग्निदेव को प्रणाम करते हैं। विधाता की आज्ञा मानकर श्रीराधा एक बार पुनः हुताशन-प्रदक्षिणा करके श्रीकृष्णचन्द्र के समीप आसन ग्रहण करती हैं। ब्रह्मा श्रीकृष्णचन्द्र को श्रीराधा का पाणिग्रहण करने के लिए कहते हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्र राधा-हस्तकमल को अपने हस्तकमल पर धारण करते हैं। हस्तग्रहण होने पर श्रीकृष्णचन्द्र ने सात वैदिक मन्त्रों का पाठ किया। इसके पश्चात् श्रीराधा अपना हस्तकमल श्रीकृष्ण के वक्षः-स्थल पर एवं श्रीकृष्णचन्द्र अपना हस्तपद्म श्रीराधा के पृष्ठदेश पर रखते हैं तथा श्रीराधा मन्त्र-समूह का पाठ करती हैं। आजानुलम्बित दिव्यातिदिव्य पारिजात-निर्मित कुसुममाला श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्र को पहनाती हैं एवं श्रीकृष्णचन्द्र सुन्दर मनोहर वनमाला श्रीराधा के गले में डालते हैं। यह हो जाने पर कमलोद्भव श्रीराधा को श्रीकृष्णचन्द्र के वामपार्श्व में विराजित कर, दोनों को अञ्जलि बाँधने की प्रार्थना कर, दोनों के द्वारा पाँच वैदिक मन्त्रों का पाठ कराते हैं। अनन्तर श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्र को प्रणाम करती हैं। जैसे पिता विधिवत् कन्यादान करे, वैसे सारी विधि सम्पन्न करते हुए विधाता श्रीराधा को श्रीकृष्ण के करकमलों में समर्पित करते हैं। आकाश दुन्दुभि, पटह, मुरज आदि देव-वाद्यों की ध्वनि से निनादित होने लगता है। आनन्द-निमग्न देववृन्द पारिजात-पुष्पों की वर्षा करते हैं; गन्धर्व मधुर गान आरम्भ करते हैं; अप्सराएँ मनोहर नृत्य करने लगती हैं। व्रजगोपों के, व्रज-सुन्दरियों के सर्वथा अनजान में ही इस प्रकार वृषभानुनन्दिनी एवं नन्दनन्दन की विवाह-लीला सम्पन्न हो गई।

× × ×

भाण्डीर-वन के उन निकुञ्जों में रस की तरंगिणी वह चली। रासेश्वरी श्रीराधा, रासेश्वर श्रीकृष्ण—दोनों ही आनन्द-विभोर होकर उसमें बह चले। जब इस स्रोत में अन्य रस-धाराएँ आकर मिलने लगीं—भावसिन्धु का समय आया, तो श्रीराधा को बाह्यज्ञान हुआ। वृषभानुनन्दिनी देखती हैं—मेरी गोद में नन्दराय ने जिस पुत्र को सौंपा था, वह तो है; शेष सब स्मृतिमात्र। श्रीकृष्णचन्द्र की वह कैशोरमूर्त्ति अन्तर्हित हो गई है, पुनः वे बालक-रूप हो गये हैं।

× × ×

नन्दनन्दन को श्रीराधा यशोदा रानी के पास ले जाती हैं। "मैया! वन में झंझा-वात आरम्भ हो गया था; बाबा बोले—'तू इसे ले जा, घर पहुँचा दे!' बड़ी वर्षा हुई है। देखो, मेरी साड़ी सर्वथा भींग गई है। मैं अब जाती हूँ; घर से आये मुझे बहुत देर हो गई है, मेरी मैया चिन्तित होंगी। श्रीकृष्ण को सँभाल लो"—यह कहकर वृषभानुनन्दिनी ने श्रीकृष्णचन्द्र को यशोदा रानी की गोद में रख दिया और स्वयं वृष-भानपुर की ओर चल पड़ीं। यशोदारानी ने देखा—साड़ी वास्तव में सर्वथा आर्द्र है, प्रबल उत्कण्ठा हुई कि दूसरी साड़ी पहना दूँ; किंतु मैया का शरीर निश्चेष्ट-सा हो गया ओह! कीर्त्तिदा की पुत्री इतनी सुन्दर है। मैया इस सौंदर्य-प्रतिमा की ओर देखती ही रह गईं और प्रतिमा देखते-ही-देखते उपवन के लताजाल में जा छिपी।

× × ×

वहाँ भाण्डरी-वन में व्रजेश्वर नन्द को इतनी ही स्मृति है कि वर्षा का ढंग हो रहा था, भानुकुमारी के साथ मैंने पुत्र को घर भेज दिया है।

६. पूर्वराग

योगमाया ने रसप्रवाह का एक नया द्वार खोला। वृषभानुनन्दिनी इस बात को भूल गई कि श्रीकृष्णचन्द्र से मेरा कभी मिलन हुआ है। श्रीकृष्णचन्द्र मेरे नित्य प्रियतम हैं, मैं उनकी नित्य प्राणेश्वरी हूँ—यह स्मृति भी रससिन्धु के अतल-तल में जा छिपी।[1]

वृषभानुदुलारी में अब कैशोर का आविर्भाव हो गया है। उनके श्रीअंगों के दिव्य सौन्दर्य से भानु-प्रासाद तो नित्य आलोकित रहता ही है; वे जिस पथ से वन में पुष्पचयन करने जाती हैं, उसपर भी सौन्दर्य की किरणें विखर जाती हैं। श्रीमुख के उज्ज्वल स्मित से पथ उद्भासित हो जाता है। किसीको अनुसन्धान लेना हो, श्रीकिशोरी इस समय किस वन में हैं—यह जानना हो तो सहज ही जान ले; श्रीअंगों का दिव्य सुवास वता देगा। सुवास से उन्मादित, उड़ती हुई भ्रमर-पंक्ति संकेत कर देगी—आओ, मेरे पीछे चले चलो; वृषभानुकिशोरी इसी पथ से गई हैं। अस्तु; आज भी अपने श्रीअंग-सौरभ से वन को सुरभित करती हुई वे पुष्पचयन कर रही हैं। साथ में चिरसंगिनी श्रीललिता हैं।

पुष्पित वृक्षों की शोभा से प्रसन्न होकर श्रीकिशोरी अकस्मात् पूछ बैठीं—'ललिते! क्या यही वृन्दावन है?' 'हाँ बहिन! कृष्णक्रीडा-कानन यही है।' वस, किशोरी के हाथ से पुष्पों का दोना गिर जाता है। ललिता गिरे हुए पुष्पों को उठाने लगती हैं। 'किसका नाम बताया?'—भानुदुलारी कम्पित कण्ठ से पुनः पूछती हैं। 'सखि! यह श्रीकृष्ण का क्रीडास्थल है' कहकर ललिता पुष्पों को किशोरी के अञ्चल में डालने लगती हैं। 'तो अव लौट चलो, वहुत पुष्प हो गये'—यह कहकर उत्तर की प्रतीक्षा किये विना ही किशोरी अन्यमनस्क-सी हुई भवन की ओर चल पड़ती हैं :

× × ×

दूसरे दिन श्रीललिता ने आकर देखा—किशोरी की तो विचित्र दशा है। शरीर इतना कृश हो गया है, मानों वे एक पक्ष से निराहार रही हों; कुन्तल-राशि पीठ पर विखरी पड़ी है। किशोरीजी ने आज वेणी की रचना नहीं की; मुख ढाँपे पड़ी हैं, किसी से भी बात नहीं करतीं। श्रीललिता ने गोद में लेकर, प्यार से सिर सहलाकर मुख उघारा, देखा—नेत्र सजल हैं, अरुण हैं, सूचना दे रहे हैं, किशोरी सारी रात जागती रही हैं। वारंवार ललिता के पूछने पर भानुदुलारी कुछ कहने चलीं; किंतु वाणी रुद्ध हो गई, वे बोल न सकीं। ललिता के शत-शत प्यार से सिक्त होकर कहीं दो घड़ी बाद वे

१. यह विस्मरण प्राकृत जीवों के स्वरूप-विस्मरण जैसा नहीं है। यह मुग्धता तो अखण्ड ज्ञानस्वरूप भगवान् में, अखण्ड ज्ञानस्वरूपा भगवती में रसपोषण के लिए रहती है, यथा-योग्य प्रकट होती है, छिपती है। यही तो भगवान् की भगवत्ता है कि अनेक विरोधी भाव एक साथ एक समय में ही उनमें वर्त्तमान रहते हैं, एक साथ एक समय में ही उनमें अखण्ड सम्पूर्ण ज्ञान एवं रसमयी मुग्धता दोनों वर्त्तमान रहते हैं।

सखी के प्रति अपना हृदय खोल सकीं। रुद्ध कण्ठ से ही किशोरी ने अपनी इस दशा का यह कारण बताया—

> कृष्ण नाम जब ते में श्रवन सुन्यो री आली,
> भूली री भवन, हौं तो बावरी भई री।
> भरि भरि आवैं नैन, चितहूँ न परत चैन,
> मुखहूँ न आवैं बैन, तनकी दसा कछु औरैं भई री॥
> जेतेक नेम धरम कीने री बहुत विधि,
> अंग अंग भई हौं तो श्रवनमई री।
> नंददास जाके श्रवन सुनें यह गति भई,
> माधुरी मूरति कैधौं कैसी दई री॥

ललिता के नेत्र भी भर आये। भानुदुलारी को हृदय से लगाकर बड़ी देर तक वे सान्त्वना देती रहीं।

× × ×

उसी दिन संध्या-समय मन-ही-मन 'कृष्ण-कृष्ण' आवृत्ति करती हुई भानुनन्दिनी उद्यान में बैठी हैं। इसी समय कदम्ब-कुञ्जों में श्रीकृष्णचन्द्र की वंशी बज उठती है। वंशीरव किशोरी के कानों में प्रवेश करता है। ओह! यह अमृत-निर्झर! सुधाप्रवाह!! कहाँ से? किस ओर से? भानुकिशोरी का सारा शरीर थरथर काँपने लगता है—इस प्रकार जैसे शीतकाल में उनपर हिम की वर्षा हो रही हो; साथ ही अंगों से प्रस्वेद की धारा बह चलती है—इतनी अधिक मात्रा में मानों ग्रीष्मताप से अंग का अणु-अणु उत्तप्त हो रहा है। कानों पर हाथ रखकर विस्फारित नेत्रों से वे वन की ओर देखने लगती हैं। दूर से ललिता किशोरी की यह दशा देख रही हैं। वे दौड़कर समीप आ जाती हैं। तबतक तो किशोरी बाह्यज्ञानशून्य हो गई हैं। जब उपवन के वृक्षों से पर्वत-कन्दराओं से वंशी का प्रतिनाद आना बन्द हो जाता है, तब कहीं किशोरी आँखें खोलकर देखती हैं। ललिता ने अपने प्यार से किशोरी को नहलाकर पूछा—'मेरी लाड़िली बहिन! सच बता, तुझे क्या हो गया था? सहसा तेरे अंग ऐसे विवश क्यों हो गये थे?' लाड़िली उत्तर में इतना ही कह सकीं—

> नादः कदम्बविटपान्तरतो विसर्पन्
> को नाम कर्णपदवीमविशन्न जाने।

'ओह! उस कदम्बवृक्ष के अन्तराल से न जाने कैसी एक ध्वनि आई और मेरे कानों में प्रविष्ट हो गई।'··

—'आह! कदाचित् उस अमृत-निर्झर के उद्गम को मैं देख पाती।'

अतिशय शीघ्रता से ललिता ने कहा—'बावरी! वह तो वंशीध्वनि थी।' इस बार भानुनन्दिनी अत्यधिक उद्विग्न-सी हुई अस्पष्ट स्वर में तुरत बोल उठीं—'वह किसका वंशीनाद था? फिर तो··।' कहते-कहते लाड़िली पुनः मूर्च्छित हो गईं।

श्रीकृष्णचन्द्र का चित्रपट हाथ में लिये किशोरी देख रही हैं। नेत्रों से झर-झर

करता हुआ अनर्गल अश्रुप्रवाह बह रहा है। अञ्चल से अश्रुमार्जन कर चित्र को देखना चाहती हैं, किंतु इतने में ही आँखें पुनः अश्रुपूरित हो जाती हैं। एक बार ही देख सकीं; उसके बाद से जो अश्रुधारा बहने लगी, वह रुक नहीं रही है; इसी से चित्र दीखता नहीं।

श्रीविशाखा ने स्वयं इस चित्र को अंकित किया था; अंकित कर अपनी प्यारी सखी श्रीराधा के पास ले आई थी—इस आशा से कि श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्र का नाम सुनकर उनकी ओर अत्यधिक आकृष्ट हो गई हैं, चित्रपट के दर्शन से उन्हें सान्त्वना मिलेगी। किंतु परिणाम उल्टा हुआ, भानुकिशोरी की व्याकुलता और भी बढ़ गई।

विक्षिप्त-सी हुई भानुकिशोरी प्रलाप कर रही हैं—अग्निकुण्ड है, धक-धक करती हुई उसमें आग जल रही है; उसमें मैं हूँ, पर जली तो नहीं! जलूँ कैसे? श्याम जलधर की वर्षा जो हो रही है।

स्नेह से सिर पर हाथ फेरकर ललिता-विशाखा पूछती हैं—'मेरे हृदय की रानी! यह क्या कह रही हो?' उत्तर में भानुनन्दिनी पगली की तरह हँसने लगती हैं। हँसकर कहती हैं—'सुनोगी? अच्छा सुनो! महामरकत-द्युति अंगों से शोभा झर रही थी, सिर पर मयूरपिच्छ सुशोभित था, नवकैशोर का आरम्भ ही हुआ था; इस रूप में वे चित्रपट से निकले—

वितन्वानस्तन्वा मरकतरुचीनां रुचिरतां
पटान्निष्क्रान्तोऽभूद् धृतशिखिशिखण्डो नवयुवा।

—कहकर किशोरी मौन हो गईं। ललिता-विशाखा परस्पर देखने लगीं। कुछ सोचकर ललिता बोलीं—'किशोरी! तुमने स्वप्न तो नहीं देखा है?' यह सुनते ही अविलम्ब भानुनन्दिनी बोल उठती हैं—'स्वप्न था या जागरण, दिवस था या रात्रि—यह तो नहीं जान सकी; जानने की शक्ति भी नहीं रह गई थी। क्योंकि, उस समय एक श्याम ज्योत्स्ना फैली थी, ज्योत्स्ना में वह सागर लहरें ले रहा था। लहरें मुझे भी बहा ले गईं, चञ्चल लहरियों पर नाचती हुई मैं भी चञ्चल हो उठी; अब जानने का अवकाश ही कहाँ था।' भानुकिशोरी इतना कहकर पुनः मौन हो जाती हैं।

× × ×

'मेरी प्यारी ललिते! तू दूर चली जा; विशाखे! तू मेरे समीप से हट जा; तुम दोनों मुझे स्पर्श मत करना, मेरी-जैसी मलिना के स्पर्श से तुम दोनों भी मलिन हो जाओगी; मेरी छाया का स्पर्श भी तुम्हें मलिन कर देगा।' किशोरी अत्यन्त कातर स्वर में कह रही हैं—'देखो! तुम कहा करती थीं न कि मैं तुम दोनों को बहुत प्यार करती हूँ; तो उसी प्यार का प्रत्युपकार चाहती हूँ। तू बाधा मत दे; बल्कि शीघ्र-से-शीघ्र मेरे इस मलिन शरीर का अन्त हो जाय, इसमें सहायक बन जा।'—विकल होकर भानुनन्दिनी यहाँतक कह गईं।

ललिता एवं विशाखा दोनों ही एक साथ रो पड़ीं। रोकर बोलीं—'किशोरी! यह सब सुन-सुनकर हमारे प्राणों में कितनी वेदना हो रही है, इसका तुझे ज्ञान नहीं; अन्यथा तेरे मुख से ऐसे वचन कभी नहीं निकलते।'

भानुनन्दिनी ने ललिता के हाथ पकड़ लिये और बोलीं—'बहिन! तू जानती नहीं,

मैं कितनी अधमा हूँ। अच्छा! सुन ले, मृत्यु से पूर्व उन्हें प्रकट कर देना ही उत्तम है—उस दिन मैंने तुम्हारे मुख से 'कृष्ण' नाम सुना, सुनते ही मेरा विवेक जाता रहा; यह भी सोच नहीं सकी कि ये 'कृष्ण' कौन हैं। तत्क्षण मन-ही-मन अपना, मन, प्राग, जीवन, यौवन—सर्वस्व उन्हें समर्पण कर बैठी; कृष्ण-नाम का मधुपान कर उन्मत्त होने लगी। सोचती थी—वे मिलें या न मिलें, इस कृष्ण नाम के सहारे जीवन समाप्त कर दूंगी। किंतु, उसी दिन कदम्ब-कुञ्जों में वंशी वज उठी तथा ध्वनि सुनकर मेरा मन विक्षिप्त हो गया। अभी दो पहर पूर्व श्रीकृष्ण को आत्मसमर्पण कर चुकी थी; पर इतनी देर में ही वदल गई, उस वंशीरव के प्रवाह में वह चली। ऐसी उन्मादिनी हो गई कि बाह्य-ज्ञान तक भूल गई। अवतक वह उन्माद मिटा नहीं है, रह-रहकर मैं सब कुछ भूल जाती हूँ; इस भूल में ही मैं अपना पूर्व का आत्मसमर्पण भी भूल गई; वंशी के छिद्रों पर सुधा बरसानेवाले पर न्योंछावर हो गई। वह कौन है, नहीं जानती थी; पर उसकी हो गई, अनेक कल्पनाएं करती हुई सुख-समुद्र में वह चली। इतने में ही यह चित्रपट मेरे सामने आया, चित्र की छवि एक वार ही देख सकी, किंतु देखते ही वह स्निग्ध मेघद्युति पुरुष मेरे हृदय में, प्राणों में समा गया। ओह! धिक्कार है मुझको, जिसने तीन पुरुषों को आत्मसमर्पण किया, तीन पुरुषों को प्यार किया, तीन पुरुषों के प्रति अधमा के हृदय में रति उत्पन्न हुई—ऐसे मलिन जीवन से तो मृत्यु कहीं श्रेयस्कर है—

> एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरं
> सान्द्रोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः।
> एष स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्नः पटे वीक्षणात्
> कष्टं धिक् पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृतिं श्रेयसीम्॥
>
> —विदग्धमाधव

भानुकिशोरी सुबुक-सुबुककर रोने लगीं। किन्तु, ललिता एवं विशाखा को अब पथ मिल गया। वे उल्लास में भरकर बोलीं—'किशोरी! तू भी अजब बावरी है; हम नहीं जानती थीं कि तू इतनी सरला है। अरी! कृष्णनाम, वंशीध्वनि एवं वह चित्र—ये तीनों तो एक व्यक्ति के हैं। ये तीन थोड़े हैं!'

किशोरी के उत्तप्त प्राणों में मानों ललिता ने अमृत उड़ेल दिया; प्राण शीतल हो गये, शीतल प्राण सुख की नींद में सो गये—इस प्रकार भानुकिशोरी आनन्द-मूर्च्छित होकर ललिता की गोद में निश्चेष्ट पड़ गईं।

× × ×

अब तो किशोरी का यह हाल है कि वे सामने मयूरपिच्छ देख लेती हैं, तो शरीर में कम्प होने लगता है; गुञ्जापुञ्ज पर दृष्टि पड़ते ही नयनों में जल भर आता है, चीत्कार कर उठती हैं; आकाश में जब श्याम मेघ उठते हैं, उस समय किशोरी को श्रीकृष्णचन्द्र की गाढ़ स्फूर्ति ही कर शत-सहस्र श्रीकृष्णचन्द्र गगन में नाचते दीखते हैं। किशोरी भुजाएँ उठाकर उड़ने जाती हैं, पर हाय! पंख नहीं कि उड़ सकें। कभी विरह से अत्यन्त व्यथित होकर चाहने लगती हैं कि किसी प्रकार मैं श्रीकृष्ण को भूल जाऊँ, हृदय से वह

त्रिभंग छवि निकल जाय। केवल चाहतीं ही नहीं, वास्तव में श्रीकृष्ण को भूलने के लिए अनेक विषयों में मनोनिवेश करने जाती हैं, पर विषय तो भूल जाते हैं और श्रीकृष्ण नहीं भूलते; वह नवनीरद छवि हृदय से बाहर नहीं होती। ओह! सचमुच क्या ही आश्चर्य है—

प्रत्याहृत्य मुनि: क्षणं विषयतो यस्मिन् मनो धित्सते
बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।
यस्य स्फूर्त्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति ॥

—विदग्धमाधव

विषयों से अपने मन को खींचकर मुनिगण जिन श्रीकृष्णचन्द्र में क्षण-भर के लिए भी मन लग जाने की इच्छा करते हैं, उन्हीं श्रीकृष्णचन्द्र में लगे हुए मन को वहाँ से हटाकर वृषभानुनन्दिनी विषयों में लगाना चाहती हैं। ओह! हृदय में जिन श्रीकृष्णचन्द्र की लवमात्र स्फूर्त्ति के लिए योगी उत्कण्ठित रहते हैं, यत्न करते हैं, फिर भी स्फूर्त्ति नहीं होती, उन्हीं श्रीकृष्णचन्द्र को अपने हृदय से हटाने के लिए लाड़िली इच्छा कर रही हैं, प्रयत्न कर रही हैं, फिर भी हटा नहीं पातीं।

अस्तु; इधर श्रीराधाकिशोरी की तो यह दशा है; किंतु श्रीकृष्णचन्द्र की ओर से किञ्चित् आकर्षण बाहर से नहीं दीखता। श्रीकृष्णचन्द्र के हृदय में भी तो वही आँधी चल रही है[1], पर प्रेम-विवर्धन-चतुर श्रीकृष्णचन्द्र अपना भाव छिपाने में पूर्णतया सफल हो रहे हैं। ललिता-विशाखा गन्ध तक नहीं पातीं कि किशोरी के लिए इनके मन में किञ्चिन्मात्र भी स्थान है। विरह से व्याकुल किशोरी ने लज्जा बहा दी, लज्जा छोड़कर श्रीकृष्णचन्द्र को पत्र लिख भेजा; किंतु पत्र के उत्तर में भी केवल निराशा मिली। किशोरी का हृदय चूर-चूर हो गया, जीवन की साध समाप्त हो गई। प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र मुझे इस शरीर से मिलेंगे, यह आशा शून्य में विलीन हो गई। अन्त में किशोरी के आकुल प्राणों ने यह बताया—'लाड़िली! प्रियतम जीवन में नहीं मिले, कदाचित् जीवन के उस पार……।-बस, बस, सर्वथा उपयुक्त।' भानुनन्दिनी कलिन्दनन्दिनी का आश्रय लेने चल पड़ीं।

× × ×

लताजाल की ओट से श्रीकृष्णचन्द्र भानुनन्दिनी की विकल चेष्टा देख रहे हैं, हृदय धक-धक करने लगता है। रोती हुई भानुकिशोरी ने अपने हाथ के कंकण निकाले, विशाखा के हाथ पर रख दिये—'लो, बहिन! मेरा यह स्मृति-चिह्न मेरी प्यारी ललिता को दे देना।' फिर मुद्रिका उतारी, विशाखा की अँगुली में पहनाने लगीं—'प्राणाधिके,

---

१. श्रीकृष्णचन्द्र जिस समय वन में कुसुमों से विभूषित चम्पकलता देखते हैं, उस समय अङ्ग काँपने लगते हैं, समस्त चम्पकवन राधाकिशोरीमय बन जाता है, मयूरपिच्छ सिर से गिर गया, यह ज्ञान नहीं, मधुमङ्गल ने कब माला पहनायी, यह भान नहीं। कदम्ब-वन के नीरव निकुंजों में वंशी पर 'राधा-राधा' गाकर अपने विकल प्राणों को शीतल करते रहते हैं।

बहिन विशाखे ! चिर विदा के समय मेरी यह तुच्छ भेंट तू अस्वीकार मत कर; इस मुद्रिका को देखकर तू कभी मुझे याद कर लेना, भला !'—विशाखा किशोरी को भुजपाश में बाँधकर, फुफकार मारकर रोने लगीं।

रुद्धकण्ठ से भानुनन्दिनी ने कहा—'तू क्यों रोती है ? बहिन ! यह तो भाग्य की बात है, इसमें तेरा क्या दोष है ? तूने तो अपनी सारी शक्ति लगा दी, पर प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र का मन फिरा न सकी; मेरे मन्दभाग्य को तू कैसे पलट देगी ? पर अब समय नहीं, हृदय को पत्थर कर ले; अपनी अन्तिम वासना तुझे सुना दे रही हूँ, धैर्य करके सुन ले। तट का वह तमाल तुझे दीख रहा है न ? अच्छी तरह तू देख ले। बहिन ! मैं तो देख नहीं पा रही हूँ, पहले देख चुकी हूँ। इस तमाल का वर्ण मेरे प्रियतम-जैसा श्याम है; बस, मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है। आह ! तमाल-स्कन्ध पर मेरे निष्प्राण शरीर को लिटा देना, मेरी भुजाओं से तमाल-स्कन्ध को वेष्टित कर सुदृढ बन्धन लगा देना, जिससे चिरकाल तक मेरा यह शरीर वृन्दावन में ही, तमाल-शाखा पर ही स्थिर रहे, विश्राम करता रहे—

अकारुण्यः कृष्णो यदि मयि तवागः कथमिदं
मुधा मा रोदीर्मे कुरु परमिमामुत्तरकृतिम् ।
तमालस्य स्कन्धे सखि कलितदोर्वल्लरिरियं
यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिष्ठति तनुः ॥

—विदग्धमाधव

—'किंतु. . . . . हाँ ! एक बार वह चित्रपट मुझे पुनः दिखा दे। त्रैलोक्यमोहन उस मुखचन्द्र को साक्षात् तो देख नहीं सकी, महाप्रयाण से पूर्व उस चित्रपट को ही देख लूँ; मेरे प्राण शीतल हो जायँ, उसी त्रिभंग सुन्दर छवि में अनन्तकाल के लिए लीन हो सकूँ।'

विशाखा के धैर्य की सीमा हो चुकी। किंतु, उत्तर दिये विना तो किशोरी के प्राण यों ही निकल जायँगे। किसी प्रकार सारी शक्ति बटोरकर विशाखा रोती हुई ही रुक-रुककर इतना कह सकीं—'लाड़िली ! वह चित्रफलक तो घर पर है।'

'आह ! इतना सौभाग्य भी नहीं'—किशोरी ने नेत्र बंद कर लिये। उनके अंग अवश हो गये, वहीं बैठ गईं। 'आओ, प्रियतम ! प्राणेश्वर ! आओ। स्वामिन् ! नाथ ! एक बार दासी के ध्यानपथ में उतर आओ, दासी का यह अन्तिम मनोरथ तो पूर्ण कर दो।'—किशोरी अस्फुट स्वर में आवृत्ति करने लगीं।

श्रीकृष्णचन्द्र के भी धैर्य की सीमा हो गई। लताजाल फटा। श्रीकृष्णचन्द्र श्रीराधा किशोरी के सामने आ गये। उन्हें देखते ही किशोरी के दुःख से जडवत् हुई विशाखा के प्राण आनन्द से नाच उठे। 'लाड़िली ! लाड़िली ! नेत्र खोल ! री ! देख ! प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र आये हैं !' भानुकिशोरी ने आँखें खोलीं, देखा—सचमुच प्रियतम श्यामसुन्दर सामने खड़े हैं !

७. सतीत्व-परीक्षण

व्रजपुरन्ध्रियों में भानुकिशोरी एवं श्रीकृष्णचन्द्र के मिलन की चर्चा कानों-कान फैलने लगी। कोई तो सुनकर आनन्द में निमग्न हो गईं, किसी ने नाक-भौं सिकोड़ी; व्रजतरुणियों ने

तो इसे अपने जीवन का आदर्श बना लिया तथा कोई-कोई चीत्कार कर उठीं–
'री भानुनन्दिनी ; तुमने यह क्या किया ! निर्मल कुल में. . . . ।'

विशेष करके व्रज में दो ऐसी थीं, जिन्हें यह मिलन शूल की तरह व्यथा दे रहा था। उनमें एक के अंगों पर तो अभी यौवन लहरा रहा था और दूसरी वृद्धा हो चुकी थीं, अनेक उलट-फेर देख चुकी थीं। दोनों के मन में अपने सतीत्व का गर्व था। अनसूया, सावित्री से भी अपने को ऊँचा मानती थीं। भानुकिशोरी की प्रत्येक चेष्टा ही उन्हें दोषपूर्ण दीखती, पद-पद पर उन्हें भानुदुलारी के चरित्र पर संदेह होने लगा। वे किशोरी को अपने मापदण्ड पर परख रही थीं; उनके सतीत्व के मापदण्ड पर किशोरी तुल नहीं रही थीं। वे बेचारी यह नहीं जानती थीं कि भानुनन्दिनी की सत्ता पर ही जगत् के अतीत, वर्त्तमान, भविष्य का समस्त सतीत्व अवलम्बित है। जानें भी कैसे, स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन की लीलासूत्रधारिणी अघटनघटनापटीयसी योगमाया उन्हें जानने जो नहीं दे रही थीं। वे यदि किशोरी के स्वरूप को जान लें, तो फिर लीलामाधुर्य का विस्तार कैसे हो? भानुकिशोरी का ज्वलन्त उज्ज्वलतम श्रीकृष्णप्रेम निखरे कैसे? अस्तु; इन्हीं दोनों के कारण किशोरी वीथियों में, वन में, घर पर, घाट पर नित्यचर्चा का विषय बन गई थीं। यह चर्चा यहाँतक बढ़ गई कि व्रज-तरुणियों की सास—तनिक भी घर लौटने में विलम्ब हुआ कि बस, भानुकिशोरी का उदाहरण देकर ताना मारतीं—

कब की गई न्हान तुम जमुना, यह कहि कहि रिस पावै ।
राधा कौ तुम संग करति हौ, व्रज उपहास उड़ावै ।।
वा है बड़े महर की बेटी, तौ ऐसी कहवावै ।
सुनहु सूर यह उनहीं भावै, ऐसे कहति डरावै ।।

इधर तो यह सब हो रहा है, किंतु भानुदुलारी के मन पर इनका तिलमात्र भी प्रभाव नहीं। यह उपहास, यह लोकनिन्दा उनकी चित्तधारा को उलट दे, यह तो असम्भव है–

जैसे सरिता मिली सिंधु में उलटि प्रवाह न आवै हो ।
तैसे सूर कमलमुख निरखत चित इत उत न डुलावै हो ।।

पुर-रमणियाँ देखतीं, इतना उपहास होने पर भी उन्मादिनी-सी हुई भानुकिशोरी सिर पर स्वर्ण-कलशी लिये, घाट से घर, घर से घाट पर, न जाने कितनी वार आईं और गईं। उन्हें आश्चर्य नहीं होता; क्योंकि वे कारण जान गई थीं—

ग्वालिनि कृष्ण दरस सों अटकी ।
बार बार पनघट पै आवति, सिर जमुना जल मटकी ।
मनमोहन को रूप सुधानिधि पिवत प्रेमरस गटकी ।
कृष्णदास धन धन्य राधिका, लोकलाज सब पटकी ।।

कालिन्दी-तट पर कदम्ब की शीतल छाया में त्रिभंग-सुन्दर नन्दनन्दन अवस्थित रहते; किशोरी के नेत्र वरवस उनकी ओर चले जाते, जाकर निमेषशून्य हो जाते—

चितवन रोके हूँ न रही ।
श्याम सुन्दर सिंधु सनमुख सरिता उमगि बही ।।

प्रेम सलिल प्रवाह भौंरति, मिलि न कहूँ कही।
लोभ लहरि, कटाच्छ घूंघट, पट करार ढही॥

थके पल पथ नाव, धीरज परत नहिं न गही।
मिली सूर सुभाव श्यामहिं फेरिहूँ न चही॥

विष-अमृत के अनिर्वचनीय एकत्र मिलन की––भानुकिशोरी की हृदय-वेदना एवं अन्तःसुख की संगमित अचिन्त्य धारा की अनुभूति उन उपहास करनेवाली कतिपय गोपिकाओं में न थी, इसीलिए वे लाड़िली की आलोचना करती थीं। यह अनुभूति उनके लिए सम्भव भी नहीं थी। जिसके हृदय में श्रीकृष्ण चन्द्र का दिव्य प्रेम जाग्रत् होता है, केवल उसी को प्रेम के वक्र-मधुर पराक्रम का भान होता है, दूसरों को नहीं—

प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्त्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः॥

—विदग्धमाधव

किंतु, अब यह आलोचना सीमा का उल्लंघन कर रही थी। भानुनन्दिनी की भर्त्सना आरम्भ हो गई, उनसे भाँति-भाँति के प्रश्न किये जाने लगे। इन सबके उत्तर में भानु-दुलारी केवल रो देतीं, कुछ भी कह नहीं पातीं; वे सम्पूर्ण रूप से समझ भी नहीं पाती थीं कि ये सब क्या कह रहे हैं। भानुकिशोरी का संसार ही जो दूसरा था। अस्तु; लाड़िली का यह सरल क्रन्दन देखकर, और तो नहीं, कानन-अधिष्ठात्री वृन्दादेवी रो पड़ीं; उनके लिए यह असह्य हो गया। रोकर एक दिन उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्र से अपनी व्यथा बताई। श्रीकृष्णचन्द्र के नेत्रों से भी अश्रु के दो विन्दु ढलक पड़े। वृन्दा तो समझ नहीं पाईं कि श्रीकृष्णचन्द्र क्या प्रतीकार करेंगे; किंतु श्रीकृष्णचन्द्र के अंगों से झाँककर योगमाया ने जान लिया कि अब दृश्य बदलना है। बस, दूसरा खेल आरम्भ हो गया।

× × ×

'हाय रे हाय! मेरे नीलमणि को क्या हो गया!'—चीत्कार करती हुई यशोदा-रानी प्रासाद से संलग्न गोशाला की ओर दौड़ीं; व्रजेश्वर दौड़े, उपनन्द दौड़े, गोपसुन्दरियाँ दौड़ीं। जाकर देखा—गोशाला के उज्ज्वल मणिप्रांगण में श्रीकृष्णचन्द्र मूर्च्छित पड़े हैं। व्रजेश्वरी ने पुत्र को गोद में ले लिया। वे गोपशिशु रोकर बोले—मैया! हम सभी नाच रहे थे; कन्हैया को कहीं चोट भी नहीं लगी, पर नाचते-नाचते ही यह गिर पड़ा। श्रीकृष्ण-चन्द्र के सारे अंग तप रहे हैं, भीषण ज्वर से नाड़ी धक-धक चल रही है; नेत्र निमीलित हैं, मानों ग्रीष्मनिशा की छाया पड़ गई और पद्म संचित हो गये।

इधर तो मधुवन की सीमा आने तक तथा अन्य दिशाओं में जहाँतक व्रजेश्वर का राज्य था, जहाँतक मित्र राज्यों की सीमा थी, सर्वत्र एक घड़ी में ही व्रजेश्वर के दूतों ने डोंड़ी पीटकर सूचना दे दी—'व्रजेन्द्रनन्दन रुग्ण हो गये हैं, जो वैद्य उन्हें स्वस्थ कर दे, उसे मुँहमाँगा पुरस्कार गोकुलेश्वर देंगे; व्रजेश्वर का सारा राज्य, सारी सम्पत्ति भी यदि वह लेना चाहे, तो व्रजराज तत्क्षण दे डालने के लिए प्रस्तुत हैं।'

× × ×

सूचना सुनकर सघन वन से एक तरुण वैद्य आया है। पुरस्कार लेने नहीं, अपने औषध-ज्ञान का, ज्योतिष-विद्या का चमत्कार दिखाने। उसका तेज देखकर सबके आकुल प्राणों में आशा की किरण चमक उठती है। आश्चर्य यह है कि तरुण वैद्य की आकृति अधिकांश में यशोदानन्दन के समान है। अविराम अश्रु बहाती हुई यशोदा रानी ने जब वैद्य को देखा, तब सहसा उनके मुख से निकल पड़ा—'बेटा! नीलमणि!' पर फिर सँभल गई और बोलीं—'वैद्यराज! मेरे प्राण जा रहे हैं, आप जो माँगेंगे, वही दूँगी; मेरे नीलमणि को आप स्वस्थ कर दें। दो घड़ी हो गई, मेरे नीलमणि की मूर्च्छा नहीं टूटी।' यह कहती हुई वैद्य के चरणों से नीलमणि को छुलाकर, वे बिलख-बिलखकर रोने लगीं। तरुण वैद्य ने वीणा-विनिन्दित कण्ठ से कहा—'व्रजेश्वरी! धैर्य धारण करो, अभी-अभी मैं तुम्हारे पुत्र को स्वस्थ किये देता हूँ; हाँ, मैं जैसे-जैसे कहूँगा, उसी विधान से सारी व्यवस्था करनी पड़ेगी। और कुछ नहीं, एक नई कलसी मँगा लो एवं उस कलसी में किसी सती स्त्री से जल मँगा दो; पर जल भी मैं चाहूँ उस विधि से····।'

× × ×

तरुण वैद्य ने कलसी हाथ में ली, एक स्वर्ण-कील से उसमें सहस्र छिद्र बनाये; फिर चमकता हुआ एक यन्त्र अपनी झोला से निकाला; उस यन्त्र से श्रीकृष्णचन्द्र के कुञ्चित केशों की एक लर तोड़ ली। फिर, एक-एक केश को जोड़ने लगे। क्षणभर में ही वह केशतन्तु निर्मित हो गया। उसे लेकर प्रबल वेग से बहती हुई कालिन्दी के तट पर वे गये। नौका से उस पार जाकर तमालमूल में केशतन्तु का एक छोर बाँधा तथा फिर इस पार आकर दूसरे छोर को ठीक उसके सामने दूसरे तमाल से सन्नद्ध कर दिया। वह क्षीण केशतन्तु कलिन्दतनया की लहरों से एक हाथ ऊपर नाचने लगा। यह करके व्रजेन्द्रगेहिनी से बोले—'व्रजेश्वरी! विधान यह है कि कोई सती स्त्री श्रीकृष्णचन्द्र के केशों से निर्मित इस तन्तु पर पैर रखती हुई, कलिन्द-कन्या के इस पार से उस पार तीन बार जाय एवं लौट आवे; फिर इस छिद्रपूर्ण कलसी में जल भरकर वहाँ उस स्थान पर आवे, जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र मूर्च्छित होकर गिरे हैं। बस, फिर उसी जल से मैं तत्क्षण तुम्हारे नीलमणि को चैतन्य कर दूंगा।'

'वैद्यराज! यह भी कभी सम्भव है!' —यशोदारानी अपने मस्तक पर हाथ रखकर रो पड़ीं। तरुण वैद्य ने गम्भीर वाणी में कहा—'व्रजरानी! सती की महिमा अपार है; वास्तविक सती शून्य में चल सकती है, आकाश में जल स्थिर कर सकती है। फिर, व्रजपुर तो सतियों के लिए विख्यात है।'

× × ×

तो क्या व्रज में ऐसी कोई सती नहीं, जो यह साहस कर सके?—कातर कण्ठ से व्रजरानी ने पुकारकर कहा और स्वयं वह कलसी भरने चलीं। वैद्य ने हाथ पकड़ लिया—'व्रजेश्वरि! मैं जानता हूँ, तुम जल ला सकती हो; पर जननी के लाये हुए जल से वह कार्य सम्भव जो नहीं। वह जल तो तुम्हारे कुल से भिन्न किसी अन्य रमणी के हाथ का चाहिए।'

तरुण वैद्य ने अपार गोप-सुन्दरियों की भीड़ की ओर देखा। एक गोपी ने पुकारकर कहा—'हमारी ओर क्या देखते हो? वैद्यराज! हम तो श्याम-कलंकिनी हैं, हमारे लाये जल से श्रीकृष्णचन्द्र चैतन्य नहीं होंगे।'

× × ×

यशोदा की प्रार्थना पर व्रजप्रसिद्ध सती, वह युवती एवं वृद्धा—दोनों वहाँ आईं। भानुकिशोरी का उपहास करने में, अपने सतीत्व के गर्व से लाड़िली की भर्त्सना करने में ये ही अग्रगण्या थीं। युवती ने आते ही इठलाकर कलसी उठा ली, जल भरने चली। व्रज-सुन्दरियों की अपार भीड़ भी पीछे-पीछे चल पड़ी।

× × ×

केशतन्तु पर चरण रखते ही, तन्तु छिन्न होकर यमुना लहरियों पर नाचने लगा। नाचकर वह चला; नहीं-नहीं, भानुनन्दिनी की निन्दा करनेवाली को मैं उस पार नहीं ले जाऊँगा—मानों सिर हिलाकर यह कहते हुए स्पर्श के भय से भाग निकला। युवती को यमुना की चञ्चल तरंगें वहा ले चलीं। नौकारोहियों ने किसी प्रकार निकाला। उसका सिर नीचा हो गया था। आकर वोली—'वैद्यराज! यदि मैं नहीं, तो सती सावित्री, सतीशिरोमणि शैलेन्द्रनन्दिनी भी इस विधान से जल नहीं ला सकतीं।' तरुण वैद्य ने हँसकर कहा—'देवि! सती की महिमा का तुम्हें ज्ञान नहीं।'

× × ×

इस वार वृद्धा की परीक्षा थी। उसी भाँति नये तन्तु का निर्माण कर वैद्यराज ने केशसेतु की रचना की। किंतु जो दशा युवती की हुई, वही युवती-जननी की हुई। व्रजेश्वरी के मुख पर निराशा छा गई—'हा, मेरे नीलमणि का क्या होगा?'

'वैद्यराज! तुम यदि किसी सती का परिचय जानते हो तो वताओ'—व्रजरानी तरुण वैद्य की ओर कातर दृष्टि से देखकर वोलीं। 'नन्दरानी! ज्योतिप-गणना से वता सकता हूँ', कहकर वैद्यराज धरती पर रेखा अंकित करने लगे। कुछ देर तक विविध चित्र, अनेक यन्त्रों की रचना करते रहे। फिर, प्रफुल्ल चित्त से बोल उठे—'नन्दगेहिनी! चिन्ता की वात नहीं; इसी व्रज में एक परम सती हैं, उन सती की चरण-रज से विश्व पावन होगा। उन्हें वुलाओ। उनका नाम 'राधा' है।

× × ×

भानुकिशोरी को इस घटना का पता नहीं। वे तो एकान्त प्रासाद में बैठी कुसुमों की माला गूँथ रही हैं। उनके सामने त्रिभंगललित प्रियतम श्यामसुन्दर की मानसमूर्त्ति है; नेत्र झर रहे हैं और वे प्रियतम को अपने हृदय की वात सुना रही हैं—

बंधु कि आर बलिब आमि।
जीवने मरणे जनमे जनमे प्राणनाथ हैओ तुमि॥
तोमार चरणे आमार पराणे बाँधिल प्रेमेर फाँसी।
सब समर्पिया एक मन ठैया निचय हैलाम दासी॥
भावि देखिलाम ए तीन भुवने आर के आमार आछे।

राधा बलि केह सुधाइते नाइ, दाँड़ाब काहार काछे ।।
ए कुले ओ कुले दु कुले गोकुले आपना बलिब काय ।
शीतल बलिया शरण लइनु, ओ दुटी कमल पाय ।।
ना ठेलिओ मोरे अवला बलिये, ये हय उचित तोर ।
भाविया देखिनु प्राणनाथ बिने गति ये नाहिक मोर ।।
आँखिर निमिखे यदि नाहि देखि, तबे से पराणि मरि ।
चण्डीदास कय परशरतन गलाय गाँथिया परि ।।

'मेरे प्रियतम! और मैं तुम्हें क्या कहूँ। वस, इतना ही चाहती हूँ—जीवन में, मृत्यु में, जन्म-जन्म में तुम्हीं मेरे प्राणनाथ रहना। तुम्हारे चरण एवं मेरे प्राणों में प्रेम की गाँठ लग गई है; मैं सब कुछ तुम्हें समर्पित कर एकान्त मन से तुम्हारी दासी हो चुकी हूँ। मेरे प्राणेश्वर! मैं सोचकर देखती हूँ—इस त्रिभुवन में तुम्हारे अतिरिक्त मेरा और कौन है? 'राधा' कहकर मुझे पुकारनेवाला तुम्हारे सिवा और कोई भी तो नहीं है! मैं किसके समीप जाकर खड़ी होऊँ? इस गोकुल में कौन है, जिसे मैं अपना कहूँ? सर्वत्र ज्वाला है, एकमात्र तुम्हारे युगल चरण-कमल ही शीतल हैं; उन्हें शीतल देखकर ही मैं तुम्हारी शरण में आई हूँ। तुम्हारे लिए भी अब यही उचित है कि मुझ अवला को चरणों में स्थान दे दो; मुझे अपने शीतल चरणों से दूर मत फेंक देना। नाथ! सोचकर देखती हूँ, मेरे प्राणनाथ! तुम्हारे बिना अब मेरी अन्य गति ही कहाँ है? तुम यदि दूर फेंक दोगे, तो मैं अवला कहाँ जाऊँगी? मेरे प्रियतम एक निमेष के लिए भी जब तुम्हें नहीं देख पाती, तब मेरे प्राण निकलने लगते हैं। मेरे स्पर्शमणि! तुम्हें ही तो मैं अपने अंगों का भूषण बनाकर गले में धारण करती हूँ।'

× × ×

जिस क्षण किशोरी ने व्रजरानी का आदेश सुना, यह जाना कि श्रीकृष्ण चन्द्र रुग्ण हैं कि वस, उसी क्षण विक्षिप्त-सी हुई दौड़ीं। गोशाला में आ पहुँची। उनके आते ही सम्पूर्ण गोशाला उद्‌भासित हो उठी। तरुण वैद्य आसन से उठे, भानुकिशोरी के आगे सिर टेक दिया।

भानुनन्दिनी जल भरने चलीं। तमाल-तरु से सन्नद्ध प्रियतम के केशों से निर्मित उस सेतु को उन्होंने प्रणाम किया। फिर उस पर अपने कोमल चरण रखकर चल पड़ीं। मध्य धारा में जाकर एक वार किशोरी ने पीछे की ओर फिर कर देखा। 'सती की जय हो, भानुकिशोरी की जय हो'—तुमुल नाद से यमुना-कूल निनादित हो रहा था, तरुश्रेणी आनन्दविवश होकर नाच रहीं थी, कलिन्दनन्दिनी भी उमंग में भरकर ऊँची-ऊँची लहरें ले रही थीं, मानों कूल को तोड़कर वृन्दावन को प्लावित कर देंगी। भानुकिशोरी ने यह आनन्द-कोलाहल सुनकर आनन्द-प्रकम्पन देखकर ही आश्चर्य से पीछे की ओर देखा था।

क्रमशः तीन वार किशोरी इस सेतु पर इस पार से उस पार तक हो आयीं। फिर, सहस्र छिद्रोंवाली कलसी को जल से पूर्ण करने चलीं। वायें हाथ से ही कलसी को

डुबाया, कलसी ऊपर तक भर गई; उसे सिर पर रखकर गोशाला की ओर चल पड़ीं। आकाश से तो पुष्पों की वर्षा हो ही रही थी; गोपों ने, गोपसुन्दरियों ने, उसी क्षण तोड़-तोड़कर भानुकिशोरी के चरणों में इतने पुष्प चढ़ाये कि वह सम्पूर्ण पथ कुसुममय हो गया।

भानुकिशोरी ने कलशी तरुण वैद्य के सामने रख दी। वैद्यराज के नेत्र सजल हो रहे थे। वे बोले—'देवि! तुम्हीं अपने पवित्र हस्त-कमलों से एक अञ्जलि जल नन्द-नन्दन पर डाल दो।' आज्ञा मानकर लज्जा से अवनत हुई किशोरी ने अञ्जलि में जल लिया और श्रीकृष्णचन्द्र पर बिखेर दिया। श्रीकृष्ण चन्द्र ऐसे उठ बैठे, मानों सोकर जगे हों।

× × ×

सिर नीचा किये भानुकिशोरी अपने घर की ओर जा रही हैं तथा उनके पीछे, अभी-अभी कुछ देर पहले जो गोपियाँ उनके चरित्र पर धूल उछाला करतीं, वे अपने अंचल में उनकी चरण-रज बटोरती जा रही हैं। बड़े-बड़े वृद्ध गोप सती-शिरोमणि श्रीराधा-किशोरी के चरणों से रञ्जित उस पथ में लोट-लोटकर कृतार्थ हो रहे हैं!

८. रास में मिलन

भानुकिशोरी अपने श्रीअंगों को सजा रही थीं, मेरे प्रियतम को मेरा श्रृंगार परमानन्द-सिन्धु में निमग्न कर देता है—केवल इस भावना से, एकमात्र प्राणेश्वर को सुख पहुँचाने के उद्देश्य से। इसी समय शारदीय शशधर की ज्योत्स्ना से उद्भासित यमुना-पुलिन पर श्रीकृष्णचन्द्र की वंशी बज उठती है। बस, फिर तो मिलनोत्कण्ठा से विक्षिप्त हुई भानुकिशोरी का श्रृंगार धरा ही रह जाता है; नहीं-नहीं एक विचित्र साज से सजकर किशोरी पुलिन की ओर दौड़ चलती हैं।

किशोरी ने गोस्तन नामक मणिमय हार को कण्ठ में न धारण कर नितम्बदेश में धारण किया, कटि-किंकिणी को कण्ठ में डाल दिया, पुष्पमालाओं को सिर में लपेट लिया, ललाटिका (सींथी) वेणी में लटका ली, नेत्रों में तो मृगमद (कस्तूरी) का अञ्जन लगा लिया एवं अञ्जन से ललाट पर बेंदी लगा ली, अंगराग के बदले यावक (आलता) रस उठा लिया, उससे श्रीअंगों को पोत लिया। यही दशा आज किशोरी की सखियों की भी हुई। उन्हें आभूषण धारण करने को तो अब अवकाश कहाँ? हाँ, वे वस्त्र बदल रही थीं, वस्त्रमात्र बदल सकीं; पर ओढ़ने को तो साड़ी बना लिया एवं लहँगे को ओढ़ लिया। इस विचित्र वेश-भूषा से सज्जित हुई भानुकिशोरी एवं किशोरी की सखियाँ वंशीधर के समीप जा पहुँचीं—

व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः।

—श्रीमद्भागवत

प्रेमविभोर भानुकिशोरी का यह श्रृंगार देखकर अखिल रसामृतमूर्त्ति श्रीकृष्णचन्द्र के हृदय में रस की एक अभिनव धारा बह चलती है। बिन्दु के रूप में वह रस उनके नेत्रों से झरने लगता है। रसमय नेत्रों से ही वे भानुकिशोरी के इस श्रृंगार की ओर कुछ देर देखते रहते हैं। इतने में ही इसी वेश-भूषा के अन्तराल से महाभावरूपा भानुकिशोरी का वह

सौन्दर्य, वह शृंगार निखर पड़ता है, जिसे स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अनादिकाल से देख रहे हैं, अनन्त काल तक देखते रहेंगे; जिसे देख-देखकर वे अबतक तृप्त नहीं हुए, अनन्त कालतक तृप्त होंगे भी नहीं। भानुकिशोरी का वह शृंगार यह है—वे श्रीकृष्ण-स्नेह का तो उबटन लगाती हैं, उस उबटन में सखियों का प्रणय-रूप सुगन्धित द्रव्य भी मिश्रित रहता है; उससे किशोरी के अंग स्निग्ध, कोमल, सुगन्धपूर्ण, उज्ज्वल हो जाते हैं। पहले किशोरी कारुण्य-रूप अमृतधारा में स्नान करती हैं, यह किशोरी का मानों प्रातःस्नान (कौमार) है; फिर तारुण्य की अमृतधारा में स्नान करती हैं, यह किशोरी का मध्याह्न-स्नान (कैशोर) है। दो स्नान करके फिर लावण्य की अमृतधारा में अवगाहन करतीं हैं; यह किशोरी का सायाह्न-स्नान, तृतीय स्नान (कैशोर-सौन्दर्य) है। स्नान के पश्चात् अपनी लज्जा-रूप साड़ी पहन लेती हैं; यह साड़ी श्यामवर्ण होती है, दिव्य शृंगाररसमय तन्तुओं से निर्मित रहती है। भानुकिशोरी कृष्ण-अनुराग की अरुण साड़ी भी धारण करती हैं तथा प्रणय एवं मान की कञ्चुलिका से वक्षःस्थल आच्छादित रहता है। फिर, अंग-विलेपन करती हैं, उस विलेपन में सौन्दर्य-रूप कुंकुम पड़ा रहता है। सखी-प्रणयरूप चन्दन मिला होता है। अधरों की स्मित-कांतिरूप कर्पूरचूर्ण मिश्रित रहता है। मधुर-रस का मृगमद (कस्तूरी) लेकर श्रीअंगों को सुचित्रित करती हैं। प्रच्छन्न वंकिम मान के द्वारा केशवन्ध की रचना करती हैं, किसी दिव्य धीराधीरा सुन्दरी के दिव्य गुणों को लेकर उससे उनका पटवास (सुगन्धित चूर्ण) निर्मित होता है तथा उस दिव्य चूर्ण को अपने अंगों पर वे बिखेर लेती हैं। राग का ताम्बूल ग्रहण करती हैं, इस ताम्बूल-राग से उनके अधर उज्ज्वल अरुणवर्ण हो जाते हैं; प्रेम के कौटिल्य-रूप अञ्जन से दोनों नेत्रों को आँजती हैं। सुदीप्त अष्ट सात्त्विक भाव, हर्ष आदि दिव्य तैंतीस सञ्चारी भाव—इन भाव-भूषणों को ही किशोरी अपने अंगों में धारण करती हैं। किलकिञ्चित आदि बीस भाव ही भानुकिशोरी के श्रीअंगों के अलंकार हैं, माधुर्य आदि दिव्य पचीस सद्गुणों की पुष्पमाला से समस्त अंग पूर्ण रहते हैं; सुन्दर ललाट पर सौभाग्य-रूप सुन्दर मनोहर तिलक सुशोभित रहता है, प्रेमवैचित्त्य-रूप रत्नहार हृदय पर नाचता रहता है। नित्य किशोर वयस-रूप सखी के कंधे पर हाथ रखे वे अवस्थित रहती हैं तथा कृष्ण-लीलामयी मनोवृत्ति-रूप सखियाँ उन्हें घेरे रहती हैं। अपने श्रीअंग के सौरभ-रूप गृह में वे दिव्य गर्व-पर्यंक पर विराजित रह-कर सदा श्रीकृष्ण-मिलन का चिन्तन करती रहती हैं। कृष्ण-नाम, कृष्ण-गुण, कृष्ण-यश का श्रवण ही कानों में अवतंस-रूप (कर्ण-भूषण) हैं; श्रीकृष्ण-नाम-गुण-यश के प्रवाह से वाणी अलंकृत है। श्यामरस-दिव्य शृंगाररस-रूप मधु से पूरित पात्र हाथ में लेकर वे श्रीकृष्ण-चन्द्र को मधुपान कराती हैं। यही भानुकिशोरी के हाथों की शोभा है, समस्त अंगों से एकमात्र श्रीकृष्ण की सेवा होती है—यही किशोरी की अंग-शोभा है। विशुद्ध श्रीकृष्ण प्रेम-रत्न की आकारभूता राधाकिशोरी के अंगों के अंतराल से अनन्त सद्गुण चमकते रहते हैं; उनसे नित्य विभूषित राधाकिशोरी को वाह्य शृंगार की आवश्यकता नहीं।[1] अस्तु;

१. राधाप्रति कृष्णस्नेह सुगन्धि उद्वर्तन।
ताते अति सुगन्धि देह उज्ज्वलवरण॥

अस्तु; भानुनन्दिनी एवं श्रीकृष्णचन्द्र राका-रजनी में इस प्रकार मिले। इसी समय दल-की-दल असंख्य गोपसुन्दरियाँ आ पहुँचती हैं; क्योंकि आज तो महारास के लिए वंशी बजी है, आज ही तो साधना से गोपी बने हुए अनन्त भक्तों को नित्यरास—नित्यलीला में प्रविष्ट कराने का मुहूर्त्त है।

योगमाया मञ्च पर अपना वैभव बिखेरकर लीलाक्रम का निर्देश करती जा रही हैं

कारुण्यामृतधाराय स्नान प्रथम।
तारुण्यामृतधाराय स्नान मध्यम॥
लावण्यामृतधाराय तदुपरि स्नान।
निजलज्जा-श्याम-पट्टशाटी परिधान॥
कृष्ण अनुरागे रक्त द्वितीय वसन।
प्रणय-मान-कंचुलिकाय वक्ष आच्छादन॥
सौन्दर्य कुंकुम सखी-प्रणय चन्दन।
स्मित-कान्ति कर्पूर तिने अंगविलेपन॥
कृष्णेर उज्ज्वल रस मृगमदभर।
सेइ मृगमदे विचित्रित कलेवर॥
प्रच्छन्न-मान वाम्य धम्मिल्ल-विन्यास।
धीराधीरात्मक गुण अंगे पटवास॥
राग-ताम्बूल-रागे अधर उज्ज्वल।
प्रेमकौटिल्ये नेत्रयुगले कज्जल॥
सूद्दीप्त सात्त्विकभाव, हर्षादि संचारी।
एइ सब भाव-भूषण सब अंगे भरि॥
किलकिंचितादि भाव विंशति भूषित।
गुणश्रेणी पुष्पमाला सर्वाङ्गे पूरित॥
सौभाग्य तिलक चारु ललाटे उज्ज्वल।
प्रेम वैचित्त्य रत्न हृदये तरल॥
मध्यावयस्थिति-सखीस्कन्धे करन्यास।
कृष्णलीला-मनोवृत्ति सखी आस पाश॥
निजांग सौरभालये गर्व-पर्यंक।
ताते वसि आछे सदा चिन्ते कृष्णसंग॥
कृष्ण-नाम-गुण-यश अवतंस काने।
कृष्ण-नामगुण-यश प्रवाह वचने॥
कृष्णके कराय श्यामरस मधुपान।
निरन्तर पूर्ण करे कृष्णेर सर्वकाम॥
कृष्णेर विशुद्धप्रेम-रत्नेर आकर।
अनुपम गुण-गण पूर्ण कलेवर॥

तथा उसी क्रम से लीला आगे बढ़ रही है। पहले गोप-सुन्दरियों की प्रेम-परीक्षा होती है; जब वे पूर्णतया उसमें उत्तीर्ण हो जाती हैं, तब नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र का प्रेमसिंधु उमड़ उठता है, व्रज-सुन्दरियाँ उसमें डूब-डूबकर कृतार्थ होने लगती हैं। इस रसपान से—अवश्य ही रस वर्द्धन के लिए—गोप-सुन्दरियों में तो सौभाग्य-मद का एवं भानुकिशोरी में मान का आविर्भाव होता है। भानुकिशोरी मान करके निकुञ्ज में चली जाती हैं। उन्हें न देखकर श्रीकृष्णचन्द्र भी वहाँ से अन्तर्हित हो जाते हैं। अन्तर्धान होने का उद्देश्य यह है कि व्रज-सुन्दरियों का सौभाग्य-गर्व प्रशमित होकर इनके रस की पुष्टि हो एवं प्रिया का मान-प्रसादन होकर महाभाव-सिंधु लहरा उठे और हम सभी उसमें निमग्न हो जायँ—

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥—श्रीमद्भागव० १०।२९।४८

× × ×

व्रज-सुन्दरियाँ व्याकुल होकर प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र को वन में ढूँढ़ने जाती हैं, उन्मादिनी-सी हुई तरुलता-वल्लरियों से प्रियतम का पता पूछती हैं—

बिरहाकुल ह्वै गयीं, सबै पूछत बेली बन ।
को जड़ को चैतन्य, न कछु जानत बिरही जन ॥
हे मालति, हे जाति, जूथिके सुनि हित दे चित ।
मान हरन मन हरन लाल गिरिवरन लखे इत ॥
हे केतकि, इत तें कितहूँ चितए पिय रूसे ।
कै नँदनंदन मंद मुसुकि तुमरे मन मूसे ॥
हे मुक्ताफल बेल, धरे मुक्ताफल माला ।
देखे नैंन बिहाल मोहना नंद के लाला ॥
हे मंदार उदार, बीर करबीर महामति ।
देखे कहुँ बलबीर धीर मनहरन धीर गति ॥
हे चंदन, दुखदंदन सबकी जरन जुड़ावहु ।
नँदनंदन जगवंदन चंदन हमहिं बतावहु ॥
पूछो री इन लतनि फूलि रहिं फूलनि गोई ।
सुन्दर पिय के परस बिना अस फूल न होई ॥
हे सखि, हे मृगबधू, इन्हैं किन पूछहु अनुसरि ।
डहडहे इनके नैंन, अबहिं कहुँ देखे हैं हरि ॥
अहो सुभग बन गंधि पवन सँग थिर जु रही चलि ।
सुख के भवन दुख दवन रवन इतते चितए बलि ॥
हे चंपक, हे कुसुम, तुम्हें छबि सबसों न्यारी ।
नैंक बताय जु देउ, जहाँ हरि कुंजबिहारी ॥
हे कदंब, हे निंब, अंब, क्यों रहे मौन गहि ।
हे बट उतँग सुरंग बीर, कहु तुम इत उत लहि ॥

हे असोक, हरि सोक लोकमनि पियहिं बतावहु ।
अहो पनस, सुभ सरस मरत तिय अमिय पियावहु ॥
जमुन निकट के बिटप पूछि भई निपट उदासी ।
क्यों कहिहैं सखि अति कठोर ये तीरथबासी ॥

—तथा इधर राधाकिशोरी अपने प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र के प्राणों में प्राण मिलाकर आत्मविस्मृत हो गई हैं । जब जागती हैं, तब भी प्रेमवैचित्त्य[1] का भाव लेकर ही जागती हैं और इसीलिए कुछ-का-कुछ अनुभव करने लगती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र भानुकिशोरी की दृष्टि के सामने खड़े हैं; पर किशोरी को यह अनुभूति होने लगती है कि प्रियतम जैसे अन्य गोपियों को छोड़कर चले आये थे, वैसे मुझे भी छोड़कर चले गये। यह अनुभूति इतनी गाढ़ हो जाती है कि किशोरी व्याकुल होकर चीत्कार कर उठती हैं—

हा नाथ रमणप्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज ।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥—श्रीमद्भाग०, १०।३०।४०

'हा नाथ ! हा रमण ! हा प्रियतम ! हा महाबाहो ! तुम कहाँ हो ? मैं तो तुम्हारी दासी हूँ, अत्यन्त दीन हो रही हूँ। मुझे दर्शन दो।'

भानुनन्दिनी का यह प्रेमवैचित्त्य-विकार देखकर श्रीकृष्ण तो निर्वाक् हो गये। भानुकिशोरी के चरणों में लुट पड़ने के लिए झुके, किंतु इसी समय व्रज-सुन्दरियाँ उन्हें ढूँढ़ती हुई वहाँ आ पहुँची। अतः, वैचित्त्यवश विलाप करती हुई भानुकिशोरी को वहीं छोड़कर वे पुनः अन्तर्हित हो गये।

व्रज-सुन्दरियाँ आईं। भानुकिशोरी की व्याकुलता देखकर अपना दुःख भूल गईं, किशोरी के आँसू पोंछने लगीं।

× × ×

भानुनन्दिनी के विलाप से, व्रज-सुन्दरियों के सुस्वर क्रन्दन से वह सारी वनस्थली करुणाप्लावित हो गई। इसी समय कोटि मन्मथमन्मथ-रूप में श्रीकृष्णचन्द्र प्रकट हो गये। उनके दर्शनमात्र से मानों व्रज-सुन्दरियों ने तो नवजीवन पाया, पर भानुकिशोरी में पुनः प्रणय-कोप का सञ्चार हो गया। अवश्य ही इस वार श्रीकृष्णचन्द्र की वाणी में ऐसा मधु, इतनी नम्रता भरी थी कि भानुकिशोरी का मान क्षणभर में देखते-देखते ही उस मधुधारा में बह गया। श्रीकृष्णचन्द्र ने व्रजसुन्दरियों से तो यह कहा—

तब बोले ब्रजराज कुँवर, हौं रिनी तुम्हारो ।
अपने मन तें दूरि करौ किन दोष हमारो ॥
कोटि कल्प लगि तुम प्रति प्रतिउपकार करौं जौ ।
हे मन हरनी तरुनी, उरिनी नाहिं तबौं तौ ॥

---

१. प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः ।
या विश्लेषधियाऽऽर्त्तिस्तत् प्रेमवैचित्त्यमुच्यते ॥—उज्ज्वलनीलमणि ।

'प्रियतम के निकट रहने पर भी प्रेम के उत्कर्षवश प्रियतम से मेरा वियोग हो गया है—ऐसी भावना होकर जो पीडा होती है, उसे प्रेमवैचित्त्य कहते हैं।'

—तथा किशोरी को हृदय से लगाकर बोले :

सकल बिस्व अपबस करि मो माया सोहति है।
प्रेममयी तुमरी माया, सो मोहि मोहति है।
तुम जु करी, सो कोउ न करै, सुनि नवल किसोरी।
लोक बेद की सुदृढ़ सृंखला तृन सम तोरी॥

भानुकिशोरी ने संकुचित होकर प्रियतम के पीताम्बर में अपना मुख छिपा लिया।

× × ×

महारास-रस की धारा यमुना-पुलिन पर बह चलती है। मानों भानुकिशोरी सौदामिनी है और श्रीकृष्णचन्द्र नवजलधर; श्याम घटा में विलीन तडित्-लहरी सी भानुकिशोरी नृत्य कर रही हैं एवं श्यामवारिधर श्रीकृष्णचन्द्र उमड़-घुमड़कर रस की वर्षा कर रहे हैं। उन्हें घेरकर एक व्रजसुन्दरी एक श्रीकृष्णचन्द्र, फिर एक गोपसुन्दरी एक श्रीकृष्ण—इस क्रम से मण्डल की रचना है, मानों दो स्वर्णिम मणियों के मध्य में एक-एक इन्द्र-नीलमणि हो।

देवदुन्दुभि बज रही है; देववृन्द आकाश से पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं। रास के ताल पर नृत्य करती हुई वन-अधिदेवी वृन्दा गा रही हैं। उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर गगनस्थ देवांगनाएँ भी गा रही हैं—

आज गुपाल रास रस खेलत
पुलिन कल्पतरु तीर री, सजनी।
सरद बिमल नभ चंद विराजत,
रोचक त्रिविध समीर री, सजनी॥
चंपक बकुल मालती मुकुलित,
मत्त मुदित पिक कीर री, सजनी।
देखि सुगंध राग रंग नीको,
ब्रज जुवतिन की भीर री, सजनी॥
मघवा मुदित निसान बजायौ,
ब्रत छाँड्यौ मुनि धीर री, सजनी।
(जैश्री) हितहरिवंश मगन मन स्यामा,
हरत मदन घन पीर री, सजनी॥

यह एक झाँकी है महारास के समय भानुकिशोरी श्रीराधा एवं नन्दकिशोर श्रीकृष्णचन्द्र के मिलन की।

९. वियोग

यदि अक्रूर श्रीकृष्णचन्द्र को मधुपुरी ले ही जायगा, तब फिर किसके लिए वृन्दावन में नव-कुञ्जों का निर्माण करूँ? किसलिए मनोहर पुष्पशय्या की रचना करूँ? सौरभ-शालिनी लता-वल्लरियों को पुष्पित करने से ही क्या प्रयोजन है? उनपर कुसुम-विकास कराने का समय तो समाप्त हो चला, वृन्दावन के दुर्दिन आरम्भ हो गये, अब इसे सजाकर ही क्या करूँगी?

वनभुवि नवकुञ्जं कस्य हेतोर्विधास्ये
कृतरुचि रचयिष्याम्यत्र वा पुष्पतल्पम् ।
सुरभिमसमये वा वल्लिमुत्फल्लयिष्ये
यदि नयति मुकुन्दं गान्दिनेयः पुराय ॥
—ललितमाधव

—यह कहती हुई कानन-अधिदेवी वृन्दा रोने लगीं। किंतु, भानुकिशोरी को अभी तक यह समाचार नहीं मिला है कि मधुपुर से कंसदूत अक्रूर प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र को लेने आये हैं। आनन्द-सिन्धु में निमग्न भानुनन्दिनी को यह भान नहीं कि सौ वर्ष के लिए प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र से वियोग होने का वह निर्धारित समय उपस्थित हो गया है। तीन वर्ष, पाँच महीने हो गये—किशोरी बाह्य जगत् को भूल-सी गई हैं। प्रभात आता, दिन हँसता, संध्या आँचल फैलाती, निशा साँस लेती, उषा अरुणराग बिखेरती और फिर प्रभात हो जाता; किन्तु किशोरी नहीं जानतीं, कब क्या हुआ। कभी प्रियतम से साक्षात् मिलन का, तो कभी श्रीकृष्ण-स्फूर्त्ति का आनन्द-सागर लहराता रहता एवं किशोरी उसकी लहरों पर न जाने कहाँ से कहाँ बहती रहतीं। आज संध्या हो चुकी है, पर भानुकिशोरी के नेत्रों में तो अभी दिन है। सुदूर उपवन के किसी कदम्ब-कुञ्ज में प्रियतम के मुखारविन्द से झरते हुए मधु को पी-पीकर मन-ही-मन वे मतवाली हो रही हैं। ललिता-विशाखा सामने खड़ी हैं, दुःख-भार से दोनों का हृदय फटता जा रहा है। वे सोच नहीं पातीं कि यह हृदय-विदारक समाचार—श्रीकृष्णचन्द्र कल मधुपुरी चले जायँगे, यह प्राणहारी सूचना किशोरी के सामने कैसे प्रकट करें; न कहने का साहस हो रहा है, न छिपाने का। धैर्य छूटता जा रहा है, दुःख से सर्वथा जडवत् होती जा रही हैं तथा विकल होकर परस्पर कानों में धीरे-धीरे इसकी चर्चा कर रही हैं—

न वक्तुं नावक्तुं पुरगमनवार्त्तां मुरभिदः
क्षमन्ते राधायै कथमपि विशाखाप्रभृतयः ।
समन्तादाक्रान्ता निबिडजडिमश्रेणिभिरिमाः
परं कर्णाकर्णि व्यवहृतिमधीरं विदधति ॥
—ललितमाधव

× × ×

आखिर, भानुदुलारी को यह वज्रभेदी समाचार सुनने को मिला ही। सुनते ही वे मूर्च्छित गिर पड़ीं। किंतु, मूर्च्छा भी भानुकिशोरी के जलते हुए हृदय के ताप को सह नहीं सकीं, प्राण बचाने के लिए भाग खड़ी हुई। किशोरी जाग उठीं, हाहाकार करने लगीं। श्रीकृष्णचन्द्र आये, सारी रात प्रबोध देते रहे; किंतु किशोरी के करुण क्रन्दन का विराम नहीं हुआ। वे पुनः संज्ञाशून्य हो गईं।

× × ×

शिशिर-वसन्त की सन्धि पर आई हुई वह रजनी भी मानों भानुकिशोरी की व्यथा से व्याकुल होकर क्षितिज की ओट में जा छिपीं और उसके स्थान पर काल का नियन्त्रण

करने प्रभात आया। किशोरी को जब चेतना हुई, तब प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र समीप में नहीं थे। नन्द-प्रासाद में अत्यन्त कोलाहल हो रहा था, किशोरी उसी ओर दौड़ चलीं। जाकर देखा—अक्रूर के रथ पर प्राणधन विराजित हैं, विनोद की बात नहीं थी; सचमुच ही वे कंस की रंगशाला देखने मधुपुरी जा रहे हैं। फिर तो किशोरी में दिव्योन्माद आरंभ हुआ। वे एक बार हँसीं, फिर गम्भीर होकर बोलीं—री ललिते! विशाखे! देख तो बहिन! श्रीकृष्णचन्द्र तो रथ पर बैठे हैं। बैठे हैं न? तू देख पा रही है न? अच्छा, यह तो देख—उन्हें रथ पर बैठे देखकर मेरा शरीर स्खलित क्यों हो रहा है? अरे देख, वह देख! पृथ्वी घूम रही है; भला, पृथ्वी क्यों घूम रही है, बहिन! यह लो! वह कदम्ब-श्रेणी तो नाच रही है! ये कदम्ब क्यों नृत्य कर रहे हैं?—

स्खलति मम वपुः कथं धरित्री।
भ्रमति कुतः किममी नटन्ति नीपाः॥

—ललितमाधव

रोती हुई ललिता कुछ दूसरी बात कहकर किशोरी का ध्यान बदलना चाहती हैं, किंतु भानुनन्दिनी रोष में भरकर बीच में ही बोल उठती हैं—

विरम कृपणे भावी नायं हरेर्विरहक्लमो
मम किमभवन् कण्ठे प्राणा मुहुर्निरपत्रपाः।

——ललितमाधव

'कृपणे! चुप रह! मुझे भुलाने आई है? क्या तू समझती है कि प्रियतम श्रीकृष्ण-चन्द्र से मेरा वियोग होगा? मुझे वियोग-दुःख भोगना पड़ेगा? बावली हुई है! क्या कण्ठ में बारबार आनेवाले मेरे प्राण इतने निर्लज्ज हैं कि वे फिर शरीर में रह जायँगे, पीछे नहीं चले जायँगे?'

विशाखा किशोरी को पकड़ लेती हैं। इतने में ही अक्रूर रथ हाँकने लगते हैं। भानुकिशोरी विशाखा को ठेलकर दौड़ पड़ती हैं, किंतु दो पग चलकर ही कटी चम्पकलता की भाँति विशाखा के हाथों पर गिर पड़ती हैं।

× × ×

रथ आगे बढ़ नहीं पाता। व्रज-सुन्दरियों की भीड़ गति रोके खड़ी है। इतने में किशोरी पुनः चैतन्य होकर, विशाखा से हाथ छुड़ाकर रथ के समीप चली आती हैं। हाय! इस समय किशोरी की कैसी करुण दशा है—

क्षणं विक्रोशन्ती लुठति हि शताङ्गस्य पुरतः
क्षणं बाष्पग्रस्तां किरति किल दृष्टिं हरिमुखे।
क्षणं रामस्याग्रे पतति दशनोत्तम्भिततृणा
न राधेयं कं वा क्षिपति करुणाम्भोधिकुहरे॥

—ललितमाधव

'कभी तो वे चीत्कार करती हुई रथ के आगे जाकर लोटने लगती हैं, कभी अश्रु-पूरित नेत्रों से श्रीकृष्णचन्द्र के मुख की ओर देखने लगती हैं; कभी दाँतों के नीचे एक

तृण लेकर वलराम के समक्ष जाकर गिर पड़ती हैं, तृण के संकेत से करुण प्रार्थना करती हैं—मेरे प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र को तुम रोक लो, दाऊ भैया; ओह! कौन ऐसा है, जो भानुकिशोरी की यह व्याकुलता देखकर द्रवित न हो जाय—करुण-समुद्र में डूब न जाय!'

जो भानुकिशोरी अपनी प्राणरूप सखियों के सामने भी श्रीकृष्णचन्द्र की ओर देखने में सकुचाती थीं, वे आज गुरुजनों के सामने निर्लज्ज हुई विस्फारित नेत्रों से श्रीकृष्णचन्द्र की ओर देख रही हैं। भानुनन्दिनी की यह विकलता देखकर उन गुरुजनों के नेत्रों से भी आँसू बह चलते हैं। और तो क्या, निठुर बनकर मधुपुर जाते हुए श्रीकृष्णचन्द्र भी आत्मसंवरण नहीं कर सके। उनके नेत्रों से भी अश्रुप्रवाह आरम्भ हो गया—

रथिनः पथि पश्यतः सखेदं
बत राधावदनं मुरान्तकस्य।
किरतो नयने घनाश्रुबिन्दू-
नरविन्दे मकरन्दवत् क्रमेण॥

'रथ पर आसीन श्रीकृष्णचन्द्र राधाकिशोरी की ओर देख रहे हैं, उनके दोनों नेत्रों से घन-घन अश्रुबिन्दु झर रहे हैं, मानों दो कमलपुष्पों से क्रमशः मकरन्द झर रहा हो।' किंतु, यह होने पर भी धीरे-धीरे रथ आगे की ओर बढ़ने ही लगा, श्रीकृष्णचन्द्र को लेकर अक्रूर चले ही गये। गोकुल का अणु-अणु हाहाकार कर उठा। मानों अक्रूर-रूप मन्दर ने गोकुल-सागर का मन्थन कर उसे विक्षुब्ध कर दिया; उसमें जो विरह-वेदनामय हालाहल कालकूट निकला, वह तो वहाँ बिखर गया तथा कृष्ण-रूप चन्द्र अक्रूर के साथ चले गये—इस प्रकार व्रजपुर श्रीकृष्ण-विरह में जल उठा, व्रजचन्द्र के अदर्शन से उसमें अन्धकार छा गया।

× × ×

हाय! नन्दकुल-चन्द्रमा कहाँ चले गये? कहाँ हैं? सखि! तू बता दे, मयूर-पिच्छधारी कहाँ चले गये? मोहन-मन्त्रमयी मुरली-ध्वनि करनेवाले कहाँ हैं? बहिन! जिनके अंगों की कान्ति इन्द्र नीलमणि-सी है, वे मेरे हृदयेश्वर कहाँ हैं? ओह! रास-रस की तरंगों पर जो नृत्य करते थे, वे कहाँ चले गये? मेरे जीवनाधार कहाँ हैं? हाय रे हाय! मेरी परम प्यारी निधि कहाँ चली गई? मेरे प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र कहाँ चले गये? आह! विधाता! तुम्हें धिक्कार है—

क्व नन्दकुलचन्द्रमाः क्व सखि चन्द्रकालङ्कृतिः
क्व मन्त्रमुरलीरवः क्व नु सुरेन्द्रनीलद्युतिः।
क्व रासरसताण्डवी क्व सखि जीवरक्षौषधि-
र्निधिर्मम सुहृत्तमः क्व बत हन्त हा धिग्विधिम्॥
ललितमाधव

—इस प्रकार पुकारती-पुकारती भानुकिशोरी तो उन्मादिनी हो गईं। समस्त दिन, सारी रात—कभी तो प्रलाप करती रहतीं; कभी जड़-चेतन, स्थावर-जंगम, जो भी दृष्टि-पथ में आता, उससे श्रीकृष्णचन्द्र का समाचार पूछने लगतीं। कभी यमुना-तट पर चली

जातीं; कल-कल करती हुई धारा की ओर कान लगाकर कुछ देर सुनती रहतीं और फिर कह उठतीं—

मृदु-कलेवरे तुमि, ओ हे शैवालिनि,
कि कहिछ भालक, रे कह ना आमारे—
सागर-विरहे यदि प्राण तव काँदे नदि,
तोमार मनेर कथा कह राधिकारे—
तुमि कि जान ना, धनि, से ओ विरहिणी ?

मृदुकलेवरे यमुने ! क्या कह रही हो, मुझे अच्छी प्रकार समझाकर कहो। सागर के विरह में यदि तुम्हारे प्राण रो रहे हैं, तो अपने मन की बात, मन की व्यथा राधिका को बताओ। सुन्दरि ! क्या तुम नहीं जानती कि राधा भी विरहिणी है ?

कभी मयूरी की ओर भानुकिशोरी की दृष्टि जाती, तो उससे बातें करने लगतीं—

तरुशाखा ऊपरे शिखिनि !
केन लो बसिया तुइ विरस वदने ?
ना हेरिया श्याम चाँदे, तोरो कि पराण काँदे,
तुइ ओ कि दुःखिनी।
आहा ! के ना भालवासे राधिकारमणे ?
कार न जुड़ाय आँखि शशी, विहंगिनी ?
आय, पाखि, आमरा दुजने
गला धराधरि करि भावि लो नीरवे;
नवीन नीरदे प्राण तुइ करेछिस् दान—
से कि तोर हबे ?
आर कि पाइबे राधा राधिकारञ्जने ?
तुइ भाव घने, धनि, आमि श्रीमाधवे।

'री शिखिनी ! तू तरुशाखा पर उदास क्यों बैठी है; क्या श्रीकृष्णचन्द्र को न देखकर तुम्हारे प्राण भी रो रहे हैं ? क्या तू भी उनके वियोग-दुःख से दुःखिनी हो रही है ? आह ! सच्ची बात है, राधिकारमण को कौन नहीं प्यार करता ? विहंगिनी ! भला, चन्द्र किसके नेत्रों को शीतल नहीं करता ? पक्षी ! तू आ, मेरे समीप आ जा; एकान्त में हम दोनों परस्पर एक दूसरे के कण्ठ से लगकर विचार करें। नवीन नीरद को तुमने अपने प्राण सौंपे, तो क्या वह तुम्हारा हो जायगा ? क्या पुनः राधा को राधारञ्जन मिल जायेंगे ? मयूरी ! आ, तू तो मेघ का चिन्तन कर और मैं श्यामजलधरवर्ण माधव का।

कभी अपने ही हाहाकार की प्रतिध्वनि सुनकर भानुनन्दिनी चकित हो जातीं और' प्रतिध्वनि से पूछने लगतीं—

के तुमि श्यामेरे डाक, राधा यथा डाके—
हाहाकार-रवे ?
के तुमि, कोन युवती, डाक ए विरले सति,

अनाथा राधिका यथा डाके गो माधवे ?
अभय-हृदये तुमि कह आसि मोरे—
के ना बाँधाए जगते श्याम-प्रेम डोरे ?
× × ×
बुझिलाम एतक्षणे के तुमि डाकिछ
—आकाशनन्दिनि !
पर्वत-गहन-वने वाह तव, वरानने,
सदा रंगरसे तुमि रत, हे रंगिणी !
निराकारा भारति, के ना जाने तोमारे ?
एसेछ कि काँदिते गो लइया राधारे ?
जानि आमि, हे स्वजनि, भालवास तुमि
मोर श्यामधने ।
शुनि मुरारिर बाँशी गाइते गो तुमि आसि,
शिखिया श्यामेर गीत मञ्जु कुञ्ज-वने ।
राधा राधा बलि यवे डाकितेन हरि—
राधा राधा बलि तुमि डाकिते, सुन्दरि !

'तुम कौन हो ? जिस प्रकार राधा हाहाकार करती हुई श्यामा को पुकारती है, वैसे ही उन्हें तुम भी पुकार रही हो ! सति ! वताओ, तुम कौन-सी युवती हो ? इस एकान्त स्थल में अनाथा राधिका की भाँति ही माधव को वुला रही हो । निर्भय-चित्त होकर मेरे पास आओ, मुझे वताओ । इसमें भय की वात ही क्या है ? श्याम की प्रेमडोरी से इस जगत् में कौन बँधा हुआ नहीं है ? ओह ! आकाशनन्दिनी ! इतनी देर वाद मैं समझ पाई कि तुम कौन इस प्रकार पुकार रही थी । वरानने ! पर्वत में, गहन वन में तुम्हारा निवास है । रंगिनी ! तुम सदा खेल करने में लगी रहती हो। आकार-रहित भारति ; तुम्हें कौन नहीं जानता? पर क्या तुम राधा के लिए रोने आई हो ? सजनि ! मैं जानती हूँ, तुम मेरे श्यामधन को प्यार करती हो । सुन्दर कुञ्जवन में श्रीकृष्णचन्द्र की मुरली-ध्वनि सुनकर तुम उनके पास आती, उनसे उनका गीत सुन लेती एवं फिर वही गीत गाती । सुन्दरि ! जब श्रीहरि 'राधा-राधा' कहकर मुझे बुलाते थे, सब तुम भी 'राधा-राधा' कहकर तुझे बुलाने लगती थी ।'

इसी प्रकार कभी भानुकिशोरी धरा से, कभी गिरिराज से, कभी मलयमारुत, कुसुम, निकुञ्जवन से वात करने लगतीं, उनसे श्रीकृष्णचन्द्र का पता पूछतीं, श्रीकृष्णचन्द्र के पास अपने को ले चलने को लिए प्रार्थना करतीं ।

जव कभी चैतन्य होतीं, तव श्रीकृष्णचन्द्र का स्फुरण होने लगता, उनकी अतीत लीलाओं की स्मृति से किशोरी का मन भर जाता तथा अपना दुःख-भार कम करने के लिए वे सखियों को अपने हृदय की वात बताने लगतीं—

छिनहिं छिन सुरति होति सो माई ।
बोलनि मिलनि चलनि हँसि चितवनि प्रीति रीति चतुराई ॥

साँझ समय गोधन सँग आवनि परम मनोहरताई ।
रूप सुधा आनन्दसिन्धु महँ झलमलाति तरुनाई ॥
अंग अंग प्रति मैन सैन सजि धीरज देत मिटाई ।
उड़ि उड़ि लगत दृगनि टोना सौ जगमोहनी कन्हाई ॥
मरियत सोचि सोचि विन बातनि हौं बन गहन भुलाई ।
'बल्लभ' औचक आइ मंद हँसि गहि भुज कंठ लगाई ॥

× × ×

माई वे सुख अब दुख देत ।
हँसि मिलिबौ बोलिबौ श्याम कौ प्रान हरैं सौ लेत ॥
रूप सुधा भरि भरि इन नयननि छिन छिन पान कियो ।
बिनु देखें ता बदन कमल के कैसें परत जियो ॥
बचन रचन ज्यों मैन मंत्र से श्रवननि में रस बरसैं ।
विन मुक्ता मुक्ता ये त्यों ही गोल बोल कौं तरसैं ॥
जे कल केस कुसुम लै निज कर गूँथे नंदकिशोर ।
ते अब उरझि लटकि ढूँढ़त से कहाँ गये चित चोर ॥
जिन ग्रीवनि वे भुजा मनोहर भूषन यों लिपटानी ।
ते अनाथ सूनी बिनु माधव कासौं कहौं बखानी ॥
वह चितवनि, वह चाल मनोहर, उठनि पीर उर बाँकी ।
हाय कहाँ वह चरन परसिबौ, नख सिख सुन्दर झाँकी ॥
एक समय सुनि गरज मेघ की हौं डरि थरथर काँपी ।
दे पट ओट बिहँसि मनमोहन हिये लाय भुज चाँपी ॥
अब यह बिरह दवानल प्रगट्यौ, जरे चहत सब ब्रजजन ।
'बल्लभ' वेगि आइ राखौ बलि कृपा नीर दै दरसन ॥

किंतु वियोगिनी किशोरी का दुःखभार तो घटने के बदले और बढ़ जाता। कितनी बार तो व्याकुलता यहाँतक बढ़ जाती कि प्रतीत होता, मानों किशोरी के प्राण अब सचमुच नहीं रहेंगे । उस समय सखियाँ श्रीकृष्णचन्द्र की दी हुई गुंजामाला उनके गले में डाल देतीं। बस, प्राण मानों इस गुंजामणियों में ही उलझ जाते, निकल नहीं पाते। इसके अतिरिक्त 'आयास्ये'—'प्रिये ! मैं आऊँगा' श्रीकृष्णचन्द्र का यह संदेश इतना सुदृढ बन्धन था कि प्राण इसे तोड़ नहीं पाते थे।

× × ×

इधर श्रीकृष्णचन्द्र के प्राणों में भी कम पीड़ा नहीं है, कंस का निधन भी हो चुका है; पर वे तो व्रज जा नहीं सकते। इसीलिए, वे अपने प्रिय सखी उद्धव को भानुनन्दिनी का, व्रज-सुन्दरियों का एवं नन्द-दम्पति का समाचार लाने, उन्हें श्रीकृष्णचन्द्र का संदेश देकर सान्त्वना देने व्रज भेजते हैं। उद्धव व्रज में आते हैं। पहले नन्द-दम्पति से मिलते हैं, उन्हें सान्त्वना देने जाते हैं, पर दे नहीं पाते । फिर, व्रज-सुन्दरियों से उनका मिलन होता है।

इनके प्रेम की धारा में तो उद्धव का सारा ज्ञान वह जाता है। अन्त में, उद्धव भानुनन्दिनी के समीप आये। भानुनन्दिनी दूसरे राज्य में थीं। वहाँ से उतरकर उद्धव से मिलीं। पर, उसी क्षण उनका मोहन महाभाव उद्वेलित हो उठा, उद्वेलित होकर दिव्योन्माद के रूप में परिणत हो गया। उसी समय संयोग से उड़ता हुआ एक भ्रमर भानुकिशोरी के दृष्टिपथ में आ जाता है। भानुकिशोरी ऐसा अनुभव करती हैं—मेरे प्रियतम ने इस भ्रमर को दूत वनाकर भेजा है, मुझे यह मानने आया है। बस, फिर तो किशोरी का यह दिव्योन्माद हिलोरें लेने लगता है; क्रमशः उसमें दस लहरें उठती हैं तथा भानुकिशोरी के श्रीमुखद्वार से चित्रजल्प के रूप में वाहर की ओर प्रवाहित होने लगती हैं।

पहले प्रजल्प की लहर आई; श्रीराधाकिशोरी वोलीं—'रे कितववन्धु मधुप! तू मेरे चरणों का स्पर्श मत कर।' भौंरा भानुकिशोरी के चरणों के समीप उड़ रहा था। भानुकिशोरी ने अपने चरण हटा लिये।

दूसरी लहर आई परिजल्प की। किशोरी ने कहा—'भ्रमर! तुम्हारे स्वामी ने केवल एक वार अपनी मोहिनी अधर-सुधा का पान कराया और फिर निर्दय होकर यहाँ से चले गये, जैसे तुम पुष्पों का रस लेकर उड़ जाते हो।'

अब विजल्प की लहर नाचने लगी। किशोरी कह रही थीं—'रे मिलिन्द! यदुकुलशिरोमणि का गुणगान यहाँ क्यों कर रहा है; जा, उड़ जा, मधुपुर की सुन्दरियों के सामने किया कर; वे अभी उन्हें नहीं जानतीं।'

चौथी उज्जल्प की लहर भानुदुलारी की वाणी में वह रही थी—'रे भृंग! तू मुझे क्यों भुलाने आया है कि श्रीकृष्ण मेरे लिए व्याकुल हैं? वावले! पृथ्वी पर ऐसी कौन है, जो उनपर मोहित होकर न्योछावर न हो जाय। लक्ष्मी भी उनकी उपासना करती हैं। फिर, मेरी जैसी को वे क्यों चाहेंगे?'

अब संजल्प की पाँचवीं तरंग वाहर आई—'रे मधुकर! मेरे चरणों को अपने सिर पर क्यों रख रहा है? हटा दे, ऐसा अनुनय-विनय मैं वहुत देख चुकी हूँ; जिनके लिए सव कुछ छोड़ा, वे छोड़कर चले जायँ! अब उनपर क्या विश्वास करें?'

छठी अवजल्प की लहरी नृत्य कर उठी—'रे भौंरे! आज से नहीं, मैं उन्हें वहुत पहले से जानती हूँ; उनकी निष्ठुरता का परिचय मुझे है। रामरूप में छिपकर वालि का वध किया; शूर्पणखा का रूप नष्ट कर दिया, दानवेन्द्र वलि से छल किया, मुझे किसी भी काली वस्तु से प्रयोजन नहीं .... पर उनकी चर्चा तो मैं नहीं छोड़ सकूँगी।'

अब सातवीं अभिजल्प की तरंग आती है—'रे मधुप! देख, जो एक बार भी उनके लीलापीयूष का एक कण भी पी लेता है, उसके सारे द्वन्द्व मिट जाते हैं; वहुत-से तो अपना घरवार स्वाहा कर वाहर चले जाते हैं, भिक्षा से पेट भरते हैं, पर लीला-श्रवण नहीं छोड़ पाते।'

इसके पश्चात् आठवीं आजल्प की लहर आई—रे अलि! हरिणी व्याध के सुमधुर गान पर विश्वास कर अपना प्राण खो देती है; हम सव भी उनकी मधुभरी बातों में भूल गईं, आज उसी का परिणाम भोग रही हैं। उनकी वात जाने दे, कुछ दूसरी वात कह।'

अनन्तर प्रतिजल्प की तरंग ऊपर उठी; भानुदुलारी बोलीं—'मधुकर! मेरे प्रियतम के प्यारे सखा! क्या मेरे प्रियतम ने तुम्हें यहाँ भेजा है? तब तो तुम मेरे पूज्य हो। तुम्हें कुछ चाहिए क्या? जो चाहो, सो माँग लो; मैं वही दे दूँगी। प्यारे भ्रमर, क्या मुझे वहाँ ले चलोगे?'

अब अन्त में किशोरी के स्वर में दीनता आ जाती है, उत्कण्ठा भी समाविष्ट हो जाती है तथा दसवीं सुजल्प की लहरी होठों से वह चलती है; किशोरी कहने लगती है—'प्यारे भ्रमर! आर्यपुत्र श्रीकृष्णचन्द्र मधुपुरी में सुख से तो हैं न? क्या वे हम दासियों कभी चर्चा भी करते हैं? ओह! वह दिन कब आयेगा, जब श्रीकृष्णचन्द्र दिव्य सुगन्ध-पूर्ण अपना हस्तकमल हमारे सिर पर रखेंगे।'[1]

---

१. प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र के किसी सुहृद् से मिलन होकर गूढ रोष के कारण अनेक भावों से युक्त जो वचन बोलना है, उसे चित्रजल्प कहते हैं। प्रजल्प आदि इसी चित्रजल्प के भेद हैं। इन दसों के क्रमशः ये उदाहरण श्रीमद्भागवत में मिलते हैं—

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः ।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥
सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक् ।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः ॥
किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूना-
मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम् ।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः ॥
दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः ।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः ॥
विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात् ।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमस्मिन् ।
मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम् ।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद् य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥

यों कहकर श्रीराधाकिशोरी मौन हो गईं। महाभाव के इस महावैभव को देखकर उद्धव कुछ देर तो आनन्द-जड हुए निश्चल खड़े रहे तथा जब शरीर में शक्ति आई, तब भानुकिशोरी के चरणों में लोट गये। भानुकिशोरी की छाया पड़कर उद्धव का अणु-अणु रस से पूर्ण हो गया।

× × ×

कई मास पश्चात् जब उद्धव मधुपुर लौटने लगे, तब भानुकिशोरी से उन्होंने प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र के लिए संदेश माँगा। भानुकिशोरी बोलीं——

स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद्गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात्कदापि।
अप्राप्तेऽस्मिन्यदपि नगरादार्त्तिरुग्रा भवेन्नः
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तत्र वासं करोतु॥

—उज्ज्वलनीलमणि

'प्रियतम श्यामसुन्दर के यहाँ आने से हम सब को अपार सुख होगा; किन्तु यदि यहाँ आने में उनकी किञ्चित् भी क्षति होती हो, तो वे भी कभी यहाँ न आवें। उनके नहीं आने से यद्यपि हम सब के भीषण दुःख की सीमा नहीं, किंतु वहाँ रहने से यदि उनके हृदय में सुख होता है, तो वे वहीं निवास करें।'

राधाकिशोरी! तुम्हारे इस दिव्य प्रेम की जय हो! कहकर उद्धव श्रीकृष्णचन्द्र के पास चल पड़े।

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥
वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः
कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः।
ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र-
स्मररुज उपमन्त्रिन् भण्यतामन्यवार्त्ता॥
प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग।
नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते॥
अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते
स्मरति स पितृगेहान् सौम्यबन्धूश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु॥

—।१०।४७।१२-२१।

१०. कुरुक्षेत्र में मिलन

श्रीकृष्णचन्द्र मथुरा से द्वारका चले गये। दिन, पक्ष, मास, वर्ष के क्रम से वह शतवर्ष वियोग की अवधि भी क्षीण होती हुई पूरी हो गई। अवश्य ही भानुकिशोरी के लिए तो शतवर्ष का एक-एक क्षण कल्प के समान बीतता था। श्रीकृष्णचन्द्र भी स्थिर रहे हों, यह बात नहीं। केवल रुक्मिणी, सत्यभामा आदि पट्टमहिषियाँ ही जानती थीं—वृष-भानुनन्दिनी को उनके प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र एक क्षण के लिए भी नहीं भूल सके। यहाँ भानुकिशोरी में मोहनभाव उदय होता, वहाँ रुक्मिणी के पर्यङ्क पर श्रीकृष्णचन्द्र मूर्च्छित हो जाते। द्वारका में श्रीकृष्णचन्द्र की लीला की यह दैनन्दिनी घटना थी।

समय हो चुका था। इसीलिए, उसके अनुरूप तैयारी होने लगी। श्रीकृष्णचन्द्र ने यदुकुल की सभा में कुरुक्षेत्र जाकर सूर्योपराग का स्नान करने का प्रस्ताव रखा—

ब्रजबासिन को हेतु हृदय में राखि मुरारी।
सब यादव सों कह्यो बैठि के सभा मँझारी॥
बड़ा पर्ब रवि गहन, कहा कहौं तासु बड़ाई।
चलौ सबै कुरुक्षेत्र, तहाँ मिलि न्हैये जाई॥

सदल-बल यदुवंशी कुरुक्षेत्र की ओर चल पड़े। उसी मुहूर्त में ब्रजराज नन्द ने भी समस्त पुरवासियों के सहित ग्रहण-स्नान के लिए वहीं जाने का विचार किया तथा जब उन्हें यह सूचना मिली कि श्रीवसुदेव श्रीकृष्णचन्द्र को लिये वहाँ आ रहे हैं, तब तो फिर क्षण-भर का भी विलम्ब न करके वे चल पड़े। सखियों के सहित भानुकिशोरी भी चल पड़ीं। चलते समय किशोरी के मार्ग में शुभ शकुन होने लगे—

बायस गहगहात सुभ बानी बिमल पूर्ब दिसि बोली।

× × ×

आखिर, उसी तीर्थ पर एकान्त में श्रीराधाकिशोरी एवं श्रीकृष्णचन्द्र का मिलन हुआ। आह! उस मिलन को चित्रित करने का सामर्थ्य तो वाग्वादिनी सरस्वती में भी नहीं। वे इतना ही कह सकती हैं—

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई॥
माधव राधा के रँग राचे, राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरंतर रसना कहि न गई॥

× × ×

दूसरे दिन द्वारकेश्वरी रुक्मिणी श्रीकृष्णचन्द्र से पूछती हैं—

बूझति हैं रुक्मिणि—पिय! इनमें को वृषभानुकिशोरी।
नैंक हमैं दिखरावहु अपनी बालापन की जोरी॥
परम चतुर जिन कीने मोहन अल्प बैस ही थोरी।
बारे ते जिहि यहै पढ़ायो बुधि बल कल बिधि चोरी॥

जाके गुन गनि गुथति माल कबहूँ उर ते नहिं छोरी।
सुमिरन सदा बसतहीं रसना दृष्टि न इत उत मोरी॥

सजल नयन हुए श्रीकृष्णचन्द्र संकेत कर देते हैं—

वह देखी जुवतिन में ठाढ़ी नील वसन तनु गोरी।
सूरदास मेरो मन वाकी चितवन देखि हर्‌यो री॥

× × ×

अपने हृदय का समस्त आदर भानुकिशोरी को समर्पित कर द्वारकेश्वरी उन्हें अपने स्थान पर ले आईं। वृन्दावनेश्वरी एवं द्वारकेश्वरी एक आसन पर सुशोभित हुईं—

रुक्मिनि राधा ऐसे बैठी।
जैसे बहुत दिनन की बिछुरी एक बाप की बेटी॥
एक सुभाउ एक लैं दोऊ, दोऊ हरि को प्यारी।
एक प्राण, मन एक दुहुँन को, तनु करि देखिअत न्यारी॥
निज मंदिर लै गई रुक्मिनी, पहुनाई बिधि ठानी।
सूरदास प्रभु तहँ पग धारे, जहाँ दोऊ ठकुरानी॥

आतिथ्य ग्रहण करके राधाकिशोरी अपने विश्रामागार में चली आईं।

× × ×

अर्द्धनिशा का समय है। श्रीकृष्णचन्द्र पर्यंक पर विराजित हैं। सती रुक्मिणी अपने स्वामी की पाद-सेवा (पैर दबाने की सेवा) करने के लिए जा रही हैं।

हैं! हैं! यह क्या! श्रीकृष्णचन्द्र के समस्त चरणतल, गुल्फ, चरणों की अँगुलियाँ—सभी फफोलों से भरे हैं। रुक्मिणी थर-थर काँपने लगती हैं, उनका मुख अत्यन्त विषण्ण हो जाता है।

मेरे स्वामिन्! बताओ, नाथ! कहाँ आग थी? कहाँ तुम्हारे पैर पड़ गये? दासी की वञ्चना मत करो!—रुक्मिणी ने श्रीकृष्णचन्द्र के दोनों हाथों को अपने हाथ में लेकर कातर स्वर में यह पूछा। किंतु उत्तर के लिए श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें टालने लगे। भीष्मक-नन्दिनी भी बिना जाने छोड़नेवाली न थीं। द्वारकेश्वरी से हार मानकर आखिर श्रीकृष्ण-चन्द्र को अपने पैर जलने का सच्चा हेतु बताना ही पड़ा। वे संकुचित हुए-से बोले—आज भानुकिशोरी तुम्हारा आतिथ्य ग्रहण कर रही थीं, उनकी छाया पड़ने से तुम भी मतवाली हो गई थी। उमंग में भरकर तुमने परम सुस्वादु विविध पदार्थ उन्हें खिलाये, अमृत के समान परम मधुर सुवासित जल पिलाया, पर दूध पिलाना भूल गई। फिर, मेरे संकेत पर तुम्हें स्मरण हुआ, मधुरातिमधुर दुग्ध तुमने उन्हें फिर से जाकर स्वयं पान कराया। उनके प्रेम में तुम अपने आपको भूल-सी गई थी। तुमने यह नहीं देखा कि दूध अधिक उष्ण तो नहीं है, पर वास्तव में वह दूध आवश्यकता से अधिक उष्ण था। भानुनन्दिनी को यह पता नहीं कि तुम उन्हें क्या पिला रही हो। तुम पिलाती गई, वे पीती गईं। उनके हृदय में मेरे ये चरण नित्य वर्त्तमान रहते हैं। वह उष्ण दुग्ध मेरे चरणों पर ही गिर रहा था। उसी दूध से जलकर ये फफोले हुए हैं।

'ओह! जिनके हृदय में श्रीकृष्णचन्द्र के चरण—भावनामय नहीं—वास्तव में ही साक्षात्‌रूप में नित्य विराजित रहते हैं, उन भानुकिशोरी के प्रेम की तो मैं छाया भी नहीं छू सकती।' द्वारकेश्वरी मूर्च्छित होकर पर्यंक पर गिर पड़ीं।

× × ×

भानुकिशोरी से मिलने पुनः श्रीकृष्णचन्द्र आये। देखा, किशोरी ललिता से कुछ कह रही हैं। छिपकर सुनने लगे। किशोरी यह कह रही थीं—

प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि कुरुक्षेत्रमिलित-
स्तथाहं सा राधा तदिदमुभयोः सङ्गमसुखम्।
तथाप्यन्तः खेलन्मधुरमुरलीपञ्चमजुषे
मनो मे कालिन्दीपुलिनविपिनाय स्पृहयति॥

'सखि! प्रियतम श्रीकृष्ण वही हैं, कुरुक्षेत्र में मिल भी गये; तथा मैं राधा भी वही हूँ, हमलोगों का मिलन-सुख भी वही है, तथापि मेरा मन तो प्रियतम की मधुर पञ्चम स्वर भरती हुई वंशीध्वनि से झंकृत कालिन्दीतीरवर्त्ती वृन्दावन को चाह रहा है। मैं चाहती हूँ, वहिन! वृन्दावन में प्रियतम को देखूँ।'

यह सुनते ही श्रीकृष्णचन्द्र सामने आ जाते हैं, भानुकिशोरी को हृदय से लगा लेते हैं। क्षण-भर में ही कुरुक्षेत्र का अस्तित्व विलीन हो जाता है, उसका चिह्न तक अवशिष्ट नहीं रहता। वहाँ तो अब वृन्दावन है, प्रिया-प्रियतम मिल रहे हैं, रसमयी कालिन्दी प्रवाहित हो रही है।

११. अन्तर्धान

जिस स्थान पर ब्राह्मणपत्नियों ने श्रीकृष्णचन्द्र को अन्नदान देकर तृप्त किया था, उसी स्थान पर भाण्डीर-वन में वट के नीचे श्रीकृष्णचन्द्र विराजित हैं। द्वारकापुरी से आये हुए हैं। उनके वामपार्श्व में श्रीराधाकिशोरी हैं। दक्षिण पार्श्व में नन्द-यशोदा हैं। नन्द-दम्पति के दक्षिण पार्श्व में कीर्त्तिदा-वृषभानु विराजित हैं तथा इन सबको चारों ओर से घेरकर असंख्य गोप-गोपियों की श्रेणी सुशोभित है।

इसी समय एक दिव्यातिदिव्य अत्यन्त मनोहर रथ आकाश से नीचे उतरता है। रथ चार योजन विस्तृत है, पाँच योजन ऊँचा है, इन्द्रसार रत्न से निर्मित है; वर्ण विशुद्ध स्फटिक के समान है। रथ के ऊपर अमूल्य दिव्य रत्नकलश है, सर्वत्र दिव्य हीरकहार झूल रहे हैं, कभी म्लान न होनेवाले दिव्यातिदिव्य पारिजात-कुसुमों की बनी मालाओं से वह विभूषित है, अगणित कौस्तुभ उसमें पिरोये हुए हैं। रथ में सहस्र कोटि मन्दिर बने हुए हैं, मन्दिर सूक्ष्मातिसूक्ष्म दिव्य वस्त्र से आच्छादित हैं। दो सहस्र चक्रों (पहिये) पर वह निर्मित है। उसमें दो सहस्र अत्यन्त दिव्य अश्व जुड़े हुए हैं। कोटि गोपों से वह रथ परिवृत है।

श्रीकृष्णचन्द्र संकेत करते हैं। श्रीराधाकिशोरी उठती हैं, रथ पर आरोहण करती हैं। वे असंख्य व्रजपुरवासी भी क्षण-भर में ही उस रथ पर बैठ जाते हैं। देखते-देखते ही रथ गोलोकधाम की यात्रा में चल पड़ता है, अन्तर्हित हो जाता है—

गोलोकं च ययौ राधा सार्द्धं गोलोकवासिभिः।

—ब्र० वै० पु०

श्रीराधा अवतरित हुए गोलोकवासियों के साथ गोलोक में पधार जाती हैं :

जयति नवनागरी, रूप गुन आगरी,
सर्वसुखसागरी कुँवरि राधा ।
जयति हरिभामिनी, स्यामघनदामिनी,
केलिकलकामिनी, छबि अगाधा ॥
जयति मनमोहनी, करौ दृग बोहनी,
दरस दै सोहनी, हरौ बाधा ॥
जयति रसमूर री, सुरभि सुर भूर री,
'भगवतरसिक' प्रान साधा ॥

११. अष्टसखी

श्रीराधाकिशोरी की सखियाँ पाँच प्रकार की मानी जाती हैं—सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी और परमप्रेष्ठसखी। कुसुमिका, विन्ध्या, धनिष्ठा आदि सखी कहलाती हैं। कस्तूरी, मणिमञ्जरिका आदि नित्यसखी कही जाती हैं। शशिमुखी, वासन्ती, लसिका आदि प्राणसखी की गणना में हैं। कुरगांक्षी, मञ्जुकेशी, माधवी, मालती आदि प्रियसखी कही जाती हैं तथा श्रीललिता, विशाखा, चित्रा, इन्दुलेखा, चम्पकलता, रंगदेवी, तुंगविद्या, सुदेवी—ये आठ परमप्रेष्ठसखी की गणना में हैं। ये आठों सखियाँ ही अष्टसखी के नाम से विख्यात हैं।

हृदय से जुड़ी हुई अनन्त धमनियों की भाँति श्रीराधा की समस्त सखियाँ राधा-हृत्सरोवर से निरन्तर प्रेमरस लेती हैं, लेकर उस रस को सर्वत्र फैलाती रहती हैं, तथा साथ ही अपना प्रेमरस भी राधा-हृदय में उँड़ेलती रहती हैं। इस रस-विस्तार के कार्य में श्रीललिता आदि अष्टसखियों का सबसे प्रमुख स्थान है।

श्रीकृष्णचन्द्र की नित्य कैशोर लीला में श्रीललिता की आयु चौदह वर्ष तीन मास, बारह दिन की रहती है। श्रीललिता में वह नित्य दिव्य आवेश रहता है कि इस समय मेरी आयु इतनी हुई है। इसी प्रकार उस लीला में श्रीविशाखा चौदह वर्ष, दो मास, पंद्रह दिन; श्रीचित्रा चौदह वर्ष, एक मास, उन्नीस दिन; श्रीइन्दुलेखा चौदह वर्ष, दो मास, बारह दिन; श्रीचम्पकलता चौदह वर्ष, दो मास, चौदह दिन; श्रीरंगदेवी चौदह वर्ष, दो मास, आठ दिन; श्रीतुंगविद्या चौदह वर्ष, दो मास, बीस दिन और श्रीसुदेवी चौदह वर्ष, दो मास, आठ दिन की रहती हैं। अवश्य ही जब श्रीराधाकिशोरी की लीला का प्रपञ्च में प्रकाश होता है, और वे अवतरित होती हैं, तब ये भी उसी प्रकार अवतरित होती हैं—इनका जन्म होता है, कौमार आता है, पौगण्ड आता है, फिर कैशोर से विभूषित होती हैं।

इन आठ सखियों का जीवनचरित्र श्रीराधा महारानी की लीला में सर्वथा अनुस्यूत रहता है। जो राधाभावसिंधु का कोई-सा एक कण पा लेते हैं, वे ही इन सखियों के दिव्य भुवनपावन चरित्र के सम्बन्ध में यत्किञ्चित् जान पाते हैं। वह भी एक-सा नहीं,

जो जैसे पात्र हों। हमारे लिए तो इतना ही पर्याप्त है कि श्रीराधाकिशोरी का स्मरण करते हुए हम इनकी वन्दना कर लें—

गोरोचनारुचिमनोहरकान्तिदेहां
मायूरपुच्छतुलितच्छविचारुचेलाम्‌ ।
राधे तव प्रियसखीं च गुरुं सखीनां
ताम्बूलभक्तिललितां ललितां नमामि ॥

हे राधे! गोरोचन के समान जिनके श्रीअंगों की मनोहर कान्ति है, जो मयूरपिच्छ के समान चित्रित साड़ी धारण करती हैं, तुम्हारी ताम्बूल-सेवा जिनके अधिकार में है, इस सेवा से जो अत्यन्त ललित सुन्दर हो रही हैं, जो सखियों की गुरु-रूप हैं, तुम्हारी उन प्यारी सखी श्रीललिता को मैं प्रणाम कर रहा हूँ।

सौदामिनीनिचयचारुरुचिप्रतीकां
तारावलीललितकान्तिमनोज्ञचेलाम्‌ ।
श्रीराधिके तव चरित्रगुणानुरूपां
सद्‌गन्धचन्दनरतां विशये विशाखाम्‌ ॥

श्रीराधिके! मानों सौदामिनी-समूह एकत्र हो, इस प्रकार तो जिनके अंगों का सुन्दर वर्ण है, तारिका-श्रेणी की सुन्दर कान्ति जिनकी मनोहर साड़ी में भरी हुई है, सुगन्धित द्रव्य, चन्दन आदि वैसे जो तुम्हारे लिए अंगराग प्रस्तुत करती हैं, उनसे तुम्हारा अंगविलेपन करती हैं तथा चरित्र में, गुण में जो तुम्हारे समान हैं, तुम्हारी उन विशाखा का मैं आश्रय ग्रहण कर रहा हूँ।

काश्मीरकान्तिकमनीयकलेवराभां
सुस्निग्धकाचनिचयप्रभचारुचेलाम्‌ ।
श्रीराधिके तव मनोरथवस्त्रदाने
चित्रां विचित्रहृदयां सदयां प्रपद्ये ॥

श्रीराधिके! केशर की कान्ति-जैसी जिनके कमनीय अंगों की शोभा है, सुचिक्कण काचसमूह की प्रभावाली सुन्दर साड़ी धारण किये रहती हैं, तुम्हारी रुचि के अनुसार तुम्हें वस्त्र पहनाने में जो लगी हुई हैं, जिनके हृदय में अनेक विचित्र भाव भरे हैं, जो करुणा से भरी हैं, तुम्हारी उन चित्रा की मैं शरण ले रहा हूँ।

नृत्योत्सवां हि हरितालसमुज्ज्वलाभां
सद्दाडिमीकुसुमकान्तिमनोज्ञचेलाम्‌ ।
वन्दे मुदा रुचिविनिर्जितचन्द्ररेखां
श्रीराधिके तव सखीमहमिन्दुलेखाम्‌ ॥

श्रीराधिके! जिनके अंगों की आभा समुज्ज्वल हरताल-जैसी है, जो दाडिम-पुष्पों की कान्तिवाली सुन्दर साड़ी से विभूषित हैं, जिनका मुख अत्यन्त प्रसन्न है, प्रसन्न मुख की कान्ति से जो चन्द्रकला को भी जीत ले रही हैं, जो नृत्योत्सव के द्वारा तुम्हें सुखी करती हैं, तुम्हारी उन इन्दुलेखा सखी की मैं वन्दना करता हूँ।

सद्रत्नचामरकरां वरचम्पकाभां
चाषाख्यपक्षिरुचिरच्छविचारुचेलाम् ।
सर्वान् गुणांस्तुलयितुं दधतीं विशाखां
राधेऽथ चम्पकलतां भवतीं प्रपद्ये ॥

श्रीराधे ! जिनके अंगों की आभा चम्पक-पुष्प जैसी है, जो नीलकण्ठ पक्षी के रंग की साड़ी पहनती हैं, जिनके हाथ में रत्ननिर्मित चामर है, सभी गुणों में जो विशाखा के समान हैं, तुम्हारी उन चम्पकलता की मैं शरण ले रहा हूँ।

सत्पद्मकेशरमनोहरकान्तिदेहां
प्रोद्यज्जवाकुसुमदीधितिचारुचेलाम् ।
प्रायेण चम्पकलताधिगुणां सुशीलां
राधे भजे प्रियसखीं तव रङ्गदेवीम् ॥

राधे ! जिनके अंगों की छवि सुन्दर पद्म-पराग के समान है, जिनकी सुन्दर साड़ी की कांति पूर्ण विकसित जवाकुसुम-जैसी है, जिनमें गुणों की इतनी अधिकता है कि चम्पकलता से भी बढ़ी-चढ़ी हैं, उन अत्यन्त सुन्दर शीलवाली तुम्हारी प्यारी सखी रंगदेवी का मैं भजन करता हूँ।

सच्चन्द्रचन्दनमनोहरकुङ्कुमाभां
पाण्डुच्छविप्रचुरकान्तिलसद्दुकूलाम् ।
सर्वत्र कोविदतया महितां समज्ञां
राधे भजे प्रियसखीं तव तुङ्गविद्याम् ॥

राधे ! कर्पूर-चन्दनमिश्रित कुंकुम के समान जिनका वर्ण है, पीतवर्ण कान्तिपूर्ण वस्त्र से जो सुशोभित हैं, सर्वत्र जिनकी बुद्धिमत्ता का आदर होता है, उन सुयशमयी तुम्हारी प्रिय-सखी तुंगविद्या का मैं भजन करता हूँ।

प्रोत्तप्तशुद्धकनकच्छविचारुदेहां
प्रोद्यत्प्रवालनिचयप्रभचारुचेलाम् ।
सर्वानुजीवनगुणोज्ज्वलभक्तिदक्षां
श्रीराधिके तव सखीं कलये सुदेवीम् ॥

श्रीराधिके ! उत्तप्त विशुद्ध स्वर्ण-जैसी सुन्दर जिनकी देह है, चमकते हुए मूँगे के रंग की जो साड़ी धारण करती हैं, तुम्हें जल पिलाने की सुन्दर सेवा में जो निपुण हैं, तुम्हारी उन सुदेवी सखी का मैं ध्यान कर रहा हूँ।

—'कल्याण' से साभार

परिशिष्ट—३

राधा-साहित्य-तालिका

राधा के विषय में विभिन्न ग्रन्थों में सामग्री उपलब्ध होती है। प्राचीन मूल ग्रन्थों का संकेत तो ग्रन्थ के भीतर ही स्थान-स्थान पर कर दिया गया है। यहाँ नवीन ग्रन्थों का संकेत आवश्यक टिप्पणी के साथ किया जाता है। आशा है, इनकी सहायता से जिज्ञासु पाठकों को विषय की विशेष जानकारी हो सकेगी। लेखक ने इनका आवश्यक उपयोग किया है, जिसके लिए वह इन ग्रन्थकारों का आभार मानता है।

१. श्रीबलदेव उपाध्याय : भागवत सम्प्रदाय (प्र० नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी; सं० २०१० वि०)

(भारतभूमि के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पनपनेवाले प्रधान वैष्णव-सम्प्रदायों के ऐतिहासिक विकास तथा तात्त्विक सिद्धान्तों का विशिष्ट परिचय ग्रन्थ की विशिष्टता है। वैष्णव साधना से संपर्क रखनेवाले अनेक गम्भीर तत्त्वों का उद्घाटन इसमें सरल-सुबोध भाषा में किया गया है। विभिन्न सम्प्रदायों में राधा के तत्त्व का सारांश भी इसमें प्रस्तुत किया गया है। अपने विषय का प्रामाणिक तथा उपादेय ग्रन्थ।)

२. डॉ० शशिभूषणदास गुप्त : राधा का क्रम-विकास (प्र० हिन्दी-प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५६)

(राधा के साहित्य तथा दर्शन में विकास-क्रम का प्रकाशक गम्भीर अध्ययन। ग्रन्थकार ने विषय का वैज्ञानिक रीति से प्रतिपादन कर अपने गम्भीर अनुशीलन का परिचय दिया है। राधावाद के ऊपर नितान्त लोकप्रिय ग्रन्थ। उदाहरणों की प्रचुरता। बँगला-काव्यों से उद्धरण विशेष रूप से दिये गये हैं; व्रजभाषा के काव्यों का भी प्रसंगत: विवेचन संक्षेप में किया गया है। मौलिक तथा गम्भीर अनुशीलन।)

३. डॉ० सुकुमार सेन : ए हिस्ट्री ऑफ् ब्रजबुली लिटरेचर (कलकत्ता-युनिवर्सिटी, कलकत्ता)

(ब्रजबुली-साहित्य का विस्तृत विवेचन इसमें सम्भवत: पहली बार किया गया है। ब्रजबुली-भाषा का भाषातत्त्व की दृष्टि से विवेचन करने के उपरान्त ग्रन्थकार इस साहित्य का ऐतिहासिक परिचय, काव्य-समीक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत करता है। अपने विषय का प्रामाणिक अनुशीलन प्रस्तुत करने के लिए ग्रन्थ प्रख्यात है।).

४. डॉ० रामपूजन तिवारी : ब्रजबुलि-साहित्य; (प्र० ग्रन्थ-वितान, पटना, १९६०)

(ग्रन्थ छोटा होने पर भी महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी में अपने विषय की नि:सन्देह पहिली पुस्तक है, जिसमें ब्रजबुली के व्याकरण देने के अनन्तर लेखक ने मधुर रस की भक्ति, वैष्णव धर्म में मधुर रस का प्रवेश, तथा वैष्णव धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षेप में विवरण है। बंगाल के पदकर्त्ताओं का और उनके द्वारा रचित ब्रजबुली के पदों का अनुवाद-सहित विस्तृत परिचय है। ग्रन्थकार ने अपने लिए बंगाल का ही उर्वर क्षेत्र चुना है, अन्यथा नेपाल, मिथिला तथा असम के कवियों की ब्रजबुली-रचनाओं पर भी प्रकाश डालना उसके लिए नितान्त उचित था।)

५. श्रीराधा-गुणगान (प्र० रामनिवास ढंढारिया, १० चौरंगी रोड, कलकत्ता–१३; सं० २०१७)

(श्रीराधा-साहित्य का संक्षिप्त संकलन। छोटा होने पर भी ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इसमें उपनिषदों, पुराणों तथा आगमों से राधाविषयक तथ्यों का संकलन किया गया है। विभिन्न सम्प्रदायों में राधा के स्वरूप का विवेचन संक्षेप में, परन्तु प्रामाणिक रूप में, किया गया है। हिन्दी-काव्यों से श्रीराधाविषयक सुन्दर सूक्तियाँ—रूप तथा प्रेम के वर्णन में—इसमें उद्धृत हैं। राधा-तत्त्व की जानकारी के लिए यह पुस्तक पर्याप्तिरूपेण उपादेय है।)

६. श्रीवागीश शास्त्री : श्रीराधासप्तशती (प्र० आर्यावर्त्त प्रकाशगृह, १० चौरंगी रोड, कलकत्ता; २०१९, राधा-जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित)

(अभिनव काव्य-कृति। राधा का तत्त्व संस्कृत-श्लोकों में उज्ज्वलनीलमणि के आधार पर वर्णित है तथा साथ में विस्तृत हिन्दी-अनुवाद होने से मूल तत्त्वों की जानकारी बड़ी सरलता से हिन्दी-पाठकों को हो जाती है। सात अध्यायों में विभक्त यह ग्रन्थ अनुष्टुप् श्लोकों में रचित है तथा सुबोध है।)

७. श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार : श्रीराधा-माधव-चिन्तन (प्र० ग्रन्थकार, गीता प्रेस, गोरखपुर; संवत् २०१८)

(पोद्दारजी के लिखे हुए निबन्धों का संकलनात्मक ग्रन्थ। पोद्दारजी साहित्यिक होने के अतिरिक्त राधा-माधव के उपासक भक्त हैं। फलतः, इस बहुमूल्य रचना में राधा तथा कृष्ण दोनों के दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन बड़ी ही सरस तथा सुबोध शैली में किया गया है। ग्रन्थ के अनेक निबन्ध विभिन्न राधा-जयन्तियों के अवसर पर दिये गये लिखित व्याख्यान हैं। इसलिए, कहीं-कहीं पुनरुक्ति का होना अनिवार्य है। स्थान-स्थान पर स्वरचित नवीन कविताएँ भी हैं, जिससे यह ग्रन्थ सरस तथा सुबोध है। भक्ति-शास्त्र के तत्त्वों की जानकारी के लिए भी नितान्त उपादेय ग्रन्थ।)

८. डॉ० दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, २ भाग (प्र० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, संवत् २००४)

(अष्टछाप के कवियों की जीवनी, ग्रन्थावली, सिद्धान्त तथा काव्यकला का गवेषणात्मक अनुसन्धान। ग्रन्थ अपने विषय का एक प्रामाणिक अध्ययन माना जाता है। अष्टछाप के कवियों के दार्शनिक सिद्धान्त का तथा भक्ति-तत्त्व का भी पर्याप्त विस्तार के साथ यहाँ विवेचन प्रस्तुत किया गया है। गोपियों के विषय में भी आचार्यों के तथ्यों का वर्णन मिलता है। उपयोगी ग्रन्थ।)

९. डॉ० मनोहरलाल गौड : घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा (प्र० नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१५ वि०)

(घनानन्द के जीवन-चरित तथा काव्यों का गम्भीर अध्ययन। साहित्यिक समीक्षा के साथ-ही-साथ कवि के द्वारा व्याख्यात भक्तिरस के तत्त्वों का भी बड़ा ही सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। राधाकृष्ण के आदर्श प्रेम के रूप का भी वर्णन बड़ी गम्भीरता के साथ किया गया है। निम्बार्की घनानन्द के द्वारा व्याख्यात राधातत्त्व का भी उपयोगी वर्णन मिलता है।)

१०. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक : राधावल्लभ-सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य (प्र० नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९५९)

(पी-एच्० डी० का शोध-प्रबन्ध। लेखक की यह कृति मौलिक गवेषणा के आधार पर निर्मित है। राधावल्लभी सम्प्रदाय के सिद्धान्त तथा साहित्य दोनों पक्षों का पुंखानुपुंख व्यापक विवेचन है। इस सम्प्रदाय की समस्त मान्यताओं का विशद वर्णन करने में लेखक ने अपने कथनों के लिए प्रकाशित और अप्रकाशित ग्रन्थों से पर्याप्त उद्धरण भी दिये हैं। 'राधा' के राधावल्लभी साम्प्रदायिक विवेचन के संग में अन्य वैष्णव मतों का भी विवेचन तुलनात्मक दृष्टि से किया गया है। ग्रन्थ प्रामाणिक तथा उपादेय है।)

११. डॉ० शिवप्रसाद सिंह : सूरपूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य (प्र० हिन्दी-प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५८)

(सफल शोध-प्रबन्ध। अपने विषय का हिन्दी में एकमात्र ग्रन्थ। ग्रन्थकार ने

सूरदास से पूर्ववर्त्ती व्रजभाषा के रूप तथा साहित्य का विवेचन बड़ी प्रामाणिकता के साथ यहाँ किया है। कृष्ण-काव्यों की परम्परा तथा विकास का समुचित विवेचन ग्रन्थ को नितान्त उपयोगी बना रहा है।)

१२. **मीराँ-स्मृति-ग्रन्थ (प्र० वंगीय हिन्दी-परिषद्, कलकत्ता, सं० २००६, रासपूर्णिमा)**

(मीराँ के विषय में विभिन्न लेखकों के निबन्धों का महत्त्वपूर्ण संग्रह-ग्रन्थ। विभिन्न दृष्टियों से मीराँ के काव्य तथा भक्ति का गम्भीर अध्ययन। अन्त में प्राचीनतम प्रति के आधार पर मीराँ के पदों का संग्रह इसे उपयोगी बना रहा है। अपने विषय का बहुशः उपयोगी ग्रन्थ।)

१३. **श्रीव्रजवल्लभ शरण : उज्ज्वल रस-उपासना और निम्बार्क-सम्प्रदाय (निबन्ध, 'भारतीय साहित्य'; वर्ष ५, सं० १-२; आगरा-विश्वविद्यालय, आगरा)**

(निम्बार्क-मत के आचार्यों के ग्रन्थों में भक्तिरस का जो वर्णन मिलता है, उसका सुन्दर सोदाहरण विवेचन। लेखक ने इसमें दिखाने का प्रयत्न किया है कि निम्बार्क-सम्प्रदाय की मौलिक उपासना उज्ज्वलरसात्मक युगलसरकार की है। निम्बार्क मुनि से आरम्भ कर इस वैष्णव-सम्प्रदाय के समस्त मान्य कवियों ने इसका अपनी कविताओं में बहुशः प्रतिपादन किया है। निबन्ध मौलिक तथा अनुसन्धान-योग्य है।)

१४. **पोद्दार-अभिनन्दन-ग्रन्थ (प्र० अखिलभारतीय व्रजसाहित्य-मण्डल, मथुरा, संवत् २०१०)**

(व्रजभाषा के कृष्ण-साहित्य के अनुशीलन के निमित्त नितान्त उपयोगी ग्रन्थ। इसमें वैष्णव धर्म के सिद्धान्तों का भी ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि से प्रतिपादन किया गया है। कवियों के काव्यों की समीक्षा के साथ-साथ उनकी कविता के प्रचुर उदाहरण दिये गये हैं। कृष्ण-काव्यों की जानकारी के लिए विशेष उपादेय प्रकाशन।)

१५. **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : सूर साहित्य (प्र० हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई, १९५६)**

(सूर की काव्य-कला के वर्णन के संग में तत्कालीन समाज का विवेचन। विद्यापति तथा चण्डीदास की राधा के साथ सूरदास की राधा का तुलनात्मक अध्ययन इस लघुकाय, परन्तु महत्त्वपूर्ण पुस्तक का वैशिष्ट्य है।)

१६. **डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव : मीराँ की प्रेम-साधना (प्र० श्रीअजन्ता प्रेस प्रा० लि०, पटना, १९५०)**

(मीराँ की साधना के माध्यम से राधाकृष्णविषयक प्रेम का सुमधुर भावग्राही विश्लेषण।)

१७. **श्रीप्रह्लाद नरहरि जोशी : मराठी साहित्यांतील मधुरा भक्ति (प्र० वीनस प्रकाशन, पूना, १९५७)**

(मराठी-साहित्य के सन्तों तथा कवियों के काव्यों में उपलब्ध होनेवाली मधुरा भक्ति का सांगोपांग विवेचन। ग्रन्थ के अनेक अध्यायों में मधुर रस का मनोविज्ञान की दृष्टि से भी बड़ा ही प्रामाणिक विवरण दिया गया है। अध्ययन व्यापक तथा क्षेत्र विस्तृत है। मराठी-साहित्य के आरम्भ से १८वीं शती तक के कवि-सन्तों की रचनाओं का उदाहरण--प्रचुर अध्ययन। प्रामाणिक तथा उपादेय ग्रन्थ।)

१८. **आचार्य विनयमोहन शर्मा : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन (प्र० बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना; १९५७)**

(मराठी सन्तों की हिन्दी-कविताओं तथा पदों का विस्तृत अध्ययन। इन सन्तों के काव्यों में उपलब्ध मधुरा भक्ति का भी यत्र-तत्र अध्ययन है। राधातत्त्व का प्रतिपादन यहाँ आनुषंगिक तथा गौण रूप से किया गया है।)

१९. **डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' : रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना (प्र० बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना; १९५७)**

(रामभक्ति की रसिकोपासना पर कृष्णभक्ति के प्रभाव का विशद विवेचन। राधा-भाव तथा सखी-भाव का शास्त्रीय विन्यास।)

२०. **डॉ० जगदीश गुप्त : गुजराती और व्रजभाषा-कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन (प्र० हिन्दी-परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग; १९५८)**

(दोनों भाषाओं में उपलब्ध कृष्ण-काव्यों का गम्भीर, व्यापक और प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत करनेवाला शोध-प्रबन्ध। नितान्त उपयोगी और उपादेय। दोनों भाषाओं के काव्यों से स्थान-स्थान पर पर्याप्त उद्धरण दिये गये हैं। ग्रन्थकार ने कृष्ण की लीलाओं का उभय कवियों की दृष्टियों से क्रमिक विवेचन सांगोपांग रूप से किया है। दोनों के दृष्टिभेद का भी वर्णन बड़ी गम्भीरता से किया गया है।)

२१. **डॉ० रत्नकुमारी : १६वीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि (प्र० भारतीय साहित्य-मन्दिर, दिल्ली; १९५६)**

(शोध-प्रबन्ध। १६वीं शती के हिन्दी तथा बंगाली वैष्णव कवियों का विस्तृत विवेचन। भक्ति की विभिन्न भावनाओं का दृष्टान्त-प्रचुर प्रतिपादन। लेखिका का आग्रह बंगाली कवियों के विवेचन की ओर अधिक प्रतीत होता है। विश्लेषण में गंभीरता की किञ्चित् न्यूनता दृष्टिगोचर होती है, फिर भी उपयोगी।)

२२. **श्रीचन्द्रकान्त : तमिल के संघकालीन साहित्य में भक्ति के विभिन्न रूप (निबन्ध; 'भारतीय-साहित्य'-पत्रिका, वर्ष २, अप्रैल, १९५७)**

(संघ-काल के साहित्य में जिन देवी-देवताओं का वर्णन उपलब्ध होता है, उनका सुबोध सोदाहरण विवेचन। उपादेय तथा प्रामाणिक।)

२३. **श्री जे० पार्थसारथि : तमिल-साहित्य में भक्ति-परम्परा का स्रोत (निबन्ध; 'भारतीय साहित्य'-पत्रिका, वर्ष ४, अंक २, अप्रैल, १९५९)**

(लेख प्रायः व्यापक है, जिसमें प्राचीन साहित्य के आधार पर भक्ति की परम्परा का क्रमबद्ध अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है।)

२४. **श्री जे० पार्थसारथि : आलवार-सन्तों के गीत (निबन्ध; 'भारतीय साहित्य', वर्ष ५, संख्या १–२; १९६१)**

(आलवार-संतों के काव्यों का गम्भीर अध्ययन। उनके आविर्भाव-काल के साथ उनका परिचय तथा उनकी साहित्यिक विशेषताओं का सोदाहरण प्रतिपादन।)

२५. श्रीमदणङ्गराचार्य : द्रविडाम्नायदिव्यप्रबन्धविवत्तः (संस्कृत) : (प्र० खेमराज श्रीकृष्ण दास, मुम्बई; १९५८)

(यह मूल तमिल चतुःसहस्रप्रबन्ध के प्रथम भाग का संस्कृत-अनुवाद है—कहीं गद्य में और कहीं पद्य में, कहीं विशिष्ट व्याख्या है और कहीं सामान्य संकेत हैं। संस्कृत के माध्यम से आलवारों की मूल कविता जानने का सर्वश्रेष्ठ साधक यह पुस्तक है। इसमें आण्डाल-रचित 'तिरुप्पावै' का तथा 'नाच्चियार तरुमोलि' नामक दिव्य प्रबन्ध का बड़ा ही सांगोपांग सभाष्य अनुवाद है। अन्य आलवार जैसे श्रीभट्टनाथ, श्रीकुलशेखर तथा श्रीभक्तिसार के भी सूक्तों का सुन्दर संग्रह है। ग्रन्थ उपादेय तथा संग्रहणीय है।)

२६. श्रीबाबुराव कुमठेकर : पुरन्दरदास के भजन (प्र० सत्साहित्य-केन्द्र, १७३ डी, कमलानगर, दिल्ली; १९६०)

(पुरन्दरदास के १०८ भजनों का सरस हिन्दी-अनुवाद। भक्ति के नाना भावों तथा भावनाओं का अंकन बड़ी विशदता से किया गया है। अनुवाद बहुत ही सुन्दर हुआ है। मूल कन्नड़ भजनों की गेयता तथा शब्द-माधुरी को अनुवाद में बनाये रखने का श्लाघनीय प्रयत्न किया गया है।)

२७. श्री-ालशौरि रेड्डी : पञ्चामृत (प्र० आन्ध्र-हिन्दी-परिषद्, हिन्दी-प्रचार-सभा, हैदराबाद, दक्षिण; १९५४)

(तेलुगु-भाषा के पाँच लोकप्रिय प्रख्यात कवियों के परिचय के साथ उनकी मूल कविताओं का हिन्दी में अनुवाद। मूल नागरी-लिपि में दिया गया है। आन्ध्र-भागवत के रचयिता पोतन्ना की कविता यहाँ उद्धृत है, परन्तु उसका विषय दार्शनिक है। माया तथा कर्म के विषय में पोतन्ना के विचार यहाँ निर्दिष्ट हैं।)

२८. श्रीवेंकटेश्वर : गर्भश्रीमान् अथवा केरल के एक हिन्दी कवि (निबन्ध; 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', भाग १६; संवत् १९९२)

(इस निबन्ध में केरल के एक महाराज, पद्मनाभदास श्रीराम वर्मा (१९वीं शती) के जीवन-चरित का विस्तार से वर्णन है तथा उनके द्वारा रचित कृष्णविषयक गेय पदों का सुन्दर संग्रह है। कैरली कवि की हिन्दी-रचना सुन्दर तथा हृदयावर्जक है।)

२९. डॉ० हिरण्मय : हिन्दी और कन्नड में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन (प्र० विनोद पुस्तक-भंडार, आगरा; १९५९)

(ग्रन्थकार का पी-एच्० डी० निबन्ध। हिन्दी तथा कन्नडी भाषा के क्षेत्रों में उत्पन्न भक्ति-आन्दोलनों का गम्भीर अध्ययन। वीर शैव सन्तों (शिवशरण) तथा वैष्णव भक्तों (हरिदास) का क्रमबद्ध परिचय हिन्दीवालों के लिए नितान्त उपादेय है। भक्ति के विभिन्न भावों तथा भावनाओं का सोदाहरण परिचय यहाँ दिया गया है। मूल कन्नड-कविता के सरल हिन्दी-अनुवाद दिये गये हैं। मूल कविता का अभाव बेतरह खटकता है। अपने विषय में प्रथम ग्रन्थ। उपयोगी और प्रामाणिक।)

३०. डॉ० के० भास्करन नायर : हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति-काव्य (प्र० राजपाल ऐण्ड सन्स, दिल्ली; १६६०)

(ग्रन्थकार का पी-एच्० डी०-निवन्ध। दोनों भाषाओं में निवद्ध कृष्ण-काव्यों का गम्भीर तुलनात्मक अध्ययन। ग्रन्थ मनोयोग तथा अनुशीलन का परिणाम है। भक्ति के तत्वों के साथ काव्य की सुन्दर समीक्षा प्रस्तुत की गई है। अपने विषय का मौलिक तथा प्राथमिक प्रतिपादन। मूल कविता के सानुवाद उद्धरणों के कारण यह ग्रन्थ मलयालम-काव्यों को समझने के लिए विशेष उपयोगी है। विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा पुरस्कृत।)

३१. श्रीदेवेन्द्र प्रताप उपाध्याय : रसखान–जीवन और कृतित्व (प्र० आनंद पुस्तकालय, औसानगंज, वाराणसी; १६६२)

(प्रस्तुत पुस्तक में रसखान के कृतित्व-पक्ष के अध्ययन के संदर्भ में श्रीकृष्ण एवं राधा की चर्चा आई है; क्योंकि वे ही भक्तकवि रसखान के काव्यगत आलम्बन हैं। उक्त संदर्भ में, भक्ति-क्षेत्र में श्रीकृष्ण एवं राधिका-संबंधी कल्पनाओं के क्रमिक विकास का एक लम्बा ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया गया है।)

३२. श्रीरामनाथ भट्ट : श्रीकृष्ण की शक्ति राधिका (निबंध; 'कल्याण', शक्ति–अंक)

(उक्त निवध मे विद्वान् लेखक ने वतलाया है कि अवतारावस्था में राधस नामक सिद्धि ही राधस् अथवा राधिका रूप में प्रकट होती है, जो रसों एवं भावनाओं की अधिष्ठात्री देवी है। राधा-शक्ति किस प्रकार भगवान् का रूपान्तर ग्रहण करती है, राधा शब्द की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या करते हुए इसे स्पष्ट किया गया है और वतलाया गया है कि वह राधस्, राधा या राधिका पुरुषोत्तम की नित्यसिद्धि प्रिया है।)

३३. श्री के० एम्० मुन्शी : गुजरात ऐण्ड इट्स लिटरेचर (बंबई)

(उक्त पुस्तक में ऐतरेय ब्राह्मण एवं ऋग्वेदादि से प्रमाण एकत्र करके परब्रह्म विष्णु (व्रजभूमि की गोपियाँ) एवं उनकी शक्ति श्रीराधिका की स्वरूपगत कल्पनाओं का ऐतिहासिक विवरण विस्तार से दिया गया है।)

३४. डॉ० वी० के० गोस्वामी : भक्ति कल्ट इन ऐंशियेंट इंडिया (कलकत्ता)

(प्राचीन भारत की भक्ति-साधना के विषय में विद्वत्तापूर्ण गवेषणात्मक ग्रंथ है। श्रीकृष्ण-भक्तिधारा के प्रसंग में राधा एवं वासुदेव की चर्चा आई है। किस प्रकार राधा का अर्थ, अन्न, वनस्पति तथा आराधना से वढ़कर श्री और लक्ष्मी लिया जाने लगा, इसका बड़ा विस्तृत एवं रोचक विवरण प्रस्तुत किया गया है। 'गर्गसंहिता' पर ही एकमात्र आश्रित होने से ग्रन्थ का ऐतिहासिक मूल्य न्यून है।)

३५. श्रीराय चौधरी : अर्ली हिस्ट्री ऑफ् वैष्णविज्म (कलकत्ता-विश्वविद्यालय, कलकत्ता'; १६१८)।

(इस पुस्तक में वैष्णवधर्म-संप्रदाय का गवेषणात्मक इतिहास प्रस्तुत किया गया है। भक्ति-युग में जब गोलोक के गोपाल की उपासना होने लगी, तब राधा का अर्थ आराधना से लिया जाने लगा, फिर जब कृष्ण में विष्णु की भावना मिल गई, तब राधा-तत्त्व के विकास का क्या क्रम रहा, इसका विवरणात्मक इतिहास वड़ी आकर्षक शैली में दिया गया है।)

३६. डॉ० हरिवंश लाल शर्मा : सूर और उनका साहित्य (प्र० भारत-प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, द्वि० सं०; २०१५)

(सूर-साहित्य के समस्त अंगों पर लिखा हुआ यह एक गम्भीर शोध-पूर्ण ग्रन्थ है। विद्वान् लेखक ने सूर-काव्य पर प्राप्त सभी सामग्री को दृष्टिपथ में रखते हुए अपने मौलिक विवेचन द्वारा इस ग्रन्थ को पूर्ण बनाया है। 'राधा' सूर-काव्य की मूल प्रेरक शक्ति रही हैं, जिससे उनकी उपेक्षा करके सूर की मर्मस्पर्शिनी काव्य-प्रतिभा का विवेचन कर पाना कठिन है। परिणामस्वरूप, डॉ० शर्मा ने राधा तत्त्व के आगमन, उसके विकास एवं काव्य-संगति पर जो विस्तृत प्रकाश डाला है, वह इस ग्रन्थ का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है।)

३७. डॉ० त्रिभुवन सिंह : दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक (प्र० हिन्दी-प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी; १९५८)

(हिन्दी के उत्तर-मध्यकाल में लिखी जानेवाली श्रृंगारपूर्ण मुक्तक-रचनाओं के सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के आलोक में डॉ० सिंह ने हिन्दी के मुक्तक-काव्यों का अत्यन्त मौलिक विवेचन इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। प्रसंगतः राधा-तत्त्व के साहित्य में प्रवेश का इतिहास इस पुस्तक में दिया गया है।)

३८. डॉ० शिवप्रसाद सिंह : विद्यापति (प्र० हिन्दी-प्रकाशक पुस्तकालय, वाराणसी; १९५८)

(कविवर विद्यापति पर लिखा हुआ यह एक सुन्दर समीक्षा-ग्रन्थ है, जिसमें 'राधा' प्रसंग पर विद्वत्तापूर्वक प्रकाश डाला गया है।)

३९. डॉ० मुन्शीराम शर्मा : सूर सौरभ (चतुर्थ संस्करण, कानपुर; सं० २०१३)

(सूरदास के काव्य का दृष्टान्त-पुरःसर गम्भीर विवेचन, जिसमें राधा का भी प्रसंगवशात् वर्णन प्रस्तुत किया गया है।)

४०. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्मसाधना (प्र० साहित्य-भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण; १९५६)

(इस लघुकाय, परन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में राधाविषयक अनेक लेख हैं, जिनमें राधा के स्वरूप के विवेचन के अनन्तर जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास तथा सूरदास के द्वारा चित्रित विरहिणी राधा का सोदाहरण विवरण बड़ी ही सजीव भाषा में किया गया है। राधा के स्वरूप का दार्शनिक विवेचन साहित्यिक विवेचन की अपेक्षा मात्रा में न्यून होने पर भी ग्रन्थ उपादेय है।)

४१. श्रीपरशुराम चतुर्वेदी : मध्यकालीन प्रेमसाधना (प्र० साहित्य-भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण; १९५७)।

(प्रेमसाधना के विस्तृत विवरण के रूप में अनेक भक्तों द्वारा चित्रित 'राधा' के प्रेममय विग्रह का सुन्दर विवेचन इतिहास तथा काव्य के आलोक में किया गया है, विशेषतः मीराँबाई की प्रेम-साधना तथा भक्ति-भावना का विस्तृत गम्भीर अनुशीलन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। लघुकाय, परन्तु उपादेय। सहजिया-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के वर्णन-प्रसंग में 'राधा' के परकीयात्व की भी छान-बीन की गई है।)

४२. श्रीपरशुराम चतुर्वेदी : भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना (प्र० भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण; सं० २०१८ वि०)

(इस ग्रन्थ में तीन निबन्धों का संग्रह है। प्रथम निबन्ध में भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना के आविर्भाव तथा विकास का वर्णन विस्तार से किया गया है। भारतवर्ष की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में उस विकास के स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन है। अन्य लेखों में रामोपासकों के 'रसिक-सम्प्रदाय' तथा कृष्ण-भक्तों में 'सखी-सम्प्रदाय' का विस्तृत, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। 'राधा' के साहित्यिक तथा दार्शनिक रूप का वर्णन सुन्दर तथा प्रामाणिक है। अपने विषय का संक्षिप्त परन्तु व्यापक विवेचन। उपादेय तथा मननीय।)

४३. डॉ० मिथिलेश कान्ति : हिन्दी भक्ति-शृंगार का स्वरूप (प्र० चैतन्य प्रकाशन, कानपुर; १९६३)

(भक्ति के शृंगारात्मक रूप का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करनेवाला शोध-प्रबन्ध। हिन्दी-कवियों के काव्यों से प्रचुर उदाहरण देकर लेखक ने भक्ति-शृंगार के विभिन्न रूपों तथा विभाजनों का सारग्राही विवरण देने का प्रयत्न किया है। विषय की गहराई में जाने का विद्वान् लेखक ने श्लाघनीय उद्योग किया है। भक्ति के शृंगारात्मक परिवेश का वर्णन गम्भीर तथा विचारोत्तेजक है, जिसमें 'राधा' के रूप तथा स्वरूप की, प्रेम तथा शृंगार की बहुशः चर्चा है। विषय का प्राथमिक अध्ययन। उपादेय तथा चिन्तनीय।)

अनुक्रमणिका

अ

आ

ख

ग

घ

च

ड

ढ

त

द

फ

ब

भ

म

ल

श

ष

स

ह